DAMAGE BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_182816
UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University Library

Call No. H 81.09 U65A P.G.H Accession No. 3274

Author उपाध्याय विश्वम्भरनाथ

Title आधुनिक हिन्दी कविता

This book should be returned on or before the date last marked below. दिनांक और समय।

आधुनिक हिन्दी कविता—सिद्धान्त और समीक्षा

आधुनिक हिन्दी कविता—
सिद्धान्त और समीक्षा

डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत) पी-एच० डी०
हिन्दी-विभाग
आगरा कालेज, आगरा

प्रभात प्रकाशन
दिल्ली * मथुरा

प्रकाशक :
प्रभात प्रकाशन
२०५, चावड़ी बाजार, दिल्ली-६

*

लेखक :
डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

*

प्रथम संस्करण
१९६२

*

सर्वाधिकार सुरक्षित

*

मुद्रक
गुलाबसिंह यादव
आगरा फाइन आर्ट प्रेस,
राजा की मण्डी, आगरा

*

मूल्य :
सोलह रुपया

समर्पण

आगरा-कालेज के संस्कृत विभागाध्यक्ष
मेरे आत्मशिल्पी गुरु
आचार्य श्री कैलासचन्द्र मिश्र
के
चरणों में
सादर

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक का शीर्षक है, 'आधुनिक हिन्दी कविता : सिद्धान्त और समीक्षा'। इस पुस्तक में भारतेन्दु-युग से लेकर प्रयोगवाद तक, विभिन्न काव्यधाराओं के जन्म, विकास, प्रवृत्तियों और उनके मूल्याङ्कन का प्रयत्न किया गया है। हिन्दी काव्य की इस दीर्घ-अवधि तथा उसकी विभिन्नता को देखते हुए 'प्रवृत्तियों' पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है किन्तु मुख्य-मुख्य कृतिकारों पर अलग से भी विचार किया गया है। भारतेन्दु पर विस्तार से विचार किया है और गीतकारों तथा प्रयोगवादी कवियों पर भी। सामान्य प्रवृत्तियों के अतिरिक्त अगल-अलग भी, अवलोकन किया गया है। प्रथम युग में भारतेन्दु का अपना एक विशिष्ट स्थान है क्योंकि आज की अनेक प्रवृत्तियों का प्रारम्भ भारतेन्दु से ही हुआ है। नए कवियों पर अलग से विचार करने की आवश्यकता इसलिए हुई कि प्रत्येक की विशिष्टता पाठक के सम्मुख स्पष्ट हो जाय। पुस्तक की सीमा के कारण नवीनतम धाराओं के साथ न्याय हो सका है, यह तो नहीं कहा जा सकता परन्तु पाठक को नवीनतम हिन्दी काव्य के विषय में कुछ जानकारी अवश्य होगी, ऐसी आशा तो की ही जा सकती है। प्रयत्न यह किया गया है कि जो लेखक के दृष्टिकोण और निर्णय से सहमत न हों, उन सामान्य पाठकों को अपनी राय बनाने में कम से कम बाधा हो। इसके लिए यथा सम्भव प्रत्येक कवि की उपलब्धियों की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित किया गया है और आवश्यक उद्धरण भी दिए गए हैं।

छायावादोत्तर हिन्दी काव्य की प्रत्येक धारा पर अलग-अलग कार्य करने की आवश्यकता है। 'शोध-कार्य' द्वारा इस कार्य को पूरा किया जा सकता है किन्तु 'शोध-कार्य' में तथ्य संग्रह अधिक होता है, तात्त्विक चर्चा कम होती है। अतएव प्रगतिवादी काव्य, गीतिकाव्य, प्रबन्धकाव्य आदि पर स्वतंत्र आलोचना-ग्रन्थों की बहुत आवश्यकता है। मैंने इस पुस्तक के प्रकाशक महोदय से जब केवल छायावादोत्तर हिन्दी काव्य पर ही ध्यान केन्द्रित करने को कहा तो उन्होंने आधुनिक हिन्दी काव्य पर "समग्रतः" विचार करने के लिए मुझे

प्रेरित किया। मैंने भी यह महसूस किया कि "समग्रत:" विचार कर लेने के बाद अलग-अलग नूतनतम धाराओं के स्वरूप को सुविधा से समझा जा सकता है। अत: इस पुस्तक में भारतेन्दु से लेकर अब तक हिन्दी काव्य प्रवाह पर समग्रत: विचार किया गया है। इससे जहाँ हिन्दी प्रदेश तथा अहिन्दी प्रदेश के पाठकों को हिन्दी काव्य के विषय में धारणा निश्चित करने में सहायता मिलेगी, वहाँ यह सम्भव है कि किसी एक धारा में ही दिलचस्पी रखने वाले पाठक को कुछ निराशा हो किन्तु अनेक धाराओं के समग्र अध्ययन में शायद यह कमी रहती ही है। फिर भी प्रत्येक धारा की प्रमुख प्रवृत्तियों और प्रमुख रचनाकारों को सम्मिलित करने का प्रयत्न इस पुस्तक में किया गया है। 'प्रारम्भिक कवियो की रचनाओं का विवरण भी प्रस्तुत किया गया है। 'प्रमुख' शब्द पर विवाद भी हो सकता है, किन्तु इस सम्बन्ध में शायद विवाद स्वाभाविक ही है।

इस पुस्तक में मैंने आधुनिक हिन्दी काव्य-प्रवाह के दिग्दर्शन में उर्दू-काव्य पर भी विचार किया है। उर्दू का विवेचन पूर्ण नही है परन्तु हिन्दी के साथ उर्दू काव्य को देखते चलने से हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में आलोचको का ध्यान इधर आकर्षित होगा और हिन्दी-उर्दू की आधारभूत एकता सिद्ध होगी, ऐसी आशा अवश्य है। साम्प्रदायिकता से हिन्दी-आलोचक बुरी तरह पीड़ित हैं। हिन्दी आलोचना को पढ़कर कोई भी तटस्थ विचारक इस तथ्य पर पहुँचेगा। अत: भारतीय समाज और संस्कृति की एकता के विकास के लिए भी यह आवश्यक है कि एक ही प्रदेश में, एक ही भाषा की दो शैलियों को हम एक साथ समझाने का प्रयत्न करें और उनमें से एक के आनन्द से हिन्दी भाषी जनता को वंचित न करें।

इसी प्रकार ब्रजभाषा के आधुनिकतम कवियों की चर्चा इस पुस्तक में मिलेगी। इस तथ्य पर विशेष बल दिया गया है कि 'आधुनिक' शब्द के अर्थ को हम संकुचित न करें। जनपदीय भाषाओं के काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों के बिना आधुनिक काव्य का अध्ययन पूर्ण नहीं हो सकता।

मैं 'काव्य' को समाज के विकास के सन्दर्भ में रखकर अध्ययन कर्त्ताओं का अनुगामी हूँ अत: भारतेन्दु युग के पूर्व समाज और काव्य की स्थिति, तथा छायावाद, प्रगतिवाद आदि के अभ्युदय की सामाजिक और सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने का प्रयत्न भी किया गया है। इधर 'साहित्यिकता' के नाम पर काव्य को केवल 'काव्य' की दृष्टि से अध्ययन करने की बहुत पुकार मच रही है, मैंने भी यह प्रयत्न किया है कि काव्य की अपनी मर्यादा का उल्लंघन न हो

किन्तु काव्य समाज के विकास के साथ किस प्रकार अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है, यह तथ्य भी इस पुस्तक से प्रमाणित होता है और साथ ही यह भी कि समाज और काव्य के सम्बन्ध का स्वरूप क्या है। सौन्दर्य-सृष्टि के मूल में किस प्रकार वास्तविकता कार्य करती है, यह तथ्य इस पुस्तक से स्पष्ट होना चाहिए।

मेरा अपना विचार है कि भारतीय काव्यशास्त्र से हम नवीनतम काव्य के मूल्यांकन में भी सहायता ले सकते हैं। भारतीय काव्य शास्त्र, और योरोपीय काव्य शास्त्र के सम्बन्ध में इधर हिन्दी में बहुत से ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, यह भी कहा जाता रहा है कि विभिन्न काव्यशास्त्रों के मंथन के बाद एक नूतन काव्यशास्त्र का निर्माण होना चाहिए। मैंने यह अनुभव किया है कि नूतन काव्य, कथा अथवा नाट्य-साहित्य के परीक्षण करते समय ही "समन्वय" का प्रयत्न किया जाय, तो शायद अधिक सफलता मिल सकती है। मैंने इस पुस्तक में विकास के दिग्दर्शन में द्वन्द्वात्मक दृष्टि का प्रयोग करके काव्य मूल्यांकन में भारतीय काव्यशास्त्र से सहायता ली है। प्रतीत यह होता है कि इस पद्धति से सफलता मिल सकती है, किन्तु मैं कितना सफल हुआ हूँ, यह अन्य विचारक ही बता सकते हैं। यह कहा जा सकता है कि जब तक समाज के सामान्य विकास के सम्बन्ध में हमारी धारणा प्रगतिशील नहीं होगी तब तक रस, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि तथा योरोपीय सिद्धान्तों का समन्वय "अपूर्ण मापदण्डों" की ही सृष्टि करेगा। 'काव्य के मर्म' की पकड़ हमारे प्राचीन काव्यशास्त्रियों में गजब की है किन्तु उनमें समाज के विकास को समझने की शक्ति नहीं थी अतः इन दोनों पद्धतियों से हम लाभ उठा सकते हैं।

मैं आलोचना को केवल 'वैज्ञानिक परीक्षण' नहीं मानता। आलोचना को मैं "रचनात्मक" मानता हूँ क्योंकि 'आस्वादन' की समस्या के समाधान में आलोचक की 'तटस्थता' या "ऑब्जैक्टिविटी" के साथ-साथ 'रसज्ञता' या 'सहृदयता' की भी आवश्यकता होती है। 'आस्वादन' आलोचक में कभी हर्ष, कभी विषाद, कभी अमर्ष और कभी व्यंग्य की सृष्टि करता है। कवियों की "दृष्टि" के परीक्षण में भी आलोचक 'तटस्थता' के साथ-साथ कोई न कोई 'परिप्रेक्षण' अवश्य रखता है, अतः आलोचना में रचनात्मक तत्वों का समावेश स्वतः हो जाता है।

इस पुस्तक से यह स्पष्ट होना चाहिए कि हिन्दी काव्य निरन्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। प्रगतिवादी, गीतिवादी और प्रयोगवादी

काव्य की नूतनतम प्रवृत्तियों का विश्लेषण इस तथ्य को पुष्ट करता है। प्रयोगवादी 'कथ्य' से मैं सहमत नहीं हूँ। उसकी कमियों का मैंने विस्तार से विश्लेषण किया है। किन्तु यह स्मरणीय है कि प्रयोगवाद से हिन्दी में एक नूतन कथन-भंगिमा का विकास भी हुआ है। मैं इसे 'गद्य-कविता' कहने के लिए तैयार हूँ किन्तु प्रयोगवाद में कई कवि ऐसे भी है जो काव्य में 'प्रवाह' और उचित स्थान पर पंक्तियों को विराम देने की कला से परिचित हैं।[1] इसके सिवा प्रयोगवाद में दृश्य-वर्णन तथा व्यंग्य का अच्छा विकास हुआ है। वैविध्य की दृष्टि से प्रयोगवादी 'इमेजरी' मार्मिक कम है, पर आकर्षक अवश्य है। इसके सिवा यह तथ्य भी इस अध्ययन से प्रमाणित होता है कि प्रयोगवाद में कई कवि प्रगतिशील दृष्टिकोण से जगत् और जीवन को देखते हैं। मैंने इन कवियों को "प्रगतिवादी प्रयोगवाद" के अंतर्गत प्रतिष्ठित किया है, इस प्रवृत्ति को "प्रगतिशील प्रयोगवाद" भी कहा जा सकता है, वस्तुतः यह दूसरा नाम अधिक व्यापक है।

मैंने आधुनिक हिन्दी काव्य के इस समग्रतः अध्ययन का इसलिए साहस किया क्योंकि मैं "हिन्दी के प्रमुख वाद", "पन्त जी का नूतन काव्य और दर्शन" तथा "महाकवि निराला" पर अलग-अलग भी लिख चुका हूँ। इन उक्त कवियों के लिए मुझे बार-बार आधुनिक काव्य के अध्ययन का अवसर मिला है। इसके सिवा कालेज में आधुनिक काव्य के अध्यापन के सम्बन्ध में भी ऐसा सुयोग मिलता रहा है। अतः एक स्थान पर हिन्दी काव्य की विभिन्न धाराओं का अध्ययन, प्रस्तुत हो, यह इच्छा इस पुस्तक में साकार हो सकी है, इसलिए मुझे स्वभावतः प्रसन्नता है।

मैंने इस पुस्तक की तैयारी में अनेक लेखकों की कृतियों से लाभ उठाया है, उनका उल्लेख किया गया है, यहाँ उनके प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

---

१. इस विषय में, श्री वीरेन्द्रकुमार जैन की "अनागता की आँखें" काव्य-संकलन मुझे समय पर न मिल सकने के कारण अनुल्लिखित रह गया। "अनागता की आँखें" प्रयोगवादी लेखन में एक महत्त्वपूर्ण कृति है। श्री जैन चिंतन की दृष्टि से श्री सुमित्रानन्दन पन्त के साथ हैं, तथाकथित प्रयोगवादियों के साथ नहीं। वे वस्तुतः केवल शैली की दृष्टि से ही 'प्रयोगवादी' हैं और वहाँ भी उनका आग्रह शब्द, उपमा और छन्द-वैचित्र्य पर नहीं है।

इस पुस्तक के लेखन के समय सबसे अधिक असुविधा मेरी पत्नी श्रीमती श्रीदेवी उपाध्याय को हुई है। किन्तु मेरे 'धन्यवाद' से उन्हें अपार असन्तोष भी होगा, अतः इतना उल्लेख ही पर्याप्त है।

आगरा कालेज के हिन्दी-विभाग के साथी अध्यापक तथा श्री राजनाथ शर्मा, श्री रायसाहबसिंह 'अजीत', श्री कुन्दनलाल उप्रेति एवं पो० बी० पी० श्रीवास्तव का स्मरण इस अवसर पर आवश्यक है किन्तु ये बन्धु मेरे इतने निकट हैं कि इन्हें धन्यवाद देकर मैं अपने लिए संकट मोल नहीं लेना चाहता।

श्री केशवदेव तिवारी के बिना मेरी कोई पुस्तक कभी तैयार नहीं हो पाई अतः उनके प्रति मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ।

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

प्रथम प्रवाह

भारतेन्दु युग

हिन्दी भाषा का आधुनिक युग भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रारम्भ हुआ है, इस तथ्य को सभी विचारकों ने स्वीकार कर लिया है। भारतेन्दु युग से हिन्दी भाषा में एक नवीन चेतना, एक नवीन प्रवाह, एक नवीन मोड़ के दर्शन होते हैं। चेतना के एक नवीन प्रवाह की प्रमुखता के कारण ही 'भारतेन्दु युग'—ऐसा नामकरण हुआ है। किन्तु इस देश में कतिपय विचारक ऐसे भी हैं जो भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग आदि नामों की सार्थकता स्वीकार नहीं करते। इन विचारकों के अनुसार काव्य के स्थायी स्वरूप को ध्यान में रखकर ही किसी युग का नामकरण होना चाहिए।

इन विचारकों के अनुसार हिन्दी काव्य का स्वर्ण युग रीतिकालीन काव्य में दिखाई पड़ता है। रीतिकाल के पूर्व हिन्दी काव्य स्थिरता प्राप्त नहीं कर सका था। आज भी भाषा में इन विद्वानों के अनुसार पूर्व रीतिकालीन युग 'प्रयोग युग' था। पूर्व रीतिकालीन युग में ब्रज भाषा का रूप स्थिर ही हो पाया था, उसमें परिष्कार नहीं हो पाया था। पूर्व रीतिकालीन काव्य में लोकप्रिय भाषा के "ग्राम्य" और 'अग्राम्य'-परिष्कृत रूप साथ-साथ प्रयुक्त हो रहे थे। एक ओर तो "भा भिनुसार गुदारा लागा" (रामचरित मानस) जैसे प्रयोग मिलते हैं तो दूसरी ओर" "खंजन मंजु तिरीछे नैननि" अथवा "कंकन किंकिनि नूपुर धुनि" जैसे परिष्कृत और कवित्व पूर्ण प्रयोग भी मिलते हैं। सूरदास की भाषा में भी, इन विद्वानों के अनुसार, ग्राम्य और परिष्कृत प्रयोग साथ साथ मिलते हैं। एक ओर "स्याम रूप सरोज आनन, ललित अति मृदु हास, सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास" जैसे प्रयोग हैं तो दूसरी ओर "जोग सिखै ते राँड़े" "कुम्हाड़े" "हाथिन के संग गाँड़े" जैसे प्रयोग भी मिलते हैं और बहुत संख्या में मिलते हैं। जब महाकवियों की भाषा में एक परिष्कृत रूप सर्वत्र नहीं मिलता तब अन्य कवियों का कहना ही क्या है।

सन्त कवियों—कबीर, नानक, दादू तथा उनके शिष्य तो जानबूझ कर ग्राम्य और अशिष्ट शब्दावली का प्रयोग करते थे अतः उक्त सिद्धान्त के अनुसार हिन्दी भाषा का कवित्वमय एवं पूर्णतः परिष्कृत रूप यदि कहीं मिलता है तो रीतिकाल में। रीतिकाल में ब्रजभाषा का परिष्कृततम रूप ही नहीं मिलना वरन् ब्रजभाषा की सम्पूर्ण सुकुमारता, लचक, मसृणता और रंगीन शक्ति का पूर्ण दोहन भी रीतिकाल में ही हो सका था।

उक्त सिद्धान्त यह मानता है कि ब्रजभाषा जैसी सर्व शक्तिमती पदावली को **"गद्य और पद्य की भाषा एक हो"** के नारे के कारण आधुनिक युग में बुरे दिन देखने पड़े। फलतः लगभग ९०० वर्षों से प्रयोग-पुरष्कृत ब्रजभाषा को छोड़कर खड़ी बोली की काव्य में स्वीकृति एक दुर्घटना थी अतः आधुनिक शब्द से स्थायी हिन्दी काव्य के प्रति घृणा व्यंजित होती है।

उक्त सिद्धान्त के अनुगामी विचारकों का यह भी कथन है कि सम्पूर्ण आधुनिक काव्य में रीतिकालीन काव्य जैसा 'सौन्दर्य' रस और अभिव्यक्ति कुशलता कहीं भी नही दिखाई पड़ती। काव्य के मूलस्वरूप की रक्षा की चिन्ता किए बिना जो नए प्रयोग हुए है, वे कुतूहल वर्धक अधिक है। उनमें मानवीय हृदय को अधिक काल तक मोहित करने की शक्ति नहीं है। काव्य की शक्ति सबसे अधिक इस तथ्य में निहित होती है कि क्या उसमें काल के झंझावात को सहने की शक्ति है ? वीरगाथा कालीन, भक्तिकालीन और रीतिकालीन काव्य ने काल के प्रबल प्रहारों को सहकर अपने को जीवित रखा है। आधुनिक काल में अधिकांश काव्य ५–१० वर्षों के बाद ही "आउट आफ डेट" हो जाता है। वस्त्रों के बदलते फैशनों की तरह काव्य के नए-नए फैशन अपनी जीवन शक्ति को प्रमाणित न कर सकने के कारण महत्वहीन है और उन्हें "आधुनिक" केवल इस अर्थ में स्वीकार किया जा सकता है कि वे १९–२०वी शताब्दी में लिखे गए हैं। आधुनिक शब्द से यह ध्वनि नही ग्रहण की जानी चाहिए कि उन्नीसवीं और और बीसवी शताब्दी में "स्थायी काव्य" की सृष्टि हुई है।

आधुनिक हिन्दी काव्य पर विचार करते समय उक्त दृष्टि के उत्तर में यह कहना चाहिए कि जब ब्रज भाषा के ९०० वर्षों के विराट काल प्रवाह में केवल १७०० ई० से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल तक की अवधि में बनने वाले काव्य में परिपक्वता आपाई तब क्या यह उचित होगा कि खड़ी बोली में काव्य प्रारम्भ होते ही हम परिपक्व ब्रजभाषा से उसकी तुलना करें ?

सभ्यता के सामान्य इतिहास की तरह प्रत्येक भाषा का भी अपना इतिहास होता है, उसके विकास में समय लगता है। भाषा के विकास का आलेखक परिपक्वता की प्रतीक्षा न करके उसी क्षण से नए युग का सूत्रपात स्वीकार कर लेगा, जिस क्षण से कोई नई प्रवृत्ति दिखाई पड़ेगी, ऐसी प्रवृत्ति, जिसके पीछे समाज की नई आकांक्षा कार्य कर रही हो। अतः "आधुनिक" शब्द प्रवृत्ति की नवीनता को ध्यान में रखकर प्रयुक्त होना चाहिए न कि परिपक्वता को ध्यान में रखकर। परिपक्वता किसी कालावधि के मध्य की एक पहुँच मात्र है। किसी कालावधि में संचरणशील कविवर्ग के लिए वह "पहुँच" असम्भव भी नहीं है। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक कवियों ने उस "पहुँच" को प्राप्त नहीं कर लिया है। खड़ी बोली के काव्य में ऐसा बहुत काव्य है, अतः आधुनिक शब्द का प्रयोग नवीन उपलब्धि की दृष्टि से भी किया जा सकता है।

जहाँ तक माध्यम विशेष की स्वीकृति का प्रश्न है, उसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि माध्यम की स्वीकृति के लिए वाह्य परिस्थितियाँ जागरूक कवियों और लेखकों को विवश करती हैं। सामान्य व्यवहार की भाषा जब खड़ी बोली हो चुकी थी, सभी वर्ग जब अपने विचारों का आदानप्रदान खड़ी बोली में कर रहे थे, तब काव्य पढ़ते समय अन्तर्प्रान्तीय स्तर से क्रमशः संकुचित होती हुई और एक ही प्रान्त में सिमिटती हुई ब्रजभाषा को छोड़ने के लिए कवि विवश थे। बहुत से कवि ब्रजभाषा में लिखते रहे, आज भी लिखते हैं और लिखना भी चाहिए किन्तु एक प्रान्त की भाषा के काव्य और अन्तर्प्रान्तीय भाषा के काव्य साथ-साथ ही चल सकेंगे। एक प्रान्त की भाषा का काव्य अन्तर्प्रान्तीय खड़ी बोली का स्थान नहीं ले सकता। यदि अन्तर्प्रान्तीय भाषा—खड़ी बोली—में वह परिपक्वता नहीं है, जो ब्रजभाषा में है तो उसके लिए प्रयत्न करना अधिक उचित होगा। संस्कृत भाषा का भी एक दिन में निर्माण सम्भव नहीं हो सका। प्राकृत और अपभ्रंशों का विकास भी क्रमशः हुआ। अपभ्रंशों से विकसित ब्रजभाषा और अवधी का विकास भी सहसा नहीं हुआ। इसी प्रकार खड़ी बोली के आधुनिक काव्य के विकास में भी समय की अपेक्षा माननी होगी। हम कह चुके हैं और आगे प्रमाणित भी होगा कि खड़ी बोली काव्य भाषा के रूप में परिपक्वता को प्राप्त कर चुकी है। रघुवरसहाय फिराक जैसे लोग यदि इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते तो यह उनकी अपनी रुचि और दृष्टि का दोष हो सकता है। कोटि-कोटि शिक्षित

जन जिस काव्य से मुग्ध हों, उसे पिछड़ी हुई अपरिपक्व काव्य भाषा नहीं कहा जा सकता।

अतः आधुनिक शब्द का प्रयोग हम दोनों अर्थों में कर रहे हैं, करना चाहिए। प्रथम, काल की दृष्टि से बीसवीं शताब्दी का काव्य पूर्व शताब्दियों की तुलना में आधुनिक है और द्वितीयतः, नई प्रवृत्ति की दृष्टि से भी भारतेन्दु युग से अब तक के काव्य को आधुनिक कहना होगा क्योंकि जिस प्रवृत्ति का उदय भारतेन्दु में दिखाई पड़ा उसकी परिपक्वता—शैली तथा वस्तु दोनों दृष्टियों से—नए काव्य में दिखाई पड़ती है।

सर्वप्रथम हम उन प्रवृत्तियों को देखें और उनके कारणों का विवेचन करें, जिनके दर्शन सर्वप्रथम भारतेन्दु युग में होते है और जो नाना बाधाओं के होने पर भी परिपक्वता की ओर उन्मुख होती ही गई हैं। इस विवेचन से से यह भी स्पष्ट होगा कि रीतिकालीन काव्य की कौनसी सीमाएँ थी, जिनसे आधुनिक चेतना अपना तादात्म्य नहीं कर सकी और नए कवि ने उन सीमाओं को तोड़कर अपने लिए एक स्वतन्त्र, मार्ग बना लिया।

भारतेन्दु युगीन नव चेतना—भारतेन्दुयुग के गर्भ मे दो प्रवृत्तियां स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। प्रथम प्रवृत्ति मध्ययुगीन चेतना है और द्वितीय प्रवृत्ति नवीन चेतना है। मध्ययुगीन चेतना में प्राचीन काव्य-विषय और अभिव्यक्ति के पुराने स्वरूप अपनाए गए हैं। यह स्मरणीय है कि इस मध्य-युगीन चेतना को भी नवचेतना ने प्रभावित किया है और नवचेतना को मध्ययुगीन चेतना ने प्रभावित किया है। फिर भी दो प्रकार के मानसिक प्रवाह की टकराहट हमें स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है।

वस्तुतः जिसे हम नवीन चेतना कहते हैं, वह यद्यपि आधुनिक युग में अपने युग के प्रभाव से विशिष्ट रूप धारण कर लेती है तथापि वह उस प्राचीन परम्परा से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। इसी प्रकार मध्ययुगीन चेतना भी प्राचीन परम्परा का ही विकसित रूप है। वाल्मीकि रामायण में एक नवीन चेतना दिखाई पड़ती है। इस नवचेतना का लक्ष्य समाज को उच्चतर बनाने का प्रयत्न है। मानवीय करुणा से द्रवित चित्तवृत्ति ही आदिकवि को काव्य की ओर उन्मुख करती है। व्याध अत्याचारियों का प्रतीक है, उस वर्ग का, जो निरस्त्र और असहाय जनता का बध करता था, शोषण करता था। बाल्मीकि के सम्मुख भी स्पष्टतः दो वर्ग थे, इनमें एक के साथ आदि कवि की सहानुभूति स्पष्ट है। आदि कवि ने शासकवर्ग में से कोई ऐसा व्यक्ति चुनना

चाहा जिसका चरित्र निष्कलंक हो जो सभी के लिए आदर्श हो।[1] नारद ने राम की ओर कवि का ध्यान आकर्षित किया और आदि कवि ने निर्बलों के सहायक राम का वर्णन किया। आदिकवि के सम्मुख विस्तारोन्मुख राष्ट्र की रक्षा, रंजन और उन्नति का भी प्रश्न था। आदर्श व्यक्ति वह है जो राष्ट्र और समाज के नवनिर्माण के साथ साथ व्यापक मानवता के हित में भी संलग्न रहे। राम ऐसे ही थे अतः "रामवत् आचरेत् न तु रावणवत्" की शिक्षा देने के लिए रामायण की रचना की गई।

अपने सम्मुख व्यापक लक्ष्य रखने वाले आदि कवि की चेतना इसलिए उन कवियों से भिन्न दिखाई पड़ती है जिनके सम्मुख संकुचित लक्ष्य दिखाई पड़ता है। बाल्मीकि किसी राजदरबार से सम्बन्धित नहीं थे, उनके सम्मुख किसी राजा के 'रंजन' का प्रश्न नहीं था। अपनी रुचि को, शासक की रुचि की दिशा में संलग्न करने के लिए आदि कवि विवश नहीं हुए थे अतः संस्कृत के दरबारी कवियों का काव्य बाल्मीकि के काव्य से भिन्न दिखाई पड़ता है।

रामायण और दरबारी काव्य के अन्तिम महाकाव्य श्रीहर्ष के 'नैषधीय' की तुलना कीजिए। दोनों में दो प्रकार की चेतना दिखाई पड़ती है। प्रथम में जनवादी चेतना है और द्वितीय में रंजनात्मक पार्श्व पर ही बल दिया गया है। सौन्दर्य का आदर्श नैषधीय में बदलता दिखाई पड़ता है फलतः आगे के लक्ष्य में भी ये दोनों प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। भक्त और सन्त कवियों मे बाल्मीकि के व्यापक लक्ष्य को स्वीकार करने की प्रवृत्ति है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए सन्तों और भक्तों ने संस्कृत की दरबारी-प्रवृत्तियों को नया रूप दिया है। उदाहरण के लिए सौन्दर्य और भोग का वर्णन भक्तिकाव्य में कम नहीं है परन्तु उन्हें "दिव्य पुरुष" के साथ सम्बद्ध कर दिया गया है। अतः जहाँ संस्कृतकाव्य में केवल 'रंजन' पर ध्यान दिया गया है, वहाँ भक्तिकाव्य में मोह द्वारा मोह

१. **कोन्वस्मिनसांप्रतं लोके गुणावान्कश्च वीर्यवान्,**
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढ़व्रतः
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः
विद्वान् कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः।
आत्मवान्को जितक्रोधो द्युतिमान्कोऽनुसूयकः
कस्यबिभ्येति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे।

—बाल्मीकि रामायण, बालकांड।

पर, प्रेम द्वारा विलास पर और रति द्वारा विरति पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दी गई है।

भक्त कवियों ने विशेषकर कृष्णभक्त कवियों ने संस्कृत की शृङ्गार-परम्परा का इस ढंग से अपने व्यापकतर लक्ष्य की पूर्ति के लिए, प्रयोग किया है, कि उस लक्ष्य को सम्मुख रखकर न चल सकने वाले रीतिकालीन कवियों में पुनः केवल 'रंजन' की ही प्रवृत्ति रह गई, "उन्नयन" की प्रवृत्ति उनके हाथों से अनजाने ही निकल गई क्योंकि उनके सम्मुख "व्यापक लक्ष्य" का अभाव था। अतः मध्ययुगीन चेतना का रूप स्थिर होने लगा। यह मध्ययुगीन चेतना संस्कृत के दरबारी काव्य से भी गई बीती थी क्योंकि संस्कृत के कवियों के समय देश परतन्त्र नहीं था अतः पौरुष, राजनीति, धर्मनीति, दर्शन, अर्थनीति आदि समाज के लिए आवश्यक अन्य उपादानों का वर्णन भी संस्कृत के महाकाव्यों में मिलता है। जीवन के लिए आवश्यक बहुत से विचार और तथ्य संस्कृत के महाकाव्यों में सुरक्षित हैं। माघ के शिशुपाल वध का द्वितीय सर्ग पढ़िये, स्पष्ट हो जाएगा कि संस्कृत कवि का ध्यान समाज के लिए आवश्यक अन्य विषयों पर भी था। रीतिकाल में यह प्रवृत्ति भी लुप्त प्राय दिखाई पड़ती है।

'रंजन' की प्रधानता के कारण ब्रजभाषा का शृंगार हुआ। उसमें अत्यधिक सुकुमार पदावली का विकास हुआ। जीवन के कर्कश पक्षों का चित्रण न होने के कारण कर्कश पदावली का वहिष्कार किया गया। "रँगे सुरँग रँग वही, नहँदी मेहँदी नैन" जैसी भाषा प्रचलित हुई। कोमल-सुकुमार पदावली और मनोहर-मधुर भावों का महत्त्व कम नहीं है परन्तु केवल मधुरता एक जागरूक, उन्नतिशील, संतुलित सभ्यता का परिचायक हरगिज़ नहीं है। स्त्रियों के प्रति एक सामंती दृष्टिकोण का वर्णन रीतिकालीन की विशेषता है और आश्चर्य का विषय यह है कि कविवर्ग के सम्मुख आदि कवि की सहज करुणा से युक्त दृष्टि नहीं है जो कोटि-कोटि क्रौञ्चों की मौन हत्या को देखकर तड़प उठती। यही कारण है कि रीतिकालीन काव्य का कलेवर संकुचित होता गया।

किन्तु उक्त निर्णय को इधर के कतिपय विचारकों ने चुनौती दी है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रकाशन के पश्चात् रीति-काल की संकीर्ण विलास दृष्टि पर कठोर कशाघातों की एक परम्परा ही बन गई। प्रगतिवादी, छायवादी तथा समाज सुधार के लिए विकल विद्वानों ने

भारतीय राष्ट्र के पतन का कारण रीतिकालीन दृष्टि को भी बताया और यह अनुचित भी नहीं था। यह सही है कि रीतिकालीन काव्य में उत्तम और वरेण्य पद्यों का अभाव नहीं है। ऐसे पद्यांशों को चुनकर अलग से प्रचारित करने की आवश्यकता है किन्तु समग्र दृष्टि से रीतिकाल के विषय में जो कुछ कहा गया, वह उचित ही था। प्रतिक्रिया के उत्साह में संतुलन में कमी आ ही जाती है, यह एक तथ्य है और रीतिकाल के विरुद्ध प्रतिक्रिया कठोर हुई फलतः यह स्वाभाविक ही था कि रीतिकाल में जो वरेण्य है, उसकी भी उपेक्षा हुई।

रीतिकाल के विरुद्ध कठोर प्रतिक्रिया को देखकर कुछ विद्वान रीतिकाल का समर्थन करने लिए उद्यत हो रहे हैं। इतिहास, सौन्दर्यशास्त्र आदि का आधार लेकर रीतिकालीन काव्य को सर्वश्रेष्ठ युग की उपाधि दी जाने लगी है। रीतिकाल की तुलना में इन विचारकों को अन्य युगों के काव्य नीरस और कवित्वहीन प्रतीत होने लगे हैं।

इन विद्वानों के तर्कों को हम संक्षेप में प्रस्तुत करना आवश्यक समझते हैं, इनकी परीक्षा भी इस सन्दर्भ में आवश्यक है क्योंकि उसके बिना आधुनिक काव्य को हम समझ ही नहीं सकते। आधुनिक काव्य रीतिकालीन काव्य को अपदस्थ करके हमारे सम्मुख आया है। आधुनिक काव्य के समान्तर रीतिकालीन काव्य की एक क्षीणधारा बराबर प्रवाहित होती रही है किन्तु उसकी ओर राष्ट्र-नेतृत्व करने वाली चेतना ने---समर्थ बुद्धिवर्ग ने, ध्यान देना भी छोड़ दिया है। यह उचित ही हुआ है।

रीतिकालीन काव्य के समर्थकों का प्रथम तर्क सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित है। आचार्य शुक्ल तथा अन्य आलोचकों का कथन है कि रीतिकालीन काव्य मुख्यतः दरबारी काव्य है। दरबारी काव्य (Court poetry) में शासक वर्ग की चेतना के प्रक्षालन का उतना प्रयत्न नहीं होता जितना कि शासकों की रुचि को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है। शासित व्यक्ति की भावनाओं का इस दरबारी साहित्य में वर्णन नहीं होता। कवि शासित निम्न मध्यवर्ग से आता है किन्तु वह सामान्य जन के भावों का नेतृत्व नहीं करता जैसा कि आधुनिक युग में हुआ है, वह शासकों की रुचि को अपना लक्ष्य चुनता है अतः उस रुचि की पूर्ति के लिए वह प्राचीन साहित्य के केवल उसी रूप को चुनता है जो शासक की रुचि को संतुष्ट कर सके। यही कारण है कि रीतिकालीन कवि संस्कृत काव्य का नखशिख वर्णन, नायिकाभेद वाली

परम्परा को अपनाता है। रीतिकाल के प्रथम आचार्य कवि केशवदास ओरछा के राजा इन्द्रजीतसिंह की वेश्या की शिक्षा के लिए "क्रौञ्चबध" से कैसे प्रेरित हो सकते थे ? अतः कवि-शिक्षा और रंजनात्मक काव्य ही सम्मुख आया। बाद में धन और मान की आखेट के लिए कविगण जागीरदारों या सामंतों तथा बड़े शासकों के दरबारों के "आभूषण" बनने लगे। वाक्चातुर्य, अलंकृति, शृंगार और चमत्कार इन कवियों के काव्य में स्वभावतः भरने लगा। फलतः काव्य जन सामान्य की भावना से कटकर अलग हो गया। भक्तिकाव्य से सामान्य जन अपना तादात्म्य कर सकता था। इस रीतिकालीन काव्य के साथ रसीले युवकों को छोड़कर अन्य लोग अपना तादात्म्य नहीं कर सकते थे। अतः शुक्ल परम्परा के विचारकों का कथन है कि रीतिकालीन काव्य सामंतवादी काव्य हैं और यह काव्य हिन्दू सामंतों की रसीली प्रवृत्ति को ही संतुष्ट करने के लिए नहीं लिखा गया अपितु मुसलमानी दरबारों में फारसी की शृंगारिक कविता से भी यह प्रभावित हुआ है।

रीतिकाल के समर्थक कहते हैं कि यह विवेचन गलत है। रीतिकालीन काव्य न तो सामंती काव्य है और न वह फारसी के विलासवाद से प्रभावित है। उनके अनुसार रीतिकालीन काव्य "विशेषज्ञों का काव्य है" (Specialised poetry) है। ज्ञान के कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में जिन्हें विशेषज्ञता प्राप्त थी, उन्होंने इस प्रकार का काव्य लिखा है।

हम क्रमशः एक-एक तर्क पर विचार करेंगे। सर्व प्रथम व्यवस्था के तर्क को लेंगे। क्या रीतिकालीन काव्य सामंतों के दरबारों में पोषित हुआ है ? इसका उत्तर स्पष्ट है। केशवदास से अन्तिम महान् कवि पद्माकर तक सभी प्रतिनिधि कवि—दरबारों से सम्बन्धित थे। केशव, बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर आदि सभी महाकवि दरबारी कवि थे। कुछ हिन्दू दरबारों से सम्बधित थे तो कुछ मुसलमानों के दरबारों में आश्रय प्राप्त कर चुके थे। देव जैसे कुछ कवि दोनों से सम्बन्धित थे। इन दरबारों में भूषण, सूदन और लाल जैसे कवि केवल हिन्दुओं के दरबारों में रहकर वीरता का गायन करते दिखाई पड़ते हैं क्योंकि भारतवर्ष की अमुस्लिम जनता अनुदार, मदांध विदेशी राज्य के प्रति पूर्णतः तादात्म्य नहीं कर सकी थी। जनता की इसी भावना की अभिव्यक्ति उक्त वीर कवियों में हुई है।

किन्तु दरबारों की प्रमुख प्रवृत्ति शृंगारिक कविता में अभिव्यक्त हुई है। ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण प्रत्येक सामंत, जागीरदार और बड़े-

बड़े सरदार सम्राट के विराट दरबार के आदर्श पर अपने दरबार सजाने लगे थे। शासन जनता में अपनी शान और रौब जमाने के लिए ऐसे दरबार सजाया करता था। कविगण इन दरबारों के आभूषण बनने लगे।

All the wealth of empire, jewels and pearls and gold and curios were displayed in the grand darbars held twice during the scale and presided over by the emperor in person. In these darbars stood the nobles in their best costumes to listen to the announcements of reforms and honours, mellifluous music of the best singers of the age and the odes or verses of the greatest poets of India and Persia. Here the king bestowed jagirs and promotions and rewarded the poets and the artists. The nobles, of course, held their own assemblies on a scale equal to their wealth and position some of which were graced by the presence of the emperor. Indeed, on such occasions the spirit of rivalry swayed the nobility and each tried to excel his equal in grandeur and show.[1]

अर्थात् अकबर के समय में साम्राज्य की सम्पूर्ण सम्पत्ति, मोती, जवाहरात, स्वर्ण विराट दरबारों में प्रदर्शित किए जाते थे। स्वयं सम्राट इन दरबारों में उपस्थित रहता था। सामंत अपने सर्वश्रेष्ठ वेष में उपस्थित होते थे और सम्राट द्वारा घोषित सुधारों को सुनते थे तथा सम्मान प्राप्त करते थे। देश का सर्वश्रेष्ठ संगीत तथा भारत और फारस के सर्वश्रेष्ठ कवियों का काव्य सुनते थे। यहीं दरबारों में सम्राट् जागीरें देता था तथा कवियों और कलाकारों को पुरस्कृत करता था। निश्चित रूप से सामंत-सरदार लोग अपने-अपने दरबार सजाते थे, कभी-कभी सम्राट भी उनमें पहुँचते थे। सामंतों में अपने-अपने दरबारों को अधिक से अधिक शानदार बनाने के लिए स्पर्धा रहती थी।

---

1. Rise and fall of the Mughal Empire—Dr. R. P. Tripathi Allahabad—Page 257.

डा० आर० पी० त्रिपाठी ने स्वीकार किया है कि अकबर के द्वारा आयोजित समारोहों पर फारस का प्रभाव था (पृष्ठ २५७)। अकबर के पूर्व प्रारम्भिक तुर्क शासकों ने भी फारस के नमूने पर दरबारों का आयोजन किया था।

The early turkish rulers of India felt such a need and had elaborately organized their court and ceremonials after the fashion of the Kianian rulers of Persia. (पृ० २५६)

बलवन के दरबार को देखने के लिए दूर-दूर से लोग आते थे (२५६)। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय यह दरबार-परम्परा अपनी शान की चरम सीमा पर पहुँच गई। शासक वर्ग की सम्पत्ति, शान, रुचि—सबकुछ सामान्य जनता से अलग होती गई अत: दरबारों में एक विशिष्ट प्रकार के काव्य को आश्रय मिला। भूषण का काव्य औरंगजेब के यहाँ कैसे पनप सकता था। प्रशस्ति और शृंगार के लिए ही दरबारों में गुञ्जायश अधिक थी। "उमरदराज महाराज तेरी चाहिए" की प्रवृत्ति प्रशस्ति-कविताओं में दिखाई पड़ती है। सामंतों की शान, प्रशस्ति में और रसिकता शृंगार में व्यक्त होने लगी।

डा० त्रिपाठी का यह कथन सही नहीं है कि दरबारों में "सर्वश्रेष्ठ" कवियों का काव्य सुनने को मिलता था। क्योंकि अकबर के समय के महानतम कवि दरबार के बाहर थे। पीड़ित जनता के प्रतिनिधि कवि धरती के भगवान (सम्राट्) की उपेक्षा कर शाहों के भी शाह—राम और कृष्ण के दरवारों में गाते थे। संस्कृत और कला की रक्षा के लिए अकबर के दरबारों को इन्हीं सांस्कृतिक स्रोतों से कुछ कलाकार मिल गए थे। सूर, तुलसी, और संगीताचार्य हरिदास को दरबारों में नहीं सुना जा सकता था।

जनता और दरबारी संस्कृति का यह समानान्तर विकास रीतिकाल में भी दिखाई पड़ा। शाहजहाँ के दरबारी कवियों में पण्डितराज थे, उनका काव्य रसिकता और चमत्कार से पूर्ण है किन्तु उसमें व्यापकतर लक्ष्य का अभाव है जो आदि कवि में दिखाई पड़ता है, उसमें राजरंजन है, लोकरंजन नहीं है। विश्वास और व्यापक दृष्टि के अभाव के कारण रीतिकालीन काव्य संकुचित हो गया है। शाहजहाँ के समय के हिन्दी के कवि बिहारी और देव हैं। पंडितराज और बिहारी की दृष्टि एक है, काव्य का स्वरूप एक है, किन्तु उसी काल के सन्त कवियों और भक्त कवियों के शृंगार से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो

जायगा कि दरबारी शृंगार एक स्वतन्त्र रूप धारण करता हुआ दिखाई पड़ता है। दरबारी काव्य में चेतना के प्रक्षालन का प्रयत्न नहीं है, केवल रंजन का प्रयत्न है।

दरबारी कवि निम्न मध्य वर्ग से आते थे किन्तु शासक की रुचि के अनुसार लिखते थे। बिहारी, देव जैसे महान कवियों ने वृद्धावस्था में अपने दरबारी जीवन पर क्षोभ प्रकट किया है। भक्त कवियों में ऐसा पश्चाताप नहीं मिलता। देव ने विषयों के साथ जाते हुए अपने मन की भर्त्सना की है, "नरनाहों" के सम्मुख कला के प्रदर्शन पर क्षोभ प्रकट किया है।[1] देव के कवित्त में केवल यौवनावस्था की सहज भोग वृत्ति पर क्षोभ प्रकट नहीं किया गया है। वस्तुतः देव के माध्यम से सम्पूर्ण रीतिकालीन कविवर्ग की विवशता और रुचि प्रकट हुई है।

संस्कृत के काव्यशास्त्र में जब "रस' को काव्य की आत्मा मान लिया गया तो उत्तरकालीन काव्य-शास्त्र में रस और शृंगार रस को एक कर दिया गया। शृंगार रस का ही विवेचन पर्याप्त माना जाने लगा। यह प्रवृत्ति भोज के "शृगार प्रकाश" में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। भानुदत्त की रस तरंगिणी, भोज के 'शृंगार प्रकाश' और अलंकार का संक्षिप्त विवरण, नायिकाभेद और शृंगार रस का विस्तृत विवेचन और अलंकारों की परिभाषाएँ प्रस्तुत करके शृंगार रस के उदाहरण देने की परम्परा प्रचलित हो गई। रीतिकाल में नायिकाभेद, अलंकार और रस (शृंगार रस) का विवेचन मुख्य रूप से दिखाई पड़ता है। रीतिकाल के समर्थकों का कथन है कि यह सामंतवाद का प्रभाव नहीं था क्योंकि नन्ददास ने भी नायिकाभेद पर लिखा है। सूरदास में भी यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इसका उत्तर यह है तथा जैसा कि हम कह भी चुके हैं, कि भक्तिकाल में संस्कृत की परम्पराएँ साधनात्मक साधना में निमग्न होगई हैं। नन्ददास का ध्यान ईश्वर के प्रति आसक्ति पर है,

---

१. **ऐसो जो जानतो कि जैहै तू विषय के संग,**
ऐरे मन मेरे हाथ पाँव तेरे तोरतो।
आजु लग कत नरनाहन की नाहीं सुनि,
नेह सौं निहारि हारि बदन निहोरतो।
भारो प्रेम पाथर नगारो दै गरे में बाँधि,
राधा वर विरद के वारिध में बोरतो।

नायिकाओं के चीरहरण पर नहीं। रीतिकाल में इसके विपरीत "राधाकृष्ण" की उपासना बहाना बन गई है, और नायिकाओं का वर्णन मुख्य हो गया है। भक्तिकाल में नग्न शृंगारिक वर्णन एक उच्चत्तर मानसिक भूमि पर हुए हैं, लक्ष्य की उच्चता के कारण राधाकृष्ण के शृंगारिक वर्णन हमारी चित्तवृत्ति को ऐहिकता की ओर नहीं ले जाते। रीतिकाल के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। सखी सम्प्रदाय के काव्य को पढ़कर आपके मन में विकार उत्पन्न नहीं होता, इसका एक मात्र कारण यह है कि भक्तों ने भगवान के विलास का वर्णन अपनी विलास वृत्ति पर विजय प्राप्त करने के लिए किया था। तभी भक्ति-काव्य में एक निर्लिप्तता के दर्शन बराबर होते हैं। रीतिकाल में यह प्रवृत्ति लुप्त हो जाती है।

यहीं यह तर्क दिया जाता है कि "रीतिकालीन कवि कुत्सित रुचि का प्रचारक नहीं है, न संकीर्णता का उस पर आरोप लगाया जा सकता है क्योंकि रीतिकालीन कवि "शास्त्रीय कवि" है। संस्कृत में वात्स्यायन का कामशास्त्र प्रसिद्ध है, वात्स्यायन को ऋषि या मुनि तक कहा जाता है। "आचार्य वात्स्यायन" नाम तो प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार बिहारी, देव, मतिराम आदि "आचार्य" कवि थे। फारसी के कवियों ने तो मुख से नीचे के अंगों का भी वर्णन नहीं किया है तब हिन्दी के कवि जो गुप्तांगों और विपरीत रति तक का वर्णन करते हैं; वह इसलिए नहीं कि उनकी रुचि कुत्सित थी; इसका एकमात्र कारण था कि रीतिकाल में संस्कृत की एक परम्परा प्रचलित हो चुकी थी और कविगण उसमें विशेषज्ञ होते थे। अतः 'कामशास्त्र' और शृंगारिक काव्यों की परम्परा का ही रीतिकालीन कवियों ने विवेचन किया है। किसी 'शास्त्र' का विवेचन अपने में अनुचित नहीं है। 'विशेषज्ञता' को विलास नहीं माना जा सकता। यदि आदर्श की बात है तो—रीतिकाल में 'उत्तमा' नायिकाओं का वर्णन कम नहीं है। एकनिष्ठ प्रेम के जैसे वर्णन रीतिकाल में हैं, वैसे आज भी कठिनाई से मिलेंगे।"

किन्तु मेरा निवेदन यह है कि दरबारों के विलासी वातावरण के कारण ही संस्कृत की शृंगारिक परम्पर को आश्रय मिला था। विशेषज्ञता के लिए किसी शास्त्र विशेष के चयन में उस युग की रुचि काम कर रही थी। रीतिकाल का कवि जानता था कि फारसी के ललित और शृंगारिक काव्य के सम्मुख वह तभी "जम" सकता था जब वह उसी तरह का "जौहर" दिखाए जो शासक की विलास वृत्ति को संतुष्ट कर सके। इसी प्रवृत्ति के कारण 'नायिकाभेद' को बल मिला था। महाकवि देव ने 'जातिविलास' लिखा, उसके

लिखने में देश की स्वाभाविक सुषुमा अथवा भौगोलिक ज्ञान के प्रदर्शन की प्रवृत्ति नहीं थी। बंजारिन, मराठिन, कर्नाटकी, काश्मीरिन, बंगालिन आदि नायिकाओं के वर्णन द्वारा शासक की रसिकता को संतुष्ट करने का प्रयत्न ही मुख्य था। नन्ददास और सूरदास का यह दृष्टिकोण हरगिज़ नही था अतः रीतिकाल को भक्तिकाल का स्वाभाविक विकास नही कहा जा सकता। भक्ति-काल की परम्परा दरबार के बाहर के कवियों में दिखाई पड़ती है। रीतिकाल में ब्रज-प्रदेश में रमने वाले भक्तों और अयोध्या के सखी-सम्प्रदाय के राम-भक्त कवियों के काव्य और देव-बिहारी के काव्य में आकाश-पाताल का अन्तर दिखाई पड़ता है। शृंगार भक्तों में कम नहीं है--परन्तु रीतिकालीन शृंगार और भक्तकवियों के शृंगार में वही अन्तर है जो लौकिक और साधनात्मक व्यक्तित्व में अन्तर होता है।

रीतिकाल के अनुगामियों का कथन है कि "दरबारों में विलासिता का अखंड राज्य नहीं था। महान और प्रबल शासन जनता की कल्पना को जीतने के लिई दरबार सजाता था न कि विलासिता के अखंड प्रदर्शन के लिए विलासिता आधुनिक युग में रीतिकाल से कम नही है, बल्कि उसकी वृद्धि ही हुई है। रीतिकाल में ऐसा कौनसा सामंत था जिसे युद्धों का भय नहीं लगा रहता था। आधुनिक युग में उच्च और मध्यवर्ग के सम्मुख वह भय भी नहीं है, तब रीतिकाल पर विलासिता का आरोप मिथ्या प्रमाणित होता है।"

किन्तु यह तर्क भी गलत है। महाकवि देव के "अष्टयाम" और 'पद्माकर' के वर्णनों से स्पष्ट है कि कवि शासकों की विलासचर्या के लिए काव्य को उत्तेजक उपादान के रूप में भी प्रस्तुत करते थे। 'पद्माकर' ने "गुलगुली गिलमें", गद्दों, सुराही, प्याला, आदि का वर्णन किया है। दूतियों के द्वारा राधा-कृष्ण के मिलन के बहाने अभिसारिकाओं, खडिताओं, देश्याओं और दूसरी नायिकाओं के साथ संभोग के लिए प्रेरित करने पर रीतिकालीन कवि सबसे अधिक ध्यान देता है। आधुनिक युग 'नारी' के सौन्दर्य के साथ उसके व्यक्तित्व और गौरव का गायन है। सुमित्रानन्दन पन्त ने नारी को "देवि माँ, सहचरि और प्राण" के रूप में देखा है और पल्लव की भूमिका में नारी के प्रति विलासात्मक दृष्टि की निन्दा की गई है। कामायनी में इड़ाओं के प्रति मनुष्य की विलास दृष्टि की भर्त्सना की गई है। प्रेम में "समर्पण" पर बल दिया गया है। "राम की शक्तिपूजा" में रावण-बध के लिए राम सीता की सुषुमा और महिमा से प्रेरणा लेते हैं। निराला नारी और ब्रह्म में एक

ही सूक्ष्म छबि देखने के लिए अत्यधिक लालायित हैं। प्रकृति की मनोहर छबि के आगे पन्त जी बाला के बालजाल में लोचन उलझाने को प्रस्तुत नहीं हैं। महादेवी के शृंगारिक वर्णन मीरा से मिलते जुलते हैं। मनोविज्ञान के नाम पर इधर जो नग्न वर्णन किए गए हैं, उनके पीछे यह भावना है कि सभ्यता के नाम पर स्वाभाविक राग के दमन की आवश्यकता नहीं है। हालावाद में मयखाना, सुराही, प्याला आदि प्रतीकों के रूप में वर्णित हैं। अतः आधुनिक हालावाद एक प्रकार की क्रांति का भी प्रतीक है। आधुनिक युग में "अभिसारिकावाद" निन्द्य माना गया है। नारी-जागरण को आधुनिक साहित्य में सबसे अधिक वाणी मिली है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में भी एक भ्रान्त सिद्धान्त को उपन्यास के रूप में प्रस्तुत करने के कारण 'रीतिकालीनता' को बल अवश्य मिला है तथापि इस प्रवृत्ति से लोग शीघ्र ही ऊब उठे हैं और प्रेम के वर्णन में अनुत्तरदायित्व को क्षम्य नहीं माना गया है। अतः नारी के व्यक्तित्व की उपेक्षा जैसी रीतिकाल में मिलती है, यह आधुनिक युग में कहाँ है ?

आज का युग श्रेष्ठतम सामाजिक व्यवस्था के निर्माण की ओर झुकता जा रहा है। आर्थिक दुरावस्था के कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने को असुरक्षित अनुभव करता है। वैवाहिक जीवन व्यतीत करना भी दुर्वह होता जारहा है अतः बहुविवाह अभिसारिकावाद आदि का प्रश्न ही नहीं उठता। एक अत्यधिक सीमित वर्ग में विलास आज भी है और उसका कारण उस वर्ग की मजबूत आर्थिक स्थिति और अनुत्तरदायी दृष्टिकोण है। इस वर्ग पर समाज का रोष बढ़ता जा रहा है और जिस दिन इस वर्ग का नाश होजायगा, विलास का अन्तिम गढ़ ढहं जाएगा। जागरूक, उन्नतिशील और समाजवादी समाज विलासी हो ही नहीं सकता।

काव्य सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति है। यह तथ्य सबसे अधिक इस आधुनिक युग में स्वीकृत हो रहा है। जीवन के समग्र चित्रण पर इसी युग में बल दिया जा रहा है। रीतिकाल में कवियों का ध्यान जीवन के एक पक्ष पर था और उस पक्ष का चित्रण कविगण केवल सम्मूर्ण समाज की नहीं, केवल अपनी उन्नति और केवल अपने यश के लिए करते थे। यही द्वन्द्व था जिसके कारण बिहारी और देव जैसे सफल कवि पश्चात्ताप करते दिखाई पड़ते हैं क्योंकि महाकवि के हृदयों में अन्तरात्मा के विरुद्ध जीवनयापन एक अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि करता था। सूर और तुलसी ने जो परम्परा स्थापित की थी, उस

परम्परा पर न चल सकने के कारण रीतकालीन कवि को शुभ क्षणों में अवश्य पश्चाताप होता था। राजाओं को रिझाने में कवियों की वेदना स्पष्ट है—

थोरैं ही गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुमहूँ कान्ह मनौ भए–आज काल्हि के दानि—बिहारी

राजाओं के "बदन निहोरने" की महाकवि देव ने निन्दा की है, यदि मुख देखना ही है तो भगवान के रुख को देखने में अधिक शांति मिलती है। बिहारी ने जगनायक जनार्दन भगवान कृष्ण को उपालम्भ दिया है कि तुम्हें भी रीतिकाल के राजाओं की "हवा लग गई है"—

कल को टेरत दीन रट, होत न स्याम सहाय।
तुमहूँ लागी जगतगुरु, जगनायक-जगवाय।

रीतिकालीन कवि अपने समय की हवा में उड़ते भी थे और लाभ भी उठाते थे परन्तु उन्होंने अपने समय के आदर्श को इष्ट कहीं नहीं बताया है क्योंकि उनके पूर्व के कवि जो आदर्श उपस्थित कर चुके थे और सामान्य जनता के मन में उस आदर्श के प्रति जो आदर उत्पन्न हो चुका था, उसे रीतिकाल का कवि कभी पा नहीं सकता था, यह वह जानता था, अतः पद्माकर, देव आदि सभी कवियों ने अपने जीवन पर पश्चाताप किया है। यहाँ तक कि पंडितराज को भी मुक्ति प्राप्त करने के लिए गंगालहरी लिखनी पड़ी!

यदि यह भी मान लिया जाय कि रीतिकालीन कवि कामशास्त्र या नायिका भेद के विशेषज्ञ थे और "तटस्थ" होकर उन्होंने अपने ज्ञान का प्रदर्शन मात्र किया है तब भी भक्तिकाल और आधुनिक काल के मध्य की यह विशेषज्ञता कम से कम आदर्श नहीं कही जा सकती। न इसे अनुकरणीय कहा जा सकता है। रीतिकाल की मुख्य प्रवृत्ति इस कवित्त में वर्णित है—

प्रेम चरचा है, अरचा है, कुल नेमन रचा है,
चित और अरचा है चित चारी को।
छोड्यो परलोक, नरलोक, वरलोक कहा,
हरष न सोक वा अलोक नरनारी को।
घास सीत मेहना बिचारैं सुख देहहूं को,
प्रीत न सनेह डरु बन न अँध्यारी को
भूलेहू ना भोग, बड़ी विपद बियोग बिथा,
जोग हू तैं कठिन सँजोग परनारी को।

भक्तिकाल के योग, साधना, तप, वैराग्य, दिव्यप्रेम और आदर्शों के ऊपर जीवन को बलिदान करने के स्थान पर "परनारी संयोग" की नाना विधियों के आविष्कार (नायिकाभेद) और भोगविलास के विविध पक्षों के वर्णन में ही काव्य सीमित हो गया। कविगण समाज के सामान्य व्यक्ति की भावनाओं की ओर से उदासीन होगया। भारतेन्दु युग में हिन्दी-काव्य की इसी कमी की पूर्ति की ओर कवियों का ध्यान आकर्षित हुआ।

सामंतों के दरबारों के आश्रय में पलने वाला काव्य समाप्त नहीं होता यदि सामंत १८५७ के युद्ध में स्वयं समाप्त न हो जाते और इस युद्ध के बाद हैदराबाद, रामपुर और दूसरे अवशेष दरबारों में पुराने ढंग का काव्य आगे चलता भी रहा किन्तु सामंतवाद का मेरुदण्ड १८५७ के बाद टूट गया फलतः नए प्रकार के काव्य का जन्म आवश्यक था। इस नयी चेतना के साथ जो नहीं चल सके वे पुराने सामंतवादी दृष्टिकोण को आज तक अपनाए हुए हैं। कुछ कवियों में दोनों प्रवृत्तियाँ साथ-साथ दिखाई पड़ती हैं।

रीतिकाल के अनुगामियों का अन्तिम तर्क काव्य के स्थायित्व से सम्बन्धित है। शृंगार मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्तियों में से है, सर्वदा वह प्रिय रहेगा। शृंगार का अर्थ पुरुष और स्त्री के मध्य आकर्षण का नाम है और यह प्रवृत्ति शाश्वत है। चूँकि रीतिकाल में ही पुरुष-स्त्री के मध्य आकर्षण का मुक्त होकर वर्णन किया गया है अतः रीतिकाल स्थायी काव्य है। उधर सामयिक प्रश्नों पर लिखा हुआ अस्थायी काव्य है; हड़ताल, टैक्स, अकाल, महामारी, समाजसुधार आदि पर लिखी रचनाएँ इन समस्याओं का समाधान होजाने के बाद पुनः नीरस लगती हैं अतः आधुनिक युग का बहुत सा काव्य प्रचारमात्र है।

इसका उत्तर यह है कि शृंगार सूर और तुलसी में भी वर्णित है और अब भी वह पढ़ा जाता है। बाल्मीकि ने भी शृंगार का वर्णन किया है। कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक में शृंगार कम नहीं है किन्तु उसकी दाम्पत्य में परिणति दिखाकर कालिदास ने मनुष्य की मूल प्रवृत्ति और सामाजिकता के द्वन्द्व को सुलझा दिया है। कुमारसम्भव में भी यही स्थिति है। स्कन्द का जन्म कराके कालिदास ने उमा-पार्वती के सम्भोग को रीतिकालीन नहीं रहने दिया है। रीतिकाल का शृंगार इस व्यापक दृष्टिकोण से रहित है।

रीतिकाल के नायक के सम्मुख कोई समस्या नहीं है, शकुन्तला की तरह रीतिकालीन नायिका के मन में मानवीय मूल्यों अथवा अपने भविष्य के

विषय में कोई आशंका, कोई संदेह, कोई अन्तर्द्वन्द्व नहीं है। केवल भोगलिप्सा हमारे किसी प्राचीन कवि का ध्येय नहीं है। कुमारसम्भव में परिस्थिति की विकटता में शृंगार का वर्णन है जो लोकहितकारक संतान की सृष्टि के कारण कल्याणकारी प्रतीत होता है। रीतिकाल में किसी ओर से भी, कोई आशंका और जीवन मंथक कोई प्रश्न कहीं द्वेलित करता हुआ नहीं दिखाई पड़ता अतः रीतिकालीन शृंगार समग्रतः स्थायी महत्व की चीज नहीं है। जागरूक समाज में रीतिकालीन काव्य का पठन लम्पटता का प्रतीक माना जाने लागा है, रीतिकालीन काव्य की प्रत्यक्ष रूप में भोग की अपील कुत्सित मानी जाने लगी है।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि रीतिकाल में संयोग और वियोग के चित्रणों में "सर्वत्र" ऐसा हुआ है। भोग के पूर्व के अनेक सोपानों का—सहज अनुराग के अनेक रूपों का वर्णन रीतिकाल की महान उपलब्धि है—

सखी सिखावति मान विधि, नैननि बरजति बाल।
हरुए कहु मो हिय बसत, सदा बिहारीलाल॥

अथवा

देव मैं सीस बसायो सनेह कैं, भाल मृगम्मद बिन्दु कै राख्यो।
कंचुकी में चुपरयो करि चोवा, लगाय लियो उर सौं अभिलाख्यो।
लै मखतूल गुहे गहने, रसमूरतिवंत सिंगार कैं चाख्यो।
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं, नैननि मे कजरा करि राख्यो।

शृंगार के ऐसे निर्मल और अनुरागरंजित पद्य रीतिकाल के उज्ज्वल पक्ष को प्रस्तुत करते हैं, वियोग पक्ष में कहे गए पदों में भी बहुत से पद्य मनोहर हैं। संयोगवियोग में प्रकृति के भव्य और भावुकतारंजित रूप भी आकर्षक हैं—रीतिकाल की यह "स्थायी सम्पत्ति" है जो सर्वदा आदरणीय रहेगी। किन्तु अभिसारिकाओं के नाज़ओअन्दाज, रुदन, उपाय, खंडिताओं की लीलाएँ और चीत्कार, नानाविध नायिकाओं के नखरे, दूतियों की दौड़धूप, सपत्नियों के षड़यन्त्र और ईर्ष्याएँ—ये सब "स्थायी" साहित्य की सृष्टि नहीं करते। बदलते हुए समाज में इन सबकी सत्ता ही नहीं रहेगी तब ऐसे वर्णन उसी प्रकार 'इतिहास' बन जाएँगे जिस प्रकार हड़ताल और टैक्स के वर्णन। स्वयं रीतिकालीन कवियों को रीतिकाल की दुराचारात्मक दृष्टि अनुचित प्रतीत हुई थी। महाकवि देव ने इसीलिए "स्वकीयावाद" को परकीयावाद से श्रेष्ठ स्वीकार किया था!

अतः रीतिकाल के अनुयायियों को इस प्रश्न का उत्तर देना होगा कि दरबारवाद और फारसी के विलासपरक काव्य से यदि हिन्दी कवि प्रेरित नहीं हुए तो उन्होंने संस्कृत के वैविध्यपरक काव्य में से नखशिख, षड्ऋतु वर्णन और कामशास्त्रपरक परम्परा ही क्यों स्वीकार की ! यदि रीतिकाल भक्तिकाल का ही सुखद सहज और अधिक कलापूर्ण विकास है तो रीतिकालीन काव्य में भक्तिकालीन उच्च चित्रवृत्ति के दर्शन क्यों नहीं होते ? रीतिकालीन कवियो ने हिन्दू धर्म को जनप्रिय बनाया--यह तर्क बहुत दूर तक हमें नहीं ले चलता। रीतिकाल मे धार्मिकता का अंश अत्यधिक क्षीण है, इसके विपरीत रीतिकाल के समानान्तर चलने वाले काव्य में धार्मिकता अधिक मिलती है। भारतेन्दु जी के काव्य में रीतिकाल से कहीं अधिक धार्मिकता है क्योंकि भारतेन्दु की चित्रवृत्ति भक्तिकाल से भी अत्यधिक प्रभावित थी अतः भारतेन्दु के काव्य में परम्परागत रीतिकालीन काव्य भी कुछ नए रूप में रचित हुआ था। उसका आधार नहीं बदला है किन्तु रीतिकालीन आधार पर भारतेन्दु ने जिस काव्य को खड़ा किया है, उसमें नए उपादानों के कारण, नवीन परिस्थितियों की माँग के कारण, एक नवीन रंग आगया है अतः रीतिकाल के अनुगामी को यह बताना होगा कि भारतेन्दु रीतिकाल के अन्धानुयायी क्यों नहीं है ? सामाजिक दृष्टिकोण काव्य के लिए आवश्यक है या अनावश्यक, इस प्रश्न का उत्तर देना होगा। कला इतिहास में सामाजिक आग्रह, चाहे वह धर्म के रूप में रहा हो या समाज सुधार के रूप में अथवा 'समाजवाद' के रूप में, प्रारम्भ से ही है। अतः 'निरपेक्ष' कला के तर्क द्वारा रीतिकालीन काव्य के स्थायित्व की वकालत सम्भव नहीं है। महाकवि "गोरी के नैन" पर स्थायी काव्य की सृष्टि करता है तो हड़ताल में मरे हुए किसी गरीब मजदूर पर भी मार्मिक और स्थायी काव्य लिख सकता है। यदि ऐसा न हो तो निराला की "बिधवा", "वह तोड़ती पत्थर", "बादल" तथा महादेवी की "कह दे माँ मैं क्या देखूँ" शीर्षक कविताएँ इतनी प्रिय क्यों लगतीं ? यान्त्रिक उन्नति में इलाहाबाद की सड़क पर पत्थर तोड़ने वाली स्त्रियाँ शायद इक्कीसवीं शताब्दी में न मिलें किन्तु निराला की कविता पढ़ कर लोग अवश्य प्रभावित होते रहेंगे क्योंकि मानवीय करुणा का उद्रेक जहाँ भी और जिस माध्यम से भी हुआ है, सर्वदा स्थायी रहता है अतः स्थायित्व की दृष्टि से भविष्य के उन्नतिशील समाज में निजी और कमजोर क्षणों में शायद खण्डितावादी काव्य को भी लोग पढ़ेंगे, उसमें रस लेंगे किन्तु स्वस्थ और शुभ क्षणों मे इस काव्य में मानवता आनन्द नहीं ले सकती और श्रेष्ठ सभ्यता का लक्षण ही यह है

कि उसमें स्वस्थ क्षण अधिक हों और दुर्बल क्षण कम। प्रेमीजन अपनी प्रेमिका के सम्मुख रीतिकालीन अभिसारिका का वर्णन करते समय आज भी लज्जित होते देखे गए हैं, उन्हें अपने विषय में प्रेमिका के अभिमत की चिन्ता रहती है। व्यक्तित्व की बढ़ती हुई गरिमा व्यक्तित्वहीन वासनापरक काव्य को स्थायी रहने देगा, इसमें सन्देह है, हाँ निर्मल अंशों का प्रचार अवश्य होगा और होना चाहिए।

यह प्रश्न भी प्रस्तुत किया जाता है कि जब किसी युग-विशेष का काव्य सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप होता है तब उसे शुभ, अशुभ या कल्याण-कारक न कह कर केवल सुन्दर या असुन्दर ही कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए यदि यह मान भी लिया जाय कि रीतिकालीन काव्य विलासपरक है तब यह विलास व्यवस्थाजन्य होने से निन्दित नहीं हो सकता। आधुनिक युग के दृष्टिकोण को मध्यकाल पर आरोपित नहीं किया जा सकता।

इसका उत्तर यह है कि प्रथमतः सौन्दर्य के मूल में सामाजिक व्यवस्था, उसके अनुरूप विकसित मूल्य (Values) और समग्रतः साँस्कृतिक तत्त्व कार्य करते हैं। सांस्कृतिक और सामाजिक तत्त्वों को ध्यान में न रखने से किसी युग के सौन्दर्य को समझा ही नहीं जा सकता और किसी युग के सांस्कृतिक और सामाजिक स्वरूप को समझ लेने पर, इतिहास के विराट प्रवाह में रखकर देखने पर, उस युग के सांस्कृतिक और सामाजिक स्वरूप की सीमाएँ भी हमारे सम्मुख स्पष्ट होजाती हैं। और उन सीमाओं के अनुरूप उस युग के सौन्दर्य की सीमाएँ भी स्पष्ट हो जाती हैं। अपने इतिहास के निर्माण में संलग्न जनता युगविशेष की सीमाओं की भी चर्चा इसीलिए करती है कि उन सीमाओं से हम बच सकें और इतिहास को अभीप्सित मोड़ दिया जा सके। अतः युगविशेष के सौन्दर्य को जहाँ हम उसकी सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप पाते हैं, वहीं उस सामाजिक व्यवस्था और उसके अनुरूप विकसित सौन्दर्य की कमजोरियों को भी हम बताते हैं, उसके उज्ज्वल और निर्बल पक्षों का विश्लेषण करते हैं, क्योंकि हमें एक ऐसी सभ्यता का निर्माण करना है जिसमें पूर्व युगों की उपलब्धियों की धरोहर तो सुरक्षित रहे किन्तु पूर्व युगों की दुर्बलताएँ उसमें प्रवेश न पा सकें। अतएव युग विशेष के साहित्य के सौंदर्य को हम हित-अहित के प्रश्नों से अलग करके नहीं देखते। सौन्दर्य के विषय में चर्चा करते ही हित-अहित का प्रश्न उपस्थित होता ही है क्योंकि हित भी हमें प्रिय लगता है, हित जहाँ नहीं है, वह हमें सुन्दर भी नहीं लगता। रुग्ण-सभ्यता की पहचान ही यह है कि 'वरेण्य' की उसमें उपेक्षा होती है, जागरूक

समाज में सतत जाग्रत नागरिक का 'सौन्दर्य बोध' व्यापक हित का अविरोधी हो जाता है। रीतिकाल में यह कमी थी। भारतेन्दुयुग में राजनैतिक और सामाजिक शक्तियों में परिवर्त्तन होते ही 'सौन्दर्य' और हित में अविरोध स्थापित करने का प्रयत्न बड़ी द्रुत गति से हुआ, भारतेन्दु के द्वारा यह प्रक्रिया सर्वप्रथम प्रकाश में आई अतः उन्हें आधुनिक युग का जन्मदाता कहना उचित ही है।

नवचेतना का स्वरूप—भारतेन्दु का जन्म १८५० ई० में हुआ अर्थात् प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम के सात वर्ष पूर्व ! राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना के बाद राष्ट्रीय जागरण का यह चन्द्रमा अस्त हो गया सन् १८८५ ई० में—जैसे जागरण का कार्य काँग्रेस को सौंपकर भारतेन्दु ने देश से विदा ले ली हो !

भारतेन्दु के ऊपर इस प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर राजनैतिक दलों के पूर्व की जाग्रति का उत्तरदायित्व आ पड़ा था। शताब्दियों की दासता और आर्थिक दुरावस्था से राष्ट्रीय चरित्र का पतन हो चुका था। विदेशी साम्राज्यवाद के सम्मुख इस देश को रूबरू खड़ा करने के लिए "भारतीय मानस" की पुनः सृष्टि आवश्यक थी, भारतेन्दु ने यही कार्य किया था। क्रान्ति का कार्य एक दिन में पूरा नहीं होता। कोरे सिद्धान्तवादी कहेंगे कि शान्ति और विधि-स्थापक, सम्पूर्ण प्रदेशों को एक ही केन्द्रीय सत्ता के नीचे लाने में समर्थ और इसलिए एक राष्ट्र के विकास की ओर उन्मुख महान ब्रिटिश राज्य की प्रगतिशील भूमिका के विरुद्ध असंतोष उत्पन्न करने वाले भारतेन्दु क्या प्रतिक्रियावादी नहीं थे ? इसका स्पष्ट उत्तर है कि अँगरेजों का राज्य इंगलैंड के विकास के लिए स्थापित किया गया था। भारत में अँग्रेजी राज्य की भूमिका सन् १८५७ की विद्रोही जनता ने भलीभाँति समझ ली थी। सन् १८५७ की क्रान्ति को चाहे कोई भी नाम क्यों न दिया जाय, यह मानना ही होगा कि विदेशी राज्य के विरुद्ध यह प्रथम असंतोष की अभिव्यक्ति थी।[1] १८५७ की

---

१. यह दुःख का विषय है कि भारतेन्दु और उनके युग के साहित्य के विषय में सबसे अधिक सामग्री सम्मुख लाने वाले ब्रजरत्नदास जैसे लेखक भी 'भारतेन्दुयुग' की भूमिका स्पष्ट नहीं कर सके और इसका प्रमुख कारण भारत में अँग्रेजी राज्य के विरुद्ध असंतोष के इतिहास को शुद्ध रूप में न देख सकना है। श्री ब्रजरत्नदास के अट्ठारह सौ सत्तावन के विषय में क्या सोचते हैं, यह उन्हीं के शब्दों में पढ़िए—

क्रान्ति ने स्पष्ट कर दिया कि अँगरेजों का शासन हमें प्रिय नहीं है। राजा, सामंत और सिपाही वर्ग के नेतृत्व और सामान्य जनता के सहयोग से तीन वर्ष तक विदेशी लुटेरों के विरुद्ध भीषण असंतोष की आग धधकती रही। जो लोग इस क्रान्ति को सिपाहियों की बगावत कहते हैं, उन्हें सिपाहियों का वर्ग-आधार देखना चाहिए। सन् सत्तावन के सिपाहियों में जनता से कट कर अलग होजाने वाले वेतनभोगी सैनिक मात्र नहीं थे। सिपाहियों में अधिकतर सिपाही कृषकवर्ग से आए थे फलतः सिपाहियों के असंतोष में गन्दे कारतूसों और अंधविश्वासों का योगदान नगण्य था। मुख्य असंतोष का कारण था, किसानों की दुर्दशा, जो कृषकवर्ग से आने वाले सैनिकों के हृदयों में अग्नि बनकर भड़क उठी थी।

बहरहाल, क्रान्ति की असफलता के बाद द्वितीय क्रान्ति का शुभारम्भ भारतेन्दु द्वारा हुआ। असफल क्रान्ति के बाद प्रायः विजेता के प्रति सहानुभूति रखने वाला एक वर्ग उत्पन्न हो जाता है जो उससे सुविधा प्राप्त करने के लिए सहानुभूति प्रदर्शित करता है। भारतेन्दु वस्तुतः वर्ग की दृष्टि से इसी वर्ग के थे परन्तु स्वयं भारतेन्दु अग्रचेता थे अतः सामान्य जनता के मन की अभिव्यक्ति उनके माध्यम से हुई। यह असम्भव था कि भारतेन्दु आज के क्रांतिकारियों जैसे पूर्णतः विद्रोही दिखाई पड़ते। भारतेन्दु को भी अन्य लोगों की तरह कुछ भ्रम थे अतः एक ओर उनमें राज्य भक्ति दिखाई पड़ती है, तो दूसरी ओर अपने देश में जागरण और राज्य के विरुद्ध विद्रोह की अग्नि भी उनमें दिखाई पड़ती है।

"सम्वत् १९१३-१५ में भारत के कुछ भाग में सिपाही विद्रोह हुआ। इस विद्रोह में विशेष रूप से उन्हीं तिलंगों या सिपाहियों ने भाग लिया था जो भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साम्राज्य स्थापित करने में मुख्य सहायक थे।·····इनके विद्रोह का कारण देश प्रेम या देशभक्ति नहीं थी क्योंकि ये मूलतः देशद्रोही थे पर कुछ धार्मिक विश्वास के विरोधी कार्यों के कराए जाने तथा कुछ लोभ के कारण इनमें उत्तेजना फैली हुई थी।·····इन विद्रोह के फलस्वरूप उन देशद्रोही तिलंगों की पल्टनों के अन्त के साथ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का भी अन्त हो गया और भारत का शासन इङ्गलैण्ड के शासकों के हाथ में चला गया। ऐसे विद्रोह को भारत की जातीय जाग्रति मानना कोरा भ्रम मात्र है।"
भारतेन्दु मंडल, पृष्ठ ७)

सन् १८२१ ई० में कारनेटीक्स ने कहा था—

We must at once admit that our conquest of India was through every stuggle more owing to the weakness of the Asiatic character than to the bare effect of our own brilliant achievements.....on the same principal, we may set down as certain that whenever one-twentieth part of the population of India becomes as provident and as scheming as ourselves, we shall run back again in the same ratio of velocity, the same course of our original insignificance.[1]

अर्थात् अँगरेजों की विजय एसिया के चरित्र की दुर्बलता के कारण हुई है। जब भारत की जनता का बीसवाँ भाग भी अग्रचेता और योजना-निपुण हो जाएगा, हम अँगरेज लोग महत्त्वहीन हो जाएँगे।

अर्थात् अँगरेजी राज्य का सबसे बड़ा विरोध तब होता, जब देश की जनता को अँगरेज जनता की तरह जागरूक बनाया जाता, उसमें महान चरित्र और राजनैतिक, सामाजिक समझ का विकास किया जाता। यह कार्य यत्र तत्र शत्रुबध से अधिक महत्त्वपूर्ण था क्योंकि अग्रचेता मध्यम वर्ग के नेतृत्व में राजनैतिक क्रान्ति तभी सफल हो सकती थी जब सामान्य जनता आगे बढ़ते हुए नेताओं का पृष्ठपोषण करती। हरावल सेना तभी कामयाब होती है, जब उसके पीछे शेष सेना आगे बढ़ती चलती है। अतः भारतेन्दु को दो कार्य करने थे, अग्रचेता मध्यवर्ग की शिक्षा और उसकी पृष्ठपोषक सामान्य जनता का जागरण ताकि वह देशी नेतृत्व का महत्त्व समझ सके और उसका साथ दे सके।

भारतेन्दु के साहित्य का यही आदर्श था। इतने महान आदर्श के बिना साहित्य महान हो ही नहीं सकता था। भारतेन्दुयुग के पूर्व आदर्श और दृष्टि की यह विराटता केवल भक्तिकाल में ही दिखाई पड़ती है। भारतेन्दु की परम्परा को स्मरण रखने वाला साहित्यकार साहित्य को "निरपेक्ष" नहीं मान सकता। कोरा "सौन्दर्यवादी आन्दोलन" भारतेन्दु की परम्परा के विरुद्ध है। सौन्दर्यवाद

---

१. "भारत में अँगरेजी राज्य"—सुन्दरलाल—द्रष्टव्य—श्रीधरपाठक। तथा पूर्वस्वच्छन्दतावादी काव्य – रामचन्द्र मिश्र, पृष्ठ ४६।

वहीं सफल हो सकता है जो साहित्य के गर्भ में स्थित महान अभिव्यंग्य को कलापूर्ण व्यंजना दे। 'सौन्दर्य' के क्षेत्र से स्रष्टा के "प्रयोजन" को निकालकर केवल "प्रक्रिया" की सफलता की चर्चा करना गंतव्यहीन यात्रियों द्वारा की गई बहस ही हो सकती है।

पुनः शंका होगी कि भारतेन्दु के ऊपर यह सब आरोप स्वयं लेखकों द्वारा हुआ है। भारतेन्दु ने समाज सुधार पर अधिक ध्यान दिया था। भावी क्रान्ति की पृष्ठभूमि के रूप में भारतेन्दु के कार्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता। भारतेन्दु ने राज्य भक्ति के बराबर गीत गाए हैं। हाँ, अपने देश और समाज के विषय में भी उन्हीं प्रशस्तियों में उन्होंने कुछ कह दिया है, उससे यह प्रमाणित नहीं होता कि भारतेन्दुयुग इतना जागरूक था।

इतिहास के विकास में किसी व्यक्ति का योगदान समझने के लिए वह व्यक्ति अपने विषय में क्या कहता है, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। देखना यह चाहिए कि जो कार्य उसने किया है, उसका 'प्रभाव' क्या हुआ है, इसके बाद, उस कार्य की 'परम्परा' समाज को किस ओर ले गई है और बाद में उस परम्परा का समाज पर क्या प्रभाव पड़ा है। भारतेन्दु अपने को चाहे राज्यभक्त प्रजा ही समझते रहे हों, जैसा कि कुछ लोगों ने प्रमाणित किया है, चाहे वह अपने किए गए कार्य को इतना महत्त्वपूर्ण न भी समझते हों परन्तु उस कार्य का तात्कालिक 'प्रभाव' और बाद में उसकी 'परम्परा' का प्रभाव इस देश की मुक्ति-प्राप्ति और नवनिर्माण में निर्णायक हुआ है। अतः भारतेन्दु का काव्य और साहित्य एक क्रान्तिकारी परम्परा के प्रथम प्रवाह के रूप में ही देखा जा सकता है।

रीतिकाल के अनुगामियों का कथन है कि अन्ततः शुद्ध काव्य के रूप में भारतेन्दुयुग रीतिकाल के समक्ष नही ठहर सकता क्योंकि अधिकतर भारतेन्दुयुगीन काव्य प्रचारात्मक है। और जहाँ रीतिकाल के आदर्श पर भारतेन्दु प्रेमधन आदि ने लिखा है, वहाँ वह रीतिकाल से आगे नहीं बढ़ सके हैं।

जैसा कि लौंजाइनस ने लिखा है कि साहित्य में केवल भाषा और छन्द का सौन्दर्य ही सब कुछ नहीं है, कभी-कभी कोई विचार ही अपनी नवीनता और परिस्थिति–औचित्य के कारण हमें मुग्ध कर देता है। भारतेन्दुयुग का काव्य अपनी नवीन दृष्टि के कारण हमें प्रभावित करता है। यह नवीनता प्रयोगवादियों जैसी नवीनता के लिए नवीनता नहीं है अपितु वह नवीनता सामाजिक चेतना के अनुरूप है अतः अभिव्यंजना की दृष्टि से अधिक परिमार्जन

न होने पर भी भारतेन्दुयुग की नवीन चेतना हमें प्रभावित करती है। जिस प्रकार हम कामायनी के सौन्दर्य-वर्णन को पढ़कर मुग्ध होते रहेंगे, उसी प्रकार राष्ट्रीय चेतना के विकास का इतिहास भी हमारे लिए मनोरंजक बना रहेगा और तब हमें भारतेन्दु युगीन काव्य अवश्य रुचिकर लगेगा। हाँ जिन्हें सामाजिक चेतना के विकास की चिन्ता नहीं है, जिन्हें केवल एक ही प्रकार का जीवन और एक ही प्रकार का काव्य प्रिय है, उनके लिए उसे छोड़ सब कुछ प्रचार है। नवयुग के सूत्रधार कवि कला की दृष्टि से महान न होने पर भी अपनी दृष्टि की अग्रगामिता के कारण हमें प्रभावित करते हैं।

खड़ी बोली का आदिकाव्य

भारतेन्दुयुगीन काव्य का स्वरूप—भारतेन्दुयुग में काव्य की भाषा यद्यपि ब्रजभाषा ही रही तथापि पुरानी चेतना के गर्भ में जिस प्रकार नवीन चेतना पल रही थी, उसी प्रकार शनैः शनैः खड़ी बोली भी ब्रजभाषा के साथ-साथ विकसित हो रही थी।

हिन्दी भाषा का जन्म सिद्धों की यथार्थवादी कविता के साथ हुआ। रीतिकाल के पूर्व तक वह शुद्ध जनमानस को व्यक्त करती रही। निर्गुणपंथी संतों ने खड़ी बोली की क्रियाओं का भी यत्र तत्र प्रयोग करके जिस खड़ी बोली में अपनी भावनाएँ व्यक्त की थीं, वह खड़ी बोली दरबारों को सजाने वाली ब्रजभाषा के समान्तर इन्हीं निर्गुणतंथियों द्वारा विकसित होने लगी। ब्रजभाषा काव्य की मोहिनी और शृंगारिता के सम्मुख खड़ी बोली में, समान्तर रूप से, लावनी साहित्य का जन्म हुआ। खड़ी बोली के लावनी-काव्य की विशेषता यह भी थी कि उसमें हिन्दू मुसलमान सभी सन्तों ने सहयोग दिया। खड़ी बोली का आदिकाव्य असाम्दायिक था—हिन्दू मुसलमानों की एकता का प्रतीक।

१८वीं शताब्दी को रीतिकालीन शताब्दी कहा जाता है किन्तु इसी युग में खड़ी बोली में भी रचनाएँ हुई हैं और सुन्दर रचनाएँ हुई हैं। किन्तु यह कार्य सन्तों ने ही किया है। १८वीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में सन्त 'सीतल' हुए हैं (जन्म सन् १७२३ ई०), उनकी कविता का नमूना देखिए—

पंकज पर भौंरे मधुभाते ससि पर अहिपति की भीरैं हैं।
मखतूल नीलमनि चारु चौंर उपमा नहि आवत नीरैं हैं।
कै वरक तिल्लई पर सीतल ये खैंच दई तहरीरैं हैं।
या लाल बिहारी के मुख पर क्या कहर जुल्फ जंजीरैं हैं।[1]

---

१. साहित्य प्रवाह, पृष्ठ २–३ से उद्धृत— कृष्णदेवप्रसाद गौड़, बनारस।

सीतल मस्त सन्त कवि थे। वैष्णव फकीर थे अतः उनकी कविता में साँवरिया के सौन्दर्य का वर्णन है परन्तु दरबारी काव्य में यह मस्ती कहाँ ?

हम दर्दमन्द मुशताक रहे तुझ बिन उर दूजा दुरा नहीं।
तीखी चितवन का जख्म लगा, दिलमें सो अब तक पुरा नही।
तुझ हुस्न बलख में ए दिलवर कुछ हम लोगों का बुरा नहीं।
विहँसन के मोल बिकाते हैं, सीतल इन मोलों बुरा नहीं।[1]

सीतल के सम्प्रदाय (टट्टी सम्प्रदाय) के ही एक और सन्त 'भगवत-रसिक' के काव्यों में भी यही मस्त परम्परा है, मुक्त होकर खड़ी बोली की क्रियाओं, संस्कृत, पंजाबी और उर्दू के शब्दों द्वारा खड़ी बोली का काव्य "सधुक्कड़ी" परम्परा के कवियों द्वारा विकास को प्राप्त हुआ है, यह अब सिद्ध हो चुका है—महात्माओं का हम पर कितना ऋण है !

फक्कड़ के टक्कर अब सबसे हला न भला हलारी।
दफ्तर फार खुशामद हूँ का डार दिया डर भारी !

जब रीतिकाल में कवियों द्वारा राजाओं की खुशामद का बोलबाला था तब सीतल और भगवतरसिक खुशामदाना प्रवृत्तियों के विरुद्ध जनघोष कर रहे थे—

दफ्तर फार खुशामद हूँ का डार दिया डर भारी।

भगवतरसिक (सहचरीशरण) ने मस्त भक्तों को "शेर बच्चा" कहा है। वस्तुतः दरबारी परम्परा के समानान्तर सहचरीशरण का स्वर केहरीनाद सा लगता है। वे राजाओं की खुशामद के स्थान पर राजाधिराज भगवान के प्रेम में मस्त होने के लिए ललकारते हैं—

हरदम याद किया कर हरि दरद निदान करैगा।
मेरा कहा न खाली ऐ दिल आनंद कंद करैगा।
ऐसा नहीं जहाँ बिच कोई लंगर लोग लरैगा।
सहचरिसरन सेरदा बच्चा क्या गजराज करैगा।[2]

ईश्वर प्रेम के माध्यम से दरबारों, राजलिप्सा, अत्याचार आदि के विरुद्ध सन्तों और भक्तों ने जनमानस की घृणा प्रकट की है। रीतिकालीन काव्य के विरुद्ध खड़ी बोली के इन कवियों की चेतना बहुत आगे थी। यही

---

१. साहित्य प्रवाह, पृष्ठ २-३ से उद्धृत—कृष्णदेवप्रसाद गौड़, बनारस।
२. वही।

परम्परा—दरबारों से घृणा, धनसंग्रह के लिए शोषण और अत्याचार से ग्लानि हिन्दू मुसलमानों में एकता का प्रयत्न—ये सब परम्पराएँ खड़ी बाली को प्रारम्भ से ही मिली थीं—यह पराम्परा ही नज़ीर अकबरावादी के काव्य में व्यक्त हुई थी। यही परम्परा ललितकिशोरी (सन् १८६३ ई० कविताकाल) के काव्य में व्यक्त हुई थी।

१९वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही लावनी, का प्रचार बहुत बढ़ गया। १९वीं शताब्दी के प्रथम चरण में रिसालगिरि तथा तुकनगिरि आदि के अखाड़े स्थापित हुए। रिसालगिरि के शिष्य बनारसी (मृत्यु सन् १८९३ ई०) की एक लावनी श्री गौड़ ने उद्धृत की है—

दिल में पाये दीदार वो वंशी अटके।
शिरमौर मुकुट कटि कसे जरी के पटके।
कहैं देवीसिंह हैं अजब खेल नटखट के।
कहैं बनारसी हम आशक नागर नट के।[1]

श्री रूपकिशोर की लावनी तो अलंकृत काव्य का एक अच्छा उदाहरण है परन्तु जनता से दूर नहीं। जनकाव्यों में कहीं कहीं अत्यधिक अलंकृति होती है जरन्तु जनकवि उसे इस ढंग से प्रस्तुत करता है कि जनता उसे समझ लेती है—

है शीश पै शीशफूल शोभित स्वरूप आभा अखंड का है।
मनो भुजंगी की भूमिका पै, निवास श्री मारतण्ड का है।
ये फूल तेरे ने आज उपमा गगन के गुरु की हरन करी है।
कनक शिखर पर कि वासुकी ने–उगल के मस्तक पै मनि धरी है।
बनाया किसने ये फूल जिसमें प्रकाश मणिगण प्रचण्ड का है।[2]

यह स्मरणीय है कि लावनीकार यद्यपि तुर्रा और कलगी—इन दो अखाड़ों में विभक्त थे और इनके प्रवर्तक ब्रह्म और माया को केन्द्र मानकर चले थे परन्तु लावनियाँ विविध विषयों पर भी बनने लगीं और इस प्रकार का भेद व्यवहार में समाप्त होगया। जनता के मनोरंजन के लिए तरह तरह के विषय अपनाए गए।

"जिस समय हिन्दी के कवि काव्य की भाषा को जो उस समय ब्रज-भाषा थी, राजदरबार के कठघरे में शब्दों की रूढ़ियों से जकड़ रहे थे, उस

---

१. साहित्य प्रवाह, पृष्ठ २–३ से उद्धृत—कृष्णदेवप्रसाद गौड़, बनारस।
२. वही।

समय जनता के खुले आँगन में खुले भाव से चंग की उन्मुक्त थाप में लावनी साहित्य का जन्म हुआ, जिसकी भाषा ब्रह्म नहीं वरन् ऐसी खड़ी बोली थी जिसमें अरबी फारसी से शब्द प्रचुर मात्रा में कंधे से कंधा मिलाकर हिन्दी के साथ जड़े हैं; "रीति युग की प्रवृत्तियों के विरोध में लावनी गायन की यह परम्परा वास्तव में ज्ञानाश्रयी और प्रेममार्गी साधुओं की एक सम्मिलित प्रक्रिया के रूप में मौलिक सूझ थी।"[१]

तुर्रा वालों के गुरु थे तुकनगिरि। तुकनगिरि के चार शिष्य थे। रिसालगिरि ने उत्तरप्रदेश, महाराजगिरि ने मध्यभारत, श्यामगिरि ने दिल्ली-प्रदेश और पंजाब तथा लक्ष्मणगिरि ने राजस्थान में तुर्रा वालों के अखाड़े स्थापित किए। मदारीलाल ने कानपुर में और हरदयालसिंह ने आगरा में अखाड़े स्थापित किए। भरतपुर में हरनन्द ने और अलवर में भूर ने अखाड़े बनाए। चूड़ामल ने अम्बाला में, और सुखलाल ने शाहदरा में, अखाड़े स्थापित किए। आगरा में ख्याल गायक आज भी प्रसिद्ध हैं।[२]

लावनी और ख्याल बाजी के साथ पटकेबाजी का भी प्रचार हुआ, जिसमें गायक वाक्चातुर्य द्वारा एक दूसरे को पराजित करने का प्रयत्न करते थे। जनता का इससे बहुत बड़ा मनोरंजन होता था--

दर्द हो दुश्मन के जब दंगल में मेरा छन्द हो।
दुम दबा भागे उदू, मुँह बन्द हो, मुँह बन्द हो।

कलंगी वाले—ओ पर बिन्दी लगे अंग की, तब होता वह ओंकारी।
दुर्रा वाले—ओ को अपने अलग करूँ तो बिन्दी क्या है बेचारी।[3]

महफिल के शायरों पर भी लावनी का प्रभाव पड़ा, उसी प्रकार जिस प्रकार भारतेन्दुयुगीन कवि उससे प्रभावित हुए थे। फरहत साहब ने लिखा—

मन कौन भरोसे भूला है।
सुख सम्पति सब घड़ी दिन पल की, तापर इतना करता मान।
मेरी सुन नादान क्यों फूला है?[४]

---

१. लावनी का उदय—रामनारायण अग्रवाल—समालोचक, नवम्बर १९५८।
२. वही ।
३. वही ।
४. साहित्य प्रवाह, पृष्ठ ६।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लावनी वालों के स्वर में स्वर मिलाकर कहा था—

अग्नि वायु जल पृथ्वी नभ इन तत्त्वों का मेला है।
इच्छा कर्म संयोगी इंजन गारड आप अकेला है।
जीव लाद खींचत डोलत औ तन स्टेशन झेला है।
जयति अपूरब कारीगर जिन जगत रेल को रेला है।[1]

सन्तों द्वारा प्रवर्तित लावनी की टेक पर भारतेन्दु ने नाटकों में भी प्रयोग किए हैं—

ऐसा है कोई हरिजन मोदी तन की तपन बुझावेगा।
पूरन प्याला पिये हरी का फेर जनम नहीं पावेगा।[2]

इसी पैटर्न पर भारतेन्दु ने बहुत सी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। यहाँ तक कि एक लावनी संस्कृत में भी लिखी है।

मजा कहीं नहीं पाया जग में, नाहक रहा भुलाया।
छिन के सुख की लालच जित तित स्वान लार लपटाया।
यह जग में किसको अपना कर झूठा भरम बढ़ाया।
+ + + +
तुझ पर काल अचानक टूटेगा।
गाफिल मत हो लवा बाज ज्यौं हँसी खेल में लूटेगा।
+ + + +
क्यों बे क्या करने जग में तू आया था क्या करता है।
गरभ बास की भूल गया सुध मरनहार पर मरता है।
खाना पीना सोना रोना और विषय में भूला है।
यह तो सूअर में भी हैं तू मानुस बनि क्या फूला है।
+ + + +
नहीं का बाकी वक्त नहीं है जरा न जी में शरमाओ।
लब पर जो हैं, भला अब तो प्यारे मिलते जाओ।
कहाँ गई वह पिछली बातें कहाँ गया वह था जो प्यार।
बेहोशी में घबड़ा घबड़ा करके यही कहता हूँ पुकार।[3]

---

१. साहित्य प्रवाह पृष्ठ ६।
२. वैदिकी हिंसा न भवति।
३. भारतेन्दु ग्रन्थावली—भाग २।

स्पष्ट है कि भारतेन्दु ने सन्तों, भक्तों और सूफियों द्वारा खड़ी बोली के नमूने पर बहुत सी कविताएँ लिखीं थी किन्तु फिर भी आलोचक कहते हैं कि भारतेन्दु को खड़ी बोली काव्य के लिए उपयुक्त नहीं प्रतीत हुई। "फूलों का गुच्छा" में भारतेन्दु ने खड़ी बोली का ही प्रचार किया है। प्रेम की रसभीनी कविताओं के लिए खड़ी बोली की अनुपयुक्तता भारतेन्दु को अवश्य खटकती थी किन्तु जगत की नश्वरता, चेतावनी, व्यंग्य, भर्त्सना आदि विषयों के लिए स्वयं भारतेन्दु ने यत्रतत्र खड़ी बोली का सफल प्रयोग कियाहै। उक्त रचनाओं को पढ़कर लगता है कि कोई मस्त फकीर दुनियाँ की नश्वरता, विलासिता और भ्रम पर उसे डाँट रहा है।

देश की दुर्दशा पर भी लक्ष्मीप्रसाद की एक रचना मिलती है—

दुर्दशा तेरी है जब ध्यान में आती इकबार।
आँसू आँखों में उमड़ आता है बँध जाता है तार।
सोच यों व्यग्र है करता कि न रहता है विचार।
सर्वथा जी से बिसर जाता है जग का व्यवहार।
सोना स्वप्न होता है, अच्छा नहीं अन लगता है।
शोक की आग में भस्म होने बदन लगता है।[1]

श्री कृष्णप्रसाद गौड़ ने रायसोहनलाल, पं० अम्बिकाचरण व्यास तथा बाबू महेशनरायन पटना की रचनाओं के कुछ उद्धरण दिए हैं। ये अत्यधिक महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। खड़ी बोली में रचनाएँ भारतेन्दु युग में भी होती रही हैं और लावनीवाजों की परम्परा भी जीवित रही है, यह तथ्य प्रमाणित होता है। जिस प्रकार उर्दू की गजलों के आधार पर भारतेन्दु ने कई गज़लें खड़ी बोली में भी लिखीं थी[2]। उसी प्रकार बाबू महेशनरायण ने प्रकृति वर्णन के लिए

---

१. साहित्य प्रवाह—पृष्ठ ७।

२. दुनियाँ में हाथ पैर हिलाना नहीं अच्छा।
मरजाना पै उठके कहीं जाना नहीं अच्छा।
फाकों से मरिए पर न कोई काम कीजिए।
दुनियाँ नहीं अच्छी है जमाना नहीं अच्छा।

× × × ×

दिलबर के इश्क में दिल को एक मिलावे।
काले गोरे का एक रंग बस सूझे।
दुश्मन को दोस्त को एक नज़र से देखे।
मैखाना मस्जिद मन्दिर एकी समझे।
अपने को खोए तब अपने को पावे॥

उर्दू की मसनवी शैली में एक कविता लिखी थी, परन्तु उसमें भी कुछ पक्तियाँ तोड़ कर उसे एक नया रूप दे दिया था—

सब्जी का बना था शामियाना।
और सब्ज ही मखमली बिछौना।
फूलों से बसा हुआ था वह कुञ्ज
था प्रीत मिलन के योग्य वह कुञ्ज
एक कुञ्ज
बहुत गुञ्ज
पेड़ों से घिरा था
झरनों के बग़ल में,
बिजली की चमक भी न पहुंचती थी जहाँ तक
ऐसा वह घिरा था
जस दीप हो जल में
पानी की टपक राह भला पावे कहाँ तक।

सन् १८८६–८७ में कविता की भाषा खड़ी बोली हो या ब्रजभाषा, ऐसा विवाद छिड़ा किन्तु इसके पूर्व खड़ी बोली में बहुत सी रचनाएँ लिखी जा चुकी थीं, प्रकाशित भी हुई थीं। इसके सिवा लावनी—ख्याल परम्परा में मग्न जनता कवियों को अपनी ओर उन्मुख कर रही थी। पं० प्रतापनारायन मिश्र ने ब्रजभाषा में भी लावनियाँ कथी हैं। भारतेन्दु स्वयं कभी कभी लावनी बाजों में मिलकर गाया करते थे। खड़ी बोली की यह परम्परा 'नवीन' इसलिए थी कि इसमें ब्रजभाषा की शृंगारिकता के स्थान पर नवीन संवेदना के दर्शन होरहे थे। उर्दू मिश्रित खड़ी बोली में भारतेन्दु ने नवीन चेतना का मार्मिक वर्णन किया है—

नाम सुनते ही टिकस का, आह करके मर गए।
जान ली कानून, ने—बस मौत का हीला हुआ।

लावनी के प्रवाह में भारतेन्दु ने अपनी नवीन चेतनात्मक धाराएँ प्रभावित की थीं, ब्रजभाषा में भी भारतेन्दु ने लावनी कही हैं—

मोहिं छोड़ि प्रान प्रिय कहूं अनत अनुरागे।
अब उन बिनु छिन छिन प्रान दहन दुःख लागे।
रहे एक दिन वे जो हरि ही के संग जाते।

वृन्दावन कुञ्जन रमत फिरत मदमाते।
दिन रैन श्याम सुख मेरे ही सँग पाते।
मुझै देखे बिन इक छन प्यारे अकुलाते।

(प्रेम तरंग से)

भारतेन्दु जी ने खड़ी बोली में जो प्रयोग किए थे, उनमें नवीन चेतना के दर्शन होते हैं। जिन प्रयोगों के बाद भारतेन्दु ने शिकायत की थी कि खड़ी बोली में कविता जमती नहीं, फिर भी प्रयत्न करने के लिए प्रण किया था, उन प्रयोगों में भी नवीन चेतना दिखाई पड़ती है—

बरसा सिर पर आगई, हरी हुई सब भूमि।
बाग़ों में झूले पड़े, रहे भ्रमरगण भूमि।
खोल-खोल छाता चले, लोग सड़क के बीच।
कीचड़ में जूता फँसे, जैसे अघ में नीच।

एक गीत भी लिखा था, जिसमें भी प्रकृति का तटस्थ वर्णन है—

गरमी के आगम दिखलाने रात लगी घटने।
कुहू कुहू कोयल पेड़ों पर बैठ लगी रटने।
ठंडा पानी लगा सुहाने आलस फिर आई।
सरस सुगंध रिसि फूलों की कोसों छाई।
उपवन में कचनार बनों में टेसू हैं फूले।
मदमाते भौंरे फूलों पर फिरते हैं फूले।[1]

वस्तुतः यह गीत भी लावनीकारों से प्रेरित होकर लिखा गया है। खड़ी बोली के उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि खड़ी बोली के काव्य का श्रेय सन्तों-भक्तो और सूफियों की "लावती-परम्परा" को है। भारतेन्दुयुगीन कवियों को खड़ी बोली का एक सीमा तक जो विकसित रूप मिला था, वह लावनीकारों की ही कृपा से उन्हें प्राप्त हुआ था। रासधारी, नौटंकी, जोगीड़ा लावनी आदि गानों से खड़ी बोली का गढ़ दृढ़ करने में बड़ी सहायता मिली·····यह लोग जानबूझकर ऐसे प्रयोग नहीं करते थे कि कविता खड़ी बोली में लिखी जाय। वह जनता की रुचि के अनुसार उनके समझने योग्य भाषा काम में लाते थे।[2] हाथरसी चिरंजीलाल तथा नथाराम का

---

१. भारतेन्दुयुग—डा० रामविलास शर्मा, पृष्ठ १५६।
२. साहित्य प्रवाह—पृष्ठ ५।

श्रवण चरित्र, संगीत चित्रकूट, लाला गोविन्दराम का संगीत भैन भैया, उरई के मातादीन चौबे का सांगीत पूरनमल, सुदामा चरित्र, तथा हरिश्चन्द्र आदि "सांगीतों" ने खड़ी बोली के विकास में अत्यधिक सहायता की है।

ब्रजभाषा का काव्य

भारतेन्दुयुगीन काव्य का स्वरूप—भारतेन्दुयुगीन काव्य का श्रेष्ठ रूप ब्रजभाषा में मिलता है। १८६९ ई० में भारतेन्दु ने कवि-बचन सुधा नामक पत्रिका प्रकाशित की। यह स्मरणीय है कि यह पत्रिका भारतेन्दु ने अपनी प्रसिद्ध जगन्नाथयात्रा के बाद प्रकाशित की थी। इस यात्रा के पश्चात् भारतेन्दु के हृदय में देश सेवा की लगन उत्पन्न हो चुकी थी। जगन्नाथ यात्रा से लौटने के पश्चात् प्रथम साहित्यिक कार्य "कविवचन सुधा" का प्रकाशन था।

कविवचन सुधा द्वारा अँगरेजी साहित्य के पीछे उन्मत्त लोगों के सन्मुख भारतीय साहित्य की श्रेष्ठता प्रमाणित करना और इस प्रकार भारतीयों को अपने साहित्य की ओर उन्मुख करने की प्रेरणा भारतेन्दु में कार्य कर रही थी अतः 'कविवचन सुधा' में प्रकाशित महाकवि देव का अष्टयाम, दीनदयाल-गिरि का 'अनुराग बाग', जायसी का 'पद्मावत', कबीर की 'साखी' और बिहारी के दोहों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है और इन सब काव्यों के प्रकाशन का लक्ष्य भी स्पष्ट हो जाता है। भारतेन्दु को अपने देशवासियों की हीनता का भाव दूर करने की चिन्ता थी और यह कार्य प्राचीन साहित्य को सम्मुख रखने से ही सम्भव हो सकता था। हिन्दी भाषा इस नवीन जागरण का माध्यम थी अतः हिन्दी की उन्नति विदेशी साम्राज्यवाद के विरोध में पड़ती थी और इसी प्रकार अपने काव्य, अपने साहित्य का प्रचार भी अँगरेजी में शिक्षित लोगों का ध्यान देशी साहित्य की ओर खींचता था।

इस सन्दर्भ में यह असम्भव था कि भारतेन्दु रीतिकाल का अंधानुकरण करते। देश की दशा और अपने कुल के संस्कारों के प्रभाव से भारतेन्दु का हृदय दिव्य प्रेम में मग्न हो रहा था। भारतेन्दु का दिव्यप्रेम भक्त कवियों की परम्परा की एक सजल शृङ्खला है। किन्तु पूरी साहित्य-परम्परा से भारतेन्दु लाभ उठाना चाहते थे। उनके मन पर देव, बिहारी पद्माकर आदि महाकवियों की रससिद्ध रचनाओं का प्रभाव पड़ चुका था अतः रीतिकालीन कला से भी उन्होंने लाभ उठाया और यह बुरा नहीं हुआ। समूची काव्य-धरोहर का निष्पीड़न करके ही भारतेन्दु की प्रतिभा का विकास हुआ था।

भारतेन्दु में रीतिकालीन और भक्तिकाल की धाराएँ एक होकर प्रवाहित होती दिखाई नहीं पड़ती है। कहीं-कहीं धाराएँ अलग-अलग दिखाई पड़ती हैं, कहीं ये दोनों एक होकर नवीन धारा को जन्म देती हैं और कहीं भारतेन्दु अपना स्वतन्त्र मार्ग बनाते हुए दिखाई पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त रीतिकालीन काव्य को भारतेन्दु ने भक्तिकालीन नेत्रों से देखा था। जो पद शृंगारिकता से ओतप्रोत माने जाते हैं, उनमें भारतेन्दु दिव्य प्रेम की भी झलक देखते थे अतः भक्तिकाल और रीतिकाल में जो विरोध हमें प्रतीत होता है, वह भारतेन्दु को प्रतीत नहीं होता। भारतेन्दु की "रसिकता" लौकिकता और अलौकिकता दोनों दृष्टियों से एक और अभिन्न दिखाई पड़ती है। उनमें लौकिक शृंगार में भी दिव्य शृंगार के दर्शन की शक्ति थी अतः भारतेन्दु को रीतिकाल का अंधानुकर्त्ता नही कहा जासका। भारतेन्दु के काव्य की महत्ता के विषय में इस प्रथम प्रतिपत्ति को स्मरण रखना होगा। "रसिक" शब्द का यही अर्थ भारतेन्दु को अभिप्रेत है—

सर्वसु रसिक के, सुदास दास प्रेमिन के
सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधा रानी के।

भारतेन्दु की रचनाओं से उक्त तथ्य प्रमाणित होता है। भक्तसर्वस्व, प्रेममालिका, कार्तिक स्नान, वैशाखमाहात्म्य, प्रेमसरोवर, प्रेमाम्बु-वर्षण, प्रेम-माधुरी, प्रेमतरंग, उत्तरार्द्ध भक्तमाल, गीत गोविन्दानन्द, होली, मधुमुकुल, रागसंग्रह, वर्षा विनोद, प्रेमफुलवारी, कृष्णचरित आदि काव्य भक्ति-परम्परा के काव्य हैं जिनमें कई शैलियों का प्रयोग किया गया है। जैनकौतूहल, विनय-प्रेमपचासा जैसी रचनाओं में सन्तों की तरह कविता का दृष्टिकोण आलोचनात्मक होगया है। 'सतसई शृङ्गार' में जो स्पष्टतः रीतिकालीन कृति है, कवि ने भक्तिभाव की मात्रा बहुत अधिक कर दी है, बिहारी के भाव का पल्लवन भक्तिभावोन्मुख प्रतीत होता है। भारतेन्दु की स्फुट रचनाओं में भक्तिभावात्मक रचनाएँ बहुत सी हैं। देवीछद्म लीला, मंगल पाठ, दैव्यप्रलाप, उरहना, तन्मय लीला, दानलीला, रानीछद्म लीला, संस्कृत लावनी, बसंत होली, स्वरूप-चिन्तन, सर्वोत्तम स्तोत्र, निवेदन पंचक, अपवर्गदाष्टक, वेणुगीति, पुरुषोत्तम-पंचक, सीतावल्लभ स्तोत्र, रामलीला, भीष्मस्तव, मानलीला, आदि रचनाओं के शीर्षकों से ही उनकी भक्तिभावात्मकता स्पष्ट है।

प्रेममाधुरी, वर्षाविनाद और स्फुट रचनाओं आदि में बहुत से कवित्त और सवैया रीतिकाल के पैटर्न पर भी लिखे गए हैं। उनमें नखशिख, नायिका

भेद आदि के भी वर्णन हैं परन्तु भारतेन्दु का काव्य विलासलिप्सा जाग्रत नहीं करता, कतिपय पद्यों को छोड़िये, भारतेन्दु की भावुकता उनकी 'रसिकता' में गुणात्मक अन्तर उत्पन्न कर देती है।[१] बिहारी के दोहों पर भारतेन्दु ने कुण्डलियाँ लिखी हैं। इनमें बिहारी के दोहों के भावार्थ-पल्लवन में भी भारतेन्दु की भावुकता स्पष्ट है।

इन दुखिया आँखियान कों, सुख सिरजौई नाहिं।
देखें बनै न देखतें, बिन देखे अकुलाहिं।
बिन देखे अकुलाहिं बिकल अँसुवन झर लावैं।
सनमुख गुरुजन लाज भरी ये लखन न पावैं।
चित्रहु लखि हरिचन्द नैन भरि आवत छिन-छिन।
सुपन नींद तजि तात चैन कबहुं न पायो इन।
बिनु देखे अकुलाहिं बिरह दुःख भरि-भरि रोवैं।
खुली रहैं दिन रैन कबहुँ सपनेहु नहिं सोवैं।
हरीचन्द्र संजोग बिरह सम दुखित सदाहीं।
हाय निगोरी आँखिन सुख सिर जौई नाहीं।

उपर्युक्त कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि एक स्वयं आरोपित नैतिकता के कारण उक्त प्रवृत्ति भारतेन्दु में मिलती है। मन्तव्य यह है कि भारतेन्दु की 'रसिकता' और रीतिकालीन 'रसिकता' में गुणात्मक अन्तर अवश्य है। समग्रतः भारतेन्दु काव्य रीतिकालीन हरगिज नहीं कहा जा सकता। अतः यह धारणा सही है कि "कविता का विषय शृङ्गार रहने पर भी भारतेन्दु रीतिकालीन परम्परा से बहुत कुछ भिन्न हैं। उनके छन्द लथणग्रन्थों के आधार पर नहीं बने, उनमें आत्माभिव्यंजन के लिए एक नया प्रयास है।"[२]

इस आत्माभिव्यञ्जन के दो पहलू हैं—एक तो भक्तिकालीन भावुकता और दूसरा अपनी निजी भावनाओं का प्रकाशन, जो रीतिकाल में महाकवि देव को छोड़कर अन्य कवियों में नहीं मिलता। अलंकृति, लथणग्रन्थों का अनुकरण, महाकवियों की पदावली का यथावत् प्रयोग आदि प्रवृत्तियाँ भारतेन्दु के काव्य में बहुत कम मिलती हैं। अनुकरण की दृष्टि से भारतेन्दु ने भक्तिकालीन

---

१. 'भारतदुर्दशा' नाटक में भारतेन्दु ने पष्ट कहा है कि ईश्वर के प्रति प्रेम की व्यंजना, देशप्रेम का आवश्यक आधार है—द्रष्टव्य—भारत-दुर्दशा नाटक, पृष्ठ ४७२। भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग १

२. भारतेन्दुयुग, डा० रामविलास शर्मा।

कवियों का अधिक अनुकरण किया है क्योंकि भक्तिकालीन काव्य का अनुकरण अघमर्षक माना जाता था।

भक्तिकालीन भावुकता—भारतेन्दु की भक्ति की प्रथम विशेषता उसकी सच्चाई है। रीतिकालीन कवियों की भक्ति पश्चातापपरकता से मुक्त है, प्रथम विलासलिप्सा और वृद्धावस्था में भक्ति के उद्‌गार—रीतिकाल की यह विशेषता है। भारतेन्दु में यह प्रवृत्ति नहीं मिलती। भारतेन्दु में प्रारम्भ ही भक्तिकाव्य से होता है। उसमें यत्र तत्र नवचेतना भी मिलती है—

मायावाद-मतंग-मद, हरत गरजि हरिनाम।
जयति कोऊ सो केसरी, वृन्दावन वनधाम।[1]

प्रेममालिका के समर्पण में भारतेन्दु ने कहा है—"इस छोटे से ग्रन्थ में मेरे बनाए हुए कीर्तनों में से कतिपय कीर्तन एकत्र किए गए हैं। इनमें कीर्तन तीन भाँति के हैं—एक तो लीला सम्बन्धी, दूसरे दैन्य भाव के और तीसरे **परम प्रेममय अनुभव** के है। इसको एकत्र करना और छपवाना आयोजन था, **क्योंकि एक तो संसार में प्रायः अनधिकारी लोग हैं, दूसरे इसके द्वारा लोगों में अपनी प्रसिद्धि की इच्छा नहीं।**

इस प्रकार 'परम प्रेममय अनुभव' का गायन भारतेन्दु का आदर्श था। राधाकृष्ण के प्रेम गायन के बहाने यश अथवा धनप्राप्ति उनका उद्देश्य नहीं था, जैसा कि रीतिकालीन कवियों का लक्ष्य था। यही कारण है कि दिव्य प्रेम के वर्णन में कवि का हृदय सर्वत्र झलकता दिखाई पड़ता है।

प्रतिभा—भारतेन्दु ने राधा और कृष्ण का अपने कल्पना के नेत्रों से साक्षात्कार किया था। वह "विज्ञन" इतना मनोहर था कि कवि उसकी छवि, उसके आनन्द का वर्णन करते नहीं थकता। भक्तकवियों ने जो "विज्ञन" देखा था, उसके लिए अलौकिक प्रतिभा की आवश्यकता थी। अपने शरीर, और अन्तःकरण को वश में करके राधा-कृष्ण की दिव्य लीला का स्वेच्छा से अपनी चेतना में स्फुरण और विलयन, पुनः स्फुरण और पुनः विलयन—यह भक्त कवियों का उद्देश्य था। इस प्रकार प्रत्येक क्षण अपनी चित्रवृत्ति को भगवान की छवि में लीन रखने में कवि सफल हुए थे। राधा-कृष्ण की कल्पना "सुन्दर" (Beautiful) की कल्पना थी। विश्व के किसी साहित्य में इतनी कोमल, मधुर और सुन्दर कल्पना नहीं दिखाई पड़ती। सुन्दर को अनन्य प्रेम के आदर्श से "शिव" के साथ संयुक्त कर दिया गया था। प्रेम के

---

१. भक्तसर्वस्व।

अभाव में 'आपाधापी' में मग्न समाज के लिए प्रेम के देवता का गायन मानवीय सम्बन्धों को प्रेम के आधार पर प्रतिष्ठित करने का भी लक्ष्य मनीषियों के सम्मुख था अतः यह "विज़न" भारतेन्दु ने भी अपनाया था। उन्हें कुल परम्परा से बहुत सी वस्तुएँ मिली थीं। धन, राज्यभक्ति, महत्त्व, सम्मान—सब कुछ मिला था, किन्तु मनीषी भारतेन्दु ने धन; राज्यभक्ति आदि सब कुछ त्याग दिया था तब क्या "राधाकृष्णवाद" को वह न छोड़ सकते थे? अग्रचेता भारतेन्दु पर विचारहीनता का आरोप गलत होगा अतः यही सम्भव प्रतीत होता है कि राधा-कृष्ण को उन्होंने "सुन्दर" के वर्णन के लिए ही नहीं अपनाया, अपने समय के मानवीय सम्बन्धों को अभीप्सित रूप देने के लिए भी अपनाया। अतः राधा-कृष्ण का वर्णन केवल व्यक्तिगत विश्वास के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह प्रेमसाधना थी और प्रेमसाधना के आविष्कारकों ने इसे "सर्वथा व्यक्तिगत" मुक्ति के साथ-साथ, समाज के कल्याण के लिए भी आवश्यक माना था अतएव टैक्स, महामारी, सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध लिखे हुए काव्य के साथ साथ इस प्रेममय काव्य का भी अपना महत्त्व है। इसे दूर कर देने पर भारतेन्दु की कला क्षीण हो जायगी। कौन कह सकता है कि भारतेन्दु की यह स्निग्ध चन्द्रकला—राधा कृष्ण प्रेम—दाहकारिणी है? इसमें शीतलता है परन्तु चेतना की उष्मा का यह नाश नहीं करती। इसमें प्रेम की महिमा है परन्तु भारतेन्दु इस 'प्रेम' में ही पाठक को मुग्ध न रखकर आगे की बात भी कहते हैं, किन्तु साथ ही बाह्य संघर्ष को शून्य पर आधारित नहीं किया जा सकता। मानवीय प्रेम ही जब बाह्य संघर्ष का आधार बनता है तब वह संघर्ष भी मानवीय रहता है, अतः भारतेन्दु के 'परमप्रेममय अनुभव' का महत्त्व सौन्दर्य और समाज दोनों दृष्टियों से स्वीकार करना होगा। रीतिकाल के अन्त में भक्तिभाव की एक बार पुनः लहर जाग्रत करने में भारतेन्दु पूर्ण सफल हुए हैं।

काव्य में प्रतिभा "नवोन्मेष" की ओर उन्मुख होती है। राधा, कृष्ण की नव-नव छबियों के अंकन में कवि की कल्पना उसके सम्मुख शतशः सुन्दर चित्र लाकर उपस्थित करती है। यह किसी क्षण विशेष में भास्वरित या बहकी हुई 'अनुभूति' नहीं है। निष्ठा के कारण सौंदर्य-देवता के सुन्दर-चित्रों का प्रवाह उत्पन्न करना ही यहाँ कल्पना का कार्य है। भारतेन्दु ने इस कल्पना का अभ्यास भक्तकवियों के काव्याराधन द्वारा किया था, और रीतिकालीन काव्य द्वारा उसकी अभिव्यंजना को परिष्कृत भी किया था किन्तु अलंकृति का मार्ग छोड़कर सहज ढंग से कहने की प्रवृत्ति उनकी अपनी थी। कल्पना

द्वारा लाए गए सुन्दर चित्रों से मुग्ध कवि की चेतना जैसे नदी की तरह स्वतः उमड़ पड़ती हो। प्रेम की यह सहज अभिव्यक्ति भारतेन्दु की विशेषता है—

कहा कहूँ छबि कहि नहिं आवै वे सवाँर यह गोरी।
ये नीलाम्बर सारी पहिने, उनकी पीत पिछौरी।

प्रथम पंक्ति के पश्चात् अन्य कवि अलंकारों की वर्षा करने लगता किन्तु भारतेन्दु की अन्तर्दृष्टि अधिक विकसित थी अतः वह पदार्थ या व्यक्ति के सहज आकर्षण की ओर ध्यान खींचने के लिए वर्ण्यविषय तक ही अपने को सीमित रखते हैं, यह प्रवृत्ति भारतेन्दु में बहुत स्थानों पर मिलेगी। अलंकृत वर्णन भी उनमें कम नहीं है परन्तु सौन्दर्यदर्शन के समय वर्ण्यविषय को ही इकटक देखने की कला में भारतेन्दु एक श्रेष्ठ कवि हैं।

आज उठि भोर वृषभानु की नन्दिनी—

फूल के महल तें निकसि ठाड़ी भई।
खसित सुभ सीस तैं कलित कुसुमावली,
मधुप की मण्डली मत्त रस ह्वै गई।
कछुक अरसात, सरसात, सकुचात अति,
फूल की लास चहुं ओर मोदित छई।
दास हरिचन्द छबि देखि गिरिधर लाल,
पीतपट लकुट सुधि भूलि आनंदमई।

सहजसौन्दर्य के दर्शन में कवि की प्रतिभा निश्चित रूप से शक्तिमती थी। वर्ण्यविषय का आकर्षण कभी-कभी इतना महान होता है कि कवि उससे अपनी दृष्टि हटाना हीं नहीं चाहता, उपमाओं से दर्शक का ध्यान इधर उधर उड़ता है, कभी-कभी अप्रस्तुत विधान कष्टकर प्रतीत होता है।

फली छबि थोरे ही सिंगार।
बिना कंचुकी बिनु कर कंकन सोभा बढ़ी अपार।
खसि रहि तन तैं तन सुख सारी, खुलि रहे सोंधे बार।
हरीचन्द मनमोहन प्यारो, रिझयो है रिझवार।

कहीं-कहीं कवि एक दो उत्प्रेक्षाएँ देकर वर्ण्यविषय के आकर्षण को स्पष्ट करता है—

आजु सिर चूड़ामनि अति सोहै।
जूड़ो कसि बाँध्यो है प्यारी, पीतम को मन मोहै।
मानहुं तम के तुङ्ग सिखर पै बालचन्द उदयो है।

कल्पना के बल पर राधा-कृष्ण के युगल के एक से एक सुन्दर चित्र भारतेन्दु ने प्रस्तुत किए है—

जुगल जलद केकी जुगल, दोऊ चन्द चकोर।
उभय रसिक रसरास जय राधा नन्दकिसोर।

परस्पर प्रेम के ऐक्य के देवता का यह रूप भारतेन्दु को बहुत प्रिय था। इसका वर्णन करते वह नहीं थकते। प्रेम के देवता की परस्परनिष्ठता ही भारतेन्दु के मन में एक दूसरे के प्रति निष्ठावान, एक दूसरे के प्रति प्रेमभाव रखने वाले व्यक्तियों के विकास की कल्पना जाग्रत करती थी। बाह्य जगत् में सम्पूर्ण व्यवहारों को प्रेम से भर देने पर सारा कार्य कलाप कितना सुखद और शीतल हो जाएगा, इसलिए राधाकृष्ण के अनन्य प्रेम की आराधना व्यावहारिक जगत् में कूदने से पूर्व आवश्यक मानी जाती थी। अतः उमंग में जब कवि 'राधा' के लिए दोनों लोकों की उपेक्षा करने को उतरता है तब उसे 'उपलक्षण' मात्र मानना चाहिए। अन्तर्दृष्टि बाह्यजगत् में न मिलने वाले अलभ्य दृश्य का साक्षात्कार करते समय क्षुभित नहीं होना चाहती—

मेरी गति होउ सोई महारानी।
जासु भौंह की हिलनि बिलोकत निसुदिन सारङ्गपानी।

अथवा

साँचहि दीपसिखा सी प्यारी।
धूमकेश तन जगमग द्युति दीपति भई दिवारी।

भारतेन्दु ने 'प्रेम' की परिभाषा यह की है कि जिसे प्राप्त कर फिर अन्य किसी की प्राप्ति की इच्छा न हो, वह है प्रेम। इस प्रेम का आधार है, सौन्दर्य, और शील। राधा-कृष्ण में ही ये सब एक साथ मिलते हैं, अन्यत्र नहीं—

जिहि लहि फिरि कछु लहन की आस न चित में होय।
जयति जगत पावन करन, प्रेम बरन यह दोय।

इस प्रेम का प्रतिभा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस प्रकार का प्रेम जाग्रत होकर मनुष्य के आँतरिक नयन खोल देता है। अनमोल व अलभ्य अनुभव होने लगते हैं; आश्चर्यजनक चित्र मनमें उतरने लगते हैं; प्रेम कल्पना के पंखों में वेग भरता है, एक सर्वथा नवीन गगन कल्पना के उड़ने के लिए खुल जाता है और विशिष्टिता यह है कि यह गगन कभी भी उस कल्पना-विहग को थकाता नहीं है। भक्तों ने इसी निष्काम प्रेम द्वारा उस "सुन्दर श्याम" और 'श्यामा'

के दर्शन किए थे। अतः भावुकता—प्रेम से तरंगित अवस्था और कल्पना दोनों जहाँ साथ चलती हैं, वहीं श्रेष्ठ काव्य का जन्म होता है। भारतेन्दु ने भक्तों की इस विशिष्टता को भलीभाँति समझा था। भक्तों के बाद "कल्पना" प्रबल होगई किन्तु कवियों की चेतना निष्कलंक नहीं रह सकी—'परमार्थ, परोपकार जैसे महत् उद्देश्यों से रहित काव्य मूलतत्त्व से रहित होता गया। भारतेन्दु इस खतरे से सावधान थे अतः उन्होंने अपने चित्त को द्रवित होने से रोका नहीं, कोरे बुद्धिवाद का वह घोर विरोध करते हुए दिखाई देते हैं।

भए सब मतवारे मतवारे।
आपुनौ आपुनौ मत लै लै सब झगरत ज्यौं भटियारे।

अथवा

नहिं इन झगड़न में कछु सार।
क्यों लरि लरिकैं मरो बाबरे बादन फोरि कपार।

\+ + +

कहा धरयो तेहि कहूँ पाइहौ, क्यों बिन बातन छोलौ।
क्यों इन थोथिन पोथिन लै कै, बिना बात ही बोलौ।[1]

काव्य के लिए स्निग्ध चित्त की आवश्यकता होती है। कोरी तर्कवादिता और उखाड़ पछाड़ अधिक सहायता नहीं करती। हिन्दी में आर्यसमाजी कवि इसलिए महान् काव्य की सृष्टि नहीं कर सके क्योंकि उनका आलोचनात्मक पक्ष बहुत प्रबल हो गया, और उसका अपना आकर्षण और महत्त्व भी है, तथापि समग्रतः यह देखा जा सकता है कि आर्यसमाज में स्निग्धता का अभाव था। सम्भवतः सनातनियों, आर्यसमाजियों, जैनियों आदि की आपसी "चखचख" से बेजार होकर ही भारतेन्दु ने उक्त पंक्तियाँ लिखी थीं। भक्तकवियों ने अधिक "चतुराई" की सर्वदा निन्दा की है, भारतेन्दु इस तथ्य से परिचित थे—

बिना प्रेम रूखी लगै, बादि चतुरई सोय।

भारतेन्दु ने प्रेम और प्रतिभा के लिए आदर्शरूप काव्याकारों में नन्ददास, आनंदघन, सूर, नागरीदास, कृष्णदास, हरिबंस, चैतन्य, गदाधर और व्यास को उद्धृत किया है—

---

१. जैन कुतूहल से उद्धृत।

नंददास, आनंदघन, सूर, नागरीदास ।
कृष्णदास, हरिवंस, चैतन्य, गदाधर, व्यास ।[1]

चित्त की आंतरिक प्रलयावस्था के बाद अद्‌भुत चित्रों की सृष्टि होती है, इस तथ्य को समझकर ही भारतेन्दु 'द्रवण शीलता' का प्रदर्शन सर्वत्र करते हैं। प्रेम सरोवर का समर्पण देखिए—

आज अक्षय तृतीया है, देखो, जलदान की आज कैसी महिमा है, क्या तुम मुझे फिर भी जलदान दोगे ? कहाँ ? उसे·····जो मधुर घन की ध्वनि भी न सुन पड़े तो कैसे प्राण बचे ? देखो यह कैसी अनीति है, वही आनंदघन जी का कहना—सब छोड़ि अहो हम पायो तुन्है हमैं छोड़ि कहो तुम पायो कहा"।····· प्यारे, यह अक्षय सरोवर नित्य भरा रहेगा और उसमें नित्य नए कमल खिलेंगे और कभी इसमें मल न आएगा और इस पर प्रेमियों की भीड़ नित्य लगी रहेगी और प्रेम शब्द को विषय का पूजादिक कहने वाले वा प्रेमाधिकारी के अतिरिक्त कोई भी इस तीर्थ पर कभी न आवेंगे।

यह भावुकता भारतेन्दु के ब्रजभाषा काव्य की एक प्रमुख विशेषता है। भारतेन्दु मुख्यत: भावनाओं के कवि हैं। दृश्यों का चित्रण भी उन्होने किया है परन्तु मुख्यत: वह आन्तरिक भावों के उदय में अधिक आदन्द लेते हैं और उनके चित्रण भी इसी स्थिति में होने के कारश प्राय: तटस्थ चित्रण नहीं हैं। आवेग को दबाकर काव्य की रचना भारतेन्दु की प्रकृति के विरुद्ध है।

प्राय: प्रकृति भारतेन्दु की आन्तरिकता के सन्दर्भ में ही चित्रित हुई है—

सखी री साँझ सहायक आई।
मेटयो भय प्रकास वैरी को, सब कुछ दीन दुराई।
गरजि बुलावत तेहि चंचला चमकत राह दिखाई।
औरन के चकचौंधा लागत, तेरी करत सहाई।

बिजली की चमक को देखकर किसी पर क्या बीतती है, इसे भारतेन्दु ने अधिक देखा है, बिजली को देखकर तरह-तरह की कल्पनाओं में वह निमग्न नहीं हुए, उनकी कल्पना आवेग का साथ नहीं छोड़ना चाहती।

प्रतिभा (कल्पना) और प्रेमावेग के सामञ्जस्य के कारण ही भारतेन्दु रीतिकालीन 'अलंकृत नाद' के बच सके हैं, काव्य को बोझिल बनाने से उन्हें अरुचि है। भारतेन्दु के सरल और प्रवाहमय रूपक देखिए—

---

१. प्रेम सरोवर।

आजु तन आनँद सरिता बाढ़ी ।
निरखत मुख प्रीतम प्यारे को प्रीति तरंगनि बाढ़ी ।
लोक बेद दोउ कूल तरोवर गिरे न रहे सम्हारे ।
हाव भाव के भरे सरोवर बहे होइ कँ न्यारे ।
बुझे दवानल परम विरह के प्रेम परब भो भारी ।
मीन बान के जो प्रेमी जन, जल लहि भए सुखारी ।

रीतिकाल के पूर्व यह प्रवृत्ति 'सूरदास' में मिलती है । सूरदास ने लोक-तत्त्व और कलाकारिता का अद्‌भुत समन्वय किया था । भारतेन्दु में भी यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है । हम कह चुके हैं कि भारतेन्दु ने सबसे अधिक सूरदास से प्रेरणा प्राप्त की थी । रीतिकाल के बाद पुनः लोक भाषा की ओर मुड़ने की प्रवृत्ति भारतेन्दु में ही दिखाई पड़ती है । आवेगहीन कवि इस तथ्य को समझ ही नहीं सकते ।

हमारे नैन बहीं नदियाँ ।
बीती जानि औधि सब पी की जे हम सौं बदियाँ ।

छोटे-छोटे शब्दों में प्रवाह उत्पन्न करते हुए भारतेन्दु ने अपने आवेग को इस प्रकार प्रकट किया है कि वह विशेषज्ञों का काव्य नहीं प्रतीत होता, वह जनप्रिय हो गया है । रीतिकाल की चमत्कारक उक्तियों को भी इस प्रकार अपने प्रवाह में मिला लिया है कि वह अनुकरश नहीं लगता—

सब रंग मिलि के बसन छापित में प्रगट मुख जोत ।
पिय को निचोरत चूनरी मैं रंग दूनो होत ।

"चौगुनौ रंग चढ़्यौ चित में, चुनरी के चुचात, लला के निचोरत" की एक ध्वनि कवि के मन में अवश्य थी परन्तु कितने मौलिक ढंग से कवि ने उसे अपना बना लिया है ।

लोक तत्त्व—भारतेन्दु ने काव्य को दरबारों की साज सज्जा से निकाल कर जनता तक पहुंचाया था । इसके लिए उन्होंने जनता में काम करने वाले सन्तों और भक्तों को देखा था । स्वयं जनता के मनोवेगों को समझने का प्रयत्न किया था । कोई ऐसी पंक्तिनिकले जिसे सुनकर लोग सिर धुनें, छाती पीटें, बेहोश हो जायँ, लोटपोट हो जायँ, ऐसा प्रयत्न भारतेन्दु ने बहुत कम किया है । यहाँ तक कि सवैयों और कवित्तों में भी ऐसा प्रयत्न कम ही है । भारतेन्दु किसी भाव को मन में भरते थे, उसे बार-बार घुमड़ने देते थे और भाव से आच्छादित अवस्था में ही कहने लगते थे, पंक्तियाँ भाव का अनुसरण स्वयं

करने लगती थीं। यही पद्धति लोकगीतों में मिलती है। लोकगीतों में अनुभूति का आनंद है। फड़क उत्पन्न करने वाली पंक्तियाँ लोकगीतों में कम ही मिलती हैं। जनमानस जो अनुभव करता है, उसे यथावत कह देने में ही वह रुचि लेता है अभिव्यक्तियों के आविष्कार में समय लगाना लोकमानस को पसंद नहीं है। भारतेन्दु में भी यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है—

सखी अब आनँद की रितु ऐहै।
ऐहैं री झुकि झुकि कै बादर चलिहैं सीतल पौन।
कोइल कुहुकि कुहुकि बोलैंगी, बैठि कुञ्ज के भौन।
बोलेंगे पपीहा पिउ पिउ बन, अरु बोलेंगे मोर।
हरीचन्द यह रितु छबि लखि कै मिलिहैं नन्दकिशोर।

यहाँ एकदम "ताली तड़काने" वाली एक भी पंक्ति नहीं है। वर्षा ऋतु आने पर सुखद अनुभवों का स्वरूप मात्र यहाँ चित्रित है, इससे क्रमशः हमारे मन में उल्लास का उदय होता है, और एक सुखद स्मृति में हम मग्न हो जाते हैं। हिन्दी काव्य का यह प्रकृत रूप चमत्कार वादियों के हाथ में पड़कर विकृत हुआ है। अनुभूति का सहज स्पर्श देखिए—

सखी री कछु तौ तपन जुड़ानी।
जब सौं सीरी पवन चली है, तब सौं कछु मनभानी।
कछु रितु बदल गई आली री, मनु बरसेगो पानी।
हरीचन्द नभ दौरन लागे, बरसा के अगवानी।

यह शुद्ध लोकपद्धति है। कहीं-कहीं कवि ने लोकगीतों का पूर्ण अनुकरण किया है—

कैसे नैया लागे मोरी पार खिवैया तोरे रूप से हो।
औंड़ी नदिया नावरि झँझरी जाय परी मँझधार।
देइ चुकी तन मन उतराई छोड़ि चुकीं घर बार।
कहि हरिचन्द चढ़ाइ नेवरिया करो दगा मत यार।

× × × ×

रँगीले रँग दे मेरी चुनरी।
स्याम रंग से रंग दे चुनरिया हरीचन्द उनरी।

× × ×

चलो सोय रही जानी, अँखियाँ खुमारी से लाल भई।
सगरी रैन छतिया पर राखा, अधरन का रस लीना।
हरीचन्द तेरी याद न भूलै, ना जानौं कहा कीना।

यहाँ कहा जा सकता है कि ऐसी रचनाएँ "हलकी" होगई हैं, अथवा इनमें "ग्राम्यत्व" दोष है, अथवा इनमें परिष्कृति का अभाव है, कहीं-कहीं 'शिष्टता' का भी अभाव है किन्तु 'परिष्कृति' के अधिक्य से रीतिकालीन ब्रजभाषा सामान्य जन से दूर पड़ती जा रही थी। ब्रज प्रदेश के लोग कभी-कभी अत्यधिक परिष्कृत प्रयोगों को नहीं समझ पाते थे। अनुप्रास के लिए शब्दों की तोड़-मरोड़ भी बहुत हो चुकी थी अतः भारतेन्दु ने साहित्यिकता की अति देखकर पुनः काव्य को जनता की बोली में कहना प्रारम्भ किया। जब-जब काव्य अत्यधिक उच्चशिखरों की ओर भागता है तब तब उसे नीचे की ओर खींचने की आवश्यकता पड़ती है। बाल्मीकि का काव्य संस्कृत के चमत्कारवादी कलाकारों के हाथ में पड़कर स्वयं पंड़ितों की समझ में नहीं आता था। इसी प्रकार यमक और श्लेष के झगड़ों में पड़ कर काव्य का प्रकृत रूप लुप्त हो जाता है। भारतेन्दु इसके विरुद्ध बाल्मीकि, और सूर की तरह भाषा के लोकरूप के पास जाते हैं, उसे सुनते हैं और काव्य में प्रयुक्त करते हैं। अपने मन के आवेगों को जड़ाऊ भाषा में प्रकट भी नहीं किया जा सकता अतः भारतेन्दु ने 'सज्जा' को छोड़कर 'स्निग्धता' पर अधिक बल दिया है। भारतेन्दु में जहाँ अलंकृति है, उसे यदि उनके काव्य से निकाल भी दिया जाय तो भारतेन्दु की हानि नहीं होगी किन्तु यदि भारतेन्दु के सहज काव्य को निकाल दिया जाय तो उनका व्यक्तित्व पहचानना ही कठिन हो जाएगा।

यही कारण है कि भारतेन्दु ने "सैयाँ बेदरदी दरद नहि जानैं", 'जवनियाँ मोरी मुफुत भई बदनाम', 'छबीले आजा मोरी नगरी हो, का करौं गुइयाँ,' 'अरुझि गई अँखियाँ; नयन की मत मारो तरवरिया', 'काहू न लागें गोरी काहू के नयनवाँ', 'बेपरवाह मोहन मीत, हौं तो पछिताई दिल दैकैं', 'सेजिया जिन आओ मोरी', 'मैं पइयाँ लासगौं तोरी, आओ रे मोरे रूठे पियरवा, धाय लागो प्यारी के गरवा', 'सजन तोरी ही मुख देखे की प्रीति', 'मेरे प्यारे सौं सँदेसवा कौन कहै जाय", "बल खात गुजरिया बिरहभरी", "हमसे प्रीत न करना प्यारी हम परदेसी लोगवा", "नजरहा छैला रे नजर लगाए चला जाय" आदि "प्रेमतरंग" के गीत शुद्ध लोक पद्धति पर ही लिखे हैं। आकाशचुम्बी पांडित्य 'बारीक बीनी विरोधमूलक और शब्दमूलक अलंकृति से निकाल कर काव्य का उद्धार करने के लिए यह आवश्यक था। इससे कवियों का ध्यान जनमानस की ओर उन्मुख हुआ। विदेशियों के साहित्य के सौन्दर्य को ही सौन्दर्य समझने वाले शिक्षितों का भी ध्यान लोकगीत की अक्षय निधि की ओर आकर्षित हुआ। रीतिकाल

के उत्तरकालीन वातावरण में ऐसे गीत कहना भारतेन्दु का ही काम था, मामूली शख्स नया रास्ता बनाने में भय खाते हैं—

शिकारी मियाँ के जुलफों का फन्दा न डारो।
जुलफों के फन्दे फँसाय पियरवा नैन बान मत मारो।
पलक कटारन मार भँवन की, मत तरवार निकारो।

भारतेन्दु को यह प्रेरणा सूरसाहित्य के अनुशीलन से प्राप्त हुई थी। सूर की सफलता और उनका अन्य कवियों पर प्रभाव भारतेन्दु देख चुके थे। विश्वास की दृष्टि से भी भारतेन्दु सूरदास के ही मतावलम्बी थे अतः सूरदास की लोकतत्त्वोन्मुखता को उन्होंने ग्रहण किया था तभी वह सूर के अनुकरण पर "मोहन मीत हो मधुबनियाँ, मतवारो प्यारो रसवादी रसिया छैल चिकनियाँ" जैसे गीत लिखते हुए दिखाई पड़ते हैं किन्तु आश्चर्य यह है कि सूर के अनुकरण करने पर भी भारतेन्दु एकदम मौलिक कवि हैं! सूर के अनुकरण में सबसे बड़ा भय यह है कि कवि अपना व्यक्तित्व खो सकता है किन्तु भारतेन्दु की महत्ता इसी तथ्य में है कि उन्होंने अपने समय के लोकगीतों को अपना कर अपने अस्तित्व की रक्षा कर ली है। सूरदास की पद्धति पर 'मौलिकता' की रक्षा का प्रमाण लीजिए—

नखरा राह राह को नीको।
इत तो प्रान जात हैं तुम बिनु तुम न लखत दुख जीको।
धावहु बेग नाथ करुना करि करहु मान मत फीको।
हरीचन्द अठलानि पने को, दियो तुमहिं विधि टीको।

अपने समय के लोक-प्रयोगों द्वारा ही उक्त पद में भारतेन्दु ने अपनी रक्षा की है, इसी प्रकार "खोटाई पोरहि पोर भरी", कुढ़त हम देखि देखि तुव रीतैं, सब पै इक सी दया न राखत नई निकाली नीतैं," "जोड़ को खोज लाल लरिए", हम अबलन पै बिना बात ही रोस नहीं करिए" आदि पदों में भारतेन्दु ने उन्नीसवीं सदी के लोक-प्रयोगों और नूतन भावनाओं से अपनी रक्षा की है।

चाहे कवि लोकपरक प्रयोग करे अथवा साहित्यिक प्रयोग—दोनों प्रकार के प्रयोगों में एक ही मानसिक स्थिति दिखाई पड़ती है—

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर।

प्रेम का भाव नाना लोक-प्रयोगों और कल्पनाओं में एकता स्थापित किए रहता है। कवित्तों, सवैयों में भी इस मूलस्थित प्रेमभाव ने कवि को चमत्कारवाद से बचा लिया है। कवित्त सवैयों में रीतिकाल का आदर्श कवि ने स्वीकार किया है तथापि भारतेन्दु की रससिद्धता ने उनके अस्तित्व को सुरक्षित रखा है। भारतेन्दु में यह प्रवृत्ति नहीं मिलती जैसा कि रत्नाकर में दिखाई पड़ती है कि वह देव, पद्माकर, घनानन्द जैसा लिख सकें। भारतेन्दु केवल काव्य रूप अपनाते हैं किन्तु उसमें आत्मा अपनी भरते हैं। यह आवश्यक नहीं था कि सर्वत्र कवि को सफलता मिलती, समस्यापूर्तियों तथा अन्यत्र भी भारतेन्दु ने ऐसे कवित्त सवैए कहे हैं कि यदि उन्हें रीतिकालीन काव्य में फेंक दिया जाय तो पहचानना कठिन हो जाय किन्तु बहुत से कवित्त, सवैया ऐसे भी हैं जो रीतिकाल से भिन्न पद्धति का संकेत करते हैं।

पदों और कवित्त सवैयों में एक अन्तर है। पदों में भाव को क्रमशः व्यक्त किया जा सकता है। किन्तु कवित्त, सवैयों के लिए अन्तिम पंक्ति का महत्त्व सबसे अधिक है। यदि अन्तिम पंक्ति अशक्त है तो आनन्द नहीं आता, कारण कि श्रोता इस आशा से सुनता है कि अन्तिम पंक्ति से एक अप्रत्याशित आनन्द प्राप्त होगा। अतः कवित्त-सवैयों में भावावेग के साथ-साथ अभिव्यक्ति का प्रश्न जटिल होजाता है। रीतिकाल में भी चमत्कार कवित्त सवैयों में अधिक दिखाई पड़ता है—दरबारों में गाए जाने वाले पदों में भक्ति- कालीनता अधिक मात्रा में मिलती है—रीतिकाल पर विचार करते समय यह अन्तर स्मरण रखने योग्म है।

भारतेन्दु ने कवित्त-सवैये पदों की शैली में लिखे हैं, अन्तिम पंक्ति को प्रभावशाली बनाने के लिए प्रथम तीन पंक्तियों को भरती के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न उन्होंने बहुत कम किया है, पर किया अवश्य है। इस सम्बन्ध में भी दो मत हैं। पद्माकरी काव्य से प्रभावित व्यक्ति को भारतेन्दु के सवैये और कवित्त अधिक प्रभावित नहीं करेंगे किन्तु रसखान के सवैयों की भी एक परम्परा बन चुकी थी जिसमें चारों पंक्तियाँ एकसी प्रभावशाली होती थीं और भावुकता की प्रधानता रहती थी। भारतेन्दु वस्तुतः इसी परम्परा के कवि हैं यद्यपि उनमें उतना माधुर्य नहीं है, भारतेन्दु का आकर्षण उनके समर्पण में है, उनकी निश्छल भाव पद्धति में—

पहले ही जाय मिले गुन में श्रवन फेरि,
रूपसुधा मधि कीनो नैनहू पयान है।

मोहि मोहि मोहन मई री मन मेरो भयो—
हरीचन्द भेद ना परत कछु जान है।
कान्ह भये प्रानमय प्रान भये कान्ह मय,
हिय में न जानी परै कान्ह है कि प्रान है।

"मोहि मोहि मोहन मई" पंक्ति पर स्पष्टतः महाकवि देव का प्रभाव है। किन्तु अन्तिम पंक्ति में कवि की आन्तरिकता ने कवित्त को मौलिक बना दिया है। आन्तरिक अनुसंधान की स्थिति में कवि सोचता है कि कहीं मेरे प्राणों के स्थान पर कृष्ण का निवास ही तो नहीं हो गया है। यह अनुभूति समर्पित चित्त की शक्ति की ही परिचायक है। इसी प्रकार समर्पित चित्त की अनुभूति अन्य कवियों में कवि की मौलिकता की रक्षा करती है—

करि कै अकेली मोहि जात प्राननाथ अबै।
कौन जानै आय कब फेर दुख हरिहौ।
हरीचन्द साथ नाथ लेन मैं न मोहि कहा,
लाभ निज जीअ मैं बताओ तो बिचारि हौ।
देह संग लेते तो टहल हू करत जातो,
ए हो प्रान प्यारे प्रान लाइ कहा करिहौ।

यदि शरीर साथ ले जाते तो आपकी सेवा भी होती, किन्तु केवल प्राण साथ ले जाकर आपको क्या लाभ होगा ?

सवैयों में भी कवि ने केवल अनुभूति पर ही बल दिया है—अन्तिम पंक्ति के लिए अन्य पंक्तियों का बलिदान नहीं किया गया है—

छीजत देह के साथ में प्रानहु हा हरीचन्द करौं का उपाई।
क्योंहू बुझै नहिं आँसू के नीरन लालन कैसी दबारि लगाई।

सौन्दर्य को मुग्ध हो हो देखने में कवि निपुण है, यह हम पहले कह चुके हैं, इस मुग्धता के वर्णन में कवि पूरी स्वच्छन्दता बरतता है। और इसमें कवि पूर्णतः सफल हुआ है—

सोई पिया अरसाय कैं सेज पै सो छबि लाल विचारत ही रहे।
पोंछि रुमालन सौं श्रमसीकर भौंरन कौं निरुवारत ही रहे।
त्यौं छबि देखिबे कौं मुख तैं अलकैं हरिचन्द जू टारत ही रहे।
ढ्वैक घरी लौं जके से खरे वृषभानु-कुमारि निहारत ही रहे।

छबियों के अंकन की दृष्टि से भारतेन्दु की यह पंक्ति बहुत प्रसिद्ध है—

प्रानहू ते प्यारौ रहै प्यारो तू सदाई तेरी,
पीरो पट सदा जिय बीच फहरयो करै।

भारतेन्दु छबि और छबि के प्रभाव के एक साथ चित्रण में भी अत्यधिक निपुण थे।[१] महाकवि देव की तरह पूरे वातावरण के संगीतमय चित्रण में भी उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। भारतेन्दु अनुप्रासों के पीछे न जाकर अपने मन को टटोलते थे, अपनी चेतना के क्षोभ को ही वाणी देने का प्रयत्न करते थे अतः उन्हें नए-नए ढङ्ग सूझ जाते थे।[२] अत्यधिक रत्नजटित भाषा का प्रयोग न कर कृष्ण जिस "माटी" को खाया करते थे, उसकी सुगंधि अपने काव्य में भरने का प्रत्यन उन्होंने अधिक किया है।

पुराने काव्य के अनुशीलन से भारतेन्दु को नए-नए भाव सूझते थे। नई सूझ के नाना कवित्त सवैये भारतेन्दु में मिलते हैं।

क्यों इन कोमल गोल कपोलन देखि गुलाब को फूल लजायो।
त्यौं हरिचन्द जू पंकज के दल सो सुकुमार सबै अँग भायो।
अमृत से जुग ओंठ लसे, नव पल्लव सोकर क्यों है सुहायो।
पाहन सो मन होते सबै अँग कोमल क्यों करतार बनायो।

स्वच्छ अभिव्यक्ति और घनीभूत अनुभूति से ओतप्रोत कवित्त सवैये भारतेन्दु में कम नहीं है, यद्यपि यह भी सही है कि अशक्त पद्य भी उन्होंने

---

१. कहा कहौं प्यारे जू वियोग मैं तिहारे चित,
बिरह अनल लूक भरकि भरकि उठै।
कैसे मैं बिताऊँ दिन जोबन के हा हा काम,
कर लै कमान मो पै तरकि तरकि उठै।
भूलै नाहिं हंसनि तिहारी हरिचन्द तैसी,
बाँकी चितवनि हिय फरकि फरकि उठै।
बेधि बेधि उठत बिसैले नैन बान,
मेरे हिय में कंटीली भौंह करकि करकि उठै।

२. होते न लाल कठोर हते जु पै होते कहूं तुमहूं बरसानियां।
गोकुल गांव के लोग कठोर करें छत हीय में मारि निसानियां।
यों तरसावत हौ अबलागन को मुख देखिबे कौं दधिदानियां।
दीनता की हमरे तुमरे निरदैपनहू कीं चलैंगी कहानियां।

बहुत से कहे हैं, अशक्त पद्यों में न तो अनुभूति का दम है और न अभिव्यक्ति कुशलता, समस्यापूर्त्तियों में ऐसे पद्य बहुत से मिलते हैं।[१]

रीतिकालीन बारीक सूझ-बूझ का परिचय भी भारतेन्दु ने किया है—

'नीलपट तेरौ आज और रङ्ग भयौ काहे,
मेरे जानि बिछुरि पिया तें पीरो परिगो।

× × × ×

श्याम बसै उर मैं नित ताही सों, पीतहू कंचुकी होत हरी है।

जहाँ भारतेन्दु ने यथावत् अनुकरण किया है, वहाँ उनके पद्य प्रभावित नहीं करते किन्तु जहाँ उन्होंने अपनी स्वाभाविक और निजी पद्धति अपनाई है, वहाँ वह प्रभावित अवश्य करते हैं। अपनी स्वाभाविकता में कवि ने नानाविधि काव्य कलियों को जन्म दिया है, जो नवीन भूमि, नवीन खाद और नवीन जल के कारण नवता धारण कर लेती हैं--इस पूरी प्रक्रिया को कवि ने "मधुमुकुल" शीर्षक देकर स्वीकार किया है और समर्पण में स्वयं लिखा है—"यह मधुमुकुल तुम्हारे चरण कमण में समर्पित है। अङ्गीकार करो। इसमें अनेक प्रकार की कलियाँ हैं, कोई स्फुटित, कोई अस्फुटित, कोई अत्यन्त सुगंधमय, कोई छिपी हुई सुगंध लिए किन्तु प्रेम सुवास अतिरिक्त और किसी गन्ध का लेश नहीं। तुम्हारे कोमल चरणों में ये कलियाँ गड़ न जायँ, यही सन्देह है।"

उमंग की यह उमड़ कवित्त-सवैयों में नहीं मिलती, यह मानना होगा। प्रिय के मिलन की जो उमंग पदों में मिलती है,[२] वह कवित्त सवैयों में नहीं मिलती। पदों में कवि ने विविध प्रयोग भी किए हैं, लोक संस्पर्श भी पदों में ही अधिक है।

---

१. (अ) बसन के दाग धोवै, नखछत एक टोवे,
चूर लै चुरी को खेलै एक जूसताख है।
(ब) साँचे में खरी सी, परी सीसी उतरी सी खरी,
बाजूबन्द बाँधै बाजू पकरि किवारि के।

[पद्माकर के "एक कर कंज, एक कर है किवार पर" का अनुकरण सफल नहीं हुआ]

२. घर मे छिन हूं थिर न रहै।
दौरि दौरि झांकति दुआर लगि, पिय को दरस चहै।

यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि भारतेन्दु दिव्य प्रेम के वर्णन में भी देश की दशा को नहीं भूलते। दिव्य शृङ्गार की महत्ता में जब उनकी चित्त-वृत्ति निमग्न रहती है तब भी उनकी चेतना को देशभक्ति की लहरें झकझोरने लगती हैं। यह अन्तर्द्वन्द्व नहीं है, अपितु एक ही मानसिक स्थिति के दो रूप हैं जो कभी अलग-अलग और कभी साथ-साथ मिलते दिखाई पड़ते हैं। "गोरी गुजरिया भोरी सङ्ग लै कान्हा," तथा "ए री जोबन उमग्यो फागुन लखि कैं कोउ विधि रह्यो न जात" जैसी भावनाओं के साथ-साथ भारत की दुर्दशा की ओर भी उनका मन स्वभावतः जाता है। काश ! देश स्वतन्त्र होता ! काश ! देश समृद्ध होता ! तो होरी की उमङ्ग कितनी बढ़ी हुई होती। किन्तु ऐसा नही हो सका अतः कवि सरसों के पुष्पों में "पीली प्रजा" का प्रतिबिम्ब देखता है, रंगभरी पिचकारियों में वह अश्रुप्लावित नेत्रों के दर्शन करता है, यही रीतिकालीन प्रवृत्ति और नवजागरण के अग्रदूत कवि भारतेन्दु में अन्तर है। एक आसपास के वातावरण की चिन्ता न कर, मरुस्थल में स्थित नख-लिस्तान के गीत गाता है, दूसरा नखलिस्तान के गीत इसलिए गाता है कि मरुस्थल जैसे मन में कुछ सपने जगें, उन सपनों के लिए लोग प्रयत्न करें और पूरा मरुस्थल नखलिस्तान बन जाए ! जब ऐसा नहीं होता, जब कवि देश की अधीनता देखता है तब वह सपनों के चित्रणों के बीच भी देश की दुर्दशा से कराह उठता है। काश ! यह मानवप्रियता प्रयोगों के पीछे पागल कवियों में सुरक्षित रहती।

भारत में मची है होरी।
इक ओर भाग, अभाग एक दिसि होय रही झकझोरी।
अपनी अपनी जय सब चाहत होड़ परी दुहूँ ओरी।
दुन्द सखि बहुत बढ़ी री।

होरी को प्रतीक के रूप में क्या कवि ने यहाँ चित्रित नहीं किया है ? एक ओर का दल भाग्यशालियों का दल है, दूसरी ओर अभाग्यशाली भारत वासी हैं—भारतेन्दु ने इस 'द्वन्द्व' को कितनी स्पष्टता के साथ देख लिया था।

धूर उड़त सोई अबिर उड़ावत सबको नयन भरो री।
दीन दसा अँसुअन पिचकारिन सब खिलार भिजयो री।
भींजि रहे भूमि लटोरी।

भइ पतझार तत्त्व कहुं नाहीं सोई बसन्त प्रकटो री।
पीरे मुख भई प्रजा दीन ह्वै, सोई फूली सरसों री।
सिसिर को अन्त भयो री।

यहीं नहीं, प्रयोगवादियों की तरह कवि निराश नहीं हो जाता, वह "अभाग" के पक्ष की अन्त में विजय दिखाता है :

हारचो भाग, अभाग जीत लखि विजय निशान ह्यो री।
तब स्वाधीनपनो धन बुधि बल फगुआ माहिं लयो री।
नारी बकत कुफार जीति दल तासु न सोच लयो री।
मूरख कारो काफिर आधो सिच्छित सबहि भयो री।
उत्तर काहू न दयो री।

उठौ भैया क्यों हारौ, अपुन रूप सुमिरो री।
राम युधिष्ठिर विक्रम की तुम झटपट सुरत करो री।
दीनता दूर धरो री।

भारतेन्दु की यह होली आजादी प्राप्त करने और अपने समाज के पुनर्निर्माण का "मैनीफेस्टो" है, सन् १८८० ई० की यह रचना है। राष्ट्रीय काँग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता की आवाज सन् १९२९ में लगाई थी किन्तु भारतेन्दु ने सन् १८८० ई० में ही यह आवाज़ बुलन्द की थी— राजनीति से कवि दस क़दम आगे चलता हुआ दिखाई पड़ता है ! जो भारतेन्दु को ब्रिटिश राज्य का रक्षक कहते हैं, उन्हें ये पंक्तियाँ ध्यान से पढ़नी चाहिए—

धिक वह मात पिता जिन तुमसो कायर पुत्र जन्यों री।
धिक वह घरी जनम भयो जामैं यह कलंक प्रगटचो री।
जनमतहि क्यों न मरो री।
उठौ उठौ सब कमरन बाँधौ शस्त्रन शान धरो री।
बिजय निसान बजाइ बाबरे आगेइ पाँव धरो री।

भारतेन्दु जानते थे कि हमने ईर्षा द्वेष की होली में सब फूंक दिया है—

फूक्यों सब कछु भारत ने कछु हाथ न हाय रह्यो री।

अतएव वह भारतीय समाज में आमूल चूल परिवर्तन चाहते थे। वह यह भी समझते थे कि ब्रिट्रिश राज्य देश के असंगठित रहते समाप्त नहीं हो सकता अतः उसकी तारीफ करके उससे सुविधा पाने के लिए भी प्रयत्न करते थे। असंगठित देश के नेता सुविधा चाहते हैं और संगठित राष्ट्र स्वतंत्रा

माँगता नहीं है ले लेता है। इस सीधी बात को न समझ कर ही भारतेन्दु पर आक्षेप होते हैं अंततः राष्ट्रीय कांग्रेस के नेता भी बहुत दिनों तक सुविधाएँ ही माँगते रहे तब भारतेन्दु यदि किसी लार्ड की प्रशंसा कर अपने प्यारे देशवासियों के लिए सुविधाएँ माँगते थे तो अनुचित क्या था। समय से पूर्व का कार्य अकार्य से भी अधिक खतरनाक होता है।

भारतेन्दु ने राधाकृष्ण की होरी बड़ी ही उमंग से वर्णित की है। धार्मिक भावना का उत्साह उनके मन में कार्य तो करता ही था, किन्तु साथ ही नाना वादविवादों तथा सम्प्रदायों में ग्रस्त भारत के लिए प्रेम का संदेश देने के लिए भी वह भगवान की प्रेमचर्या का वर्णन बहुत करते थे। इस तथ्य की ओर कवि ने मंधुमुकुल के अन्त में संकेत किया है—

श्री बल्लभ प्रभु बल्लभिअन बिन तुम्हें कहा कोई जानै हो।
करमठ श्रुतिरत कर्मप्रवर्तक जज्ञपुरुष कहि भाखै हो।
ज्ञानी भाष्यकार आतमरत विषयविरत अभिलाखें हो।
प्रगटत निज जन में निज लीला आपुहि द्विज बपु लीन्हों हो।
हरीचन्द बिनु निज पदसेवक औरन नाहीं चीन्हो हो।

भारतेन्दु के युग में यह "एकताविधायक दृष्टि" अत्यधिक महत्त्पूर्ण थी। एक ओर तो यह ईसाई मत की वृद्धि के विरुद्ध स्वदेशी विश्वासों के लिए सुदृढ़ गढ़ का कार्य करती थी, दूसरे अपने दुर्ग के भीतर तरह तरह के वितंडावादों के विरुद्ध एकता की विधायक थी। आर्य समाज ने अंधविश्वासों का विरोध किया, यह बहुत बड़ा कार्य था परन्तु हिन्दू मुसलमानों के मध्य जो कटुता का बीज वपन हुआ, उसका फल हमें बाद में भोगना पड़ा और अब भी पंजाब के विभाजन के समय बढ़ती हुई साम्प्रदायिकता के कारण भोगना पड़ रहा है अतः भारतेन्दु का दिव्य शृंगार और सहिष्णुता महत्त्वहीन नहीं है, उसे व्यापक दृष्टि से देखने की आवश्यकता है।

आत्माभिव्यक्ति—भारतेन्दु के शृंगारिक अथवा भक्तिकाल में भक्तों जैसी आत्माभिव्यक्ति मिलती है। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि एक प्रचलित परम्परा का पालन मात्र नहीं कर रहा है अपितु उसके हृदय की वास्तविक भावनाएँ व्यक्त हो रही हैं। कवि ने राधा-कृष्ण के शृंगार-विहार आदि को स्वयं अनुभव किया है। युगल-विहार का वर्णन ही भारतेन्दु के के काव्य का मुख्य विषय रहा है, उसमें कवि की पवित्र विश्वास भी व्यंजना है। युगल पर बलिबलि जाने की भावना कवि में प्रमुख रूप से मिलती है।

"भक्त सर्वस्व" में कवि ने समर्पित चित्त से आराध्य के चरणचिन्हों का वर्णन किया है। अंतिम दोहे का स्वरूप देखिए, कितनी भावुकता मिलती है—

अहो सहो नहिं जात अब बहुत भई नँदनन्द।
करुनाकरि करुनायतन, राखहु जन हरिचन्द॥

ऐसे पद्यों में भावना की सच्चाई स्वतः प्रमाणित है। कवि आराध्य को दोपहर में बुलाता है और अपनी पलकों को वस्त्रों के रूप में मार्ग में बिछा देता है—

अहो पिय पलकन पै धरि पाँव।
ठीक दुपहरी तपत भूमि में नाँगे पद मत आव।
करुनाकरि मेरो कह्यो मानि कैं धूपहि मैं मति धाव।
मुरझानो लागत मुखपंकज चलत चहूँ दिसि दाव।

ऐसे पदों की संख्या भारतेन्दु में कम नहीं है। युगल-विहार के वर्णन में भारतेन्दु में अद्‌भुत निष्पापता मिलती है। भारतेन्दु ने अन्य भक्त कवियों की ही तरह युगल विहार का सांगोपांग स्पष्ट वर्णन किया है किन्तु उनकी चित्तवृत्ति की उच्चता के कारण ऐसा नहीं लगता कि उनका गायन उनकी अपनी अनुभूति नहीं है। पद पद में कवि की निजी भावना भरी हुई है—

मनोराज्य—अहो हरि वेहू दिन कब ऐ हैं।

जा दिन में तजि और संग हम ब्रजबास बसैहैं।
संग करत नित हरिभक्तन को हम नेकहु न अघैहैं।

दीनता—उधारौ दीनबन्धु महाराज।
जैसे हैं तैसे तुमरे ही नाहिं और सौं काज।

मिलन—अरी यह को साँवरो सो लंगर ढोटा ऐंड़ोई ऐंड़ो डोलै।
काहू की कोहनी काहू की चुटकी काहू सौं हँसि बोलै।

रूपश्री—नटवर रूप निहार सखी री।
ललित त्रिभंग काछनी काछे अमल कमल से नैन।
कर लै फूल फिरावत गावत मोहत कोटिक मैन।

बाधा—गुरुजन की भय अटा झरोखा हू नहिं बैठन पावें।
राह बाट मैं लाज निगोड़ी, कैसे नैन मिलावैं।

प्रशंसा—रावरी रीझ की बलि जैये।
महा पतित सों प्रीति पियारे एक तुमहिं में पैये।

आत्मकथन—हम तौ मदिरा प्रेम पिये ।

अब कबहूँ न उतरिहै यह रँग ऐसो नेम लिए ।
भई मतवार निडर डोलत नहिं कुलभय तनिक हिये ।
डगमग पग कछु गैल न सूझत निज मन मनमान किए ।
रहत चूर अपुने प्रीतम पै तिन पै प्रान किए ।

अनुरोध—लाल यह सुन्दर बीरी लीजै ।

हँसि हँसि कै नँदलाल अरोगौ मुख ओगार मोहिं दीजै ।

कतिपय भक्तिभाव विषयक पंक्तियों को पढ़कर ही स्पष्ट हो जाता है कि.भारतेन्दु के काव्य में सबसे अधिक कृत्रिमता का अभाव है जो रीतिकाल की विशेषता थी । कवि ने अपनी हार्दिक भावनाओं का सहज प्रकाशन किया है । आराध्य के प्रेम में मस्त होकर जो कहा जाता है, वह हृदयरस के कारण प्रभावशाली हो जाता है, कवि ने स्वयं कहा है—

"हम तौ मदिरा मत्त पिये ।"

भक्तिकाल की परम्परा में यह पवित्र मत्तता ही भारतेन्दु के काव्य में आत्माभिव्यंजन का कारण है । भारतेन्दु ने आराध्य के सौन्दर्य, उस सौन्दर्य के प्रति अपनी मुग्धता, उसके संयोग में सुखानुभव व उसके विरह की पीर का बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है—आत्माभिव्यजन का अर्थ तरह-तरह के अहंकारमय विचारों की घोषणा नहीं है—कवि की अपनी वास्तविक अनुभूति का प्रकाशन ही वास्तविक आत्माभिव्यंजन है ।

इधर जो "नया" आत्माभिव्यंजन चला है, उसमें कृत्रिमता, अहंकार, पराए विचारों की मुनादी, आतंक उत्पन्न करने की प्रवृत्ति और सबसे अधिक कवि की वास्तविक अनुभूति के अभाव का प्रदर्शन हो रहा है किन्तु भारतेन्दु का अपना विश्वास था, उन्हें उसके प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं थी अत: भारतेन्दु का आत्माभिव्यंन सहज और सुखद है । वास्तविकता तो यह है कि भारतेन्दुयुग के बाद, कवियों के साथ पाठक जो एक तादात्म्य अनुभव करता है, वह बराबर कम होता गया है । अपवादों को छोड़कर आधुनिक काव्य रौबीला अधिक हो गया है । प्रदर्शन, दूसरों द्वारा अपनी बलात् स्वीकृति के लिए किए गए प्रयत्न, प्रकाशन आतुरता आदि अवगुणों के कारण ही नहीं, विश्वास के कारण भी आत्माभिव्यंजन थोथा प्रतीत होता है । भक्तों जैसी निष्ठा का अभाव आधुनिकयुग में बहुत खलता है । छायावादी और प्रगतिवादी कवियों में भी अपने विश्वास के प्रति वह दृढ़ता और आत्मविसर्जन नहीं मिलता ।

अतः आधुनिक काव्य के जन्मदाता की विश्वास-दृढ़ता को हम भलीभाँति नहीं अपना सके हैं, यह मान लेने में कोई हर्ज नहीं दिखाई पड़ता।

भारतेन्दु के काव्य में उनका आत्मविसर्जन व्यक्त हुआ है। आयास-हीनता उनके काव्य का सबसे सुन्दर आभूषण है। अपनी चेतना के मंथन को व्यक्त करने में कवि पूर्ण सफल हुआ है। राधा-कृष्ण के गायन द्वारा कवि ने अपनी आत्मा के गायन को व्यक्त किया है। संयोग में कवि की उमंग, विनोद और कौतुक के साथ मुग्धता और वियोग में आत्मा की तड़प[1] इतनी सच्ची है कि पढ़ते ही बनता है।

भारतेन्दु ने स्पष्ट कहा है कि जीवन का उद्देश्य प्रीति का प्रकाशन है किन्तु यह कार्य अत्यधिक कठिन है, फिर प्रेम को समझने वाले भी बहुत नहीं देता हैं। प्रेम उपहासका विषय बनता है, आत्माभिव्यंजन का यह अकाट्य प्रमाण है--

प्रीति तुव प्रीतम कौं प्रकटैयै।
कैसे कै नाम प्रकट तुव लीजै कैसै कै बिथा सुनैयै।
को जानै समुझै जग जिन सौं खुलि क़ै भरम गवैयै।
प्रगट हाय करि नैननि जल भरि कैसे जगहि दिखैयै।
कबहुं न जाने प्रेमरीति कोउ सुख सौं बुरै कहैयै।
हरीचन्द पै भेद न कहियै भले ही मौन मरि जैयै।

भारतेन्दु अपने प्रति इतने सच्चे थे कि उन्हें अपयश की चिन्ता नहीं थी। पिय के प्रेम में मत्त, अपने आत्मानुभवों में मग्न, कवि सारे जगत् को चुनौती है। अपनी घरफूंक मस्ती के कारण भारतेन्दु "कोमल कबीर" कहे जा सकते हैं—

बिहरिहैं जगसिर पै दै पाँव।
एक तुम्हारे ह्वै पिय प्यारे छाँड़ि और सब गाँव।
निन्दा करौ बताओ बिगरी धरौ सबै मिलि नाँव।
हरीचन्द नहिं कबहुं चूकि हैं, हम यह अब को दाँव।

---

१. **एतो हरि जी सों कहियो रोय हो रोय।**
तुम बिन रहत सदा ब्रज सुन्दरि।
अंसुअन सौं पट धोय धोय।
हरिचन्द अब सहि न सकत दुख—
होनी होय सो होय हो होय।

आत्माभिव्यक्ति परक ऐसे पद भारतेन्दु ने शतशः लिखे हैं। रीतिकाल में ऐसा कवित्व किस कवि का है ?

विभिन्न प्रयोग—प्रतिभाशाली कवि काव्य में नाना प्रयोग करते हैं। बँधी हुई लीक पर चलते हुए भी उनकी गति कुछ भिन्न हो जाती है। एक ही राजमार्ग पर जैसे विभिन्न अश्व विभिन्न गतियाँ भरते हैं उसी प्रकार मौलिक कवि की गति में नवीनता आ ही जाती है। भारतेन्दु के प्रयोग अपने समय तक प्रचलित सभी शैलियों में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने लोककाव्य के अनेक प्रयोग भी अपनाए हैं और उन्हें अपने ढंग से प्रयुक्त किया है। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु ने प्रान्तीय भाषाओं में कई भाषाओं को अपनाया है, पंजाबी बँगला, उर्दू आदि का स्पर्श देकर हिन्दी में नाना प्रयोग करके भारतेन्दु ने आगे के कवियों के लिए मार्ग प्रदर्शन किया है।

भारतेन्दु ने जिस प्रयोग को अपनाया है, उसके विषय का भी ध्यान रखा है, उदाहरणतः निर्गुण काव्य परम्परा का अनुकरण देखिए—

साँझ सबेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।
हम सब इक दिन उड़ जाएँगे यह दिन चार बसेरा है।
आठ बेर नौबत बज-बज कर तुझको याद दिलाती है।
जाग-जाग तू देख खड़ी यह कैसी दौड़ी आती है।

खंडनमंडन के प्रयोग—शिवोहं भाखत हैं सब लोग।
कहँ शिव कहँ तुम कीट अन्न के यह कैसौ संयोग।
अरध अंग में पारवती हू शिवहि न काम जगावै।
तुमको तो नारी के देखत अंग गुदगुदी आवै।

उर्दू—कहूँ इश्कपेचाँ आशिक को पेच में भी यह लाते हैं।
फाँसी भी है मुसाफिर को बेतरह फ़ँसाते हैं।
हजार सिर बुलबुल ने पटका हुई न ऐसी साँवलिया।
सिवार ने भी शर्म से पानी में मुँह डुबा लिया।

बंगला—कोथाय रहिल सखि से गुनमान।
विच्छेद यातना आर जे सहेना।
कि करि बल न ओ प्रान सजनी।
केमने एखन धरिब जीवन ।
से कांत विहन बल ओ धनी।

"फूलों' का गुच्छा" में भारतेन्दु ने बड़े मनोरंजक प्रयोग किए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मस्त फकीरों या सूफियों के प्रयोग भारतेन्दु को बहुत

रुचते थे। लावनी, होली, झूलना, बारहमासा, आदि काव्य-प्रयोगों के विविध रूप भारतेन्दु में सुरक्षित हैं, संस्कृत की एक लावनी देखिए—

कुंज कुंज सखि सत्वरं
चल चल दयितः प्रतीक्षते त्वां तनोति बहु आदरं।
सवी अपि संगताः।
नो दृष्ट्वा त्वां तासु प्रियसखिहरिणाऽहं प्रेषिता।
मानं त्यज वल्लभे।
नास्ति श्री हरिसदृशो दयितो वच्मि इदं ते शुभे।

कोरे मनोरंजन और कुतूहल वृत्ति के संतोष के लिए भी भारतेन्दु ने रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। अलवरत अन्तर्लापिका, जीवन जी महाराज, चतुरंग, बसन्तहोली काव्य, मूक प्रश्न, मानलीला फूल बुझौवल काव्य, रिपनाष्टक के कुछ पद्य, नए जमाने की मुकरी, समधिन मधुमास, मनोमुकुल माला, मुद्रालंकार आदि रचनाओं में कवि ने पाठकों के मात्र मनोरंजन का प्रयत्न किया है। रीतिकाल की परम्पराओं का अन्ततः कवि कैसे छोड़ सकता था।

विक्टोरिया के प्रति एल्बर्ट की मृत्यु पर सन् १८६१ ई० में भारतेन्दु ने अन्तर्लापिका लिखी थी किन्तु कवि को किंचित् भी दुःख नहो है, अलबर्ट या अंलबरत शब्द का चमत्कार ही यहाँ प्रस्तुत किया गया है, राज्यभक्त भारतेन्दु का महारानी के पति की मृत्यु पर की गई शब्द क्रीड़ा देखिए।

कह सितार को सार ? शत्रु के किमि मन मेरे ?
काकी मार प्रहार सीस अरि हनै घनेरे।
का तुम सैनहिं देत सदा उनतिसएँ ही दिन
कहा कहत स्वीकार समय कछु अवसर के छिन
को महरानी को पति परम सोभित स्वर्गहि ह्वै रह्यो
'अंलवरत' एक छत्तीस इन प्रश्नन को उत्तर कह्यो।

(१) सितार का "रव" (२) शत्रु के मन "अबल" हैं (३) शत्रु के शीश पर "तबल" की मार दी जाती है (४) सैनिकों को उन्तीसवें दिन "तलब" दी जाती है। (५) स्वीकार करते समय "अलवत" (हाँ, अवश्य) कहा जाता है (६) महारानी के पति का नाम है अलवरत (अलवर्ट)[१]

---

१. भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि—किशोरीलाल गुप्त बनारस, पृष्ठ १८७।

श्री किशोरीलाल गुप्त ने इस प्रकार के चमत्कारों पर बहुत लिखा है, पाठकों को वहीं देखना चाहिए।[1] इन प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु की विनोदवृत्ति बड़ी विचित्र और मनोहर रूप धारण करती थी। समस्यापूर्तियों से तो प्रायः पाठक परिचित ही हैं। "दुखिया अँखियाँ नहिं मानती हैं" अथवा "प्रथम समागम को बदलो चुकाएँ लेत" आदि समस्याओं पर भारतेन्दु ने अच्छे पद्य बनाए हैं।

भारतेन्दु ने समनधि स्वाँग, मुकरी, बन्दर सभा जैसे प्रयोगों से लेकर दोहा, कवित्त, सवैया, छप्पय, पद आदि छन्दों में प्राचीन काव्य के सभी प्रयोगों तथा लोकगीतों में कजली, होली, लावनी, बारहमासा, गाली, सेहरा, चैता, दादरा, पूरबी, ठुमरी, झिझोरी आदि तथा प्रायः सभी रागरागिनियों के प्रयोग दीर्घ, लघु काव्य, कथा काव्य, समस्यापूर्तियाँ, स्फुट चित्रण–अर्थात् शास्त्र, लोक और सभी काव्य परम्पराओं में जितने भी प्रयोग प्रचलित थे, सभी के कुछ न कुछ प्रयोग भारतेन्दु ने प्रस्तुत किए हैं। ऐसी बहुविधि प्रतिभा, बहुविधि रुचि और बहुविधि काव्यशक्ति बहुत कम कवियों में मिलती है। तुलसीदास के बाद किसी भी कवि ने अपने समय की इतनी शैलियों में इतने अधिक प्रयोग नही किए और विशिष्टता यह है कि प्रत्येक प्रयोग में भारतेन्दु को सफलता मिलती है। ब्रज भाषा और उर्दू के तो वह सफल कवि थे किन्तु लोकगीतों में भी उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। इसके सिवा भारतेन्दु ने प्रत्येक प्रयोग में अपनी मौलिकता को सुरक्षित रखा है। 'हूबहू नकल' भारतेन्दु कर ही नहीं सकते थे। यथावत् अनुकरण के लिए जिस मानसिक जड़ता की आवश्यकता होती है, वह भारतेन्दु को प्रकृति से प्राप्त ही नहीं हुई थीं!

भाषा—हम देख चुके हैं कि भारतेन्दु ने सरल और प्रचलित भाषा का प्रयोग किया है। प्रतिभाशाली कलाकार की तरह जहाँ उन्होंने अलंकृत काव्य लिखा है, वह किसी से पीछे नहीं दिखाई पड़ते परन्तु उनका मौलिक रूप सरल भाषा में ही दिखाई पड़ता है। रीतिकाल की अप्रचलित पदावली से वह बराबर बचे हैं क्योंकि वह जानते थे कि यह भाषा लोगों की समझ में नहीं आती। रीतिकाल का वही रूप उन्होंने अपनाया है, जो अपेक्षाकृत सरल है। अत्यधिक समासप्रधान भाषा के प्रयोग उन्होंने कम किए हैं, और दूसरी ओर ग्राम्यत्व दोष से भी उन्होंने अपने काव्य को बचाया है। अलबत्ता लोक गीतों और व्यावहारिक बोलचाल की भाषा के शब्दों के बेधड़क प्रयोग उन्होंने किए हैं,

---

२. वही,

इससे उनकी भाषा जानी पहचानी सी लगती है। भाषा के चलते हुए सिक्के ही उन्होंने अपनाए हैं। अलंकार प्रधान काव्य में भी उन्होंने इस तथ्य का ध्यान रखा है।[1]

तद्भव शब्दों का भारतेन्दु ने अत्यधिक प्रयोग किया है। भारतेन्दु जानते थे कि हिन्दी भाषा का रूप तद्भव शब्दों में ही सुरक्षित रह सकता है, अतः लम्बे छन्दों में भी तद्भव शब्दों का प्रयोग उन्हें प्रिय है—

ऐसी नहिं कीजै लाल, देखत सब सँग की बाल,
काहे हरि गए आजु बहुतै इतराई।
सूधे क्यों न दान लेहु, अँचरा मेरो छाँड़ि देहु,
जामें मेरी लाज रहै करौ सो उपाई।

सामान्यतः भारतेन्दु की भाषा का यही रूप है। किन्तु मानसिक स्थितियों के अनुसार, महाकवियों की पद्धति पर, भारतेन्दु की भाषा नाना रूप धारण करती है। वंविध्य की सृष्टि करते समय भी कवि भाषा का मौलिक स्वरूप सुरक्षित रखता है, विषय और भाव के साथ वह इतना नहीं बह जाता कि भाषा का रूप ही अव्यवस्थित हो जाय। जहाँ तक ब्रज भाषा का प्रश्न है, भारतेन्दु की भाषा "संक्रान्तियुग" की भाषा नहीं है, वह महान परम्परा के अन्तिम विकसित रूप को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है। भारतेन्दु ने भक्तिकाल से प्रेरणा लेकर ब्रजभाषा का 'स्वभावीकरण' किया था, यह स्मरणीय है।

ब्रजभाषा की स्वाभाविकता—आम बोलचाल की ब्रजभाषा में सर्वदा मधुर शब्द ही नहीं आते। अनेक तद्भव शब्दों में व्यावहारिक शब्द ऐसे भी हैं जो मधुर नहीं कहे जा सकते, कवि ने ऐसे शब्दों का भी खुलकर प्रयोग किया है—

(१) लगाओ बेदन पै हरताल।

---

(१) **आजु तन नीलाम्बर अति सोहै।**
मनु तनमन लियो जीति चन्द्रमा सौतिन मध्य बंध्यौ है।
कै कवि निज जजमान जूथ में सुन्दर आइ बस्यो है।
सघन तमाल कुञ्ज में मनु कोउ कुन्द फूल प्रगट्यो है।
हरीचन्द मोहन-मोहनि छबि बरनै सो कवि को है।

[यहाँ "सौतिन", "जजमान" जैसे तद्भव शब्दों से तत्समता का कुप्रभाव कम होगया है]

(२) दीपन **उलटी** करी सहाय
(३) मुरछल चँवर रुमाल **अडानो पीकदान** लै बारी।
(४) लगाओ **चसमा** सबै सफेद
(५) **खराबी** देखहु हो भगवान की
(६) सुखद अति **खिचरी** को त्यौहार

रीतिकाल में अनुप्रास-प्रियता से भाषा में संगीत और श्रवण सुखदता का जन्म हुआ था परन्तु उसके प्रसादगुण की हानि हुई थी, भारतेन्दु ने ब्रज-भाषा को इस दोष से मुक्त किया। अपवादों को छोड़कर भारतेन्दु की भाषा में अनुप्रास प्रियता नहीं मिलती। कवि किसी भावना, दृश्य या घटना का मन लगाकर वर्णन करता है, वह इस ओर ध्यान नहीं देता कि शब्दों की लड़ियाँ बनती चल रही हैं, या नहो अतः उसकी भाषा प्रचलित भाषा के स्तर से इतनी दूर नहीं जाती कि वह दुरूह हो जाए—

आजु ब्रज होत कुलाहल भारी।
जित तित ते धाईं टीको लै अति आकुल ब्रजनारी।
गावत गोप चोप भरि नाचत दै दै कै कर तारी।
बाजे बजत उड़त दधि माखन छीर मनहुं धन वारी।

इस भाषा में डबल अनुप्रासों का प्रयोग नहीं होता। भारतेन्दु में आदि से अन्त तक ऐसी अनुप्रासों से जड़ी हुई पंक्तियाँ बहुत कम मिलती है—

छाँड़ि कै मोहि गए मथुरा कुघरी तहँ जाय भई पटरानी।
जो सुधि लीनी तो जोग सिखायो, भए हरीचन्द अनुपम ज्ञानी।

अधिकतर सवैये और कवित्त इसी साधु और सरल भाषा में मिलते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि अनुप्रासयुक्त ब्रजभाषा वह लिख नही सकता था—

कूकैं लगीं कोइलैं कदंबन पै बैठि फेरि—
धोए धोए पात हिलि-हिलि सरसै लगै।
फेरि झूमि,झूमि बरषा की रितु आई फेरि
बादर निगोरे झुकि झूमि बरसै लगे।
अथवा
गड़ि-गड़ि उठत कँटीले कुच कोर तेरी,
सारी सों लहरदार लहरि-लहरि उठै।
सालि सालि जात आधे-आधे नैन बान तेरे,
घूँघट की फहरानि फहरि-फहरि उठै।

फिर भी देव; मतिराम आदि आदि कवियों जैसी चिकनी और संगीतात्मक भाषा का प्रयोग भारतेन्दु ने जानबूझ कर नहीं किया था। एक तो उस तरह की भाषा अपने विकास के चरमशिखर हर पहुंच चुकी थी, दूसरे उससे उत्पन्न दुरूहता के डर से कवि वैसे प्रयोगों से बचता था।

मानसिक स्थितियाँ और भाषा—प्रतिभाशाली कवि मानसिक स्थितियों के अनुसार भाषा का प्रयोग करते हैं अथवा यों कहें कि भाषा स्वतः मानसिक स्थितियों के अनुरूप रूप धारण कर लेती है। शब्द सामर्थ्य के बिना इस कार्य में प्रायः कवि असफल होते हैं। भारतेन्दु को शब्द शक्ति पर असाधारण अधिकार था अतः उन्हें किसी भी मानसिक क्षोभ को व्यक्त करने में कठिनाई नहीं हुई—

मुग्धता—भरित नेह नवनीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अलौकिक घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर।

अपनत्वयुक्त उपहास—कंत है बहुरूपिया हमारो।
ठगत फिरत है भेस बदलि जग आप रहत है न्यारो।
बूढ़ो, ज्वान, जती जोगिन को स्वाँग अनेकन लावै।
कबहूं हिन्दू जैन कबहुं अरु कबहुं तुरक बनि आवै।

दैन्य—दीन पै काहे लाल खिस्याने।
अपुनी दिसि देखहु करुनानिधि हमपैं कहा रिसानै।
माछर मारे हाथ जलहि इक कहत बात परमाने।
महा तुच्छ हरिचन्द दीन हौं, नाहक भौंहहिं ताने।

विरह-व्यथा—एरी बिरह बढ़ावन आयो फागुन मास री।
हौं कैसी अब करूँ कठिन परी गाँसरी।
औरै रितु ह्वै गयी बयारहु और री।
औरै फूले फूल और बन ठौर री।
या घर में सखि क्यौं नहिं लागत आगरी।
जाके डर हौं खेलन जात न फाग री।

आसक्ति—घर मैं छिनहूं थिर न रहै।
दौरि-दौरि झाँकति दुआर लगि, प्रिय को दरस चहै।

मद—अठलात सँवरिया, मद तें भरी।

क्रीड़ा—चले दोउ हिलि मिलि दै गलबांहीं।
फैली घटा चहुं दिसि सुन्दर—कुञ्जन की परछाहीं।

वेग—चारु चल चक्र चित्रित विचित्रित परम,
जगत-विजयी जयति कृष्ण को जैत्ररथ।
अति तरल तर बलाहक शैव्य सुग्रीव मनिपुष्प,
तुरंग योजित चलत पथ सुपथ।
फहरत ध्वज उड़त नव पताका परम कलस,
कल इन्द्र सम सकल चमकत अकथ।
झांझ झनकत करत घोर घंटा घहटि घने।
घुंघरु थिरत फिरत मिलि एक जथ।

उपालम्भ—जुरे हैं झूठे ही सब लोग।
जैसे स्वामी तैसे परिकर तैसो ही संयोग।
वे तो दीनानाथ कहाये करि हत उत कछु लाज।
एक एक की लाख इन्होंने गाई तजि कैं लाज।

नैकट्य प्रदर्शन—प्यारी मो सों कौन दुराव।
कहि किन अरी अनमनी सी क्यों—काहे की जिय चाव।
काहे को अँसुवन मुख धोवत, बारी नैक बताव।

समर्पण—लालन पौढ़े हौं बलि जाउँ।
चाँपों करन, कहानी भाखौं करि मनुहार सोवाऊँ।
सीत-भीत परदा बहु डारौं नवल अँगीठी लाऊँ।

अप्रिय व्यवहार के क्षण—लाल यह तौ तुरकन की चाल।
दुख दीनो गल रेति-रेति कैं करनो ताहि हलाल।

उक्त उदाहरणों से ही यह स्पष्ट है कि कवि में विविध भावनाओं को विविध शब्दों में प्रकट करने की शक्ति थी। कवि ने ऐसी मिश्रित भाषा का भी आविष्कार किया है जो शायद बोलचाल में यथावत् प्रयुक्त न होकर भी बोल-चाल की भाषा के सदृश थी। इस प्रकार की मिश्रित भाषा का निर्माण भारतेन्दु ही कर सकते थे—

कहनबा मानो हो दिल जानी।
तुम हो अनौखे बिदेस जवैया हरीचन्द सैलानी।

अवधी ब्रजभाषा और उर्दू के प्रचलित शब्दों से भाषा का एक नया रूप हमारे सम्मुख प्रस्तुत हुआ है। यह संक्रान्तियुग की अव्यवस्था नहीं है, जागरूक कवि के नए प्रयोग मात्र हैं।

मेरे नैनों का तारा है, मेरा गोविन्द प्यारा है।
वो सूरत उसकी भोली सी वो सिर पगिया मठोली सी।
वो बोली में ठठोली सी बोलि दृग बान मारा है।

खड़ी बोली, ब्रजभाषा और उर्दू की यह बहार मनोरंजक अवश्य है।

तोरे पर भए मतवार रे नयनवाँ।
मदिरा प्रेम पिये मतवारे सबसे करत बिगार रे नयनवाँ।
लोक लाज जस अजस न मानैं, सरस रूप रिझवार रे नयनवाँ।

इस प्रकार कहीं शुद्ध अवधी, कहीं शुद्ध उर्दू, कहीं शुद्ध ब्रजभाषा, और कहीं इनके मिश्रण से भाषा में विभिन्न गतियाँ प्रस्तुत करने में भारतेन्दु ने अत्यधिक निपुणता प्रदर्शित की है।

भारतेन्दु का सबसे बड़ा योगदान ब्रजभाषा के लिए यह था कि उसे उन्होंने शृंगार के अतिरिक्त विभिन्न विषयों के लिए योग्य बनाया। हिन्दी की उन्नति पर उनके प्रसिद्ध व्याख्यान को पढ़िए, स्वतः स्पष्ट होगा कि भारतेन्दु ने ब्रजभाषा में आधुनिक विचारधारा को कितने सरल और कवित्व पूर्ण ढंग से व्यक्त किया है—

पढ़े फारसी बहुत विधि तौहू भये खराब।
पानी खटिया तर रहो, पूत मरे बकि आब।
नारि पुत्र नहिं समझहीं, कछु इन भाषन माहिं।
तासौं इन भाखान सौं, काम चलत कछु नाहिं।
रेल चलत केहि भाँति सौं, कल है काको नाँव।
तोप चलावत किमि सवै, जारि सकत जो गाँव।
उतरत फोटोग्राफ किमि छिन महँ छाया रूप।
होय मनुष्यहि क्यों भये हम गुलाम, ये भूप।
मारकीन मलमल बिना चलत कछू नहिं काम।
परदेसी जुलहान कै मानहु भये गुलाम।

राधा-कृष्ण-विहार में जो भाषा अत्यधिक कोमल दिखाई पड़ती है, वही भाषा ऐसे प्रसङ्गों में तीव्रता से भर उठती है। यही नहीं, अवधी भाषा में भी कवि ने नए भावों को बाँधा है। गली-गली और गाँव-गाँव सरल लोक-भाषाओं में जागरण-गीत फैल जायँ, कवि का यही उद्देश्य था। कवि की भाषा ऐसे प्रसंगों में परिस्थिति के अनुरूप धारण करती है—

काहे तू चौका लगाय जयचँदवा।
अपने स्वारथ भूलि लुभाए,
काहे चोटी कटवा बुलाए जयचँदवा।
अपने हाथ से अपने कुल के—
काहे तें जड़वा कटाए जयचँदवा।

अथवा

की केहू हिन्दू कै जयमल नाहीं की जरि भेलै छार।
की सब आज धरम तजि दिहलैं भैलैं तुरुक सब इकबार।
केहू लागल गोहार न गौरा रोवै जार बेजार।
अब जग हिंदू केहू ताहीं, झूठै नामैं कै बेवहार॥

राष्ट्रीय जागरण के लिए लिखी कविताओं की भाषा और भारतेन्दु की नीति को यदि अब तक अपनाया गया होता तो क्रान्ति के लिए प्रतीक्षा नही करनी पड़ती। जिस भाषा को जनता समझती है, भाषा का जो रूप जनता में प्रचलित है, उसी में नए भाव लिखकर उनका प्रचार करो, भारतेन्दु की यही नीति थी। केवल शिक्षित और विदेशी साहित्य को पढ़कर रुचिभ्रष्ट वर्गों की रुचियों का ध्यान रखकर ही काव्य लिखना जनद्रोह है, भागीरथी को एक गर्त में रोक रखने के समान अपराध है किन्तु कोरे कलावादी भारतेन्दु से यह शिक्षा लेना नहीं चाहते उन्हें इसमें प्रचार की गंध आती है। कोरे कलावादियों की कविता चाहे वह और उनके मित्रों तक ही सीमित रहे, चिन्ता नहीं, यदि काव्य सामान्य जनता में गया, तो यह कविराज का अपमान होगा। सूर, तुलसी, भारतेन्दु कवि नहीं थे, प्रचारक थे!

अलङ्कार—कवि ने या तो प्रेम का वर्णन किया है अथवा जागरण सम्बन्धी काव्य की रचना की है। जागरण सम्बन्धी काव्य अनलंकृत, सच्चा और सरल है, उसमें बाह्य विन्यास के स्थान पर आंतरिक भावशुचिता अधिक मिलती है। अतः अलंकृति या तो चित्रणप्रधान काव्य में मिलती है अथवा लीला वर्णन में।

सहज अनुप्रासों के प्रयोग भारतेन्दु में मिलते हैं। चित्रणप्रधान काव्यों[१] में अथवा रीतिकालीन काव्य के पैटर्न पर लिखे हुए काव्य में अनुप्रासों की अधिक बहार मिलती है। यमक के कतिपय उदाहरण ही मिलते हैं[२] "मान लीला फूल बुझौवल" के ३१ दोहों में प्रत्येक दोहा में पुष्पों के नाम आए हैं, अर्थात् मुद्रालंकार का प्रयोग हुआ है।

---

(१) तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए।
(२) खबर न तोहि संकेत की, कही केत की बार।
चलि पथ कुंज निकेत की कित की ठानत आर।—मानलीला फूल-बुझौवल

[द्रष्टव्य—किशोरीलाल गुप्त, पृष्ठ ३१४-१५]

उपमायें—कतिपय मौलिक उपमाओं का प्रयोग भारतेन्दु में मिलता है परन्तु अधिकतर कवि ने पुरानी उपमानों का नया विन्यास प्रस्तुत किया है। नूतन विन्यास से प्राचीन उपमाएँ आकर्षक हो गई हैं। यह भी स्मरणीय है कि कुछ उपमान ऐसे हैं जो आज भी प्रयुक्त होते हैं और हमेशा होते रहेंगे, उन्हें कोई अपदस्थ नहीं कर सकता—चन्द्र, कमल, भ्रमर जैसे उपमान नूतन विन्यास से सर्वदा आकर्षक बन जाते हैं।

(१) साँचहि दीप शिखा सी प्यारी।

(२) (अ) लाल यह तौ तुरकन की चाल

(ब) सब बकरी ही से मरि जैहैं-- लै दिन चार गुरज्ज।

इस प्रकार की मौलिक उपमाएँ बहुत नहीं हैं पर हैं अवश्य।

(३) फूल्यो सो दूलह आजु फूल ही को साजै साज,
फूली सी दुलही पाइ फूल्यो फूल्यो डोलै।

(४) कोकिल समान बोलि उठे हैं सुकवि सबै--
कामदार भौंर से बधाई लै लै धारा हैं।
लागि उठी लाय बिरहीन की सी बैरनि कौं,
बौरि उठे हाकिम रसाल से सुहाये हैं।

(५) फैली फिरि फिरि चन्द्रफेन सी वदन कांतिवर।

(६) विस्फुलिंग से अगदुख तजि···।

"क्यों फिरत दिवानी सी" समस्या पूर्ति में भारतेन्दु ने नई उपमाओं के प्रयोग किए हैं।

यथा विजया छानी सी, पीक छाप पहिचानी सी आदि

सन्देह अलङ्कार—चन्दन की डारन में कुसमित लता केधौं
पोखराज माखन में नवरत्न जाल है।
चन्द्र भी मरीचिन में इन्द्रधनु सौहै कै
कनक जुग कामी मधि रसन रसाल है
हरीचन्द जुगल मृनाल में कुमुद वेलि
मूँगा की छरी में हार गूथ्यौ हरिलाल है।
कैधौं जुग हंस एकै, मुक्तमाल लीनै कै
सिया जू करन माँह चारु जयमाल है।

भारतेन्दु ने संदेह, उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकारों का वर्णन अधिक किया है, इनमें भी अधिकतर रूपक उन्हें सूरदास की तरह ही प्रिय है। यह लक्ष्य करने योग्य तथ्य है कि कवि ने विरोध मूलक अलंकारों का प्रयोग

बहुत कम किया है। कुछ चित्रकाव्य मुद्रालंकार आदि को छोड़कर चमत्कार-प्रदर्शन से भारतेन्दु बराबर बचे हैं, वह शुद्ध रसवादी परम्परा के कवि हैं।

रूपक अलंकार के प्रयोग में भारतेन्दु ने ऐसी वस्तुओं का आरोप नहीं किया, जिसमें सादृश्य का अभाव हो वे दुष्ट उपमानों का प्रयोग नहीं करते थे। उचित उपमान मिलने पर ही उसका प्रयोग करते थे। सादृश्य के अभाव में उपमान केवल कुतुहल की सृष्टि करता है, काव्य का उद्देश्य प्रकृति या मनुष्य निर्मित पदार्थों का काव्य में वलात् प्रयोग नहीं है, रागात्मक सम्बन्ध के विस्तार का अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक वस्तु को उपमान बना देने से ही उससे हमारा रागात्मक सम्बन्ध दृढ़ होता है। गद्यसाहित्य में आप उन पदार्थों का वर्णन कर सकते है जिनका प्रयोग काव्य में नहीं हो सकता। प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक प्राकृतिक हलचल को प्रतीक मानकर चलने वाले कवि यह तथ्य भूल जाते हैं कि प्रतीकात्मकता से वस्तु अपने आकर्षण को खो बैठती है। कालिदास ने हिमालय को प्रतीक को रूप में नहीं, एक उदात्त वस्तु के रूप में ग्रहण किया था अतः उसका सौन्दर्य आज भी आकर्षक लगता है। यह दूसरी बात है कि वर्णन करते समय कहीं वस्तु की प्रतीकात्मकता भी संकेतित हो जाय किन्तु प्रत्येक बाह्य क्रिया को आंतरिक हलचल की ओर संकेत करने वाली प्रक्रिया बना देने पर, योगियों जैसी मानसिक स्थिति में गूढ़ता बढ़ेगी जो नवीनता के कारण कुछ समय तक आकर्षक प्रतीत होकर बाद में अपना आकर्षण खो बैठेगी।

भारतेन्दु का उपमान-विधान प्रतीकात्मका से सर्वथा रहित है। उन्होंने अपने प्रिय रूपकों और उत्प्रेक्षाओं में भी सरल और छोटे-छोटे दृश्यों की आयोजना की है। दृश्य को भारावनत नहीं होने दिया।

उत्प्रेक्षाएं—कल्पना-वैभव—कल्पना शक्ति द्वारा वर्ण्यविषय से सादृश्य रखने वाली सम्भावित चित्रावली का अवतरण उत्प्रेक्षाओं में देखा जाता है। दुर्बल कल्पनाशक्तिमान् कवि सादृश्य मूलक अलंकारों में असफल होता है, वाक्चातुर्य से वह विरोधमूलक अलंकारों में भलें ही सफल हो जाए परन्तु कल्पना-वैभव—बाह्य प्रकृति को ध्यान से देखने, उनसे अभीप्सित चित्र चुनने, या सर्वथा नवीन चित्र गढ़ने का कौशल, सादृश्य मूलक अलंकारों में ही दिखाई पड़ता है।

(१) लपटी लता तरोवर सों बहु फूल फूलि मन भाई।
मनु मण्डप में दुलहा, दुलहिन रहे सिहरन लाई।

(२) चरन मंजु मंजीर विविध नग जटित न परत लखानै ।
मनु मनिगन मिस मुनिजन को मन रहत चरन लपटाने ।
(३) जुगल पींडरी गुलफन की छवि लगत दृगन अति नीकी ।
मनु वैदूर्य्य डार जग सुन्दर करत जगत, छवि फीकी ।
(४) मनु घन मैं घिरि दामिनि लपटी नीलहिं कंचन-बेली ।
रस सिंगार मैं विरह लता सुतमालहि पीत चमेली ।
(५) झरित कल केस कुंचितन तें नीरकन ।
मनहुं मुक्तावली नवल उज्जवल झरत ।
(६) झीने बसन श्याम रंग झलकत सोभा नहिं कहि जाई ।
मनहुं नीलमनि सीसे संपुट धरयो अतिहि छवि छाई ।

भारतेन्दु की सहज विनोदमयी वृत्ति ने रूपक अलंकारों के कतिपय प्रयोग अत्यधिक मनोरंजक किए हैं । लिहाफ के भीतर राज्याभिषेक का रूपक देखिए—

रजाई करत रजाई माँहीं ।
राजा कृष्ण राधिका रानी दिए बाँह में बाँही ।
सुखद सेज सोइ राजसिंहासन छत्र ओढ़ना सोहै ।
चँवर चिकुर डोलत चहुं दिसि तें को वह जो नहिं मोहै ।
बजत निसान जीति जग किंकिन कंकन को बहु भाँती ।
झरत बादला मोती दीनी सोइ दीनन मति पांती ।
बँधुआ मदनहिं बाँधि मँगायो लै पाइन तर पेल्यो ।
कियो खिराज सकल सुख संपति आनन्दसिंधु सकेलो ।
तब बन्दीजन बेद श्वास कढ़ि पढ़यो विरद अकुलाई ।
कियो स्वेद अभिखेष रीझि कचखसत कुसुम झर लाई ।
राजतिलक सिर दियो महावर, अधर सुधा नजरानो ।
तिहि लहि सर्वस दियो सरोपा साथ नील पट बानो ।
नाची बेसर वारिमुखी तहँ परमानंद रहयो छाई ।
हरीचन्द अवसर तब लिखिकैं, प्रेम जागीर लिखाई ।

इसी तरह 'हरिमाया भटियारी' का रूपक मनोरंजक है ।[1]
भारतेन्दु के मधुर और लघु रूपक उनकी अपनी विशेषता है—

---

१. विनय प्रेमपयासा

प्यारी कीरति-कीरति बेलि
प्रफुलित रूपरासि-कुसुमावलि गुनसुगंधि रसकेलि।
सिंची प्रेम जीवन हरि बारौ जनभव आतप ठेलि।
हरीचन्द हरि कलपतरोवर लपटी सुखहिं सकेलि।

सूरदास के प्रसिद्ध पद "लखियत कालिंदी अति कारी" से प्रेरित होने पर भी निम्न सांग रूपक सूर के पद से हीन नही कहा जासकता। इससे यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि भारतेन्दु सचमुच एक महाकवि थे। किसी महाकवि के "मौडिल" पर काम करके मौलिकता की रक्षा सबसे अधिक कठिन कार्य है, भारतेन्दु ने "संयोगिनी यमुना" का वर्णन किया है—

अहो सखि जमुना की गति ऐसी।
सुनत मुकुंद गीत मधु श्रवनन विह्वल ह्वै गई कैसी।
भँवर पड़त सोइ काम वेग सौं थकित होत गति भूली।
तरनि घास अंकुरित देखियत सोइ रोमावलि फूली।
चुबन हित धावत लहरन सौं कर लै कमल अनेक।
मानहुं पूजनहेत चरन कौं यह इक कियो विवेक।
चरनकमल के सदृश जानि तेहि निसि दिन उरपैं राखै।
हरीचन्द जहँ जल की यह गति अबलनि की कहा भाखै।

इसी प्रकार आनन्द सरिता का रूपक भी अत्यधिक स्वच्छ और सरल है।[1] इसी प्रकार सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में काल रूपी कापालिक, सन्ध्याकाल-मसान तथा पावस—मसान के रूपक भी कवि की कल्पना-वैभव के प्रमाण हैं।

भारतेन्दु काव्य में सबसे अधिक रूपक का प्रयोग हुआ है। पदों में रूपकों की सफलता का कारण सूरदास से ली गई प्रेरणा है, "रामचरित" की

---

१. आजु तन आनंद सरिता बाढ़ी।
निरखत मुख प्रीतम प्यारे को प्रीति तरंगिनि काढ़ी।
लोक वेद दोउ कूल तरोवर गिरे न रहे संभ्हारें।
हाव भाव के भरें सरोवर, बहे होइकै नारें,
बुझे दवानल परम विरह के, प्रेम परब भो भारी।
मीनबान के जे प्रेमीजन, जल लहि भए सुखारी।
भई अपार न छोर दिखावै नीतिनाव नहिं चाली।

तरह सूरदास के काव्य से ली गई प्रेरणा में सत्कवित्व उत्पन्न करने की अदभुत क्षमता है, कोई भी कवि बन सकता है—

सूर ! तुम्हारा ऐसा कुछ सत्काव्य है।
कोई कवि बन जाय, सहज सम्भाव्य है।

सूरदास पारस हैं, जो उन्हें स्पर्श करता है, स्वर्ण बनता है। भारतेन्दु का काव्य-स्वर्ण उसी पारस-मणि का प्रभाव है। संस्कृत के बहुत "लद्धड़" रूपकों से बचकर सूरदास ने स्वच्छ, स्पष्ट और छोटे-छोटे रूपकों द्वारा पाठकों की कल्पना-शक्ति जाग्रत करने की परम्परा स्थापित की थी। परवर्ती कवियों में सबसे अधिक इस परम्परा की पहचान भारतेन्दु को थी—"रत्नाकर" पर रीतिकाल का बहुत अधिक प्रभाव था।

भारतेन्दु में सूरदास की रसावगाहन-क्षमता तथा विनोद वृत्ति दोनों का अद्भुत संयोग मिलता है किन्तु भारतेन्दु में वह अनूठापन नहीं मिलता जो सूरदास में मिलता है अतः वैषम्ययूलक अलंकारों का प्रयोग उनमें बहुत कम मिलता है। भारतेन्दु "रसिक" अधिक थे, रससिद्धता के लिए रसरूप भगवान कृष्ण और रसरूपिणी राधा के सौन्दर्य, और विहार के चित्रण में भारतेन्दु सूर के ही समकक्ष पहुंचते प्रतीत होते हैं किन्तु सूरदास की वाणी में जो विदग्धता है, वह भारतेन्तु में नही है। शायद भारतेन्दु के पदों का अधिक प्रचार न होने का एक यह मुख्य कारण है। विदग्धता-प्रधान युग में केवल रसिकता का महत्त्व कुछ कम हो ही जाता है, यद्यपि होना नहीं चाहिए।

प्रकृति-प्रयोग—प्रकृति का अप्रस्तुत विधान के रूप में प्रयोग कोई नवीन बात नहीं है। प्रकृति से नवीन उपमान चुनने की ओर भारतेन्दु की रुचि भी नहीं थी। वह रस सिन्धु में एक ऊब-डूबकर्त्ता कवि थे। फिर भी अलंकारों के लिए दिए गए उक्त उदाहरणों को ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट होगा कि कवि में प्राकृतिक पदार्थों द्वारा वर्ण्यविषय को स्पष्ट करने की शक्ति अवश्य थी। इसके सिवा वर्ण्यविषय के अतिरिक्त उपमानों का अपना आकर्षण भी हमारे सम्मुख उक्त उदाहरणों में प्रस्तुत किया है। मध्यकाल में कवियों ने इसीलिए स्वतन्त्र और तटस्थ रूप में प्रकृति का वर्णन नही किया था, क्योंकि मानवीय भावनाओं के सन्दर्भ में ही प्रकृति की उपयोगिता को वे स्वीकार करते थे। द्रष्टा से रहित होकर 'दृश्य' की स्वतंत्र सत्ता नहीं है, शायद इस सिद्धान्त का कुछ प्रभाव रहा हो, जो हो परन्तु यह निश्चित है कि दृश्य के सौन्दर्य का मानवीय भावों के माध्यम से ही व्यक्त किया गया है। सम्भवतः कविगण

सोचते थे कि भाव के स्पर्श से प्रकृति का सौन्दर्य अपनत्व से युक्त हो जाता है।

बहरहाल, भारतेन्दु में 'प्रकृति' को देखने की पद्धति अधिकांशत: मध्यकालीन है। यह स्मरणीय है कि उद्दीपक रूप में भी प्रकृति-वर्णन के लिए काफी गुंजायश रहती थी। केवल इसी रूप में प्रकृति के एक से एक सुन्दर चित्र भक्तों और रीतिकालीन कवियों ने प्रस्तुत किए हैं। उदाहरण के लिए संयोग में नायक या नायिका का मन प्रसन्न है, वे चारों ओर आमोद मूलक दृष्टिपात करते है। इस स्थिति में ही महाकवि 'देव' ने "रँगराती हरी हहराती लता, झुक जाती, समीर के झुकन सों "जैसे प्रकृति के अनुपम चित्र दिए हैं, जिन्हें आजतक अपदस्थ नहीं किया जा सका। इसी प्रकार पदमाकर द्वारा "अँगारन के पुंज जैसे अनार के पुष्पों और फलों का", बिहारी द्वारा "अँगार जैसे उड़ते हुए जुगनुओं" का, मतिराम द्वारा "मंजुल वंजुल कुंजों और तमालों" का तथा महाकवि देव द्वारा बसन्त, प्राची आदि के वर्णनों का गौरव आज भी सुरक्षित है। छायावाद में उद्दीपनवादी रचनाओं की कमी नहीं है और उनमें सौन्दर्य का भी अभाव नही है। उद्दीपन के रूप में चित्रित प्रकृति की सहानुभूति ही व्यक्त होती है अत: भारतेन्दु ने पुरानी पद्धति के भीतर ही अपना कल्पनावैभव तथा प्रकृति-प्रेम प्रदर्शित किया है। तटस्थ होकर भी उन्होंने प्रकृति को देखा है पर कम। उपमानों के रूप में प्रकृति का सौन्दर्य केवल एक ही पद से स्पष्ट हो जायगा—

आजु तन नीलाम्बर अति सोहै।
तैसे ही केश खुले मुख ऊपर देखत ही मन मोहै।
मनु तमगन लियो जीति यमुना सौतिन मध्य बँध्यो है।
कै कवि निज जजमान जूथ में सुंदर आय बस्यो है।
सघन तमाल कुंज में मनु कोउ कुंद फूल प्रगट्यो है।

इस प्रकार के अनेक पदों में कवि ने प्रकृति से सुन्दर चित्रों को हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है। यह प्रकृतिप्रेम का ही एक रूप है।

प्रकृति का दूसरा प्रयोग वहाँ मिलता है, जहाँ कवि किसी मानवीय प्रसंग में प्रकृति का अपेक्षाकृत विस्तार से वर्णन करता है, ऐसे स्थलों को 'तटस्थ- चित्रण' के स्थल भी मान सकते हैं। भारतेन्दु ने ऐसे ही स्थलों में अपने व्यापकतर स्नेह की व्यंजना की है।

श्बाम पियारे आजु हमारे भोरहि क्यों पगुधारे।
बिनु मादक ही आज कहो क्यों घूमत नैन तुम्हारे।

स्पष्टतः खंडिता का प्रसंग है परन्तु प्रकृति का कैसा यथार्थ वर्णन है—

दीपक जोति मलिन भई देखौ पच्छिम चन्द सिधार्‌यौ।
सूरज किरन उदित उदयाचल पच्छिम शब्द उचार्‌यौ।
कुमुदिनि सकुची कमल प्रफुल्लित चक्रवाक् सुख पायौ।

इसी प्रकार बादलों का वर्णन है—

बादल—आज कछु मंगल घन उनए।
गरजत मंद मंद सोई मंगल मनवत कुंज छए।
बरसत बूँदन मनु अभिसेचत मंगल कलस लए।
चमकि मंगलामुखी दामिनी मंगल करत नए।

बसन्त—सखी लखि यह रितु वन की शोभा।
कुहकत कुंज कुंज में कोकिल लखि कै सब मन लोभा।
नए नए वृक्ष नए नए पल्लव नए नए सब गोभा।
नए नए पात फूल फूल नए नए नए देत हिये चोभा।
सीतल चलत समीर सुहायो लेत सुगंध झकोर।
तैसोइ सुख घन उमड़ि रह्यो है, जमना जू लेत हिलोर।
नाचत मोर और चहुं ओरन गुंजत अलि बहु भाँति।
बोलत चातक सुक पिक चहुं दिसि लखि कै घन की पांति।

"दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला" जैसे वर्णनों में जो "तटस्थ अंकन" है, उससे कम "तटस्थ अंकन" यहाँ नहीं दिखाई पड़ता। इतना अन्तर अवश्य है कि इस पद के अन्त में यह पंक्ति जुड़ी हुई है—

जहँ राधा अरु माधव बिहरत कुंजन छिपि छिपि जावैं।

केवल इसी पंक्ति से उक्त प्रकृति-वर्णन संयोग के उद्दीपक रूप में स्वीकार कर लिया गया है। किन्तु ऐसे चित्रणों में भी प्रकृति का तटस्थ चित्रण हुआ है, यह स्पष्ट है।

इसी प्रकार सखी को सम्बोधित किए गए कई पदों में प्रकृति के मनोहर चित्र कवि ने दिए हैं—

सखी री मोरा बोलन लागे।
मनु पावस को टेरि बुलावत तासों अति अनुरागे।

अथवा

देखि सखि चन्दा उदय भयो।
कबहुंक प्रगट लखात कबहुं बदरी की ओट भयो।

इसी प्रकार बसंत का प्रेम जोगिनी के रूप में, सावन की रात का द्रोपदी के रूप में, बसंत का आक्रान्ता के रूप में, चौथ के चाँद का बादर के टुकड़े के रूप में, और कहीं स्वतंत्र रूप में प्रकृति की छवियों का अंकन किया गया है।[1] भारतेन्दु ने हिंडोला और होली के वर्णन में वर्षा और बसन्त के एक से एक सुन्दर चित्र दिए हैं। कहीं कहीं अलकृत रूप में प्रकृति दर्शन में कवि ने अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचय दिया है—

उर बघनहा बिराज़त सखि की उपमा नहिं कहि आवैरी।
मनु फूली अगस्त की कलिका सोभा अतिहि बढ़ावै री।

बँगला के पयार छन्द में सन् १८७४ ई० में भारतेन्दु ने "प्रात समीरन" पर स्वतन्त्र रूप से एक कविता 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में प्रकाशित की थी। यह प्रकृति के 'तटस्थ चित्रण' का सुन्दरतम उदाहरण है। इसमें प्रातः समीरण का गति, प्रभाव आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। इस प्रकृति वर्णन में कई विधियों का प्रयोग किया गया है—

गति का वर्णन—नाचत आवत पात पात हिहिनात
तुरग चलत चाल पवन प्रभात।
'आवै गुंजरत रस फूलन को लेत
प्रात को पवन भौंर सोभा देत।

प्रभाव—गात सिहरात, तन लागत सीतल
रैन निद्रालस जनसुखद चंचल।
नेत्र सीस सीरे होत सुख पावै गात
आवत सुगंध लिए पवन प्रभात।

जिसे हम आज "मानवीकरण" कहते हैं, उसकी एक झलक पवन के विविध रूपों में अवश्य मिलती है—

---

१. कहुं कहुं सघन तरोवर सों मिलि मंडल सुंदर छायो।
पत्ररन्ध्र सों धूप चाँदनी मिलि कै लगत सुहायो।
कहूं कुटी कहुं सघन कुटी कहुं कदम खण्डिका छाई।
कहुं वितान कहूं कुंज मंडप, कहुं छई छाँह मन भाई।
झरना झरत विमल जल के जंह करत हंस कल गाना।
कहुं कहुं झुके तरोवर जल में, मनु निज प्रिय को भेंटें।
मुकुर माँहि सोभा लखि अपनी कै जिय कों दुख मेटें।
कहुं कहुं कुंड तलाब बावरी भरे फटिक से नीरा।
कहूं झील लहरत अपने रंग देखि दुरत दृग पीरा।

पातन कै पावै लेत पराग खिराज
आवत गुमान भरयो समीरन-राज ।

प्रातः काल का वर्णन—

चटकैं गुलाब फूल कमल खिलत—
कोई मुख बन्द करैं परन हिलत ।
गावत प्रभाती बाजैं मन्द मन्द ढोल—
कहूँ कहूँ जय द्विजगन जय बोल ।
उड़त कपोत कहूँ काग करैं रोर
चुहू चुहू चिरैयन कीनी अति रोर ।
बोलैं तम चोर कहूँ ऊँचो करि माथ—
अल्ला अकबर करैं मुल्ला साथ साथ ।
बुझी लालटैन लिए झुकि रहे माथ—
पहरू लटकि रहे लम्बो किए हाथ ।
स्वान सोये जहाँ तहाँ छिपि रहे चोर—
गऊ पास बच्छन अहीर देत छोर ।
दही फल फूल लिए ऊँचैं बोल बोल,
आवत ग्रामीन जन चले टोल टोल ।
काज व्यग्र लोग धाए कन्धन हिलाय,
कसे कटि चुस्त बने पगड़ी हिलाय ।
अरुन किरन छाई दिसा भई लाल,
घाट नीर चमकन लागे तौन काल ।

कवि ने नगर में बैठकर प्रातः काल का वर्णन किया है और "मधुपवृत्ति" वाले कवियों की तरह केवल कमलों, कुमदों आदि को ही न देखकर कपोतों, कागों, मुसलमानों की अल्ला अकबर की पुकारों, ग्रामीणों द्वारा दही दूध की आवाजों को ही नहीं, कवि ने बुझी हुई लालटेन लिए हुए और नींद के कारण झुके हुए मस्तक वाले गरीब पहरेदारों को भी देखा है—हम प्रारम्भिक कवियों की कलाहीनता की निन्दा करते हैं किन्तु यह नहीं देखते कि इन महान आत्माओं में प्रकृत्ति और मनुष्य की एकता के प्रति कैसी निष्ठा थी। उनके मानववाद ने प्रकृति को भी मानवीय बनाया है, उनकी कला को मानवीय बनाया है।

आचार्य केशव की तरह भारतेन्दु ने भारत-भिक्षा नामक कविता में

राजदरबार का भव्य वर्णन किया है।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि मानवकृत वस्तुओं के वर्णन की ओर भी कवि भी रुचि थी।

इस प्रकार भारतेन्दु ने यद्यपि अधिकतर प्रकृति वर्णन में प्राचीन परम्परा का ही प्रतिपालन किया है परन्तु राजमार्ग पर गतिमान विभिन्न अश्वों की तरह उनकी अपनी गति है, अपनी शान है। भारतेन्दु ने प्राचीन काव्य धरोहर को आगे बढ़ाया, किन्तु उस परम्परा का, अपने मौजी स्वभाव और व्यापक सहानुभूति के कारण—विस्तार भी किया। प्रकृति के क्षेत्र में भी भारतेन्दु के कतिपय प्रयोग नवीन हैं, उस समय की दृष्टि से, जब रीतिकालीन परम्परा प्रचलित थी, 'प्रातसमीरन" जैसे वर्णन भारतेन्दु को आधुनिक युग के जन्मदाता का पद देते हैं। रत्नाकर अधिक प्रौढ़ और समासप्रधान ब्रजभाषा लिखते थे परन्तु भारतेन्दु जैसी व्यापक दृष्टि और मानवतावाद रत्नाकर में, उस मात्रा में, हरगिज नहीं था। भारतेन्दु के बाद 'सुन्दर' के अतिरिक्त यथार्थ जीवन और सुन्दर पदार्थों के साथ साथ साधारण पदार्थों के वर्णन की प्रवृत्ति पुनः कविरत्न सत्यनारायण में मिलती है। भारतेन्दु समकालीन, कवियों में भी यह प्रवृत्ति थोड़ी बहुत मात्रा में मिलती है, पर अधिक नहीं।

भारतेन्दु का प्रकृति दर्शन एक विश्वास पर आधारित था, कि यह प्रकृति 'प्यारे कन्हैया' की लीलाभूमि है। इस आशा और आमोदमूलक विश्वास के कारण प्रकृति के नाना रूपों के प्रति कवि की आसक्ति एक धार्मिक व्यक्ति जैसी आसक्ति होने के कारण गम्भीर और स्थायी मनोराग की व्यंजिका है। प्रकृति को तमाशवीनों की तरह कवि ने नहीं देखा, न "पदार्थपरिगणन प्रणाली" किसी रोग के रूप में तब प्रचलित थी। भारतेन्दु को प्रकृति का उल्लास जैसे पुरुष को रिझाने का एक प्रयत्न जैसा दिखाई पड़ता है अतः प्रकृति और अपने

---

१. **फर फर फहरत धुजा पताका।**
चम चम चमकत कलस बलाका।
अटा अटारी बादर भोखन
छज्जै छातन गौख झरोखन
दीपक दीपक परत लखाई
मनु नभ में तारावलि आई।
दिन को रवि अकास लखि लज्जित
मनहुं हीरगिरि खंडव सज्जित।
छुटत अतसबाजी रंगरंगी।
गगन प्रकट मनु अनल फिरंगी।

अन्तःकरण की एक सी स्थिति कवि को दिखाई पड़ती है । निष्ठा एक दृष्टि देती है । उसी दृष्टि से भारतेन्दु ने प्रकृति को देखा है अतः प्रकृति उनके अपने मन के बहुत समीप है, वह कोई पराई वस्तु नहीं है । मनुष्य और प्रकृति के बीच किसी प्रकार का संघर्ष कवि ने कहीं नहीं देखा अपितु एक ही साध्य की ओर प्रधावित दो इकाइयों के रूप में कवि ने प्रकृति और अपने को देखा है—वह साध्य है—भगवान की नित्य लीला में प्रवेश ! दुःखी, विषमताग्रस्त, पराधीन औरजड़-समाज के समानान्तर एक मनोमय बैकुण्ठ की कल्पना में जब तब मग्न होजाना बुरा नहीं था, इससे कवि निराश नहीं होता था । मन में एक सम, एक लय और एक स्वप्न रहने से बाह्य कटुता का सामना सुविधा से किया जा सकता है अतः भारतेन्दु के मन में जो लय थी, जो स्वप्न था, उसी स्वप्न की पूर्त्ति के लिए प्रकृति को भी प्रयत्न करते हुए दिखाया गया । यह संक्षेप में कवि का "प्रकृति-दर्शन" था । इसके अतिरिक्त कवि के उपरिवर्णित प्रयोग भी मनोरंजक और कुतूहलवर्द्धक हैं । प्रयोगों की विशेषता यह है कि वे कवि की निष्ठा के साथ संलग्न हैं । निष्ठाहीनता में ही प्रयोग हो सकते हैं अथवा प्रयोगों के लिए किसी श्रेष्ठ विचारधारा में विश्वास अवांछनीय है, इस भ्रान्ति का खंडन तो आधुनिक हिन्दी का विधाता ही कर देता है !

भारतेन्दु के ब्रजभाषा काव्य की महत्ता और सौन्दर्य को पीछे स्पष्ट किया जा चुका है । भारतेन्दु ब्रजभाषा के आधुनिक कवियों में महानतम कवि हैं, आज तक कोई कवि उनके समकक्ष नहीं पहुंचता प्रतीत होता । पुराने कवियों में वे एक ओर सूरदास के समकक्ष पहुंचते प्रतीत होते हैं तो दूसरी ओर रीति-कालीन कवियों से स्पर्धा करते प्रतीत होते हैं । भक्ति, रीतकालीन तथा लोककाव्य—इन तीनों पद्धतियों का अलग-अलग और एक साथ प्रयोग करने में भारतेन्दु अन्यतम कलाकार थे । उन्होंने ग्यारहवीं शताब्दी से अपने समय तक के काव्य-प्रवाह में अवगाहन करके अपनी प्रतिभा का प्रक्षालन किया था, साथ ही कोटि-कोटि जनता के मानस की सामूहिक अभिव्यक्ति जिन लोकगीतों में हो चुकी थी, हो रही थी, उनकी शक्ति और सौंदर्य को स्वीकार किया था अतः शिक्षित और शास्त्रीय तथा प्रचलित और स्वच्छन्द धाराओं का गंगा-जमुनी मिलन भारतेन्दु में ही दिखाई पड़ता है । भारतेन्दु के ब्रजभाषा काव्य में 'संगम' जैसा सौन्दर्य है । त्रिवेणीसंगम जैसी ही उनके काव्य में शुचिता और शांति का समन्वय है । भक्तिकाल की भागीरथी के संयोग के कारण रीतिकलीन यमुना का जल जो अधिक मटमैला होगया था, उसे भी 'स्वच्छ' रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न भारतेन्दु ने किया था । अद्भुत थी, वह प्रतिभा

जिसने पौराणिकता, भक्तिकालीन भावुकता और रीतिकालीन रसिकता को इस प्रकार अपनाया है कि प्रत्येक का उज्ज्वल रूप ही हमारे सम्मुख प्रस्तुत हुआ है। भक्तिकाल की साम्प्रदायिकता पर उन्होंने जिस प्रकार जय प्राप्त की थी उसी प्रकार रीतिकालीन रसिकता का पाचन कर उन्होंने अधिक उच्च मानसिक स्थितियों की व्यंजना करने में सफलता प्राप्त की थी।

भारतेन्दु का धार्मिक विश्वास सामयिक जागरूकता में बाधक नहीं बनता। जिस प्रकार तुलसीदास अपने विश्वास का प्रचार करते हुए सामयिक जागरूकता में अग्रगण्य थे उसी प्रकार भारतेन्दु ने अपने युग पर केवल अपने व्यक्तिगत विश्वास को आरोपित न करके, सामयिक जाग्रति को पहचानने का भी प्रयत्न किया था। इस सामयिक जागरूकता की प्रतिक्रिया सम्भवतः उनके व्यक्तिगत विश्वास पर हुई थी और शायद इसीलिए उनके व्यक्तिगत विश्वास में जड़ता और संकुचित भावना का अभाव मिलता है। इसी प्रकार सामयिक चेतना को भी कुछ उनके व्यक्तिगत विश्वासों ने प्रभावित किया था अतः प्रेमदीक्षा में दीक्षित भक्त कवि की तरह वह उग्र और अतिवादी नहीं हो सके। हिन्दी और तात्कालिक जाग्रति के लिए यह एक शुभ प्रवृत्ति थी। भारतेन्दु में जो 'लचक' दिखाई पड़ती है, उसके बिना वह जागरणकार्य के लिए संगठन में सफल नहीं हो सकते थे। यह "लचक" भारतेन्दु को प्रेम-साधना द्वारा प्राप्त हुई थी। सम्पूर्ण जगत् को यह समझना, मानों वह किसी प्रेमी द्वारा प्रेम-प्रक्रिया की अनुभूति मात्र हो, भारतेन्दु की विशेषता थी और इस विशेषता ने ही उनके काव्य में अक्षय रस भरा था। ब्रजभाषा में व्यक्त वह "रस" ही सामयिक क्षोभ को सहन करने की शक्ति भारतेन्दु को देता था। 'रस' से हम परिचित हो चुके अब हम उस क्षोभ को देखेंगे जो आधुनिक क्रान्ति का प्रथम रूप था।

भारतेन्दु का जागरण-काव्य—प्रसाद जी ने भारतेन्दु की इस प्रवृत्ति को सर्वप्रथम पहचाना था कि भारतेन्तु "महान्" के अतिरक्त लघु की ओर भी दृष्टिपात करने वाले कवि थे। इससे भारतेन्दु की यथार्थवादी प्रवृत्ति अवश्य स्पष्ट होती है, परन्तु उनके जागरण-काव्य का पूर्ण रूप स्पष्ट नहीं होता। भारतेन्दु कोरे प्रेमी भक्त ही न थे, वह अपने युग के परिवर्तनो को ध्यान से देख रहे थे। वर्गतः साम्राज्यवाद के समर्थक परिवार में जन्म लेकर भी, चिन्तन की दृष्टि से वह जनवादी थे अतः जनमानस को आधार बनाकर उन्होंने ऊपर के वर्गों पर दृष्टि डाली थी। सामान्य जन को आधार बनाकर चलने वाला

चिन्तक समाज का सही निदान करने में कभी ग़लती नहीं करता अत: भारतेन्दु ने अपने समाज के दु:खों के निदान करते समय सबसे अधिक ध्यान अपने समाज की कमजोरियों पर दिया है और उन कमजोरियों के लिए जो वर्ग उत्तरदायी थे, उनकी खुलकर भर्त्सना की है, उनका उपहास किया है। भारतेन्दु जानते थे कि एक जागरूक समाज पर विदेशी शासन बहुत समय तक अपना प्रभाव नहीं रख सकता किन्तु वह यह भी जानते थे कि शिक्षा के साथ-साथ समाज में विदेशी शासन की कमजोरियों का पर्दाफाश भी आवश्यक है अन्यथा बिना राजनैतिक चेतना के, बिना आर्थिक चेतना के समाज केवल सुधारों से अपना उद्धार नहीं कर सकता। इस चितन में यह स्वाभाविक था कि भारतेन्दु से गलतियाँ होती क्योंकि सामाज-विज्ञान और इतिहास-विज्ञान के वह पडित नहीं थे, यों पंडित भी गलती कर जाते है। अत: अँगरेजों के विषय में भारतेन्दु जी प्राय: यह समझते थे कि देश में सुरक्षा, और शांति-स्थापना करने में अँगरेजों की देन स्वीकार करनी ही होगी।। और इसके अतिरिक्त उनके अपने वर्ग के चिंतन का भी उन पर कुछ प्रभाव रहना स्वाभाविक ही था जो अँगरेजों को देश का हितैषी समझता था और राजभक्ति को गर्व से घोषित करता था।

इधर १८५७ की क्रान्ति पर कई इतिहास प्रकाशित हुए हैं। जब पी० सी० जोशी (साम्यवादी) जैसे लेखक यह नहीं मान सके कि १८५७ की क्रान्ति शुद्ध जनक्रान्ति थी तब "सेनों" और "मजूमदारों" से क्या शिकायत हो सकती है।[१] अत: जब अँगरेजों की देन के विषय में हम आज भी एकमत नहीं हो सके हैं तब यह आशा करना कि भारतेन्दु जैसे शांत प्रकृति के विचारक अँगरेजों के विरुद्ध साहित्य में ज़िहाद बोल देते, यह समय से अधिक आगे की माँग है। फिर भी भारतेन्दु युग के लेखकों में अँगरेजों द्वारा होने वाली सबसे बड़ी "आर्थिक हानि" के प्रति अत्यधिक रोष था। भारतेन्दु जी देश की आर्थिक दुरावस्था से सबसे अधिक चिंतित दिखाई पड़ते हैं अत: साम्राज्यवाद के दबाव के उस बिन्दु को भारतेन्दु ने हमारे राजनैतिक विचारकों के पूर्व और उनके पथ प्रदर्शन के किना ही पहचान लिया था, जिस बिन्दु पर देश की सबसे अधिक हानि हो रही थी।

मेरे एक राजनीतिज्ञ और इतिहासज्ञ मित्र का कथन है कि साहित्यकार प्राय: दार्शनिकों, धार्मिकों अथवा राजनीतिज्ञों का अनुकरण करता है।

---

१. १८५७ की राज्यक्रान्ति—डा० रामविलास शर्मा

प्रगतिवाद मार्क्सवाद का साहित्यक संस्करणमात्र है, इसी प्रकार मनोविज्ञान का प्रचार इधर के उपन्वासों में मिलता है, मध्यकाल में साहित्य किसी दार्शनिक या धार्मिक का अंधानुगामी दिखाई पड़ता है अतः साहित्य को इतना महत्त्व देने की आवश्यकता ही क्या है ? इसके सिवा थोड़ा बहुत "पाप्यूलराईजेशन"—दूसरों के विचारों के प्रचार के अलावा साहित्य का अपना प्रकाश क्या है ?

यद्यपि उक्त कथन निराधार नहीं है किन्तु पूर्णतः सत्य भी नहीं है। जीवन को देखने और समझने के लिए किताबी ज्ञान के बिना भी कवियों ने सफलता प्राप्त की है और लोक साहित्य तो उक्त तथ्य को पूर्णतः खंडित कर देता है। लोकसाहित्य क्रान्ति का वास्तविक आधार बनता है और लोकसाहित्य केवल अपने वास्तविक जीवन-अनुभवों पर ही आधारित रहता है। इसके सिवा हमारे मध्यकालीन कवियों और भारतेन्दु के बाद के कवियों के विषय में उक्त सिद्धान्त एक सीमा तक भले ही लागू होता हो किन्तु भारतेन्दु युग के कवि राजनीतिज्ञों के मैदान में आने के पूर्व ही राजनंतिक, सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना फैलाते हुए दिखाई पड़ते हैं। सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना हुई किन्तु १८५७ की क्रान्ति के बाद ही हमारे अग्रचेता कवियों और लेखकों ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया था अतः बाद के राजनीतिज्ञ भी भारतेन्दु-युग से प्रेरणा ले सकते थे और कुछ उनसे प्रेरित हुए भी थे। आधुनिक भारतीय राजनीत के प्रथम केन्द्रबिन्दु भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखक ही थे। राजनीति विज्ञान के विशेषज्ञ बाद ही में सम्मुख आए अतः भारतेन्दु के विषय में उक्त मित्र की धारणा गलत साबित होती है।

राज्यभक्ति बनाम देशभक्ति—सन् १८५८ ई० के नवम्बर मास में विक्टोरिया की घोषणा ने बदनाम कम्पनी के शासन को समाप्त कर दिया। सम्पूर्ण संधियों के पालन की घोषणा हुई। देशी राजाओं का अस्तित्व सुरक्षित कर दिया गया। रंगभेद की नीति के विरुद्ध समान अवसर देने का भी आश्वासन मिला। धर्म में हस्तक्षेप न करने की नीति घोषित हुई। फलतः भारतवर्ष के लोगों की प्रसन्नता का एक आधार अवश्य था। आज की दृष्टि से विक्टोरिया की यह एक चाल थी और इसका विरोध होना चाहिए था किन्तु उस समय क्रान्ति के बाद के भारत से पूछिए, अनुमान कीजिए क्रान्तकारियों के संघर्ष को अतः क्रान्ति की असफलता के बाद भी सुविधाओं की धारणाओं का स्वागत किया गया ,और उनमें देश को अपनी क्रान्ति की एक "प्रच्छन्न विजय" की भी ध्वनि सुनाई पड़ी। अतः 'विक्टोरिया' की प्रशंसा सभी ने एक स्वर से की है। भारतेन्दु ने विक्टोरिया को "पूरी अमी भी कटोरिया" कहा

है। अन्यत्र उन्होंने ईश्वर से महारानी की सुरक्षा और स्वास्थ्य की कामना की है—

प्रभु रच्छहु दयाल महारानी।
बहु दिन जिए प्रजा सुखदानी।
रहै प्रसन्न सकल भय खोई।
राज करै बहु दिन लौं सोई।

इसे कवि ने जातीय संगीत कहा है। इस जातीय संगीत में, जो विक्टोरिया की प्रशस्ति है, अकाल और उपद्रवों को भी कवि नहीं भूल सका है। अर्थात् राज्यभक्ति के नाजुक से नाजुक अवसरों पर भी कवि अपने देश की दुर्दशा की ओर शासकों का ध्यान आकर्षित करता है। लार्ड रिपन के लिए लिखे गए अष्टक में भी कवि की प्रशंसा का आधार लार्ड रिपन द्वारा की गई 'प्रजा सेवा' ही है —लार्ड रिपन को कवि ने "मुद्रास्वाधीन करन" "पीड़ित जन दया प्रकाशन", "प्रजाराज्यस्थापन करन", "दीन भारत बिपद हरन", "कर बंधन मंथर कर", "जनसिच्छाहितसमिति-सिच्छा-संस्थापक", "सेतासेत बरन सम सम्मत मापक", "जन दुखमारन" आदि विशेषण दिए हैं और स्पष्ट कहा है कि क्लायब से लिटन तक कोई लार्ड देश की भक्ति नहीं पा सका, केवल लार्ड रिपन ही देश का प्रेम प्राप्त कर सके हैं—भारतेन्दु में "दास-मनोवृत्ति" कहाँ है ?

जदपि बाहुबल क्लाइब जीत्यौ सगरो भारत।
जदपि और लाटनहू को जन नाम उचारत।
जदपि हेस्टिंग्ज़ आदि साथ धन लै गए भारी।
जदपि लिटन दरबार कियो सजि बड़ी तयारी।
पै हम हिन्दुन के हीय की भक्ति न काहू सँग गई।
सो केवल तुमरे सँग रिपन छाया सी साथिन भई।

इस प्रकार भारतेन्दु की राज्यभक्ति सर्वदा देश के प्रति किए गए काव्यों को ध्यान में रखकर घटती बढ़ती थी। "भारत वीरत्व" में अँगरेजी राज्य की प्रशंसा में भी कवि ने देश के लिए किए गए काव्यों का स्मरण किया है—

बाँधि सेतु जिन सुतर किए दुस्तर नद नारे।
रची सड़क बेधड़क पथिक हित सुख बिस्तारे।
ग्राम-ग्राम प्रति प्रबल पाहरू बिए बिठाई।
जिनके भय सों चोर वृन्द सब रहे दुराई।
नृपकुल दत्तकप्रथा कृपा करि निज थिर राखी।

भूमि कोख को लोभ तज्यो जिन जग करि साखी।
करि वारड कानून अनेकन कुलहिं बचायो।
विद्यादान महान नगर प्रति नगर चलायो।
सबही विधि हित किये विविध विधि नीति सिखाई।

पर उ·

समय मतलब यह कि सुरक्षा, कानून, शांति, व्यवस्था आदि की स्थापना के
ण कवि राज्य की प्रशंसा करता है। मिश्र विजय के समय (१८८२ ई०)
.गरेजों की देखरेख में युद्ध करने वाली भारतीय सेना की प्रशंसा कवि ने इसलिए की है कि वह "भारतीय" सेना थी—

आरजगन के नाम आजु सब ही रखि लीनो।
पुनि भारत को सीस जगत महँ उन्नत कीनो।

किन्तु इसी 'भारत वीरत्व' में ही कवि अँगरेजों द्वारा की गई लूट पर रो उठता है—

जो भारत जग में रह्यो, सबसों उत्तम देस।
ताही भारत में रह्यो, अब नहिं सुख को लेस।
याही भुव में होत हैं, हीरक, आम, कपास।
इतहीं हिमगिरि, गंगजल, काव्यगीत परगास।

हाय वहै भारत भुव भारी,
सब ही विधि तें भई दुखारी।
रोम ग्रीस पुनि निज बल पायो,
सब विधि भारत दुखित बनायो।

इस कविता में कवि ने बताया है कि स्याम, और जापान से भी भारत की दशा हीनतर होगई है। भारतेन्दु कहते हैं कि रोम नष्ट होगया, वैभव के चिन्ह न रहे, यह अच्छा है क्योंकि इस अधीनता में चित्तौड़ जैसे अवशेषों को देखकर दुःख होता है।

जा दिन तुव अधिकार नसायो।
ताही दिन किन धरनि समायो।

प्राचीन भारतीय गौरव की गाथा का गायन साम्राज्यवाद के विरुद्ध किस प्रकार जनता को संगठित करता था, इसका प्रबल प्रमाण है—"भारत-वीरत्व"। कवि ने ऊपर से अँगरेजों के लिए मिस्र देश को जीतने की प्रेरणा दी है परन्तु इस काव्य का मंतव्य अँगरेजों के विरुद्ध क्रान्ति है—

सोई भारत भूमि भई सब भाँति दुखारी।
रह्यो न एकहु वीर सहस्रन कोस मँझारी।

धन विद्या बल मान वीरता कीरति छाई।
रही जहाँ तित केवल अब दीनता दिखाई।

भारतेन्दु "छन्दकाव्य" के पण्डित थे, ऐसा प्रतीत होता है। राज्यभक्ति की कविताओं का प्रभाव जनता पर अँगरेजों की इच्छा के ! पड़ता था, यह उनकी कविता पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है।

अफगान युद्ध में अँगरेजों की विजय पर कवि ने 'विजय बल्लरी' न कविता लिखी थी किन्तु इसी कविता में यह भी कहा गया है कि भला भारत वासियों को अँगरेजों की विजय से हर्ष क्यों होगा ? हमारे अपने देश की दशा जब यह है, तब प्रसन्नता क्यों हो ?

ये तो समझत व्यर्थ सब यह रोटी उत्पात।
भारत कोष विनास सों हिय अति ही अकुलात।
हीति भीति दुष्काल सो पीड़ित कर को सोग।
ताहू पै धन नास को, यह बिनु काज कुयोग।
स्ट्रेची डिज़रैली लिटन चितय नीति के जाल।
फँसि भारत जरजर भयो, काबुल युद्ध अकाल।

जो महामना भारतेन्दु की राज्यभक्ति का स्वरूप समझना चाहें, वे सरकार की युद्धनीति के विषय में भारत का रुख इस दोहे में पढ़ लें—

सुजस मिलै अँगरेज कौं, होय रूस की रोक।
बढ़ै ब्रटिश वाणिज्य पै, हमकों केवल सोक।

ब्रिटिक साम्राज्यवाद वणिक-हितों की वृद्धि का उपाय मात्र था, इसे भारतेन्दु भली भाँति समझते थे, और यह भी कि भारतीय सिपाही व्यर्थ प्राण देकर अँगरेजों को गौरव देते थे।

यदि भारत में अफगानिस्तान का राज्य भी मिला दिया जाय तो भी भारतवासी जज और कलक्टर तो होंगे नही, ऊँचे पद तो गोरांगों को ही मिलेंगे—

भारत राज मँझार जौ कहुं काबुल मिलि जाय।
जज्ज कलक्टर होइहैं, हिन्दू नहिं तित धाय।

बेचारे भारतवासी केवल दो ही कामों के लिए विदेशी राज्य के लिए महत्त्वपूर्ण हैं—प्राण और धन लुटाने के लिए !

ये तो केवल मरनहित, द्रव्य देन हित हीन।
तासों काबुल युद्ध सों, ये जिय सदा मलीन।

अँगरेजों की नीति के विषय में कवि कहता है—

सत्रु-सत्रु लड़वाइ दूरि रहि लखिय तमासा ।
प्रबल देखिए जाहि ताहि मिसि दीजै आसा ।

पुन. कवि आशा करता है कि शायद 'लिबरलदल' कुछ भारतवासियों पर उदारता दिखाए, नमक पर से कर उठा लिया जाय, और 'टिक्कस' हर समय शायद न लगें—

लिबरल दल बुधि भौन शान्तिप्रिय अति उदार चित ।
पिछली चूक सुधारि अबै करि भारत हित ।
खुलिहैं 'लोन' न युद्ध बिना लगिहै नहिं टिक्कस ।
रहिहै प्रजा अनन्द सहित बढ़िहैं मन्त्री जस ।

सुविधाओं की प्राप्ति होगी, शायद इसीलिए भारतीय अँगरेजों के लिए लड़ते हैं और चूंकि देश की सीमा दृढ़ होती है अतः प्रसन्न हैं ।

विक्टोरिया के प्रति प्रिंस अलवर्ट की मृत्यु (१८६१ ई०) पर हमारे भारतेन्दु रोए नही, शोकगीति लिखने चले और चित्रकाव्य की सृष्टि कर गए ! अवचेतन का चेतन पर अनुशासन इसी को कहते हैं । यह दुख का विषय है कि भारतेन्दु के बाद के लेखकों में बहुत से लेखकों के अवचेतन-उपचेतन मन में केवल कामदेव ने ही आसन जमा लिया । भारतेन्दु के अवचेतन में देश के प्रति कसक रहती थी, उन्हें ऊपर मन से राज्यभक्ति की घोषणा करनी पड़ती थी अतः उनका उपचेतन-अवचेतन मन का अध्ययन एक रोचक विषय होगा ।

सन् १८६९ ई० में ड्यूक आफ एडिनबरा के आगमन पर कवि ने राजकुमार को "चन्द्र" कह कर प्रशंसित किया था । गद्य में भी एक प्रशंसात्मक आवेश मिलता है किन्तु यहाँ भी प्रसन्नता का कारण यह बताया गया है कि प्रजा को सुख देने का प्रयत्न ही प्रजा को हर्षित कर रहा है । ड्यूक आफ एडविनरा के विवाह के अवसर पर भी भारतेन्दु ने उनकी प्रशंसा की है । किन्तु प्रिंस आफ वेल्स के रोगग्रस्त होने पर कवि ने अपनी देशभक्ति का परिचय अवश्य दिया है—

हम हैं भारत की प्रजा, सब विधि हीन मलीन ।

"भारत भिक्षा" में भी भारतमाता का रुदन राजकुमार अलवर्ट के स्वागत के अवसर पर सुनाया गया है और भारतीय श्रोताओं पर उसका प्रभाव यह पड़ा होगा कि भारतवर्ष का अँगरेजी राज्य में नाश होगया है ! यहाँ राजकुमार को दिखाने योग्य कोई वस्तु ही नहीं रह गई है ।

"भारतभिक्षा" में राजाओं, नबाबों को कलकत्ता में प्रिंस अलबर्ट के

स्वागतार्थ दौड़ने का जो वर्णन है, उससे लगता है कि कवि राजाओं का मजाक बना रहा है—

सिरन झुकाइ सलाम करि, मुजरा करहु जुहारि।
जटितहु जूतन त्याग कर स्वच्छ बूट पग धारि।
कित हुलकर कित सेन्धिया कित बेगम भूपाल।
कित काशीपति कित रहे सिक्ख राज पटियाल।
कित लायल ईजानगर मानी नृप मेवार।
कितै जोधपुर जैपुरी त्रावंकोर कछार।

"मानी मेवार" के राजा जब यह पंक्ति सुनते या पढ़ते होंगे, तब उन पर क्या बीतती होगी ?

प्रिंस अलबर्ट के स्वागत के लिए दुःखी भारत माता को कवि प्रेरित करता है। भारतेन्दु लार्डों, प्रिंसों आदि के स्वागत के अवसरों पर अपने देश प्रेम को व्यक्त करने का कोई उपाय खोज लेते थे। उनकी राज्यभक्ति और देशभक्ति में कठोर संघर्ष दिखाई पड़ता है। प्रिंस के सम्मुख भारतमाता का यह चित्र (यदि प्रिंस में अक्ल होगी तो) उस पर क्या प्रभाव डालेगा, यह सहज ही अनुमेय है—

मति रोओ रोओ न तुम जननी व्याकुल होय।
उठहु उठहु धीरज धरहु लेहु कुँअर मुख जोय।
तुम दुखिया बहु दिनन की सदा अन्य आधीन।
सदा और के आसरे रहो दीन मन खीन।
तुस अबला हतभागिनी सदा सनाथ दयाल।
जोग भजन भूली रहत सूधे जिय की चाल।

अन्तिम दोहा आज के इतिहासज्ञों की भी आँखें खोल सकता है। जो भारतीय संस्कृति का आधार आध्यात्मिकता को ही मानते हैं, उन्हें यह कहना चाहिए कि इस आध्यात्मिकता से हानि भी कम नहीं हुई है—

जोग भजन भूली रहत, सूधे जिय की चाल !

और भारतमाता, दोनों हाथों से केशों को बिखेर कर, पीतवदन, आँखों में अश्रु भर कर, उच्छ्वास छोड़ते हुए कहती है—

क्यों आवति इत नृपति कुमारा।
भारत में छायो अँधियारा।

भारत के अन्धकार पर प्रकाश डालने में भारतेन्दु कभी नहीं चूके, चाहे शासकों की थोड़ी बहुत प्रशंसा उन्होंने भले ही की हो और समग्र कविता का प्रभाव भारतीयों को अवश्य अँगरेजों के विरुद्ध जाग्रत करता है। भारतमाता

कहती हैं कि पराधीन पिंजरबद्ध पक्षियों तक को लोग सुखी रखते हैं, तभी वह मीठा शब्द करते हैं—

पालत पच्छिहु जो कुँअरि करि पिंजरनि में बन्द।
ताहू कहँ सुख देत नर जामें रहे अनन्द।

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि अँगरेजों ने देश को पिंजर-बद्ध करके भी उसे आवश्यक भोजन पान नहीं दिया है।

राष्ट्रीयता का स्वर विषस्यविषमौषधम् में सर्व प्रथम व्यक्त हुआ है जो १८७६ ई० की रचना है, उसके पूर्व की मुँह दिखावनी, राजकुमार शुभागमन तथा भारत भिक्षा आदि रचनाओं में देशभक्ति दबी हुई है। श्री किशोरीलाल गुप्त का कथन है कि "संवत् १९३७ (अर्थात् १८८० ई० के पूर्व) के पहले की किसी रचना में भारतेन्दु बाबू को अँगरेजी राज्य की किसी प्रकार की शिकायत करते हुए नहीं पाते, वे अभी तक अँगरेजी राज्य को एक प्रकार का वरदान ही समझते आरहे थे, हाँ, कर का दुःख अवश्य था।" (पृष्ठ २२०) किन्तु गुप्त जी ने प्रथम राष्ट्रीय कृति विषस्य-विषमौषधम को भी माना है! इसके अतिरिक्त भारतदुर्दशा, संवत् १९३३ तथा भारत जननी नाटक संवत् १९३४ की रचना है। इन रचनाओं में राष्ट्री-यता का अभाव नहीं है फिर उक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि मुँह दिखावनी जैसी रचनाएँ अवसर विशेष पर लिखी हुई रचनाएँ हैं, स्वभावतः कवि ने उसमें अँगरेजों को खरी खोटी न सुनाकर देश की दुर्दशा की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया है। विवाह जैसे अवसरों पर 'खरी खोटी' न सुनाने में शालीनता भी एक कारण थी किन्तु छद्म रूप से कवि ने राष्ट्रीय कष्टों की ओर शासकों का ध्याम बराबर आकर्षित किया है। राष्ट्रीयता केवल विदेशियों के विरुद्ध "सिंहगर्जना" से ही प्रकट नहीं होती। वह परिस्थितिवश विदेशियों के विरुद्ध प्रत्यक्ष रूप में न लिख कर, अप्रत्यक्ष रूप से देश को विदेशियों के विरुद्ध तैयार करने में भी है। अतः राज्यभक्ति बनाम देशभक्ति सम्बंधी विवाद में "शीर्षकों" पर नहीं, स्वयं कविता के मर्म और उसके सम्भावित प्रभाव का विश्लेषण होना चाहिए।

'विषस्य विषमौषधम्' के भरत वाक्य में "अँगरेजन को राज ईस इत थिर करि थापै" कहा गया है, यह आवश्यक था, क्योंकि अन्तिम घोषणा से साहब लोग समझे होंगे कि भारतेन्दु राज्यभक्त हैं किन्तु नाटक में अँगरेजों की कठोर आलोचना है अतः बाबू श्यामसुन्दरदास को इस नाटक में राष्ट्रीयता का जो अभाव अनुभव हुआ है, वह भ्रान्त प्रतीति है। भारतेन्दु की यह पद्धति विशेष

थी जिसे उन्होंने कविताओं और नाटकों में बराबर अपनाया है। विषस्य-मौषधम्' में अँगरेजों की दुरभिसंधि और भारतीय राजाओं की मूर्खता पर कठोर व्यंग्य है।

सम्वत् १९२९ के पश्चात् सम्वत् १९३३ तक भारतेन्दु ने कोई छः नाटक लिखे थे और अनेक कविताएँ भी लिखीं थीं। इस अवधि की रचनाओं में "छद्मकला" का विकास हुआ है। थोड़ी बहुत राज्यभक्ति का प्रदर्शन करो और रचनाओं के बीच में अग्निवपन करो—बस यह पद्धति भारतेन्दु की अपनी पद्धति थी—तभी तो अन्त में भेद खुलने पर उन्हें राज्यकोप का भाजन बनना पड़ा था !

इसी प्रकार मुसलमानों के विषय में भारतेन्दु यत्र-तत्र कठोर रुख अपनाते हैं अतः उनकी राष्ट्रीयता को "हिन्दू राष्ट्रीयता, कहा गया है (किशोरीलालगुप्त, पृष्ठ २२५) साथ ही यह भी कहा गया है कि भक्ति के क्षेत्र में भारतेन्दु एक एक मुसलमान भक्त पर कोटि-कोटि हिन्दुओं को निछावर करने को प्रस्तुत थे। यही नहीं, उन्होंने हजरत मुहम्मद अली, फातमा और हसन की प्रशंसा "पंचपवित्रात्मा" नामक पुस्तक में की है। यहाँ भी अन्तर्विरोध !

वस्तुतः भारत में मुसलमानों के अत्यचारों से भारतेन्दु को दुःख था और यह स्वाभाविक था। इतिहास की दृष्टि से प्रारम्भिक मुसलमान शासकों की अनुदार नीति की सभी ने आलोचना की है। मुसलमानों की धर्मान्धता पर सभी क्षुब्ध थे किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मुसलमानों के लिए उनकी राष्ट्रीयता में स्थान नहीं था। मुसलमानों में जहाँ जो प्रशंसनीय था, उसकी वह बराबर प्रशंसा करते थे, स्वयं एक उर्दू के अच्छे कवि थे। और "एकता" के लिए बार बार आवाज उठाते थे। "अतः सामूहिक रूप से वे मुसलमानों से घृणा करते थे।"[1] यह प्रमाणित नहीं होता। हाँ कुप्रवृत्तियों की उन्होंने बराबर आलोचना की है, चाहे हिन्दू हो या मुसलमान।

जागरण के स्वर—भारतेन्दु के काव्य का प्रबलतम स्वर वर्तमान पर क्षोभ है। 'होरी' की चर्चा हम कर चुके हैं। राज्यभक्ति सम्बन्धी काव्यों में भी क्षोभ प्रकट हुआ है। नीलदेवी, अन्धेर नगरी, विषस्यविषमौषधम्, भारतदुर्दशा आदि नाटकों में भी यही स्वर प्रबलतम है। "वर्षा-विनोद" जैसी रचनाओं में भी भारतेन्दु कह उठते हैं—

देखो भारत ऊपर कैसी छाई कजरी।
मिटि धूर में सफेदी सब आई कजरी।

---

१. किशोरीदास गुप्त—पृ० २२७।

दुज बेद की रिचन छोड़ि गाई कजरी।
नृप गन लाज छोड़ि मुँह लाई कजरी।

प्रबोधिनी में कृष्ण को प्रातःकाल जगाने का वर्णन है परन्तु 'जागरण' का राष्ट्रीय स्वर यहाँ भी विद्यमान है—

डूबत भारत नाथ बेगि जागो अब जागो।
आलस दव एहि दहन हेतु चहुं दिसि सों लागो।
सब बिधि नासी भारत प्रजा कहुंन रह्यो अवलम्ब अब।
जागौ-जागौ कस्नायतन, फेरि जागिहौ नाथ कब।

विदेशी वस्तुओं के प्रति क्षोभ देखिए—

जीवित विदेश की वस्तु लै ता बिनु कछु नहिं कर सकत।

'राजा' के विरोध और प्रजा के हित के लिए कवि कामना करता है—

सब देसन की कला सिमिटि कैं इतही आवै।
कर राजा नहिं लेइ प्रजन पै हेत बढ़ावै।

जागरण का माध्यम हिन्दी भाषा थी। हिन्दी की उन्नति राष्ट्रीयता के विकास का एक अंग था[1] अतः हिन्दी की उन्नति पर प्रसिद्ध व्याख्यान जागरण सम्बन्धी काव्य के अन्तर्गत ही आता है। हिन्दी की उन्नति के बहाने कवि ने विदेशी शासन की ओर दास मनोवृत्ति को कठोर भर्त्सना की है—

वस्त्र काँच कागज कलम, चित्र खिलौने आदि।
आवत सब परदेस सों, नितहिं जहाजन लादि।
इत की रुई सींग अरु चरमहि तित लै जाहि।
ताहि स्वच्छ करि बस्तु भेजहि इतहि बनाय।
तिनही कौं हम पाइकैं, साजत नित आमोद।

विदेशी द्वारा आर्थिक शोषण पर कैसा प्रहार है!

स्वदेशी आन्दोलन के प्रथम प्रवर्तक भारतेन्दु ही थे। देश के धना-पहरण पर उन्हें सबसे अधिक क्षोभ था—

कछु तौ वेतन में गयो, कछुक राजकर माँहि।
बाकी सब व्यौहार में गयो, रह्यो कछु नाहिं।

भारतेन्दु के अनुसार हिन्दी भाषा ये इन परधनअपहरण की कलाओं का वर्णन हो, ताकि भारतीय विदेशियों के दस्युकार्य से परिचित हों। केवल अँगरेजी दाँ कुछ समझते हैं किन्तु वे हैं कितने इस देश में अतः हिन्दी में अर्थशास्त्र राजनीति आदि सब विषयों की पुस्तकों का प्रणयन और अनुवाद होना चाहिए।

---

१. निजभाषा उन्नति अहै, सब उन्नति का मूल।

हिन्दी की सेवा का अर्थ है—राष्ट्र की मुक्ति का प्रयत्न क्योंकि हिन्दी के द्वारा ही देश को जगाया जा सकता है—

अँगरेजी पहिलै पढ़ै, पुनि बिलाइतहि जाहि।
या विद्या के भेद सब तौ कछु ताहि लखाहि।
सो तो केवल पढ़न में, गई जवानी बीत।
तब आगे का कर सकत, होइ बिरध, गहि नीत।

यानी अँगरेजी वाले बेचारे अँगरेजी पढ़ते-पढ़ते ही वृद्ध हो जाते हैं, कुछ कर नहीं पाते अतः हिन्दी के माध्यम से ज्ञान की विभिन्न शाखाओं से शीघ्र परिचित हुआ जा सकता है ! काश ! भारतेन्दु की सीख हमने मान ली होती और देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा का प्रबन्ध किया होता !

अतएव अँगरेजी का विरोध, साम्राज्यवाद के सबसे प्रबल अस्त्र का विरोध था। अँगरेजी से एक वर्ग का उदय हुआ था, जिसके विषय में कवि ने लिखा है—

सब गुरुजन को बुरो बतावै,
अपनी खिचड़ी अलग पकावै।
भीतर तत्त्व न, झूटी तेजी,
क्यों सखि सज्जन, नहि अँगरेजी।

अँगरेजी सीखो, किन्तु देशी भाषा को ज्ञान का माध्यम बनाओ। अनुवादों से देशी भाषाओं को समृद्ध करो, सब जनता शीघ्र ही देशी भाषा को सीख लेगी और साम्राज्यवाद का पर्दा स्वयं फाश होजाएगा ! भारतेन्दु कितने दूरदर्शी थे !

भारतेन्दु ने विशेष अवसरों पर लिखी गई कविताओं में रानियों और राजकुमारों की प्रशंसा की है किन्तु स्वतन्त्र रचनाओं में उन्होंने विदेशी राज्य का वास्तविक रूप जनता के सम्मुख रखा है।

अंगरेजी राज्य—भीतर-भीतर सब रस चूसै।
हँसि-हँसि कै तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज।
क्यों सखि सज्जन, नहिं अँगरेज।

अंगरेजी कानून—नई-नई नित तान सुनावै।
अपने जाल में जगत फँसावै।
नित-नित हमैं करै बल सून।
क्यों सखि सज्जन, नहिं कानून।

अंगरेजों की नौकरशाही—मतलब ही की बोलै बात।
राखै सदा काम की घात।
डोलै पहले सुन्दर समला।
क्यों सखि सज्जन नहिं सखि अमला।

अंगरेजों के खिताब—एक षड्यन्त्र—
इनकी उनकी खिदमत करौ।
रुपया देते देते मरौ।
तब आवे करन खराब।
क्यों सखि सज्जन, नहीं खिताब।

अङ्गरेज अर्थनीति—अँगरेज राज सुखसाज सजे सब भारी।
पै धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी।
ताहू पै महँगी काल रोग विस्तारी।

विदेशियों द्वारा होने वाली ख्यारियों में आर्थिक लूट से उत्पन्न "ख्वारी" भारतेन्दु को सबसे अधिक कष्ट देती थी।

अङ्गरेजी टैक्स—छुटै राजकर, मेघ समय पर जल बरसावैं।[१]
कर राजा नहिं लेय, प्रजन पै हेत बढ़ावै।[२]
मरी बुलाऊँ, देस उजाड़ूँ, महँगा करके अन्न।
सबके ऊपर टिकस लगा है, धन है मुझको धन्न।[३]
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।[४]

इसके सिवा अन्धेर नगरी में "चना जोर गरम" में, "मुशायरा" नामक रचना में करों का घोर विरोध किया है। प्रथम इन्कमटैक्स लगाने पर 'लाट साहब" के स्वागत के समय भारतेन्दु ने एक नाव पर यह दोहा लिखवाया था—

स्वागत-स्वागत धन्य प्रभु, श्री सर विलियम क्योर।
टिकस छोड़ावहु सबन को, विनय करत कर जोर।"[५]

आज का कवि 'टैक्स' पर लिखते समय शरमाता है, उसे भय है कि

---

१. किशोरीलाल गुप्त—पृष्ठ २३७।
२. वही ।
३. वही ।
४. वही ।
५. वही ।

"टैक्स" काव्य का विषय बनाने पर 'स्थायी काव्य' की सृष्टि नही होगी ! वह नूतन प्रतीकों और उपमानों की खोज में है किन्तु ऐसे विषयों पर नहीं लिखता, जो सीधे जनता से सम्बन्धित हैं—बेकारी, टैक्स, भ्रष्टाचार, पक्षपात, विषमता, दम्भ आदि विषयों के लिए शायद नए उपमान ही नहीं मिलते। भारतेन्दु के मानस-पुत्रों से ऐसी आशा नहीं थी !

भारतेन्दु के साम्राज्यवादविरोधी आन्दोलन के उक्त मोर्चों के अतिरिक्त एक प्रबल मोर्चा 'समाजसुधार' का था। कवि जानता था कि केवल विदेशियों की पोल खोलना ही आवश्यक नहीं है किन्तु मुक्ति की तैयारी और देश के नवनिर्माण के लिए अपने समाज की बुराइयों का दूरीकरण आवश्यक है। अतः समाज सुधार, अतीत पर गर्व, अपनी संस्कृति का शोधन और प्रचार आदि कार्य भी साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक मोर्चे के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

सम्प्रदायवाद का विरोध—लरि वैदिक जैन डुबाई पुस्तक सारी।
करि कलह बुलाई जवनसैन पुनि भारी।[1]

वेदान्त का विरोध—रचि कै मत वेदान्त को, सबको ब्रह्म बनाय।
हिन्दुन पुरुषोत्तम कियो, तोरि हाथ अरुपाय।

'भारतदुर्दशा' की इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि भारतेन्दु अपने 'वैष्णव-मत' या ईश्वर के साथ स्नेह सम्बन्ध के प्रचार को अपने समय की समस्याओं को सुलझाने के लिए आवश्यक समझते थे—

"महाराज वेदान्त ने बड़ा ही उपकार किया। सब हिन्दू ब्रह्म हो गए। किसी की इति कर्तव्यता बाकी ही न रही। ज्ञानी बनकर ईश्वर से विमुख हुए, रुक्ष हुए, अभिमानी हुए और **इसी से स्नेह शून्य हो गए**। जब स्नेह ही नहीं तब देशोद्धार का प्रयत्न कहाँ ? (भारत दुर्दशा)

आलस्य— दुनियाँ में हाथ पैर हिलाना नहीं अच्छा।
मर जाना पै उठि कै कहीं जाना नहीं अच्छा।

दम्भ— देखी तुमरी काशी, लोगो, देखी तुमरी काशी।[2]

अमीरों का विश्वासघात—अमीर सब झूठे औ निंदक करें घात विश्वासी।

व्यापारियों की नीति—घालि रुपैया, काढ़ि दिवाला, माल डकारैं ठाँसी।

---

१. **भारत दुर्दशा।**
२. **प्रेम जोगिनी नाटक**

सिफारिश और खुशामद—हो रंज जहाँ पास न जाएँ कभी उसके।
आराम जहाँ हो, है वहाँ काम हमारा[1]
उमरा जो कहैं रात तो हम चाँद दिखादें।
रहता है सिफारिश से भरा जाम हमारा।

अँगरेजों की "अंधेर नगरी" पर ही भारतेन्दु ने नहीं लिखा है अपितु भारतीय समाज में विभिन्न वर्गों, नानामताबलम्बियों तथा बिके हुए लोगों की करतूतों का भी पर्दाफाश कवि ने किया है। भारतेन्दु की दृष्टि कितनी मर्मबोधिनी थी ! भारतेन्दु वास्तविक अर्थों में ऋषि थे, उनके सिंहावलोकन से भारतीय समाज प्रथम बार अपने विषय में जागरूक हुआ।

हिन्दी काव्य का यह प्रथम प्रवाह कितनी प्रबल प्रेरणा और भविष्य की सम्भावनाओं से युक्त था, यह हम आज ही समझ सकते हैं। इस प्रथम प्रवाह में प्रबलतम धारा, भारतेन्दु की धारा थी, जिसमें अपने पूर्व की सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ सुरक्षित हैं। भारतेन्दु के व्यक्तित्व में सूर, तुलसी, कबीर, बिहारी, देव, और घनानन्द ही नहीं, लोक कवियों की भी समग्र चेतना अवतरित हुई थी। भारतेन्दु का व्यक्तित्व सम्पूर्ण मध्यकालीन काव्य के श्रेष्ठ तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करता है और दूसरी ओर आधुनिक युग के भावी लेखकों का विधायक भी बनता है। भारतेन्दु प्रकाश स्तम्भ नहीं थे, वह अक्षय प्रकाश के स्रोत थे जिनसे शतशः प्रकाश स्तम्भों की सृष्टि हुई और होती जाएगी। भारतेन्दु के काव्य में सूर की तन्मयता और विनोदवृत्ति, तुलसीदास का लोकहित, कबीर जैसी आलोचनात्मक दृष्टि, सूफियों जैसी आर्द्रता और मस्ती तथा लोक कवियों जैसी अकृत्रिमता मिलती है। हिन्दी काव्य का प्रथम रूप सिद्ध सरोरुहवज्र की यथार्थवादी रचनाओं में मिलता है। यह यथार्थवादी प्रवृत्ति रीतिकाल में लुप्त हो चुकी थी। भारतेन्दु ने सरोरुहवज्र की आदि परम्परा को पुनर्जीवित किया। उनके काव्य का मर्म है—"वास्तविक अंतस् प्रेरणा" (Inspiration) काव्यकला को भारतेन्दु मनोवेगात्मक मानते थे। मनोरंजनात्मक रूप भी कवि ने प्रस्तुत किया है परन्तु वहाँ भी अन्तरस्थित कोई ऐसा मनोवेग लहरा रहा है जो लोक हृदय के साथ संनिविष्ट है। शुक्ल जी के शब्दों में वह कवि महान है जिसे लोक हृदय की पहचान हो। भारतेन्दु की विशेषता ही यही थी कि उन्होंने अपने

---

१. नील देवी

वर्ग के विरुद्ध जाकर, लोकहृदय के साथ तादात्म्य किया फलतः उनका अपना व्यक्तिगत विश्वास भी, वैष्णवीय प्रेम—लोक सेवा का सहायक बन गया। व्यापक दृष्टि होने पर, यह प्रायः देखा जाता है कि निजी विश्वास लोक सेवा का अंग बन जाता है अतः भारतेन्दु में "युगल-विहार" रीतिकालीन विलास-लिप्सा का उत्तेजक न रहकर, प्राणी मात्र से और विशेषकर स्वदेशवासियों से प्रेम का प्रेरक बनकर आया है। इस तथ्य पर बहुत बल देने की आवश्यकता है क्योंकि प्रायः भारतेन्दु की प्रेम और शृंगार सम्बन्धी रचनाओं को सुधार संबंधी रचनाओं का विरोधी मान लिया जाता है। भारतेन्दु कुम्भकार की तरह भावना की मृत्तिका से भारत के भावी मनुष्य को गढ़ना चाहते थे। यह भावना परस्पर प्रेमभावना थी और चूँकि प्रेम के देवता राधा-कृष्ण थे अतः भारत के निर्माण के प्रेमाधार के लिए राधा-कृष्ण का प्रेमगायन वह व्यक्तितः नहीं अपितु सामाजिकतः भी आवश्यक मानते थे। प्रेम को आधार बनाकर, कुम्भकार की तरह भारतेन्दु ने ऊपर से हमारे समाज पर जो प्रहार किए हैं, वह भारत की भावी मूर्ति को अभीप्सित और वांछनीय रूप देने के लिए ! कुम्भकार भीतर हाथ का सहारा देकर ऊपर से मिट्टी को कूट पीट कर ही इच्छित रूप दे पाता है—भारतेन्दु की यही पद्धति थी अतः उनके 'प्रेमकाव्य' को 'आन्तरिक आधार' के रूप में स्वीकार करना चाहिए तभी हम भारतेन्दु के साथ न्याय कर सकते हैं।

कितनी विविधता थी, भारतेन्दु में ? कितनी ग्रहणशीलता ? वर्जन और कुंठा का कहीं नाम नहीं, तभी भारतेन्दु आधुनिक युग के स्पन्दनों को पहचान सके थे। वह हिन्दी-प्रदेश के सबसे बड़े राजनीतिज्ञ, सबसे बड़े और महत्त्वपूर्ण संगठन कर्त्ता, समाज सुधारक और सबसे बड़े कवि थे। जिस प्रकार शिव के शीश से गंगा की शतशः धाराएँ फूट पड़ी थीं, उसी प्रकार हिन्दी काव्य की शतशः प्रवृत्तियों का आदि स्रोत भारतेन्दु का काव्य है।

बँगला में रंगलाल, दीनबन्धु, राजा राममोहन राय और बंकिम, गुजराती भाषा में नर्मद और गोबर्धन, तमिल में भारती, पंजाबी में वीरसिंह तथा मराठी में केशवसुत की तरह हिन्दी को भारतेन्दु ने अपनी प्राण शक्ति से आगे बढ़ाया और राष्ट्रीय जीवन की दृढ़ आधार शिला रखकर हिन्दी को उसका माध्यम बना दिया।

भारतेन्दु के विषय में प्रेमधन जी ने ठीक ही लिखा था कि भारतेन्दु बल्लभ कुल के शिष्यगणों में विशेष सौन्दर्य के स्रष्टा थे, बल्लभ कुल के काव्य के सौन्दर्य-वृद्धिकार थे और आधुनिक युग में उन्होंने अष्टछापीय काव्य को नए रूप में प्रस्तुत किया था—

बल्लभ कुल के शिष्यगन, में शोभा को हेत।
अष्ट छाप की नौ करन, कविता भक्ति निकेत।

प्रेमधन का यह मूल्यांकन आज भी सही है।

भारतेन्दु के महत्व के विषय में 'प्रेमधन' तथा अन्य कवियों की उक्तियों से यह स्पष्ट है कि पद्य की तरह वह गद्य के भी प्रेरक और प्राण थे। "काव्य के जहाज" माने जाते थे—

प्रेमिन के जो प्रानधन, रसिकन कौ सिर ताज।
कविता को तो डूबिगो, मानहु आज जहाज।[1]

पण्डित प्रताप नरायण मिश्र भारतेन्दु के मूल्यांकन के विषय में कहते हैं कि वह कलियुग में स्नेहपथ को स्वच्छ करने वाले थे। उन्होंने 'प्रेम मार्ग' को देशभक्ति और समाज सुधार का आधार बना दिया था—

श्री भारत-शशि सरिस ऋषि उपदेशै जब मर्म।
प्रेमहि गनै प्रताप किन, सब धर्मन को धर्म।

अतः मिश्र जी ने भारतेन्दु के "प्रेम-धर्म" के प्रचार का प्रयत्न किया था। यही नहीं, मिश्र जी देशभक्ति का प्रथम प्रवर्तक भी 'प्यारे हरीचन्द' को ही मानते थे।

बहुत लोगों को है दावा, वतन की खैर ख्वाही का।
कोई पूछै तो इनसे, चाल यह किसकी उड़ाई है।

भारतेन्दु ने साहित्य, काव्य देशभक्ति, समाज सुधार आदि प्रत्येक क्षेत्र में "चाल" चला दी थी, आज हम सब को उन्हीं के पग चिन्हों का अनुगमन करना चाहिए।

प्रथम प्रवाह की अन्य धारायें—यह आश्चर्य का विषय है कि भारतेन्दु युगीन कवियों के काव्य में उपरिवर्णित प्रवृत्तियाँ यथावत् सुरक्षित हैं। कुछ कवियों ने भारतेन्दु की सभी प्रवृत्तियों का अनुकरण किया था, जैसे कि प्रेमघन ने। और अन्य कवियों ने उनकी कुछ प्रवृत्तियों का अनुगमन किया था। किन्तु यह समझना भूल होगी कि अनुकरण से भारतेन्दु के अतिरिक्त अन्य कवियों का कार्य महत्वहीन है। सद्प्रवृत्तियों का सफल अनुगमन ही किसी

---

१. किशोरीलाल गुप्त—पृष्ठ ३६६

प्रबल युग को अवतरित करता है। भारतेन्दु के साथी प्रतिभाशाली कवि थे अतः अपनी प्रतिभा के अनुरूप ही उनका कार्य है। भारतेन्दु के पुरानेपन को भी कुछ कवियों ने दूर करने का प्रयत्न किया है। यह अवश्य है कि कुछ कवि जो अच्छे कलाकार थे, उन्होंने नए-नए प्रयोगों का अनुकरण न कर परीक्षित-पद्धति पर ही लिखा है और उसमें उन्होंने अवश्य सफलता प्राप्त की है।

ऐसे कवियों में बाबा सुमेरसिंह (१९०३ ई० में मृत्यु) का नाम उल्लेखनीय है। भारतेन्दु की तरह ही बाबा साहब जो सिक्खों के एक महन्त और अयोध्यासिंह उपाध्याय के काव्यगुरु भी थे, हिन्दुओं और सिक्खों की एकता के प्रबल समर्थक थे। बाबा साहब ने वैष्णवीय परम्परा में ललित छन्द लिखे हैं।[१]

भारतेन्दु के सवैयों और कवित्तों में अन्तिम पंक्ति कभी-कभी दुर्बल हो जाती थी किन्तु बाबा जी अन्तिम पंक्ति पहले सोचते थे और छन्दों में शब्दों के चयन और उनके विन्यास पर अधिक बल देते थे अतः उनके पद्यों में शिथिलता नहीं मिलती यद्यपि भाव की ऊष्मा उनमें पूरी मिलती है।[२]

इसी परम्परा में अम्बिकादत्त व्यास, रामकृष्ण वर्मा, राधाचरण गोस्वामी, सुधाकर द्विवेदी, माधवी, हुस्ना नागरी, मन्नालाल द्विज, राव कृष्णदेव शरणसिंह गोप, लाला सीताराम आदि कवि आते हैं। इनमें लाला सीताराम

---

१. बाबा जी ने प्रेमप्रकाश नामक ग्रन्थ सिक्ख गुरुओं के विषय में लिखा था, इसका केवल दशम मण्डल मिलता है। शेष लुप्त हो गए! अतः बाबा जी के केवल स्फुट पद्य ही प्रसिद्ध हैं। राधा-कृष्ण-बिहार और शृंगार से सम्बन्धित सुगठित भाषा में अत्यधिक लालित्य इन्होंने काव्य में भरा था—

गुरु लोग करेंगे चबाय घनौ, तिनकौं, सुनिकै नहिं माखिहौं मैं।
करिहैं जुपै दण्ड प्रचण्ड तु पै, सुमरेस हरी नहिं भाखिहौं मैं॥
बदनाम जो गाँव करै सिगरो, तऊ रूपसुधा रस चाखिहौं मैं।
ब्रजराज जो आज मिलैं सजनी, इहि लाज सौं काज न राखिहौं मैं॥

२. बातें बनावती क्यों इतनी, हमहूँ सौं छप्यो नहिं आज रहा है।
मोहन के बनमाल को दाग, दिखाइ रह्यो उर तेरे अहा है।
तू डरपै करै सौहैं सुमेरहरी सुन साँच को आँच कहा है।
अङ्क लगी तौ कलङ्क लग्यो, जो न अङ्क लगी तो कलङ्क कहा है।

अनुवादक थे।[१] हुस्ना नागरी[२] माधवी[३] चन्द्रिका[४] तथा रूपरतन[५] ने बहुत

१. जन्म १८६१ ई० मृत्यु—१९३७ ई०। रघुवंश मेघदूत आदि ग्रन्थों का अनुवाद किया। इनकी अनुवाद की भाषा साधु होती थी, आगे अनुवादकों को इससे प्रेरणा मिली—

व्रत महं चले गाय करि आगे। सेवक सेष सकल नृप त्यागे।
इक केवल निज तेज अपारा। मनु संतति तन रच्छन हारा।
कबहुंक मृदु तृन नोचि खिआवत। हाँकि माछि कहुं तनहि खुजावत।
जो दिसि चलत-चलत सोई राहा। एहि विधि तेहिं सेवत नरनाहा।

—'भारतेन्दु मण्डल' से उद्धृत

२. हुस्नानागरी—भारतेन्दु की महफिल की गणिका थी, भारतेन्दु की मृत्यु पर प्रसिद्ध कवित्त लिखा था—

कैसे नैन लखब, सुश्याम घुंघरारें वार
हाय नागरी के नाह छाड़ि कै कितै गयो।

३. माधवी—भारतेन्दु की रक्षिता वेश्या थी, अनुपम सुन्दरी और प्रतिभावती थी—भारतेन्दु के आदर्श पर पद लिखे हैं जिनमें भावगरिमा अवश्य है—

बीती बात बहार की, पिय अबहुं न आए।
कैसे कै मैं दिन बितवौं आली, जोबन करत उभार री।
कहा करौं कित जाओं बताओ, यह समयो दिन चार री।

४. चन्द्रिका—मल्लिका नाम्नी बंगदेशीय महिला जो भारतेन्दु की प्रेमिका थी, बंगला और ब्रजभाषा में इन्होंने मधुर पद्य कहे हैं—

अब न जाओ पिया मोरि सेजरिया।
जात विदेश छोड़ि तुम हमको, छनि हनि हीय मैं बिरह कटरिया।

५. रूपरतन—भोपाल की बेगम साहिबा, भारतेन्दु की प्रेरणा से हिन्दी में भी लिखती थीं, यों उर्दू की शायिरा थी—

सजि आई है राज दुलारी राधा प्यारी।
घर-घर में सब बनि-बनि निकसी पहिरि नवल तन सारी।
केसर रंग संग लै गागरि, करन उनके पिचकारी।
जुरि-जुरि आई नंद द्वार पर, टेरत ही दै तारी।
काल लाल करि गए अचगरी, आज हमारी बारी।

महिलाओं में रूपरतन सबसे अधिक प्रतिभाशालिनी थीं! काश! इनका सभी काव्य प्राप्त हो पाता!

कम लिखा है और भारतेन्दु के सीधे प्रभाव में होने के कारण कोई विशेष मौलिकता नहीं है। फ्रेडरिक पिनकाट ने भी कतिपय पद्य ही लिखे हैं। यद्यपि यह हम सबके लिए बहुत बड़ी बात है। सुधाकर द्विवेदी (मृत्यु १९१० ई०) मुख्यतः गणितज्ञ थे अतः काव्य को समय कम देते थे। सरलभाषा में सीधे ढंग से अपनी बात कहने में यह अत्यधिक कुशल थे[1] परन्तु कविरूप में इनका अधिक महत्व नहीं है। रामकृष्ण वर्मा बलवीर भी इसी परम्परा के कवि हैं। ब्रजभाषा में समस्यापूर्ति परम्परा में आपने कुशलता के परिचय के अतिरिक्त लोकगीतों की सृष्टि भी कीं है। वस्तुतः इनके लोकगीत अधिक मनोरंजक हैं और मीठे हैं—

रूपवा के भरवा त गोरी से पयरवारे
सोझवा धरल न जाय।
लचि-लचि जाला दैया गोरी की कमरिया—
जोवनवाँ के बोझवा दबाय।

द्वितीय पंक्ति के कवियों में मन्नालाल द्विज, गोप, राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी आदि कवि आते है। इन कवियों में कोई ऐसी नई प्रवृति नहीं मिलती जो भारतेन्दु में न मिलती हो। इनमें द्विज ब्रजभाषा के अत्यधिक प्रौढ़ कवि थे। अशिथिल पदविधान और चमत्कारक अंतिम पंक्तियों के ये धनी थे।[2] ब्रजभाषा की स्वच्छता इनके काव्य की विशेषता है। द्विज की तरह गोप भी सरस काव्य के स्रष्टा थे।[3] भारतेन्दु से प्रेरित होकर कविताएँ लिखते थे।

---

१. अनुचित है या उचित यह, यह समझत नहि कोय।
घर-घर जो बोलत फिरैं, भाषा कहियत सोय।

२. मदमाती रसाल की डारन पैं चढ़ी, आनंद सौं ये बिराजती हैं।
कुल आनि की कान करैं न कछू, मन हाथ परायेहि पारती हैं।
कोइ कैसी करैं 'द्विज' तू ही कहै नहिं नेकौ दया उर धारती हैं।
अरी क्वैलिया कूकि, करेजिन की किरचैं किरचैं किए डारती हैं।

३. राव कृष्णादेव शरणसिंह 'गोप' का जन्म भरतपुर के प्रसिद्ध राजवंश में हुआ था। आपने 'प्रेमसंदेसा' 'मानचरित्र', दोहावली, भारतेन्दु की 'चन्द्रावली' नाटिका का ब्रजभाषा में अनुवाद (अलभ्य) आदि रचनायें प्रस्तुत की थीं।

मोहन क्यों अनीति मन भाई।
सबसों तोरि नेह चरनन में, जोरि यहै मन आई।

आप भारतेन्दु के "तदीय समाज" के सदस्य भी थे। भारतेन्दुजी इनकी रचनाओं को 'चन्द्रिका' और 'मेगज़ीन' में प्रकाशित करते थे।

राधाकृष्णदास में भारतेन्दु जैसा वैविध्य मिलता है।[1] एक ओर देशभक्तियुक्त राज्यभक्ति का प्रदर्शन है तो दूसरी ओर" महाराणा प्रताप" नाटक में उनके पद्यों में वीर-परम्परा भी सुरक्षित है। भक्ति, देशदशा, समाज सुधार, स्तोत्र, आदि विभिन्न विषयों पर रचनाएँ मिलती हैं। भारतेन्दु की लोकगीत परम्परा भी बारहमासों के रूप में सुरक्षित है। आप भारतेन्दु के भाई ही नहीं, उनके प्रतिनिधि भी थे। उनमें एक ओर तो उमड़ता हुआ भक्तिभाव है[2] और दूसरी ओर रतिकालीन शैली में उन्होंने प्रकृति और प्रेम का भव्य वर्णन किया है। दोनों प्रकार की कविताओं को यदि भारतेन्दु के काव्य में फेंक दिया जाय, तो पहचानना कठिन हो सकता है।

कारण यह है राधाकृष्णदास भारतेन्दु की ही तरह कवित्तों और सवैयों में अंतिम पंक्ति के आकर्षण पर ध्यान नहीं देते थे। भावुकता की प्रचुरता उनकी विशेषता थी अतः दोनों के काव्य में सादृश्य बहुत अधिक मिलता है।[3]

ताहू पै परतीति न मानी, जग उपहास कराई।
यद्यपि हती अधम अति निन्दित अतिपै निज ओर लगाई।

तथा

मो पै यह नहिं जात सही।
तुमते बिहरि रैन दिन सुख लहि बिछुरि उसाँस रही।

अन्तिम पंक्ति की भाव-गरिमा द्रष्टव्य है।

१. रचनाएं—मेकडानल पुष्पांजलि, विजयिनी पृथ्वीराज प्रयाण, भारत-बारहमासा, जुबली, देशदशा, छप्पन की बिदाई, राम जानकी, प्रताप-विसर्जन, रहिमन-विलास, विनय, फुटकर कविता, और सुनीत,

२. हौं बलि जाउं मानिनी छवि पर।
बैठी भौंह चढ़ाय रिसभरी, गोल कपोलनि कर धर।
नैन बन्द, अलकावलि छूठी, अंचल पट खसक्यो सर।
लाल मनावति मानहिं रहि गए, धरि कै प्यारी के पग पै कर।

३. झीनी झीनी बूंदनि परति बड़ी सोभा अति—
चमकि चमकि विज्जु जिय दरसावै है।
लाल मखमली बीर बहू भूमि डोलैं मानो—
बूंद अनुराग नेह मेह बरसावै है।

कवित्तों से भी अधिक आकर्षक इनके दोहे हैं, क्या ही अच्छा होता, ऐसे दोहों की संख्या अधिक होती,[1] भारतेन्दुयुग की ब्रजभाषा की यह विशेषता है कि शब्दावली के अत्यधिक शृंगार से वे बचे हैं।

राधाकृष्णदास ने नीति के पद्य भी कहे हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि आपने रहीम के दोहों पर कुण्डलियाँ लिखी थीं। बिहारी भारतेन्दुयुग के सबसे प्रिय कवि रहे। उनके ऊपर कई कवियों ने कुण्डलियाँ आदि लिखी किन्तु रहीम पर केवल 'दास' जी ने ही लिखा।[2] विविधता के प्रेमी इन कवियों से हमें शिक्षा लेनी चाहिए।

राधाकृष्णदास ने भारतेन्दु की ही तरह अंगरेजों की शांति और सुरक्षा की स्थापना के कारण प्रशंसा की है किन्तु भारतेन्दु की ही तरह भारतवर्ष की दुरावस्था पर शोकप्रकाश भी किया है। 'दास' जी योरोप, अमेरिका, फ्रांस और जर्मनी के वैभव और अपने देश के पराभव को देखदेख कर अत्यधिक क्षुब्ध थे। देश में अन्न तक का अभाव था।" दुःख दारिद" के प्रति कवि ने वाल्मीकि की तरह सहानुभूति प्रकट की है, सरल भाषा और लोक छन्दों में लिखे गए ऐसे पद्य बहुत ही करुण हैं—

लायो असाढ़ सुहावना सब देश मिलि आनंद करैं।
यूरप अमेरिका फ्रांस जरमन मोद जिय में नहिं धरैं।
इक हम अभागे देस भर के बैठि कैं रोवत रहैं।
नहिं काम कोउ करनो हमैं, बस व्यर्थ दिन खोवत रहैं।

दास देखि सोभा यह भूलि जात दुःख सबै—
प्यारी जू डरति प्यारो अंग लपटावै है।

२. लागैं पै मानन न कछु, करहु जु लाख उपाय।
इत उत चितवै नहिं तनिक, नैन निगोरे हाय।
मन सों मन, अरु हार सों, हार उरझि रहि देह।
धनि उरझन यह प्रेम की, धन्य धन्य यह नेह।

३. दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे आहिं।
ज्यों रहीम नट कुंडली, सिमिटि कूदि चढ़ि जाहिं।
सिमिट कूद कढ़ि जाहिं, देखि अचरज जिय आवै।
घट तें सिंधुहिं बाँधि, मनो निज बस में लावै।
सारपूर्ण उपदेसपूर्ण गुन पूरन सोहा।
कैसे कहै रहीम, अरथ के दीरघ दोहा।

तथा

कौन नाज का कहैं, ठिकाना कौन घास चारे का।

अथवा

सहसि उठे सुनिकै आगम छप्पन की छई उदासी।

× × × ×

प्रभु हो पुनि भूतल अवतरिये।

अपुने या प्यारे भारत को पुनि दुख दारिद हरिये।

इसी प्रकार 'पृथ्वीराज प्रयाण' और "प्रतापविसर्जन" में देश की वीरता के अन्त नर शोक-प्रकाश किया गया है। 'दास' जी के 'प्रताप नाटक' में ओज पूर्ण और देश प्रेम से ओतप्रोत फड़कती हुई रचनाएँ हैं।

राधाचरण गोस्वामी में 'दास' जी जैसा ही वैविध्य मिलता है[1] यद्यपि कवित्त्व की श्रेष्ठता राधाकृष्ण विषयक रचनाओं में ही मिलती है। गोस्वामी जी ब्रजभाषा को, भक्तिरस के कारण, स्वर्ग की सीढ़ी कहा करते थे। 'हिन्दी' और 'राधा' के लिए शायद बराबर स्नेह इनके हृदय में था। दोनों के विषय में बहुत सी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। गोस्वामी जी भारतेन्दुयुग में अंगरेजी शासन और देश पर उसके दुष्ट प्रभाव के सबसे अधिक कटु आलोचक थे।[2] इनके नाटकों में यह गुण विशेष रूप से मिलता है। इनका "भारत गारत ह्वै रह्यौ, अति आरत कलिकाल में" छप्पय बहुत प्रसिद्ध है।

---

१. (जन्म १८५९ ई०—मृत्यु १९२५ ई०) रचनाएं—नवभक्तमाल, दामिनी दूतिका, शिशिर सुषमा, इश्क चमन, भ्रमरगीत, निपद नादान बारह-मासी, प्रेम बगीची, भारत संगीत, विधवाविलाप, भूभारहरणार्थ प्रार्थना गोपिकागीत (संस्कृत) नापितस्तोत्र, रेलवेस्तोत्र, यमलोक-यात्रा।

२. मैं हाय हाय दै धाय पुकारौं कोई।
भारत की डूबी नाव उबारो कोई।
उड़ गए वेद के बादबान अति भारे।
ऋषिजन रस्सा नहिं रहे खैंचने हारे।
यामैं चिन्तामणि सदृश रत्न की ढेरी।
यामैं अमृत सम औषधीन की फेरी।
बल चली सकत यूरोप, हाय मति सोई।
भारत की डूबी नाव उबारो कोई।

भारतेन्दु युग के कवियों में सर्वथा स्वच्छन्द मार्ग का अनुसरण करने वाले कवियों में ठाकुर जगमोहनसिंह उल्लेखनीय हैं। 'जगमोहन' ने अनेक प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत की हैं।[१] परन्तु प्रमुखतः वह प्रेम और प्रकृति के स्वच्छन्द कवि थे। रीतिकाल में जो स्थान घनानन्द का था वही स्थान भारतेन्दुयुग में 'जगमोहन' का था। जगमोहन के काव्य में कहीं भी आयासप्रियता नहीं है जैसे उमड़ते हुए भाव स्वयं व्यक्त हो गए हों। फिर भी जगमोहन की भाषा एकदम निर्मल है। ठाकुर साहब प्रेमी को रिझाने और "पटाने" की कला में सबसे अधिक प्रवीण प्रतीत होते हैं। उनके काव्य की "पर्सुएसिवनैस" बड़ी ही मार्मिक है।

पैयाँ परौ बलि हा हा करौं चल बेगि बुझाइय ताप जो वाको।
दीजै दिखाय अली मुखचन्द न जीवहिगो पिय तेरे बिना को।
बैठो वहाँ मनमोहन है मिलि भेंटि अनंद लहौ जु छिना को।
पाछे भले पछितावहुगी यह जोबन पाहुनौ चार दिना को।

आत्माभिव्यंजन जैसा ठाकुर जगमोहनसिंह में मिलता है, उसे पढ़ कर आज का गीतिकार भी ईर्ष्या कर सकता है क्योंकि ठाकुर जगमोहन सिंह की आत्माभिव्यक्ति में आप बीती का वर्णन स्वाभाविक है, घोषित अथवा आरोपित नहीं हैं।[२] अतः रीतिकालीन काव्य से जगमोहन का काव्य भिन्न स्वभाव वाला है।

भारतेन्दु युग में प्रत्येक कवि ने उर्दू के आधार पर कविताएँ लिखी हैं किन्तु उसे कोई भी पचा नहीं सका। एक मात्र कवि जगमोहन ही इस कार्य में सफल हुए हैं। उर्दू की धारणाओं को इस स्वच्छ पद्धति पर व्यक्त करने वाला अन्य कोई कवि नहीं मिलता।[3]

---

१. दोहावली, प्रेमरत्नाकर, प्रमिताक्षर दीपका, ऋतुसंहार, प्रेम हजारा, कुमार सम्भव, पवनदूत, चित्रकूट वर्णन, कपोत विरहाष्टक, मेघदूत, सज्जनाष्टक, श्यामलता, प्रेम सम्पत्तिलता, श्यामास्वप्न के पद्य।

२. यह भाग की मेरी सदा गति री, अति रोवति प्यासी रहैं अंखियाँ।
इनको न मिल्यौ सुपने सुख हाय ए पातकी चातकी सी दुखियाँ।
लगती नहिं बेर इन्हें लगते लखते जगमोहन की सखियाँ।
सुख राम रच्यौ न इन्हें कबहूं, समुझावत कोऊ नहीं सखियाँ।

३. निशि द्यौस तिहारई सूरति श्यामली लेखिबे कौं अंखियाँ ललकैं।
तुव रूप सुधानिधि देखे बिना कहुं नीवहु में न लगैं पलकैं।

भारतेन्दुयुग के अन्य कवियों ने राधा-कृष्ण पर अधिक लिखा है अतः उनमें आत्माभिव्यंजन की मात्रा जगमोहन से बहुत कम है। यद्यपि सूफियों की तरह ठाकुर साहब ने भी अपनी प्रेमिका को आराध्य बना दिया है परन्तु निजी प्रेम की व्यंजना के कारण वह पाठकों के हृदयों के अधिक निकट प्रतीत होती है। जगमोहन की कविता भक्त की अन्तर्पुकार नहीं है, वह लौकिक प्रेम के मधुर दाह से मार्मिक हुई है।[१]

प्रेम काव्य की दृष्टि से भारतेन्दु युग में जगमोहन का अपना महत्त्व है। अन्य कोई कवि उनका अनुकरण नहीं कर सका।

प्रकृति के यथार्थ किन्तु भव्य वर्णन जैसे जगमोहन के काव्य में मिलते हैं, वैसे वर्णन अन्यत्र दुर्लभ हैं। अन्य कवियों में विषय वैविध्य तो है, किन्तु कला का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया है। जगमोहन ने छन्द पुराने चुने हैं परन्तु वर्णन नवीन हैं। महानदी की "बाढ़" का दृश्य देखिए—

महा कीट कीटी कढ़ें धाम छोड़ी।
चढ़े डार डारे मढ़े जौंक दौड़ी।
कहूँ बच्छ के हीन गैया डकारैं।
कहूँ बच्छ हू मातु माता पुकारैं।
पड़ा हू पड़े भूमि कापैं दुखारी।
सँसै बच्छ धेनु मरैं सीत भारी।
कहूँ पंख ओदे गिरे भूमि पंखी।
गुहेरिनि हेरैं तिन्हैं जो असंखी।

चित्रकूट का पुरानी शैली में भव्य वर्णन देखिए—

जगमोहन मूरति जीवन मूरि बिना तेहि प्यासो परी झलकैं।
निज तेरी गलीन की पावन धूरि कौ अन्जन आँजि सदा कलकैं।
—श्रीधर पाठक—रामचन्द्र मिश्र पृष्ठ १३२

१. **सोवत सरोज मुखी सपने मिली री मोहि—**
तारापति तारन समेत छिति छायो री।
कंज कर कोमल पकरि जगमोहन जू
अधर गुलाब चूमि मधुप लुभायो री।
चकृत सों वैरिन कहाँ से खुली धौं आँख—
हाय प्रानप्यारी हाय कंठ न लगायो री।

जहँ पुरैन के हरित पात बिच पंकज पाँति सुहाई।
मनु पन्नन के पत्र पत्र पै कनक सुमन छवि छाई।
नील पीत जलजात पात पर विहँग मधुर सुर बोलैं।
मधुकर माधवि मदन मत्तगन मैन अधर से डोलैं।

प्रकृति का उद्दीपक रूप भी कवि ने अत्यधिक सशक्त और शिथिलता रहित शैली में चित्रित किया है—

श्यामल श्याम लखात चहूं नभ मंडल में बग पाँति सुहाई।
मूल हरी हरी गैलैं गई मुँदि हा हा हरी सुधि हू बिसराई।
त्यों जगमोहन पीरी परी, बिरहानल ने सब देह जगाई।
तेरे बिना घन घेरि घटा, तरवार लै बिज्जु अटा चढ़ि आई।

अथवा

जलनिधि जल गहि जलधर तारन धरनीधर धर आए।
पटल पयोधर नवल सुहावन इत उत नभ घन छाए।
फरफरात चंचल चपला मनु घन अवली दृग राजैं।
गरजत घूमि भूमि छ्वै बादर धूम धूसरे साजैं।

लेखनी और हृदय दोनों की शक्ति और समृद्धि जगमोहनसिंह के काव्य की विशेषता है। ब्रजभाषा को रीतिकाल के बन्धनों से मुक्त करने में जगमोहन का कार्य महत्वपूर्ण है। प्रकृति और प्रेम के क्षेत्र में जगमोहन भारतेन्दु और प्रेमधन के ही समान समर्थ कवि हैं। उनके काव्य में अव्यवस्था नहीं है। प्रयोगों के लिए वह उतने आतुर नहीं थे, जितने किसी प्रचलित प्रयोग को सफलता के साथ निर्वाह करने के लिए वह उत्सुक थे।

यह कथन सही नहीं है कि जगमोहन का स्वच्छन्दतावाद कोई अप्रत्याशित वस्तु थी। भारतेन्दु युग में प्रत्येक कवि स्वच्छन्दतावादी था। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भारतेन्दु युग के अन्य कवि प्रेम के क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में स्वच्छन्द प्रयोग अधिक करते थे। प्रेम के क्षेत्र में लोकगीतों का प्रयोग अवश्य नूतन स्वच्छन्द प्रयोग था किन्तु जगमोहनसिंह ने पुरानी शैली में ही, घनानन्द की तरह भावना की स्वच्छन्दता प्रकट की है।

भारतेन्दुयुगीन श्रेष्ठ कवियों में प्रेमधन ने भारतेन्दु का यथावत् अनुगमन करने का प्रयत्न किया था। भारतेन्दु की ही तरह प्रेमधन ने सद्धर्म सभा और रसिक समाज की स्थापना की थी (तदीय सभा के अनुकरण पर)। भारतेन्दु की पत्रिकाओं से प्रेरित होकर प्रेमधन ने आनन्दकादम्बिनी (संवत् १९३८ वि०) और पुनः "नागरी नीरद" नामक पत्र निकाला था। उनकी

सम्पूर्ण काव्यरचनाओं का आदर्श भारतेन्दु की रचनायें थीं।[1] प्रेमधन (जन्म १८५५ ई० मृत्यु १९२२ ई०) ने भारतेन्दु युग के अतिरिक्त द्विवेदी युग भी देखा था अतः खड़ी बोली में भी अन्य कवियों से कुछ अधिक मात्रा में लिखा है, किन्तु समग्रतः प्रेमधन भारतेन्दु युग के बाद अपने युग का ही प्रतिनिधित्व करते हैं।

भारतेन्दु में जो समाज के यथावत् चित्रण की प्रवृत्ति मिलती है, वह प्रवृत्ति प्रेमधन के जीर्णजनपद में सुरक्षित है, यह स्मरणीय है कि इस काव्य की रचना संवत् १९६६ वि० में हुई अर्थात् भारतेन्दु की मृत्यु के बाद। यह भी सम्भव है कि श्रीधर पाठक के ऊजड़ ग्राम से कवि प्रभावित हुआ हो। जो हो, भारतेन्दु युग के यथार्थवाद की प्रवृत्ति का सर्वोत्तम रूप प्रेमधन के ग्रामीण चित्रणों मे मिलता है। लोग रटते आ रहे है कि भारतेन्दु युग की ब्रजभाषा में रीतिकालीनता मिलती है परन्तु ग्रामों का यह वर्णन देखिये—

खेतन में जल भरचो शस्त्र उठि ऊपर लहरत।
चारहुँ ओरन हरियारी ही की छवि छहरत।
भोरी-भोरी ग्राम बधू इक संग मिलि गावत।
इक सुर में रस भरी गीत झनकार मचावति।
कहँ नागरी नवेली ए तीखे सुर पावैं।
रंगभूमि को कोरस सो रस कब बरसावैं।

---

१. प्रेमधन सर्वस्व में प्रकाशित रचनाएँ। जीर्णजनपद, गोल्डस्मिथ के Deserted Village का अनुवाद। "अलौकिक लीला"—द्विवेदी युग की कृति है, प्रियप्रवास के अनुकरण पर। युगल स्तोत्र, ब्रजचन्द-पंचक, कलिकालतर्पण, पितर-प्रताप, (भारतेन्दु के बकरी विलाप से प्रभावित) शोकाश्रुबिन्दु (भारतेन्दु के देहावसान पर), होली की नकल (भारतेन्दु कृत "उर्दू का स्यापा" के अनुकरण पर), मन की मौज, प्रेम-पीयूष वर्षा (कवित्त सवैये), सूर्यस्तोत्र, मंगलाशा (दादाभाई नौरोजी के सन्सद् सदस्य होने पर) हास्यबिन्दु, हार्दिक हर्षादर्श (विक्टोरिया-स्तुति) आनन्द बधाई (हिन्दी के कचहरी प्रवेश पर) लालित्य लहरी (दोहे) भारत बधाई (सम्राट एडवर्ड सप्तम के अभिषेक पर) स्वागत सभा, आनन्द अरुणोदय (खड़ी बोली में) आर्याभिनन्दन (प्रिंस अलबर्ट के आगमन पर) सौभाग्यसमागम (पंचमजार्ज प्रशंसा) मयंक महिमा (खड़ी बोली) संगीत काव्य (गजलें, कजलियाँ, होलियाँ, ठुमरी अदि)।

किती युवति तिनमैं अति रूप सलौनो पाए।
किए कज्जलत नैन सीस सिन्दूर सुहाए।
धान खेत में बैठी चंचल चखनि नचावति।
बन में भटकी चकित मृगी सी छवि दरसावति।

रीतकालीन नायिकाओं के नाज नखरों का चित्रण और यह शुद्ध देहाती सौन्दर्य एक ही नहीं है।

उक्त चित्रण एकदम मौलिक है। यथार्थ जीवन का एक और दृश्य देखिए—

पौला सबके पगन सीस घोघी कै छतरी।
लैकर लाठी चलैं, मेंड़ बाटें सब पतरी।

सुमित्रानन्दन पन्त जी की 'ग्राम्या' प्रकाशित होने पर कोई अद्भुत बात नहीं हुई। ग्रामों के चित्रण की नींव भारतेन्दुयुग में न केवल पड़ चुकी थी अपितु ग्राम-चित्रणात्मक काव्य का भवन भी खड़ा हो चुका था। जीर्ण जनपद गोल्डस्मिथ का सिर्फ भावानुवाद है, कवि ने अपने देश और ग्राम के वर्णन के लिए केवल सहायक रूप में गोल्डस्मिथ के काव्य को अपना लिया है।

भारतेन्दु युग में प्रेमधन ने सर्वाधिक अपने प्यारे हरीचन्द का अनुकरण किया है किन्तु प्रेमधन का व्यक्तित्व, उनकी मौलिकता उनके विषय-निर्वाह में पूर्णतः व्यक्त हुई है। शक्तिशाली व्यक्ति प्रभावित होकर भी अपनी गति का सौन्दर्य सुरक्षित रखता है।

प्रेमधन ने भक्तिकालीन परम्परा में शृंगार-विहार सम्बन्धी जो पद्य कहे हैं, उनमें 'प्रेमधन' की अपनी भावाविभोरता और कला पूर्णतः विद्यमान है।[1] प्रेमधन के कवित्तों और सवैयों पर भारतेन्दु का प्रभाव देखा जा सकता है[2] किन्तु प्रेमधन का व्यक्तित्व तिरोहित नहीं हुआ। बहुत से छन्द स्वतन्त्र भी हैं और प्रेमधन भी शब्द विन्यास कला का परिचय देते हैं।[3] ग्रामीण सौन्दर्य

---

१. छहरैं मुख पै घनश्याम से केश, इतै सिर मोर पखा फहरैं।
उत गोल कपोलन पैं अति लोल अमोल लली मुकता थहरैं।
इहि भाँति सो बदरीनरायण जू दोऊ देखि रहे जमुना लहरैं।
निति ऐसे सनेह सों राधिका श्याम हमारे हिये में सदा बिहरैं।

२. किशोरीलाल गुप्त—पृष्ठ ३६७।

३. सजि सूहे दुकूलन झूलन झूलत बालम से मिलि भामिनियाँ।
बरसावत सो रस, राग मलार अलापत मंजु कलामिनियाँ।

का वर्णन आपने सवैयों में भी किया है।[१] प्रकृति वर्णन में—पावस ऋतु के वर्णन में 'प्रेमधन' श्रेष्ठ कवि हैं।[२]

जीर्णजनपद के चित्रण, प्रेमाभिव्यंजना तथा प्रकृति वर्णन के अतिरिक्त भारतेन्दु की परम्परा में प्रेमधन ने लोकगीतों में अनेक रचनायें की हैं। भारतेन्दु युग का लोकसाहित्य-प्रेम देखते ही बनता है। इधर लोक साहित्य का बहुत अध्ययन हो रहा है। बड़े-बड़े सिद्धान्तों की चर्चा उनमें रहती है किन्तु वास्तविक लोकसाहित्य से प्रेम भारतेन्दु युग में ही मिलता है।

प्रेमधन ने 'सुहाती' और "रुलाती" गालियाँ लिखी है, जिनमें नवीन चेतना है। आज नई नई विचारधाराओं, देश के नवनिर्माण सम्बन्धी प्रेरणाओं को लोकगीतों में यदि व्यक्त किया जाय तो वर्षों का कार्य महीनों में हो जाय, किन्तु कौन सुनता है ?[३] प्रेमधन की कजरियाँ प्रसिद्ध हैं, मीठी बोली में अपनी कजरियों में प्रेमधन ने इतना रस भरा है कि पढ़ते ही बनता है।[४] यही नही, प्रेमधन ने होरी पर गाए जाने वाले शिष्ट "कबीर" भी लिखे हैं। गाँवों के 'कबीर' अश्लील होते थे अतः उनकी जगह 'प्रेमधन' ने नए कबीर लिखे हैं।[५] कबीरों में सुधारात्मक भावनाएँ भी भरी गई हैं। नारियों की प्रशंसा छायावाद के बहुत पहले 'प्रेमधन' ने की थी।

१. जगनायकै चेरी बनाय लियो, अरी वाह री वाह अहीरनी तू।

२. बरसत नेह, यह बरसत रूप वह
बरसत मेह साँझ समै दूर धाम है।
गरजि-गरजि बहु त्रास उपजावै उर
निपट अकेली दूसरी न कोऊ बाम है।
कहा करू कैसूं जाऊं जानि न परत—
उतै घेरे घनश्याम, इतै घेरे घनश्याम है।

३. पितामही भारती तुम्हारी तुम सो समुझि निकारी।
सातसिन्धु तरि म्लेच्छन के घर जाय बसी करि यारी।

४. गुय्यां देखो री कन्हैया रोकै मोरी डगरी।
ओढ़े भारी कमरी, सिर पर टेढ़ी पगरी।
गारी बंसी बीच बजावै, देखो ऐसो रंगरी।

५. तरसाय जनि रूप भिखारी को।
दै दिखाय मुखचन्द टारि टुक प्यारी घूंघट सारी को

प्रेमधन ने 'प्रबन्ध काव्य' (जीर्णजनपद) लिखकर भारतेन्दु युग की कमी को पूरा किया। ब्रजभाषा में नए भावों का आयोजन किया और लोकगीतों के क्षेत्र में "महान" कवियों को काम करने के लिए प्रेरित किया। प्रेमधन भाव और अभिव्यक्ति दोनों पर सबसे अधिक ध्यान देने वाले कवियों में थे अत: भारतेन्दु के बाद वह सबसे बड़े कवि माने जाते हैं। वह भारतेन्दु की मृत्यु के बाद उनके सबसे बड़े प्रतिनिधि थे।

प्रेमधन की तरह पं० प्रतापनरायण मिश्र[1] भारतेन्दु से बहुत अधिक प्रभावित थे। मिश्र जी भारतेन्दु को अपना "आराध्य" कहते थे। 'मिश्र जी अपनी जन्मजात 'मस्ती' के कारण किसी बँधी बँधाई पद्धति पर चल नहीं सकते थे। किन्तु 'ब्रजभाषा' को ही काव्यभाषा के उपयुक्त मानने के कारण इनकी स्वच्छन्दता पर कुछ रोक लग गई थी फिर भी मिश्र जी ने कहीं तो 'कबीर' के पदों के आधार पर भजन कहे हैं।[2] कुछ लोकप्रचलित तर्जों पर। मज़ा यह है कि इन प्रचलित तर्जों पर लिखे गए भजनों में भाव बिलकुल नए हैं। भारतेन्दु युग के कवि जन-मानस को शक्ति—स्रोत मानते थे, कतिपय वर्गों अथवा मित्रों का मनोरंजन इनका उद्देश्य न था अत: प्रेरणा के लिए, अँगरेजी जानने पर भी, जान बूझकर मिश्र जी ने लोक गीतों की ओर ध्यान दिया था। लोग उनके "गँवारूपन" पर आक्षेप करते थे किन्तु उन्होंने कभी चिन्ता नही की। उन शिष्ट और विदेशी साहित्य से परिचितों को ऐसे गीत न भाते थे—

कैसे भाई हो चढ़ी है तुम्हें होरी की सनक।
इन ढँगन लाज नहि रहिहै तनक।
प्यारे आज तो एक बार गले लगि जाहु।
होरहि के मिस दूर करौ कछु या छतिया को दाहु।

मिश्र जी ने प्रेमधन से भी अधिक लोकगीतों में नवीन भावनाओं को प्रविष्ट किया है। उनकी अधिकतर होलियों में नवीन चेतना मिलती है। भारतेन्दु के "फूलों का गुच्छा" की तरह 'मन की लहर' में मिश्र जी ने

---

१. **जन्म—१८५६ ई० मृत्यु १८९४ ई०। रचनाएं—प्रेमपुष्पावली, मन की लहर (विभिन्न भाषाओं में लावनियां) शृंगारविलास, दंगलखंड (आल्हा) ब्रैडला स्वागत, सांगीत शाकुंतल, दीवाने बरहमन, रसखान शतक तथा लोकोक्ति शतक।**

२. **(अ) साधो मनुवां अजब दिवाना।**
(ब) जागो भाई जागो रात अब थोरी।

लावनियाँ अधिक लिखी हैं। इनमें भी नए भाव हैं[१] किन्तु सबसे अधिक सफलता मिश्र जी को "आल्हा" में मिली है। कानपुर महात्म्य में कवि ने कानपुर पर आल्हा छन्द में व्यंग प्रस्तुत किया है। कानपुर की भूमि में कुछ ऐसा प्रभाव है कि भले से भले लोग बुरे बन जाते हैं। मिश्र जी को कानपुर की हृदयहीनता से बड़ी शिकायत थी। इतने बड़े नगर में रह कर भी बेचारे 'ब्राह्मण' जैसे पत्र को चलाने में बार-बार असमर्थ हो जाते थे अतः "आल्हा" में उन्होंने कहा है कि कानपुर की तोताचश्मी त्रेता युग से ही चली आई है।[१]

मिश्र जी की परिहासास्पद रचनाएँ इनके जविनकाल में ही बहुत प्रसिद्ध हो चुकी थीं। मैंने अपने पूज्य ताऊजी प० द्वारकाप्रसाद उपाध्याय से निम्न लोकगीत से मिलते जुलते एक गीत को बहुत बार सुना था। पूछने पर वह यह नही बता सके कि यह किसका लिखा हुआ है।

मरे नित्त हक नारि, बिटेवा होय ना।
बकरा भच्छत चिकवा समझै कोय ना।
करि धाकर घर ब्याह रुपैया रोलना।
इतना दे करतार अधिक नही बोलना।

मूर्ख और लालची कान्यकुब्जों पर कैसा कठोर व्यंग्य है।

मिश्र जी 'महान् कलाकार' नही थे किन्तु उन्हे इस प्रकार का कोई रोग भी नहीं था कि अपने महाकवित्व को सिद्ध करने के लिए जनता के निकट न जाकर उस पर रौब गालिब करते। मिश्र जी शीघ्रातिशीघ्र नवीन राष्ट्र और राष्ट्रीय व्यक्तित्व का उदय चाहते थे। बुराइयों का नाश और अच्छाइयों का प्रचार चाहते थे। काव्य का लक्ष्य उनके सम्मुख स्पष्ट था—सामाजिक और

---

१. **भुम्यां गँए कानपूर की, माता नावें न जनौ तुम्हार।**
जग हंम महनामथ करिबे कौ, दूसरी बेला को औतार।
मर्यादा पुरुषोत्तम कहिए, राजा राम धरम अवतार।
जिनको नाम लेत मनई के, सिगरे पाप होंय जर छार।
उनके भैया बीर लच्छमन, जानें चार बेद की बात।
रोवत छोड़ि गए सीता कौ, बन माँ भूलि जनम को नात।
छीता छोड़ी तहं लछमन ने, यह सब धरती को परभाव।
तोता चसमी कानपूर की, है यह त्रेता जुग ते चाल।

राष्ट्रीय क्रान्ति। उनके प्रत्येक पद्य में यही राग गूँजता है—यही उनकी महिमा है।[१] काव्य के इस स्पष्ट लक्ष्य की पूर्ति में मिश्र जी ने अलंकृति की चिन्ता न करके, समाज के मन को सँवारने के लिए प्रत्यक्ष पद्धति अपनाई थी। अलंकृत-काव्य का उतना प्रभाव हो ही नहीं सकता था अत: अलंकृतकाव्य की दृष्टि से उनका स्थान ऊँचा न हो परन्तु जनप्रिय काव्य की दृष्टि से उनका काव्य आज भी हमारे लिए प्रेरक है। प्रगतिशील बंधु भी सिद्धान्ततः 'जनवादी' कहलाकर भी जन साहित्य में अपना क्या योगदान दे रहे हैं, यदि इसका लेखा जोखा किया जाय तो मिश्र जी सबसे अधिक जनवादी ठहरेंगे। कोरा सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण प्रचलित हो जाने पर काव्य का अंतस् शुष्क हो जाता है अत: इन प्रारम्भिक गुरुओं के काव्य की शक्ति को पहचानना होगा। ये प्रारम्भिक कवि नींव के पत्थर नहीं हैं जो दिखाई न पड़ें, ये कवि आधुनिक सरस्वती के प्रथम पूजक हैं, इनकी पूजा का स्वरूप समझे बिना हमारी आराधना अवैध हो जाएगी।

प्रेमधन, प्रतापनारायण मिश्र जैसे ब्रजभाषा में नूतनभावदाताओं के अतिरिक्त भारतेन्दु युग में सेवक, रघुराजसिंह रीवां नरेश, सरदार रामसनेही, ललितकिशोरी, लछराम और नवनीत चौबे का नाम भी उल्लेखनीय है। इन कवियों में कवित्व शक्ति का पूर्ण स्फुरण हुआ है यद्यपि नवीनता का अभाव होने से ये "पुराने खेवे के कवि" माने गए हैं। इनमें सेवक तो नायिका भेदी थे ही[२] सरदार कवि[३] तथा लछराम[४] यह भी इसी परम्परा के कवि थे। रीवां नरेश[५] तथा ललित किशोरी[६] भक्त कवियों की परम्परा में आते हैं और नवनीत में

---

१. अंगरेजों के दासों पर व्यंग्य—
गोरंडदास उवाच—जगजानै इंग्लिश हमें, बाणी वस्त्रहिं जोय।
मिटै बदन कर श्याम रंग, जन्म सफल तब होय
गौरांगदेव उवाच—नित हमरी लातें सहैं, हिन्दू सब धन खोय
खुलै न इंग्लिश पालिसी, जन्म सुफल तब होय।

२. 'वाग्विलास' ग्रन्थ नायिका भेद पर। (जन्म संवत् १८७२, मृत्यु—१९३८ वि०)

३. साहित्य सरसी, वाग्विलास, षट्ऋतु, शृंगार संग्रह आदि।

४. प्रेमरत्नाकर, प्रतापरत्नाकर, कमलानंद कल्पतरु आदि

५. रामस्वयंवर, रुक्मिणी परिणय, आनन्दाम्बुनिधि, रामाष्टयाम

६. स्फुट पद, गजलें आदि।

दोनों प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। गोवन्दगिल्लाभाई भी, इसी प्रकार भक्ति-रीतकाल का प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु रीतिकाल का प्रभाव अधिक था।[१]

उपसंहार—भारतेन्दु युग की शक्ति एक ओर तो उसके कवियों के 'प्रेम सिद्धान्त' में निहित थी और दूसरी ओर उनकी शक्ति का अक्षयस्रोत जनता थी। भारतेन्दु युग का कवि सामान्य जन की ओर देखता था, उस पर होने वाली प्रतिक्रियाओं का वर्णन ही अधिकांशतः इस युग के कवियों ने किया है।

इस युग के कवियों की विशेषता है कि उनके लिए राजनीति, समाज-नीति और काव्य के मध्य कोई लक्ष्मण रेखा नहीं खींची गई। व्यक्ति को प्रभावित करने वाली सभी शक्तियों का स्वरूप-चित्रण इस काव्य की विशेषता है। किसी प्रकार की एकांगिता इस युग में नहीं दिखाई पड़ती। एकांगी चिन्तन प्रेरणा को शुष्क बनाता हैं। चूँकि इस युग के कवि ने समग्र दृष्टि से जीवन को देखा था अतः प्रेरणा और वर्ण्य-विषयों के लिए आन्तरिक अनुसंधान की आवश्यकता ही नहीं थी अतः एक स्वाभाविक भ्रम के लिए गुञ्जायश रही कि यह काव्य अत्यधिक स्थूल है। इस युग की कला भावुकता-प्रधान है किन्तु जैसा हमने पीछे देखा है कि इस काव्य की स्थूलता भी अपनी व्यापक प्रेरणा और जनहितैषिणा के कारण हमें प्रभावित करती है। नवयुग के इन कवियों को भिभन्न मोर्चों पर काम करना रड़ा था अतः यह स्वाभाविक था कि इनके काव्य में परिपक्वता का अभाव हो किन्तु यह कार्य बाद के कवियों के लिए छोड़कर इन कवियों ने आगे के कवियों के लिए वर्ण्य-विषय निश्चित किए। भाषा के विषय में यह निश्चय नहीं कर पाए परन्तु ब्रज भाषा में ही नवीन चेतना की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने भरसक प्रयत्न करके, रीतिकालीन चेतना को अपदस्थ करने की प्रक्रिया प्रारम्भ करदी। इतिहास इन कवियों के माध्यम से अपना स्वरूप निर्माण कर रहा था। इतिहास के इस कार्य के लिए एक ओर इन कवियोंने विदेशी साम्राज्यवाद के विरोध में—अतीत गौरव, देशी संस्कृति, देशी भाषा, देशी भावों आदि का प्रचार किया और दूसरी ओर विदेशियों और देशी पूंजीपतियों द्वारा नवीन व्यवस्था की स्थापना के कारण नवीन भावनाओं के जन्म के लिए उपयुक्त परिस्थिति की सृष्टि आरम्भ की।

---

१. शृंगार सरोजिनी, षट्ऋतु, पावस-पयोनिधि, समस्यापूर्त्तिप्रदीप, श्लेष चन्द्रिका, प्रवनीसागर, प्रारब्ध पचासा आदि।

समग्रतः हिन्दी का प्रारम्भिक आन्दोलन सुधारकों का आन्दोलन प्रतीत होता है किन्तु सुधारक शब्द में जो हलकापन है, वह इन कवियों में नहीं था इनकी गद्य और पद्य की रचनाओं को पढ़कर इनके हृदय की विशालता, उच्चतर लक्ष्य और मुक्ति के लिए जो आतुरता दिखाई पड़ती है, वह इन्हे सुधारक के पद से उच्चतर स्थान देती है। राजनैतिक दृष्टि से ये कवि राजभक्ति के गुण गाकर भी, परिस्थिति की नज़ाकत को समझकर, चुपचाप अपने देश की जनता को भावी राजनैतिक क्रान्ति के लिए शिक्षा देते हुए प्रतीत होते हैं। क्या हम आज उस परम्परा का पालन कर रहे हैं ?

सामाजिक दृष्टि से ये कवि अपने समाज को भावी व्यवस्था के लिए तैयार करते प्रतीत होते है। शूद्रो, नारी तथा अन्य उपेक्षित वर्गो के प्रति उनकी दृष्टि वही नहीं है जो रीतिकाल में मिलती है। समाज के उच्च वर्गों को वह सावधान करते दिखाई पड़ते है, उनके अतर्नविरोधों की भर्त्सना करते हैं। ये कवि—उस वर्ग के प्रति कठोर आलोचनात्मक रुख अपनाते है जो साम्राज्य-वादियों के साथ, उनके एजेण्ट के रूप में काम करने लगता है। इस नए बाबू-वर्ग की अनुकरणावृत्ति पर भारतेन्दु और अन्य कवियों ने कठोर कशाघात किए हैं। इन्ही कवियों के प्रयत्न से यह नया वर्ग भारतीयता की ओर उन्मुख हुआ, यह मान लेने में कोई हानि नहीं है। इसी तरह साम्राज्यवाद की एक शाखा के रूप में काम करने वाली "ईसाइयत" और "ईसाई प्रचार" पर इन कवियों ने उग्र आक्रमण किया था और स्वदेशीधर्म और आस्था का प्रचार किया था अतः इन कवियों की वैष्णवता अपने समय में साम्राज्यवाद के विरोध में काम करती दिखाई पड़ती है। पुराने वैष्णवों और इन वैष्णव कवियों में स्पष्ट अन्तर यह है कि वैष्णव होने पर भी ये कवि सामाजिक दृष्टि से समाज का आमूलचूल परिवर्तन करना चाहते हैं। पं० प्रतापनरायण मिश्र ने ब्राह्मणों की जड़ता पर जो लिखा है, वह आँखें खोल देने वाला है। मात्र आस्तिक वैष्णव कवि उदार होता है, उग्र कम किन्तु भारतेन्दु-युगीन वैष्णवता अपनी उग्रता व्यंग्यकाव्य के रूप में भली-भाँति प्रकट करती है। अतः ये कवि मात्र सुधारक नहीं हैं।

सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से भारतेन्दु युगीन काव्य मनोवेगात्मक और व्यंग्यप्रधान है। व्यंग्य और हास्य का इतना आकर्षक विकास पहले कभी नहीं हुआ। हिन्दी के लिए हास्य एक नवीन वस्तु थी। यों सूर के काव्य में हास्य मिलता है परन्तु वह हिन्दी की दीर्घकालीन अवधि को देखते हुए बहुत कम है। फिर उसका सम्बन्ध स्पष्टतः दैनिक जीवन से

नहीं था। भारतेन्दु युग में ब्रजभाषा और खड़ी बोली—दोनों में व्यंग्य और हास्य का विकास एक नई रुचि और नए आकर्षण का प्रतीक है। हास्य का जन्म या तो समृद्ध और चिन्तारहित समाज में होता है अथवा एक ऐसी परिस्थिति में, जब हम कहना तो कुछ और चाहते हैं और कहना कुछ पड़ता है। परिस्थिति के इसी दबाव से आधुनिक युग का प्रारम्भ हास्य और व्यंग्य को लेकर होता है। इसके अतिरिक्त शताब्दियों से बसे हुए रोगों को इन्जैक्शन के बिना दूर भी नहीं किया जा सकता। व्यंग्य से मनुष्य अपने और समाज के विषय में शीघ्र ही जागरूक हो जाता है अतः कन्हैया की मोहिनी लीलाओं के ध्यान में मग्न, इन भावुक कवियों ने एक ओर प्रेम का प्रवाह बहाया है तो दूसरी ओर तेज़ चाकू से समाज का आपरेशन भी किया है। अतएव हिन्दी काव्य के मूल मनोवेगात्मक स्वरूप की रक्षा के अतिरिक्त एक नई कला का जन्म भी इस युग में हुआ है। इन कवियों ने सुन्दर और मोहक छवियों का, राधा-कृष्ण के प्रेम के रूप में, अंकन किया है तो दूसरी ओर हिन्दी पाठकों की रुचि को उन विषयों की ओर भी मोड़ दिया है जो हमारे दैनिक जीवन से सम्बन्धित हैं। नए आन्दोलन की यह उपलब्धि है। नया आन्दोलन यदि नए मूल्यों और नई रुचियों का विस्तार नहीं करता तो वह व्यर्थ माना जाता है।

इस युग के काव्य को केवल उपयोगितावादी कहकर उसका महत्त्व कम नहीं किया जा सकता। उपयोगितावाद तब सौन्दर्य की सृष्टि के लिए अनुपयोगी बनता है जब वह कवि की चेतना का अभिन्न अंग नहीं बन पाता। भारतेन्दु युगीन कवि यह सिद्धान्त नहीं मानते—"यद्यपि काव्य का उद्देश्य दैनिक समस्याओं का समाधान नहीं है, तथापि काव्य का उपयोग दैनिक जीवन के लिए करना चाहिए"। इस सिद्धान्त को मान लेने का अर्थ था कि काव्य जीवन के एक पक्ष का ही चित्रण कर सकता है। भारतेन्दुयुगीन कवि अनजान में ही यह मानता है कि सौन्दर्य का आधार 'क्षोभ' है, चाहे वह 'क्षोभ' किसी प्रकार का क्यों न हो। संयोग और वियोग के चित्रणों में भी क्षोभ व्यक्त होता है और उससे मधुर सौन्दर्य की सृष्टि होती है, उक्त युग में ऐसी सृष्टि भी कम नहीं हुई है। किन्तु 'क्षोभ' विविध क्षेत्रों में विविध रूप धारण करता है और इसलिए विविध सौन्दर्य की सृष्टि करने में समर्थ है अतः जिसे हम 'सुन्दर' कहते हैं, वह केवल मोहक नहीं होता, वह उत्तेजक और 'उद्वेग-जनक' भी होता है। राजनैतिक दृष्टि से ये कवि राजभक्ति के गुण गाकर भी, महान हैं। प्रबन्ध काव्य के अभाव में सुन्दर के स्थान पर

किसी "उदात्तचरित्र" की सृष्टि इस काव्य में नहीं मिलती किन्तु प्रबन्ध काव्य के किसी उदात्त चरित्र के स्थान पर, पाठकों के सम्मुख स्वयं उक्त कवियों का "उदात्त हृदय" इस कमी की पूर्त्ति करता हुआ दिखाई पड़ता है। छोटी-छोटी अनेक कविताओं में प्रकृति-चित्रणों अथवा लोकगीतों में सामूहिक भावनाओं को व्यक्त करने वाले, कभी प्रेम में मग्न होते हुए, कभी दुर्दशा पर आँसू बहाते हुए, कभी दुर्बलताओं पर खीझते हुए, कभी रोगियों को उनकी लापरवाही पर डाँटते हुए, कभी मदांधों और दम्भियों का परिहास करते हुए, कभी अपने अतीत के स्वप्नों में उड़ते हुए, कभी विदेशी दस्युओं पर आक्रमण करते हुए और कभी अपने मन को समझाते हुए इन कवियों की चेतना-छवि अपनी उदात्त गरिमा को लेकर जब पाठकों के सम्मुख अवतरित होती है तब रीति-कालीन कवियों की सुन्दरता से सर्वथा भिन्न एक अभिनव उदात्तता का अभ्युदय होता हुआ प्रतीत होता है।

एक सीमित और शोषक वर्ग की रुचि-संतुष्टि के स्थान पर भक्तिकाल के बाद पुनः काव्यरथ को सामान्य जनसमूह की ओर उन्मुख कर देने का कार्य भारतेन्दु और उनके साथी कवियों की ऐतिहासिक उपलब्धि ही नहीं है, सौन्दर्य के अतिरिक्त उदात्तता के विस्तार की दृष्टि से भी यह महान उपलब्धि है। नए युग का जन्म एक कष्टदायक क्रिया है। नवयुग रूपी शिशु के प्रसव के लिए जो मर्मान्तक पीड़ा भारतेन्दु युगीन कवियों में दिखाई पड़ती है, उसकी उपेक्षा और अपमान वही विचारक कर सकता है जो द्विवेदीयुग, छायावाद और प्रगतिवाद को आकस्मिक समझता है—अगली स्वाभाविक शृंखला न मानकर नए युग को "अनायास अवतारणा" मानता है। भारतेन्दु युग का पाठक यह बड़े आश्चर्य और संतोष के साथ अनुभव करता है कि नए युग की उपलब्धियों के प्रायः सभी बीज भारतेन्दु युग के काव्यों, नाटकों और निबन्धों में पड़ चुके थे।

भारतेन्दु युग की सभी विधाओं में अखण्ड और अविभाज्य दृष्टि के दर्शन होते हैं। अँग्रेजों के योगदान के विषय में चाहे उनमें आपस में मतभेद हो किन्तु अँग्रेजों द्वारा होने वाली इस देश की हानि के विषय में भी उनमें मतभेद नहीं दिखाई पड़ता। इसके अतिरिक्त यह अद्भुत तथ्य है कि समाज के लिए आवश्यक तत्त्वों के विषय में भीं उनमें मतभेद नहीं है। भारतेन्दु युगीन कवि एक ऐसा समाज चाहते थे जिसमें मनुष्य, मनुष्य पर हावी न हो और जिसमें व्यक्तित्व के विकास की पूरी स्वतन्त्रता हो। वैयक्तिक गरिमा, सामाजिक सुविधा और समानता भारतेन्दु युग के कवियों का सन्देश है। इसी महान लक्ष्य

को सम्मुख रखने के कारण उनकी सरस्वती का स्वर युगविधायक हो गया है। नाना आशंकाओं, सन्देहों और अहापोहों से सर्वथा रहित यह काव्य भारतीय जनता के उज्ज्वल भविष्य के लिये प्रयत्नशील दिखाई पड़ता है। आज के कविवर्ग का एक अंश व्यर्थ ही सन्देहों को वाणी दे रहा है। बाह्य परिस्थिति के यथार्थ परिचय का अभाव और मानवता की अन्तिम विजय में आस्था का अभाव ही सन्देहवाद को जन्म देता है। जब उस भीषण परिस्थिति में, साधनों के अभाव और जनमत की अपेक्षाकृत जागृति के अभाव में भी भारतेन्दु युग उतना आशावान था, तब कोई कारण नहीं, आज का कवि प्रबल और जागरूक जनमत के रहते व्यर्थ की शंकाओं को हृदय में स्थान दे। दुनियाँ की आधी से अधिक जनता आज युद्ध, विषमता, परतन्त्रता और किसी भी प्रकार के दबाव की विरोधिनी है तब इस विराट जन-जागृति में अविश्वास कर, सन्देहों और व्यक्तिगत कुंठाओं को वाणी देने से बर्बर वर्गों की ही हिमायत होने लगती है अतः जनमत को जाग्रत कर, उसमें मानवीय मूल्यों और उदात्तभावनाओं तथा मार्मिक छवियों के चित्रण द्वारा नूतन आत्मविश्वास भरने और जन-विरोधी वर्गों और व्यक्तियों के पर्दाफाश करने की शिक्षा हमें भारतेन्दु युगीन काव्य से मिलती है। अज्ञेय जैसे व्यक्तियों का कथन कि हिन्दी आव्य आन्दोलनों का काव्य है, वह व्यक्तियों की सृष्टि नहीं है, एक बेबुनियाद बात है। भारतेन्दु और उनके साथी कवि अपने प्रबल और आकर्षक व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए जनगंगा में अवगाहान करने वाले कवि हैं—व्यक्ति समाज से तादात्म्य करके ही अपने वास्तविक व्यक्तित्व की रक्षा कर सकता है—यह सत्य भी भारतेन्दुयुगीन काव्य से स्पष्ट है।

हिन्दी काव्य का प्रथम प्रवाह प्रत्येक दृष्टि से आज भी हमारे लिए शिक्षाप्रद है। वह आज भी जीवित है, बराबर जीवित रहेगा। वह प्रचारकों का स्वर नहीं है, वह जागरण-वेला का मंगलगीत है।

द्वितीय प्रवाह

द्विवेदी-युग

हिन्दी काव्य के द्वितीय प्रवाह की प्रमुख विशेषता नवीन विषयों पर खड़ी बोली में काव्यारम्भ है। समग्रतः भारतेन्दु युग की काव्यभाषा ब्रजभाषा ही रही, इस द्वितीय प्रवाह में भी एक ही कवि खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों में काव्य रचता हुआ दिखाई पड़ता है। फिर भी यह प्रवाह भविष्य की दृष्टि से खड़ी बोली का प्रवाह माना जाना चाहिए।

पंडित श्रीधर पाठक ने दोनों भाषाओं में रचनाएँ की हैं और यह लक्ष्य करने की बात है और शुक्ल जी ने भी यह तथ्य स्वीकार किया है कि "खड़ी बोली की अपेक्षा पाठक जी की ब्रजभाषा की कविताएँ ही अधिक सरस हृदयग्राहिणी और उनकी मधुर स्मृति को चिरकाल तक बनाए रखने वाली हैं"[1] श्रीधर पाठक की तरह ही रायदेवीप्रसाद पूर्ण की ब्रजभाषा की रचनाएँ अत्यधिक कवित्वपूर्ण होती थीं।[2] उनकी "रसिक वाटिका" नामक पत्रिका में में प्रकाशित रचनाओं की उन दिनों धूम थी। ब्रजभाषा की इस परम्परा में नए और पुराने विषयों पर रचनाएँ लिखी जाती रहीं। रत्नाकर इस परम्परा के अनमोल रत्न थे किन्तु हम इस धारा को बाद में देखेंगे।

श्रीधर पाठक[3] की काव्यकला ब्रजभाषा में अधिक श्रेष्ठ होने पर भी

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५८३।

२. १८६८ ई०—१९१५ ई०।

३. जन्म १८५८ ई०—मृत्यु १९२९ ई०। रचनाएं—एकान्तवासी योगी (१८८६ ई०) मनोविनोद (१८९२ ई० प्रथम संस्करण, प्रारम्भिक रचनाएं) जगत सचाई सार (१८८७ ई०, मायावाद का खण्डन) ऊजड़ ग्राम (१८८९ ई० ब्रजभाषा में लिखित) श्रान्तपथिक (१९०२ ई०)

उनकी अनूदित कृति "एकान्तवासी योगी" (१८८६ ई०) का खड़ी बोली काव्य के लिए ऐतिहासिक महत्व है। १८८६ ई० के आस-पास के कवि सामयिक विषयों पर जब तब खड़ी बोली में लिखते अवश्य थे तथापि उन्हें खड़ी बोली में काव्य की सफलता के विषय में सन्देह था। "एकान्तवासी योगी" ने इस सन्देह को दूर कर दिया। इस अनुवाद से एक यह भी लाभ हुआ कि खड़ी बोली में मधुर भावों की अभिव्यक्ति सम्भव मानी जाने लगी। पंडित बालकृष्ण भट्ट ने इस काव्य को "रसीला" और "माधुर्यपूर्ण" कहा।[1] प्रथम बार 'स्वच्छ' खड़ी बोली का विकास की अमिट सम्भावना लिए हुए एक निश्चित रूप इस काव्य में दिखाई पड़ता है।[2] यह सही है कि इस काव्य में ब्रजभाषा के प्रयोग मिलते हैं किन्तु "कहाँ जलै है, "गुण होय", "कीनी", इकान्त, होय लीजै, कीजै, वारौं, बलिहारौं, सुघराई, ढूंढ़ूँ हूं जैसे प्रयोग होने पर भी यह मानना होगा कि खड़ी बोली के एक स्थिर रूप का निश्चय भी इस काव्य से हो जाता है।

खड़ी बोली के रूप की स्थिरता के अतिरिक्त गोल्डस्मिथ के काव्यानुवादों से हमारे कवि परिचित हो गए। इससे द्विवेदीयुग के उपदेशवाद और स्थूल उपयोगितावाद के साथ-साथ प्रेम की मधुर और शिष्ट भावनाओं का

काश्मीर सुषुमा (१९०४ ई०) आराध्यशोकांजलि (१९०६ ई०, पिता की मृत्यु पर) जार्ज-वन्दना (१९१२ ई०) भक्तिविभा (१९१३ ई० पिता के सम्बन्ध में) गोखले प्रशस्ति (१९१५ ई०) गोखले गुणाष्टक (१९१५ ई०) देहरादून (१९१५ ई०) गोपिका गीत (१९१६ ई०) भारतगीत (१९२८ ई०)।

१. श्रीधर पाठक—रामचन्द्र मिश्र, पृष्ठ २४५।

२. दो घन्टे तक मुझे नित्य वह श्रम से आप पढ़ाता था।
विद्याविषयक विविध चातुरी नित्य नई सिखलाता था।
मैं ही एक बालिका उसके सत्कुल में जीवित थी शेष।
इससे स्वत्व बाप के धन का प्राप्य मुझी को था निश्शेष।
साधारण अति रहन-सहन, मृदु बोल हृदय हरने वाला।
मधुर-मधुर मुस्क्यान मनोहर, मनुजवंश का उजियाला।
सभ्य सुजन सत्कर्म परायण सौम्य सुशील सुजान।
शुद्ध चरित्र-उदार प्रकृति शुभ विद्या बुद्धि निदान।

स्रोत नहीं सूखा और जिस प्रकार इँग्लैंड में रोमांटिक कवियों की पृष्ठभूमि की तैयारी में गोल्डस्मिथ और कूपर की रचनाओं का महत्व था, उसी प्रकार हिन्दी में स्वच्छन्दतावाद का प्रथमरूप पाठक जी की रचनाओं द्वारा प्रस्तुत हुआ। इसके अतिरिक्त प्रकृति के तटस्थ चित्रण की भावी परम्परा का आधार भी पाठक जी की कृतियों से पुष्ट हुआ। प्रेमधन के प्रयत्न की चर्चा हम प्रथम प्रवाह में कर चुके हैं।

रायदेवीप्रसाद पूर्ण ने खड़ी बोली में भी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। उसमें भारतेन्दु की तरह राज्यभक्ति के भीतर देशभक्ति मिलती है। देश की दुर्दशा पर भारतेन्दुयुगीन दृष्टिकोण राय जी ने भी व्यक्त किया है।[1] श्री रामचन्द्र मिश्र ने राय जी को स्वच्छन्दतावादी कवि माना है क्योंकि द्विवेदी जी के लौह-अनुशासन से यह बाहर पड़ते थे। इस दृष्टि से ब्रजभाषा के कई कवियों को स्वच्छन्दतावादी मानना होगा। श्री मिश्र जी ने रामचन्द्र शुक्ल, रूपनारायण पांडेय, बद्रीनाथ भट्ट को स्वच्छन्दतावादी कवियों में ही स्वीकार किया है।

---

१. मारा है दरिद्रय का भारतखण्ड अधीन।
कारीगर बिन जीविका है दुःखित अति दीन।
है दुःखित अति दीन वस्त्र के बुनने वाले।
धीरे-धीरे हुनर समय के हुआ हवाले।
भरा देश में हाय निकम्मा कपड़ा सारा।
तुमने ही कोरियों जुलाहों को बस मारा।—

वही, पृष्ठ ३३९।

प्रकृति-वर्णन

देखिए अब और ही कुछ रंग है।
एक केवल सत्व गुण का अङ्ग है।
जहाँ जाती दृष्टि है, बस वहाँ हिम की सृष्टि है।
परम निर्मल शुद्ध उज्ज्वल शान्त रस की वृष्टि है।
धूल ही कर्पूर की भी श्वेतिमा।
पूर्णचन्द्र प्रकाश में ही पीतिमा।
छीर सागर की छटा हो लोल कर अवलोकना।
आप ही सम आप हैं बस अचल आभा शोभना।

—रतनगिरि कैलास

आचार्य शुक्ल[१] ने प्रकृति का तटस्थ चित्रण किया है। ब्रजभाषा के कवियों में शुक्ल जी में रीतिकालीनता का पूर्ण अभाव मिलता है। उनकी स्फुट कविताओं में प्रकृति के उपेक्षित रूपों का वर्णन मिलता है। यद्यपि उनमें विवरणात्मकता की ही अधिकता है। बुद्धचरित के अतिरिक्त उनकी स्फुट कविताओं में कुछ खड़ी बोली में भी हैं।[२] खड़ी बोली में लिखे हुए शुक्ल जी के कवित्तों का आगे चल कर अच्छा विकास हुआ।

रूपनारायण पांडेय (१८८४ ई० जन्म) भी द्विवेदी जी के प्रभाव क्षेत्र से बाहर पड़ते थे। पांडेय जी ने कई पत्रों का सम्पादन किया था[३] अतः उन्हें विभिन्न प्रकार की रचनाओं को देखने का अवसर मिलता था। पांडेय जी ने उपदेशपरक काव्य भी लिखा है किन्तु उनकी "वनविहंगम" रचना बहुत प्रसिद्ध हुई। "वनविहंगम" और "दलित कुसुम" में स्वच्छ और सरल खड़ीबोली का प्रयोग मिलता है और भारतेन्दुयुग का मनोवेगात्मक रूप पूर्णतः इन रचनाओं में सुरक्षित मिलता है।[४] पांडेय जी ने सिद्ध कर दिया कि खड़ी बोली में भी 'सवैया' सफलता के साथ लिखा जा सकता है।

बद्रीनाथ भट्ट[५] खड़ी बोली में एक नई चेतना लाने वाले कवि थे। एक

१. (१८८४ ई०—१९४१ ई०)

२. सूखती तलैया के चारों ओर चिपकी हुई,
लाल लाल काइयों की भूमि पार करते।
गहरे पड़े गोपद के चिन्हों से अंकित जो,
श्वेत बक जहाँ हरी दूब में विचरते।
बैठे कुछ बाल एक पास के मधूक तले,
मन में सन्नाटे का निराला सुर भरते।
आए शरपत्र के किनारे जहाँ रूखे खुले,
टीले कंकरीले हैं हेमन्त में निरखते।

३. नागरी प्रचारक पत्र, निगमागम चन्द्रिका, इन्दु, माधुरी, सुधा,

४. वन बीच बसे थे, फंसे थे ममत्व में एक कपोत कपोती कहीं।
दिन रात न छोड़ता एक को दूसरा, ऐसे हिले मिले दोनों वहीं।
बढ़ने लगा नित्य नया नया मोह, नई नई कामना होती रही।
कहने का प्रयोजन है इतना, उनके सुख की रही सीमा नहीं।

५. (१८८६ ई०—१९३३ ई०)

ओर तो भट्ट जी सोए हुए देश को जगाते हैं,[१] और इस जागरण में उपदेश नहीं है, दूसरी ओर उन्होंने 'प्रकृति' का 'तटस्थ चित्रण' किया है। सुमित्रानन्दन पन्त ने 'छाया' पर लिखा है तो भट्ट जी ने 'सूखी पत्ती पर'।[२]

किन्तु खड़ीबोली में द्विवेदी जी के अनुशासन के बाहर के कवियों में द्वितीय-प्रवाह के सबसे महत्त्वपूर्ण कवि रामनरेश त्रिपाठी है।[3] त्रिपाठी जी की 'मिलन', 'पथिक' और 'स्वप्न'—इन तीन रचनाओं में स्वदेश, प्रकृति और प्रेम का बड़ा ही भव्य चित्रण मिलता है। त्रिपाठी जी ने देश की दीर्घ यात्रा के पश्चात् प्रकृति-प्रेमी और देश पर बलिदान हो जाने वाले नायक-नायिकाओं का सृजन किया है। देश-प्रेम और वैयक्तिक प्रेम में द्वन्द्व उपस्थित कर अन्त में देश प्रेम की विजय दिखाकर नवयुवकों को प्रोत्साहित किया गया है। इस द्वन्द्व की स्थिति में कोमल भावनाओं का वर्णन बड़ा ही मर्मस्पर्शी हुआ है।[४] पथिक में प्रकृति-प्रेम के सम्मुख प्रेमी प्रेमिका के प्रेम की भी उपेक्षा करता है। पन्त जी की "बाले तेरे बाल जाल में कैसे उलझा लूं लोचन" का स्मरण हो आता है।[५]

---

१. अब तो आंखें खोलो प्यारे।
पूर्व दिशा अब तरुण हुई है, प्रकृति देवि पट बदल रही है।
यम ने तम की बाँह गही है, छिपकर भागे तारे।

२. पड़ी भूमि पर ठोकर खाती, पीला तेरा रंग हुआ है।
सब रस रूप समय ने लूटा, चूरमुर सारा अङ्ग हुआ है।

३. जन्म—१८८९ ई०

४. शक्ति नहीं जो नाथ तुम्हारा सुन भी सकूं प्रयाण।
रहते प्राण न जाने दूंगी, मेरे जीवन-प्राण।
सुन प्रणयी के इन्दु वदन में, मृदुल कौमुदी हास।
विकसित हुआ झुकाया उसने, शशि को शशि के पास।
—"मिलन"

५. (अ) यदि तुम मुझे प्यार करती हो, कोमल करुण हृदय से।
करो न मुझको देवि दयामयि, वंचित प्रकृति-प्रणय से।
—"पथिक" से

(ब) प्रकृति का एक सुन्दर चित्र द्रष्टव्य है—
प्रतिक्षण नूतन वेश बनाकर रंग-विरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिदमाला।
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में बिचरूं, यही चाहता मन है।

'मिलन' १९१७ ई० की रचना है और 'पथिक' १९२० की अत: यह सम्भव है कि छायावादी प्रवृत्तियों का इन रचनाओं पर प्रभाव पड़ा हो किन्तु इन काव्यों में छायावादी शैली का बहुत कम प्रयोग होने से यही अधिक सम्भव लगता है कि त्रिपाठी जी का मार्ग अपना स्वतन्त्र मार्ग था और इसलिए उन्हें 'श्रीधर पाठक' की परम्परा का कवि मानना ही ठीक है। शुक्लजी ने त्रिपाठी जी के 'स्वच्छन्दतावाद' की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। द्वितीय प्रवाह में अपना स्वच्छन्द मार्ग बनाने वाले कवियों में त्रिपाठी जी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनका मार्ग न शास्त्रीय था और न छायावादी और न द्विवेदी जी से ही वह अधिक प्रभावित थे।

द्विवेदी जी से प्रभावित कवि—एकान्तवासी योगी से खड़ी बोली की सफलता में संदेह नहीं रहा, यह हम लिख चुके हैं। पाठक जी ने एकान्तवासी योगी को 'लावनी' छन्द में लिखा था। जनता में लावनी की ध्वनि प्रचलित थी। इसके साथ-साथ एकान्तवासी योगी की मधुर प्रेमभावना भी जन हृदय के निकट ही थी। शास्त्रीय परम्परा से भिन्न पद्धति का काव्य होने के कारण शुक्ल जी ने इसे "सच्चे स्वच्छन्दतावाद" का काव्य माना है। क्योंकि इसमें प्रेम का 'राधा-कृष्ण' वाला अलौकिक और भक्तिभावी रूप भी नहीं था, शुद्ध लौकिक प्रेम की मनोरमता का चित्रण था। शुक्ल जी ने इस "शुद्ध और सच्ची" और स्वाभाविक भावना के सम्यक विकास के अभाव पर खेद प्रकट किया है और द्विवेदी जी के विषय में लिखा है—

"बात यह है कि उसी समय पिछले संस्कृत काव्य के संस्कारों के साथ पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य क्षेत्र में आए जिनका प्रभाव गद्य साहित्य और पद्य साहित्य दोनों पर बहुत ही व्यापक पड़ा। हिन्दी में परम्परा से व्यवहृत छन्दों के स्थान पर संस्कृत के वृत्तों का चलन हुआ। जिसके कारण संस्कृत पदावली का समावेश बढ़ने लगा। भक्तिकाल और रीतिकाल की परिपाटी के स्थान पर पिछले संस्कृत साहित्य की पद्धति की ओर लोगों का ध्यान बँटा। द्विवेदी जी 'सरस्वती' पत्रिका द्वारा बराबर कविता में बोलचाल की सीधी सादी भाषा का आग्रह करते रहे जिससे इतिवृत्तात्मक (Matter of Fact) पद्यों का खड़ी बोली में ढेर लगने लगा।"[१]

इसका मतलब यह हुआ कि काव्य कला की दृष्टि से द्विवेदी जी का

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६०५

बीच में कूद पड़ना हानिकर रहा। क्योंकि इतिवृत्तात्मक काव्य का ढेर हिन्दी काव्य के लिए एक बोझ बन कर आया।

डा० रामप्रसाद त्रिपाठी का भी कथन है कि द्विवेदी युग में काव्य का ह्रास हुआ। द्विवेदी जी प्रचारक-काव्य के प्रोत्साहक थे। उन्होंने नन्दलाल बोस के चित्रों के आधार पर भी कवियों को लिखने की प्रेरणा दी अतः चित्रों के पद्यात्मक विवरण इस युग में बहुत मिलते हैं। उपदेशों और घोषणाओं से खड़ी बोली का काव्य अपनी मनोरमता और 'रस' खो बैठा। उपदेशवाद का परिणाम यह हुआ कि मैथिलीशरण गुप्त जैसे कवियों ने उपदेशों को ही काव्य समझ लिया।[1]

डा० त्रिपाठी का ख्याल है कि द्विवेदी युग में भी ब्रजभाषा में इस उपदेशवाद की मात्रा बहुत कम मिलती है अतः द्विवेदी युग में ब्रजभाषा काव्य ही प्रभावित करता है।

उक्त विद्वानों के कथन में सत्य अवश्य है। यह सही है कि द्विवेदी जी से प्रभावित कवियों में उपदेशवाद और जड़ता की सीमा तक पहुँचा हुआ नैतिकतावाद मिलता है। परन्तु यह हमारे वश की बात नहीं थी। द्विवेदी जी का आगमन ऐतिहासिक है। हम चाहते तो भी उसे रोक नहीं सकते थे। अतः उनके आगमन को ऐतिहासिक तथ्य समझ कर यह देखना चाहिए कि द्विवेदी जी के उपदेशवाद और जड़ता की सीमा तक पहुँचे हुए नैतिकतावाद का क्या कारण था और उन कारणों के सन्दर्भ में उनके उपदेशवाद और नैतिकतावाद का क्या महत्व है ?

द्विवेदी जी ने सरस्वती सम्पादन १९०३ ई० में सँम्हाला, यद्यपि तीन वर्ष पूर्व ही 'सरस्वती' निकल चुकी थी। १९०३ ई० के पूर्व खड़ी बोली में 'एकान्तवासी' योगी प्रकाशित और प्रसिद्ध हो चुका था। यों १८७६ ई० में ही बाबू लक्ष्मीप्रसाद ने गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' का अनुवाद खड़ी बोली में किया था। किन्तु लगता है कि वह उतना प्रभाव नहीं डाल सका था। यह दुःख का विषय अवश्य है कि 'एकान्तवासी योगी की सरल लोकध्वनियों वाले छन्दों में सरस प्रेमभाव, प्रकृति आदि से सम्बन्धित काव्य का विकास नहीं हो सका किन्तु यह स्मरणीय है कि द्विवेदी जी ने जितनी दृढ़ता के साथ रीतिकालीन प्रवृत्तियों का विरोध किया था, उतना अन्य किसी लेखक ने

---

१. व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर।

नहीं किया। कठोर नतिकता के द्वारा ही रीतिकाल के विरोध में वह सफल हो सके थे। भारतेन्दुयुगीन काव्य में गुणात्मक अन्तर उपस्थित होने पर भी रीतिकालीन काव्य का ही प्रभाव रहा। भिन्न काव्य-प्रणाली का रूप स्थिर नहीं हो पाया। भारतेन्दु के बाद के कवि ब्रजभाषा में भी लिखते रहे और वही परम्परा अपनाए रहे, यह भी हम देख चुके हैं अतः दृढ़ता के साथ, एक ही आघात में रीतिकाल से सम्बन्ध तोड़ने की आवश्यकता का अनुभव द्विवेदी जी को हुआ था। मैं समझता हूँ, ऐतिहासिक दृष्टि से यह कार्य आवश्यक था। यदि इसे द्विवेदी जी न करते तो इतिहास किसी अन्य व्यक्ति से यह कार्य अवश्य कराता।

२० वीं शताब्दी हमारे देश में देशी-विदेशी पूँजीवादी व्यवस्था के आगमन की शताब्दी है। इस शताब्दी के प्रारम्भ तक भारतीय अँगरेजों की साम्राज्यवादी नीति से भली-भाँति परिचित हो चुके थे। इस राजनैतिक जागृति की पृष्ठ भूमि ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन (१८५१ ई०) ईस्ट इण्डिया एसोसियेशन (१८७६ ई०) मद्रास महाजन सभा (१८८१ ई०) बाम्बे प्रेसीडेंसी एसोसियेशन (१८८५ ई०) तथा राष्ट्रीय कांग्रेस (१८८५ ई०) की स्थापनाओं से स्पष्ट होती है। यह भी स्मरणीय है कि कपास पर यातायात-कर १८७७ ई० में उठा लिया गया था। राय देवीप्रसाद पूर्ण ने स्पष्ट लिखा था कि विदेशी कपड़े की देश में भरमार हो रही है और देशी वस्त्र-व्यवसाय चौपट हो गया है। विदेशी पूंजीवाद का प्रभाव देश महसूस करने लगा था। १८९७ ई० में महात्मा तिलक को जेल में बन्द कर दियो गया था।

१८६९ ई० में स्वेज नहर के खुल जाने के बाद इस देश के कच्चे माल से इङ्गलैण्ड का पूंजीवाद फलने फूलने लगा था। देश के आर्थिक विकास न होने और खेती पर ही कारीगरों के भी निर्भर होते जाने से देश की दुर्दशा चरम सीमा पर पहुँच रही थी। १८६८–६९ ई० के अकाल में २० लाख व्यक्ति तड़प-तड़प कर मर गए थे। १८७७ ई० में दक्षिण में पुनः अकाल पड़ा था। १८९४–१९०० के वर्षों में उत्तर भारत में पुनः अकाल पड़ा अतः द्विवेदी जी के समय देश की चेतना रीतिकालीन काव्य के अनुकूल नहीं थी, यह उन्होंने स्पष्ट अनुभव किया होगा। यह भी स्मरणीय है कि १९०५ ई० और १९०९ ई० में देश में भीषण राजनैतिक उत्तेजना उत्पन्न हो चुकी थी।

राजनैतिक जाग्रति के अतिरिक्त विदेशी साम्राज्यवाद का धार्मिक मोर्चा प्रबल होता जा रहा था। १८१३ ई० में ही भारत में ईसाई धर्म प्रचार की

आज्ञा मिल चुकी थी। १८०२ ई० में ही हिन्दी में 'न्यू टेस्टामेंट' का अनुवाद हो चुका था। १८०९ तथा १८२६ ई० के मध्य हिन्दी की मुख्य-मुख्य उप-भाषाओं में ईसाई मत के ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे। १८५० में बाइबिल का अनुवाद भी प्रस्तुत हो गया और हिन्दी-प्रदेश में ईसाई मत का प्रचार विधि-पूर्वक होने लगा।

१८५८ ई० में इस खतरे से बचने के लिए ब्राह्म समाज की स्थापना हुई (१८५८ ई०)। हिन्दी प्रदेश में आर्य समाज की स्थापना १८७५ ई० में हुई। थियोसोफीकल सोसाइटी (१८७९ ई०) रामकृष्णमिशन, हिन्दू धर्म-महामण्डल आदि संस्थाओं की भी स्थापना हुई। दयानन्द सरस्वती के आदेश पर (१८२४-१८८३ ई०) १९वीं शताब्दी के अन्त तक आर्य समाज, गुरुकुल[1] गोरक्षिणी सभाओं तथा डी० ए० बी० कालेजों का तांता बँध गया। अंगरेजी शिक्षा जो साम्राज्यवाद के रक्षण के लिए कर्मचारी और दलाल पैदा करने के लिए १८३५ ई० में शुरू की गई थी, आर्य समाज के शिक्षण के संघर्ष में आई। १८५७ ई० में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। इन विश्वविद्यालयों से निकले हुए छात्र एक ओर थे तो दूसरी ओर आर्य समाज से प्रभावित युवक थे।

इस सन्दर्भ में 'हिन्दी प्रचार' और "रीतिकाल का विरोध" साम्राज्य-वाद के विरोध और सामाजिक नव जागरण के प्रतीक रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत होता है। सन् १८८१ ई० में हिन्दी के लिए व्यापक आंदोलन हुआ। १८८२ ई० में हंटर कमीशन के सम्मुख हिन्दी के लिए स्मृतिपत्र भेजे गए। १८९३ ई० में काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। १९०० ई० में अर्थात् 'सरस्वती' के शुभारम्भ के वर्ष में ही एन्टोनी "मैकडानेल" की "कृपा" हिन्दी से अदालतों के लिए देवनागरी लिपि में स्वीकार कर ली गई।

हिन्दी-प्रदेश में शिक्षित वर्ग पर रामकृष्णमिशन, थियोसौफी और उनसे भी अधिक आर्य समाज का प्रभाव था। 'विदेशीधर्म' के विरुद्ध स्वधर्म-श्रेष्ठता प्रतिपादन के लिए भारतीय युवकों ने अतीत को टटोला, पुनर्व्याख्या की। अतीत से कथानक लेकर महान पूर्वजों की यश गाथा गाई गई। मध्याकालीन राजपूती शौर्य भी काव्य का विषय बनाया गया। मैथिलीशरण गुप्त का प्रथम काव्य—"रंग में भंग" (१९०९ ई०) है, जिसमें राजपूती शौर्य का फड़कता

---

१. हरिद्वार का गुरुकुल कांगड़ी विद्यालय १९०२ ई० में स्थापित हुआ।

हुआ वर्णन है। गुप्त जी का दूसरा काव्य 'जयद्रथ वध' (१९१० ई०) है जिसमें 'जयद्रथ वध के माध्यम से अँगरेजों के अंतिम पतन की ओर संकेत है। कहना न होगा कि उक्त स्थिति में अत्यधिक जागरूक कवि रीतिकालीन धारा में अवगाहन करते रहने को पर्याप्त नहीं समझ सकता था।

इसके अलावा आर्य समाज के प्रचार के कारण विधवा-विवाह, बाल-विवाहनिषेध विषयक रचनाओं की धूम मचने लगी थी। १९०६ ई० के लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत में आर्य समाज द्वारा विधवाश्रमों की स्थापना हो चुकी थी। सुमित्रानन्दन पन्त के "देवि, माँ, सहचरि प्राण" तक नारी के गौरव को पहुंचने के लिए द्विवेदीयुगीन सोपान को अभी पार करना था। अतः इस युग में समाज के अर्धभाग की जागृति के लिए अनेक रचनाओं की सृष्टि हुई। द्विवेदी जी यदि इस ओर ध्यान न देते तो कोई और देता क्योंकि ऐतिहासिक प्रवाह का दबाब सभी महसूस-कर रहे थे। १९वीं शताब्दी के अंतिम भाग से देश के प्रत्येक ग्राम में इन नव सुधारों के गीत गाए जाने लगे थे। छायावादी ताजमहल की नींव के लिए यह सुधारवादी काव्य नींव के रूप में समझा जाना चाहिए, इसके बिना हमारे ऐतिहासिक और साहित्यिक विकास का एक चरण अधूरा ही रहता।

द्विवेदी जी ने दृढ़ता के साथ भारतीय चेतना को मध्यकालीन मानवीय सम्बन्धों के स्थान पर नए मानवीय सम्बन्धों की स्थापना के लिए तथा नवीन सुधारों को काव्य का विषय बनाने के लिए कवियों को प्रेरित किया। मध्य-कालीन सामन्ती दृष्टिकोण दो क्षेत्रों में विशेष रूप से देखा जा सकता है, प्रथम स्त्री का अपमानित जीवन और दूसरा—शूद्रों की दुर्दशा। यह स्मरणीय है कि द्विवेदी युग इन दोनों 'क्षेत्रों' में, अत्यधिक सक्रिय रहा है। 'भारत भारती', "प्रियप्रवास" आदि के अनुशीलन से स्पष्ट है कि द्विवेदी युग नारी और शूद्रों के प्रति नवीन दृष्टिकोण की माँग करता है। विधवा विवाह, बालविवाह निषेध, शूद्र उद्धार, नारी गौरव वृद्धि आदि की सफलता देश की स्वतंत्रता और देश के औद्योगीकरण के साथ सम्बद्ध है किन्तु देश में बीसवीं शताब्दी में शनैः-शनैः विकसित पूँजीवाद के साथ कवियों द्वारा नए मानवीय सम्बन्धों की माँग भी आवश्यक थी अतः रीति कालीन 'पैटर्न' के चलाते रहने का अर्थ था—पुराने मानवीय-सम्बन्धों की नई व्यवस्था में माँग करना और यह ग़लत था अतः द्विवेदी जी एक ऐतिहासिक प्रक्रिया को, अनजान में ही पूरा कर रहे थे।

विधवा की दुर्दशा पर निराला जी ने भी कविता लिखी थी और वह बहुत प्रसिद्ध हुई, उसमें कवित्व कम नहीं है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि

द्विवेदी जी द्वारा बताए गए विषयों पर भी महान काव्य लिखा जा सकता था। अतः द्विवेदी जी से अधिक उस युग के कवि उपदेशवाद और इतिवृत्तात्मकता के लिए अधिक उत्तरदायी हैं। प्रतिभा और आत्मविश्वास के अभाव में ही कवि और लेखक किसी तानाशाह आलोचक का अनुसरण करते हैं।

और वास्तविकता तो यह है कि द्विवेदी जी कविता के क्षेत्र में सफलता असम्भव मानने लगे थे। अपनी कविता को तुकबन्दी कहा करते थे और कहते थे कि "कविता करना आप लोग चाहे जैसा समझें हमें तो एक तरह दुःसाध्य ही जान पड़ता है। अज्ञता और अविवेक के कारण कुछ दिन हमने भी तुकबन्दी का आभ्यास किया था। पर कुछ समझ आते ही हमने अपने को इस काम का अनधिकारी समझा। अतएव उस मार्ग से जाना ही प्रायः बन्द कर दिया।[1]

द्विवेदी जी के अनुशीलक डा० उदयभानसिंह का कथन है—"द्विवेदी जी की उपर्युक्त उक्ति में शालीनोचित कोरी नम्रता ही नहीं, सत्यता भी है, श्रेष्ठ काव्य की प्रदर्शिनी में उनकी कविताओं का ऊँचा स्थान नहीं है"।

मैथिलीशरण गुप्त ने द्विवेदी जी की कविताओं के संग्रह "सुमन" की भूमिका में लिखा है कि द्विवेदी जी अपनी कविताओं के प्रकाशन के लिए उत्सुक नहीं थे। गुप्त जी ने सुमन की रचनाओं के विषय में यह बताया है कि "हिन्दी में बोलचाल की भाषा का स्रोत उमड़ रहा है और कवितागत भाव में परिवर्तन दिखाई दे रहा है, उसका उद्गम और मार्ग निर्देश इन रचनाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता। क्या यही एक कारण इनके प्रकाशित किए जाने के लिए पर्याप्त नहीं है।"[2]

अर्थात् उस समय हिन्दी में बोलचाल की भाषा का स्रोत उमड़ रहा था और दूसरे कवितागत भावों में परिवर्तन हो रहा था। वह समय उद्गम का समय था अतः सहसा श्रेष्ठ काव्य की माँग करना उन कवियों के प्रति अन्याय है जो यही निश्चय नहीं कर पा रहे थे कि खड़ीबोली में लिखें या ब्रजभाषा में या दोनों में? प्रसाद जी के सम्मुख भी यह प्रश्न रहा और प्रारम्भिक रचनाओं में प्रसाद की उच्चता भी नहीं दिखाई पड़ती अतः यह मानना अधिक उचित होगा कि द्विवेदी युग खड़ी बोली की दृष्टि से नई भाषा

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग—डा० उदयभानसिंह।
२. वही अध्याय—४

और नए विषयों का युग था। अतः उसमें काव्य कला सहसा कैसे सूक्ष्म हो जाती ?

दूसरा आक्षेप द्विवेदी जी पर यह है कि लोकध्वनियों में जब एकान्तवासी योगी जैसे काव्य लिखे जा रहे थे तब द्विवेदी जी ने संस्कृत के काव्य की ओर कवियों का ध्यान आकर्षित कर दिया।

द्विवेदी जी ने "हिन्दी पाठकों को संस्कृत की काव्यमाधुरी का आस्वाद कराने, संस्कृत के सुन्दर वर्णवृत्तों को हिन्दी में प्रचलित करने और अति शृङ्गारिक काव्यों को सबके पढ़ने योग्य बनाने के लिए" संस्कृत काव्य का प्रचार किया था। यह देखने की चीज है कि द्विवेदी जी के बाद के युग में संस्कृत पदावली की ही यह सामर्थ्य थी जो सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओं को व्यक्त कर सकी। कामायनी के स्तर की रक्षा लोकभाषा में हो नहीं सकती थी। गुरुभक्तसिंह की नूरजहाँ लोकध्वनियों और सरल छन्दों को लेकर चली है किन्तु नूरजहाँ और कामायनी, राम की शक्तिपूजा, तुलसीदास आदि कृतियों में संस्कृत पदावली पर आधारित काव्य ही अधिक सफल हुआ। वस्तुतः कहना यह चाहिए कि संस्कृत परम्परा के साथ-साथ सरल लोक परम्परा भी प्रचलित रहनी चाहिये थी। छायावाद में लोककाव्य का स्पर्श बहुत कम हो गया, यह दुःख का विषय है। फिर भी बहुत-सी गीतियों में लोकध्वनियों का आधार स्वीकार किया गया है।

वास्तविकता तो यह है कि वैराग्यशतक, गीतगोविन्द, शृंगारशतक, महिम्नस्त्रोत, किरात०, गंगालहरी, कुमारसम्भव, भामिनी विलास, मेघदूत, अमृतलहरी आदि के प्रचार के बावजूद हिन्दी काव्य इतिवृत्तात्मक ही रहा, इसके लिए कवि ही अधिक उत्तरदायी हैं। उक्त काव्यों के मनन के बाद अभिधा के स्थान पर व्यंजना और कथा के स्थान पर "अलंकृत" वर्णनों की राशि लग जानी चाहिये थी किन्तु ऐसा नहीं हुआ। फिर भी यह मानना होगा कि हरिऔध जी के प्रियप्रवास में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है और यह संस्कृत काव्य का ही प्रभाव था। प्रियप्रवास स्पष्ट ही महाकाव्यों से प्रभावित था और चरित्रचित्रण में नए विचारों को अपनाकर चला था। अतः द्विवेदी जी पर यह द्वितीय आक्षेप भी पूर्णतः सत्य प्रमाणित नहीं होता। द्विवेदी जी जिस काव्य के लिए आवाहन किया करते थे उसमें निम्नलिखित गुण द्विवेदी जी चाहते थे—सुरम्यरूप, रसराशि, विचित्रवर्ण, अलौकिकानन्द विधायिनी, अमूल्य आभा रसवती।

क्या द्विवेदी युग के काव्य में इस स्तर तक कवि लोग उठ सके ? स्वयं द्विवेदी जी अपने बनाए हुए स्तर की रक्षा नहीं कर सके। काव्य के क्षेत्र को वह अपने लिए उपयुक्त समझते भी नहीं थे। द्विवेदी जी के अनुवादों को छोड़ कर, उनकी मौलिक कृति "बाल विधवा विलाप" का स्तर देखिए—

"उच्छिष्ट रूक्ष अरु नीरस अन्न खैहौं।
चांडालिनीव मुख बाहर मूँदि जैहौं।
गालिप्रदान निशिवासर नित्य पैहौं।
हा हन्त ! दुःखमय जीवन यौं बितैहौं।
रंडे ! तुही अवसि मत्सुत लीन खाई।
त्वन्मातु नाथ ! जब तर्जिह यों रिसाई"[1]

वस्तुतः संस्कृत का दोष उतना नहीं था जितना द्विवेदीजी के मराठी संस्कारों का। यह "उच्छिष्ट रूक्ष", चांडालिनीव 'गालिप्रद्रान' की पदावली का प्रयोग उन कवियों ने कभी नहीं किया जो संस्कृत काव्यों से परिचित थे। गुप्त जी हरिऔध जी आदि किसी में यह शैली नहीं मिलती। यों यह शैली प्रयोग मात्र थी।

द्विवेदी जी के अपने काव्य में उनकी देशभक्ति,[2] भाषाभक्ति,जनताभक्ति आदि उच्च भावनाओं का प्रसार हमें प्रभावित करता है यद्यपि उनकी अभिव्यक्ति में कवि को सफलता नहीं मिली।

द्विवेदी जी की महानता वस्तुतः अपने युग की चेतना के उन्नयन में है, लक्ष्यनिर्धारण में और नूतन विचारों के प्रसारण में। उन्हें कलात्मक रूप कैसे दिया जाय, यह कार्य कवियों का था। प्रतापनारायण मिश्र की तरह द्विवेदी जी कान्यकुब्ज लीला, गर्दभ काव्य, वलीवर्द, सरगौनरक ठिकाना नाहिं, जम्बुकी न्याय, टेसू की टाँग आदि हास्यकाव्यों में अधिक सफल हुए हैं। भारतेन्दु युग अपनी पूरी सजीवता के साथ इन रचनाओं में बोलता हुआ दिखाई पड़ता है। 'विहार वाटिका', स्नेहमाला, प्रभात वर्णनम्, सूर्यग्रहणम् आदि रचनाओं में प्रकृति-चित्रण की परम्परा का द्विवेदी जी ने पालन किया है। जो द्विवेदी जी को 'सौन्दर्य का शत्रु' समझते हैं, उन्हें यह समझना चाहिए कि प्रकृति चित्रण

---

१. वही, पृष्ठ ६४।

२. जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं है पशु निरा है और मृतक समान है।

शुद्ध सौन्दर्यवादी प्रणाली है, जहाँ-जहाँ प्रकृति-चित्रण है, वहाँ-वहाँ सौन्दर्य-चित्रण है, यह नियम है।

द्विवेदीजी का उपदेशात्मक काव्य उनकी समग्र रचनाओं की संख्या देखते हुए अधिक नहीं है। विनय विनोद तथा "विचार करने योग्य बातों" में कवि ने उपदेश दिए हैं, यहाँ कोरे पद्य हैं, काव्य का सौन्दर्य यहाँ नहीं है—

यौवन वन नव तन निरखि मूढ़ अचल अनुमानि।

हठि जग कारागार मुँह, परत आपदा आनि।

द्विवेदी जी ने गीतों की भी सृष्टि की थी और इनमें उन्हें सफलता भी मिली है[१] किन्तु प्रतापनरायण मिश्र की तरह उन्हें 'आल्हा' में काफी सफलता मिली है।[२] डा० उदयभानुसिह का कथन है कि द्विवेदी युग में कवियों का ध्यान 'वर्तमान' पर अधिक था। 'वर्तमान' के जितने अधिक चित्र द्विवेदीयुग में मिलते हैं, भारतेन्दु में नहीं मिलते अतः द्विवेदीयुग एक पग आगे था।

भारतेन्दुयुग में यथार्थ वाद की जो नींव पड़ चुकी थी, द्विवेदीयुग में विधवा-विवाह, देश की दुर्दशा आदि पर लिखी हुई कविताओं में वह परम्परा आगे बढ़ती हुई दिखाई पड़ती है। सबसे बड़ी बात यह थी कि कवि भारतेन्दु की ही तरह अपने समाज को बदलने के लिए ही काव्य की सृष्टि करता है, उसे इस कार्य में "प्रभाव" की दृष्टि से अद्भुत सफलता मिली थी चूंकि भाषा नई थी और रुचि भी अभी नई थी, कवियों से बहुत ऊँची चीज की माँग नहीं थी अतः द्विवेदीयुग की खड़ीबोली का काव्य जनता में प्रचलित होने लगा। पुरानी धारा के लोग यह महत्व नहीं समझ पाए। उन्होंने 'भारत भारती' के प्रचार की भी उपेक्षा की।

---

१. इष्ट देव आधार हमारे, तुम्हीं गले के हार हमारे
मुक्ति मुक्ति के द्वार हमारे, जै जै जै देश—जै जै सुगम सुवेश।

२. होत बनिअई आई हमरें को अब तुमसे झूठ बताय।
हम हूं घिउ बरसन ब्यांचा है, छोटी बड़ी बजारन जाय।
हियाँ की बातें हियें रहि गईं, अब आगे का सुनौं हवाल।
गाउँ छाँड़ि हम सहर सिधायत, लोगन लिखें चुटकुला ख्याल।

—"महावीर प्रसाद द्विवेदी", पृ० १०६

"रंग में भंग, जयद्रथ वध, पद्य प्रबन्ध (१९१२ ई०), भारतभारती (१९१२ ई०) शकुन्तला (१९१४ ई०) वैतालिक (१९१६ ई०) व किसान, मैथिलीशरण गुप्त के ये काव्य द्विवेदीयुग में प्रकाशित हुए। चूंकि गुप्त जी को द्विवेदीजी का 'मानसपुत्र' माना जाता है, अतः यहाँ देखना चाहिए कि इन काव्यों का क्या महत्त्व है।

प्रथम दो काव्य उपदेशात्मक नहीं हैं, और न संस्कृत के छन्दों में लिखे गए हैं। 'पद्यप्रबन्ध' में सब प्रकार के प्रयोग हैं। शकुन्तला अनुवाद है परन्तु सरसता पर्याप्त है। वैतालिक में नूतन जागरण को और किसान में किसानों की दुर्दशा का वर्णन है। कुल मिला कर द्विवेदी जी की प्रेरणा का परम फल गुप्त जी को यह मिला कि उनकी वाणी प्रत्येक भारतीय के कंठ से ध्वनित होने लगी।[1]

यह तो एक स्वीकृत तथ्य है कि गुप्त जी में उपदेशवाद और इतिवृत्तात्मकता मिलती है परन्तु मुक्तकों में उपदेशवाद जितना खलता है उतना कथा के प्रसंग में आया हुआ उपयुक्त उपदेश नहीं खलता। दूसरे गुप्त जी के 'इतिवृत्त' उस समय के लिए अति आवश्यक थे, यह हम कह चुके हैं। भारतेन्दु जिस प्रकार राज्यभक्ति के मध्य देशभक्ति का प्रचार करते थे, उसी प्रकार गुप्त जी अतीत के आख्यानों में मार्मिक प्रसंगों और अपनी सफल संवाद शक्ति द्वारा अपने काल की जनता में प्राणवत्ता भरते थे। 'जयद्रथ वध' जैसी कृतियाँ 'इतिवृत्तात्मक' कह कर टाली नहीं जा सकतीं। 'रस' की जैसी निष्पति गुप्त जी में मिलती है, वह खड़ी बोली की प्रारम्भिक स्थिति में उपेक्षणीय नहीं है। "भारतीभारती" में 'सौन्दर्यबोध' खोजने वालों को कवि के मन के सौन्दर्य को देखना चाहिए और यह भी कि खड़ी बोली के प्रचार में इस एक कृति का महत्व बहुत अधिक है। आचार्य शुक्ल ने "इतिवृत्तात्मक पद्यों के ढेर" की जो शिकायत की है, उसमें ये कृतियाँ हरगिज़ नहीं आतीं। आचार्य शुक्ल ने द्विवेदी जी की कविता में ही इतिवृत्तात्मक पद्यों की शिकायत अधिक की है, किन्तु इसके साथ ही शुक्ल जी ने द्विवेदी जी की विधि विडम्बना जैसी कृतियों की प्रशंसा भी की है। 'कुमार सम्भव सार' को उन्होंने "उत्तम" कहा है।

'भारतभारती' में बीच-बीच में "मार्मिक तथ्यों के समावेश' की प्रशंसा शुक्ल जी ने की है। खड़ी बोली की उपयुक्तता इसी पुस्तक से प्रमाणित हुई,

---

१. भगवान भारतवर्ष में गूंजे हमारी भारती।

यह भी स्वीकार किया गया है। भाषा के परिमार्जन के लिए गुप्तजी की रचनाओं का महत्त्व भी स्वीकार किया गया है। 'भारतभारती' और वैतालिक में पदावली की सरसता और कोमलता का अस्तित्त्व भी शुक्ल को स्वीकार करना पड़ा।[१]

द्विवेदी जी के दूसरे शिष्य रामचरित उपाध्याय थे (जन्म १८७२ ई०)। 'राष्ट्र भारती', देवदूत, देवसभा, देवद्रौपदी, भारत भक्ति, विचित्र विवाह आदि रचनाएँ सरस्वती में प्रकाशित हुई थीं। "रामचरितचिंतामणि" एक प्रबन्ध काव्य भी आपने लिखा था। इनके काव्य की 'विदग्धता' की प्रशंसा शुक्ल जी ने भी की है। रामचरित उपाध्याय की तरह ही लोचन प्रसाद पांडेय की कविताएँ सरस्वती में प्रकाशित होती थीं। गुप्तजी की तरह पांडेय जी ने नन्ददास की 'रामपंचाध्यायी' के ढंग पर चित्तौड़ के भीमसिंह की कथा लिखी और "मृगीदुःखमोचन" में करुणरस का प्रवाह उत्पन्न किया है।[२]

द्विवेदीजी के प्रभाव-क्षेत्र में कार्य करने वाले उक्त तीन कवियों को ही शुक्लजी ने प्रमुख कवि माना है। इनके अतिरिक्त द्विवेदीजी के प्रभाव में कार्य करने वाले अन्य कवि नीरस पद्यों का ढेर लगाते रहे। इनसे खड़ी बोली के परिमार्जन में सहायता मिली, साथ ही उच्चकोटि की काव्यकला के विकास की इच्छा नवयुवकों में बलवती होने लगी क्योंकि नीरस उपदेशों और तुकबन्दियों से संतोष नहीं होता था। उधर ब्रजभाषा के रससिद्ध कवि बराबर खड़ी बोली के इस प्रारम्भिक काव्य में कला के अभाव का उपहास कर रहे थे।

द्विवेदी जी से प्रभावित किन्तु द्विवेदी जी की शिष्य परम्परा से बाहर पड़ने वाले कवियों में सर्वश्रेष्ठ कवि थे—अयोध्यासिंह उपाध्याय। 'हरिऔध' बाबा सुमेरसिंह के प्रोत्साहन पर ब्रजभाषा की बड़ी ही सरस कविता लिखते थे किन्तु खड़ी बोली में भी लिखने लगे। खड़ी बोली के काव्य की उपयुक्तता अभी चुनौती का विषय ही थी और एकान्तवासी योगी, रंग में भंग, जयद्रथ वध, भारतभारती जैसी कतिपय कृतियाँ ही प्रचलित हो पाई थीं कि हरिऔध जी ने

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६१६

२. चढ़ जाते पहाड़ों में जाके कभी, कभी झाड़ी के नीचे फिरें विचरें।
कभी कोमल पत्तियाँ खाया करें, कभी मीठी हरी हरी घास चरें।
सरिता जल में प्रतिबिम्ब लखें निज, शुद्ध कहीं जलपान करें।
कहीं मुग्ध हो झर्झर निर्झर से, तरुपुंज में जा तपताप हरें।

'प्रियप्रवास' नामक विराट महाकाव्य की सृष्टि कर डाली। छन्दों की दृष्टि से हरिऔध द्विवेदी जी से प्रभावित थे किन्तु काव्य कला की दृष्टि से उनकी भावुकता सर्वथा मौलिक थी। उन्होंने संस्कृत के महाकाव्यों का धैर्यपूर्वक अनुशीलन किया था। हिन्दी के मध्यकालीन काव्य से भी वह सुपरिचित थे। वह अपने युग की नवीन विचारधारा से भी परिचित थे। द्विवेदीयुग की सर्वश्रेष्ठ कृति है—'प्रियप्रवास' जिसे 'इतिवृत्तात्मक' कहकर उपेक्षित नहीं किया जा सका। कारण यह था कि 'प्रियप्रवास' में कवि ने 'आख्यान' पर कम और वात्सल्य, और विप्रलम्भ शृंगार के चित्रण पर अधिक ध्यान दिया। इसके सिवा 'चरित्रचित्रण' की नूतन पद्धति का भी प्रयोग किया। प्राचीन भगवान कृष्ण को नए सन्दर्भ में 'महामानव' और 'महाजननायक' के रूप में चित्रित किया। विदेशियों द्वारा आक्षेप के विषय 'राधा-कृष्ण' लीला को पवित्र अनुराग और दीर्घविरह द्वारा शुद्ध किया। राधा के अनुपम त्याग और परहितैषिणा से सभी प्रभावित हुए। इसके सिवा 'प्रकृति-चित्रण' के अंतर्गत नूतन सौन्दर्यबोध हमें सर्वप्रथम अत्यधिक विस्तार के साथ 'प्रियप्रवास' में ही दिखाई पड़ता है।

प्रियप्रवास द्विवेदीयुग की सीमाओं को तोड़ता हुआ, छायावाद के लिए उपयुक्त भूमिका प्रस्तुत करता हुआ प्रतीत होता है। आगे छायावाद में जिस 'ब्रह्मवाद' की झलक प्रकृति में देखने का चाव बढ़ा, वह प्रवृत्ति भी प्रियप्रवास में दिखाई पड़ती है। 'भारतभारती' में जो 'हिन्दू जागरण' दिखाई पड़ता है, उससे कहीं अधिक व्यापक दृष्टिकोण 'प्रियप्रवास' में मिलता है—'हिन्दूवाद' के स्थान पर 'विश्वमानवतावाद' की प्रतिध्वनि प्रियप्रवास में ही सुनाई पड़ी, आगे छायावाद में इस भावना का द्रुततर विकास हुआ।

आर्य समाज और द्विवेदीयुग की स्वच्छन्दता पूर्वक 'प्रेम' के वर्णन को अनुचित समझने की प्रवृत्ति ने जहाँ रीतिकाल को समाप्त किया वहाँ काव्य को शुष्क भी बनाया। द्विवेदी जी यह समझते थे कि प्रेम के विस्तृत वर्णनों से रीतिकाल का पुनः अभ्युदय होगा और उससे जागृति की ओर उन्मुख राष्ट्र की हानि होगी। यह नहीं सोचा जा सका कि 'प्रेम' के चित्रण के भिन्न तरीके हैं और प्रेम का वर्णन इस प्रकार भी हो सकता है जिसमें मानवीय जीवन के सारे सौन्दर्य का चित्रण होने पर भी मनुष्य नारी जाति के गौरव की रक्षा की ओर उन्मुख हो। यह सम्भव है कि 'प्रियप्रवास' में हरिऔध ने इसी डर से संयोग का वर्णन नहीं किया किन्तु जहाँ तक शारीरिक सौन्दर्य और उच्च मानसिक प्रेम के वर्णन का सम्बन्ध है, प्रियप्रवास में कवि ने पर्याप्त मार्मिक छवियों का अंकन किया है। फिर भी उस युग के नैतिक

बन्धन से राधा को आर्यसमाजी स्वयं सेविका के आदर्श पर ढाला गया है जो अस्वाभाविक लगता है। किन्तु 'नन्द तथा यशोदा' के वात्सल्यभावों का चित्रण सूरदास के बाद 'प्रियप्रवास' में ही अधिक सफल हुआ है। 'प्रियप्रवास' का दशम सर्ग द्विवेदी युग की श्रेष्ठ कृति है। यह दुःख का विषय है कि छायावाद में रसों का यह वैविध्य प्रचलित नहीं रह सका।

यह सही है कि छन्दों के आग्रह से प्रियप्रवास की भाषा कहीं दुरूह, कहीं ब्रजभाषामिश्रित, और कहीं अटपटी हो गई है। किन्तु एक सुकवि की तरह हरिऔध ने संस्कृत के लम्बे छन्दों का प्रयोग कम किया है। छोटे छन्दों में उनकी भाषा प्रवाहमय है, विशेषकर 'द्रुतविलम्बित' छन्द में। इसके सिवा विप्रलम्भ के चित्रण में उनके 'मन्दाक्रान्ता' की भाषा भी स्वच्छ और प्रवाहमय है। अपनी विस्तारवादी शैली के कारण हरिऔध हमारी कल्पना को अधिक नहीं झकझोरते किन्तु प्रियप्रवास के पठन में आज भी सुखद आनन्द आता है। उसके छन्दों का संगीत, शब्दों में व्यक्त निश्छल हार्दिक भावनाओं को हमारे हृदय में प्रविष्ट करने के लिए बाण का काम करता है। आज भी 'प्रियप्रवास' को पढ़कर पाठक प्रभावित न हो, यह असम्भव है। बल्कि वास्तविकता तो यह है कि दुरूह काव्यों के बाद 'प्रियप्रवास' का पाठ और भी अधिक सुखद लगता है। कवि की सरल और सच्ची भावनाओं को देखकर पाठक मुग्ध हो जाता है, बीच-बीच में प्रकृति का आकर्षण अपनी ओर खींचता है।

'प्रियप्रवास' खड़ी बोली की प्रथम महान उपलब्धि थी।

'रसकलस' की भूमिका को पढ़ कर यह स्पष्ट हो जाता है कि हरिऔध जी द्विवेदी जी से एक सीमा तक ही प्रभावित थे। वह स्वयं अपना मार्ग बनाने वाले कवि थे। 'वैदेही वनवास', जो नए युग की कृति है, में भी हरिऔध जी ने संस्कृत वृत्तों का प्रयोग किया है किन्तु भाषा सरल रखी हैं किन्तु वैदेही वनवास में 'मनोवेग' दम तोड़ता हुआ दिखाई पड़ता है। हृदय की जो ऊष्मा, विभिन्न पात्रों की मानसिक स्थितियों की जो पकड़ 'प्रियप्रवास' में दिखाई पड़ती है वह 'वैदेही वनवास', में नहीं मिलती। अतः हरिऔध को केवल 'सफल भाषा प्रयोक्ता' के ही रूप में देखना अपनी अज्ञता प्रकट करना है। हरिऔध खड़ी बोली के प्रथम "रससिद्ध" कवि थे। गुप्त जी का चमत्कार छायावाद युग में लिखी हुई कृतियों में प्रकट हुआ है और जहाँ तक रस-निष्पत्ति का प्रश्न है, 'साकेत' प्रियप्रवास से अधिक प्रभावित नहीं करता।

भाषा के प्रयोगों की दृष्टि से भी हरिऔध की मौलिकता प्रशंसनीय है। शुक्ल जी ने भी स्वीकार किया है कि "उपाध्याय जी का संस्कृत का पद-विन्यास अनेक उपसर्गों से लदा तथा मंजु, मंजुल, पेशल आदि से बीच-बीच में जटित अर्थात् चुना हुआ होता है। द्विवेदी जी और उनके अनुयायी कविवर्ग की रचनाओं से उपाध्याय जी की रचना इस बात में साफ अलग दिखाई पड़ती है।"

प्रियप्रवास ने प्रमाणित कर दिया कि खड़ी बोली में 'कोमलकांत पदावली' का प्रयोग सफल हो सकता है। उसमें केवल उपदेश और घोषणा ही नहीं है। अपितु 'मधुर' भावनाओं की अभिव्यक्ति ब्रजभाषा की ही तरह होसकती है। उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिया कि संस्कृत की कोमल और प्रचलित पदावली की सहायता के बिना केवल लावनीवादी परम्परा से काम नहीं चल सकता। गूढ़ और सूक्ष्म भावनाओं के लिए सशक्त पदावली के लिए संस्कृत का आश्रय लेना अनिष्टकर नहीं है।

भारतेन्दु-काव्य की ही तरह प्रियप्रवास मनोवेगात्मक काव्य है। उसकी शैली वर्णनात्मक हैं किन्तु "विरह वेदना से क्षुब्ध वधनावली में प्रेम की अनेक अंतर्दशाओं की व्यंजना" में वह पूर्णतः सफल हुई है। कवि की कल्पना का वैभव प्रकृति के सरल और संश्लिष्ट—दोनों प्रकार के चित्रणों में पाया जाता है। प्रकृति के तटस्थ, अलंकृत, भावारोपात्मक और कहीं-कहीं मानवी-करणात्मक चित्रण द्वारा हरिऔध ने खड़ी बोली में एक नए सौन्दर्य की निधि का द्वार खोल दिया है। लोग उनके 'वस्तुपरिगणनात्मक' चित्रण की आलोचना करते हैं किन्तु यह नहीं देखते कि कौन सी ऐसी प्रकृति-चित्रण-पद्धति है जिसका प्रयोग प्रियप्रवास में नहीं मिलता? मानवीकरण का प्रारम्भिक रूप भी प्रियप्रवास में मिलता है। 'प्रियप्रवास' अपने अतीत और अपने युग की सम्पूर्ण सौन्दर्य और भावप्रणालियों का प्रयोग करता है और प्रत्येक प्रणाली में सफलता प्राप्त करता है। स्थायित्व की दृष्टि से जब द्विवेदीयुग के अन्य कवियों की रचनाएँ आज केवल ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं, तब 'प्रियप्रवास' की मार्मिकता आज भी सुरक्षित है।[1] जो यह समझते हैं कि हिन्दी-काव्य आन्दोलनों का काव्य है, उन्हें 'प्रियप्रवास' का स्वस्थ मानसिक स्थिति में अनुशीलन करना चाहिए।

---

१. 'प्रियप्रवास' के विस्तृत विश्लेषण और मूल्यांकन के लिए द्रष्टव्य—"महाकवि हरिऔध और प्रियप्रवास।" —विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

हरिऔध जी विभिन्न प्रयोगों के कवि थे। एक मौलाना के यह कह देने पर कि हिन्दी में सरल मुहावरेयुक्त चलती भाषा में कविता नहीं है, अपने "चौपदों" का ढेर लगा दिया। कई वर्षों के बाद पुनः 'वैदेही वनवास' लिखा। 'चौपदों' की परम्परा हिन्दी में नहीं चल सकी और एक बात स्पष्ट हो गई कि जान बूझ कर कहावतों और मुहावरों को भर कर काव्य के गौरव की रक्षा नहीं की जा सकती, विशेषकर उच्च कोटि के चिन्तन और गूढ़ मानसिक स्थितियों के वर्णन के लिए सर्वथा चलती हुई भाषा का प्रयोग कवियों ने नहीं किया, कामायनी से यह तथ्य प्रमाणित होता है। किन्तु यह भी स्मरणीय है कि जिस प्रकार उर्दू में सरल और मुहावरायुक्त भाषा में बड़ी से बड़ी और गूढ़ से गूढ़ बात कही जा सकती है, वह बात खड़ी बोली में नहीं आ सकी और जब आती है, तब जब हिन्दी, उर्दू ये दोनों शैलियाँ अलग-अलग न रह कर एक होती हुई दिखाई पड़ती हैं जिनमें वे अपना-अपना सौन्दर्य खो बैठती हैं। इधर जो 'रुबाइयाँ' लिखी जा रही हैं, उनमें उर्दू की रुबाइयों का आनन्द नहीं आता। शायद यह प्रवृत्ति ही हिन्दी काव्य के लिए उपयुक्त नहीं है।

'हरिऔध ने स्फुटकाव्य के रूप में उपदेश भी बहुत किया है। किन्तु अपेक्षाकृत उसमें दूसरों से काव्य का अंश अधिक है। सबसे अधिक उपदेश देने वालों में नाथूराम शंकर शर्मा का नाम उल्लेखनीय है। द्विवेदी जी ने जिस व्यावहारिक भाषा में लिखने को कहा था, उसका प्रयोग 'शंकर सर्वस्व" की रचनाओं में बहुत अधिक मात्रा में मिलता है। शंकर जी भारतेन्दुयुग की समस्या पूर्ति परम्परा के एक दिग्गज कवि थे किन्तु साथ ही उनकी समस्यापूर्ति में काव्य का विषय बदल गया था। आर्य समाज से बुरी तरह प्रभावित होने होने के कारण उनकी समस्यापूर्तियों पर उपदेशवाद की मात्रा बहुत अधिक मिलती है। किन्तु 'शंकर' जी सुकवि थे अतः जब वह 'सरस' लिखते थे तो उसमें भी सफलता प्राप्त करते थे यद्यपि उसमें कोई नए प्रयोग की ओर उनकी रुचि नहीं थी। 'सरस्वती' में "काव्य शुष्कता" की शिकायत जार्ज ग्रियर्सन महोदय ने भी की थी तब द्विवेदी जी ने 'शंकर' जी को लिखा था—

"देखिए खड़ी बोली की कविताओं के सम्बन्ध में एक विदेशी विद्वान क्या कहता है, अब 'सरस्वती' की लाज आपके हाथ में है" ('शंकरसर्वस्व')

उक्त उद्धरण से पता चलता है कि द्विवेदी जी 'शंकर' जी को कितना मानते थे। यही नहीं, शंकर जी ने अपनी कतिपय रचनाओं से भी ग्रियर्सन को हिन्दी कविता के विषय में अपनी राय बदलने के लिए विवश कर दिया

था। इन रचनाओं में "हमारा अधः पतन", सम्मुखोद्गार, वसन्त सेना, केरल की तारा, अविद्यानन्द का व्याख्यान, पञ्चपुकार आदि रचनाओं का उल्लेख किया गया है। यह स्मरणीय है कि वसन्त सेना और "केरल की तारा" १९०६ ई० में प्रकाशित हुईं थीं और दोनों रविवर्मा के चित्रों के आधार पर लिखी गई थीं। द्विवेदी जी के नीरस और भद्दे काव्य के आलोचकों में श्यामसुन्दरदास, रत्नाकर और सुधाकर द्विवेदी आदि थे। उन्हें "कड़ा जवाब"[1] देते हुए 'शंकर' जी ने खड़ी बोली में, कवित्तों में वसन्त सेना का वर्णन किया है। ये कवित्त बड़े ही प्रचलित हुए। शुक्ल जी ने 'शंकर' जी के काव्य की 'उद्दंण्डता' की शिकायत की है और वह शंकर जी में है किन्तु उस काल को ध्यान में रखने पर यह स्पष्ट है कि जनता में खड़ीबोली के प्रचार में 'शंकर' के कवित्तों और भजनों आदि का बहुत बड़ा हाथ था। शंकर ब्रजभाषा की कला का प्रयोग खड़ी बोली में बड़ी सफलता के साथ करते थे।[2]

'केरल की तारा' में कवि शंकर ने वर्णनात्मक छन्द अपनाया है और "केरल की तारा' के 'नखशिख' का खड़ी बोली में विवरण दिया है। बीच-बीच

---

१. 'पूरण' 'सुधाकर' के अंक में कलंक बसे
खारी जल कोष 'रतनाकर' में पाया है।
'भानु' भगवान काले धब्बों से धबीले रहें—
स्वामी 'श्यामसुन्दर' के संग योगमाया है।
सुन्दरी वसन्तसेना बाई का विशुद्ध मन।
पालक महीपति के साले का सताया है।
शंकर की रचना में ठीक इसी भाँति हाय—
भद्दापन दूषण बनारसी समाया है।

२. उन्नत उरोज यदि युगल उमेश हैं तो,
काम ने भी देखो दो कमानें ताक तानी हैं।
शंकर कि भारती के भावने भवन पर—
मोह महाराज की पताका फहरानी है।
किंवा लट नागिनी की साँवली संपेलिनों ने,
आधे विधु बिम्ब पै विलास विधि ठानी है।
काटती हैं कामियों को काटती रहेंगी सदा—
भृकुटी कटारियों का कैसा कड़ा पानी है।

में आकर्षक उपमान भी आगए हैं। ग्रियर्सन ने इन रचनाओं की प्रशंसा की थी—

फूल अम्बर के न कानों को बताकर चुप रहा।
रूप सागर के सजीले सीप हैं यों भी कहा।
गोल गुदकारे कपोलों को कड़ी उपमा न दी।
पुष्प पाटल से समझ सौन्दर्य सुषमा चूम ली।

शंकर जी भारतेन्दु की ही तरह कहीं व्यंग्य काव्य को जन्म देते हैं[१] तो कहीं समस्यापूर्त्तियों में मग्न दिखाई पड़ते हैं। किन्तु समग्रतः शंकर जी की कविता का प्राण 'शिक्षा' देना है। अभिधा शक्ति का पूरा चमत्कार इनके काव्य में मिलता है। सीधी और खरी खरी सुनाने की संतों की प्रवृत्ति शंकर जी की विशेषता है। शंकर जी के 'क्रन्दन' में भी रुदन का अप्रत्यक्ष रूप नहीं मिलता। उद्‌गारों का सीधा विवरण देना ही उनकी विशेषता है। इनमें 'कला' नहीं, कवि की 'सात्विक चित्र दशा' हमें अधिक प्रभावित करती है। 'गोखले' की मृत्यु पर लिखी गई कविता पढ़िए, कवि की देशभक्ति स्वतः स्पष्ट हो जाती है।

'शंकर' को जाति और देश के उत्थान की अधिक चिन्ता थी, नवीन सौन्दर्य-सृष्टि की ओर उन्होंने कम ध्यान दिया है "पावस प्रसाद" कविता में कवि बार-बार पावस सौन्दर्य को छोड़कर उपदेश की ओर मुड़ जाते हैं— 'जागरण' ही इन कवियों का ध्येय था, यदि काव्य को अपना स्वरूप भी खोना पड़े तो इन्हें अधिक चिन्ता नही थी।[२] अतः काव्य इनके लिए साधन था,

---

१. (अ) सबके पिंजड़े देखे भाले, मैंने भी दो उल्लू पाले।
बने राजहंसों के साले, देखो इनके ढंग निराले।
मायामय मराल के मोती, चुगें कांच के झूंठे मोती।
जब ये आंख न्याय की फोड़ें, पानी पियें, दूध को छोड़ें—
—"अनोखे उल्लू" से

(ब) इस प्रकार की रचनाओं में टेसूराम, दिवाली नहीं दिवाला है, अंधेर खाता, सलोने को आल्हा, तागड़ दिन्ना नागर बेल, अविद्यानन्द का व्याख्यान, वायसविषय उल्लेखनीय हैं।

२. अब गिजाइयां देख पौध इनकी बढ़ती है।
पकड़ एक को एक बना वाहन चढ़ती है।
आरोहण इस भांति कई ढब का जब दीखा।
तब तो चढ़ना अश्व आदि पर हमने सीखा।

ऐसा प्रतीत होता है। इस दृष्टिकोण के अपनाने से इनकी रचनाएँ सामान्य जनता में अधिक प्रचलित हुईं। "रंकरोदन" से पता चलता है कि कवि का मन देश का दारिद्रय देख-देख कर कितना दुःखी रहता था[1] किन्तु पद्धति यहाँ भी "डायरेक्ट" है। सन् १९०६ ई० के आर्य समाज से प्रभावित काव्य के "आलोचक" के विषय में भी शंकर जी ने लिखा है और कवि के द्वारा निश्चित मापदण्डों का यदि प्रयोग किया जाय तो शंकर का काव्य, अपने समय में, एक उपलब्धि मानी जाएगी—

अब तो मुख परकीया से सत्वर मोड़ो।
इनके शठ धृष्ट सेवकों के सिर तोड़ो।
सुखमूल स्वकीया का शुभ संग न छोड़ो।
समयानुसार रसपति का सार निचोड़ो।
जो यों कविनायक जी को समझाता है।
वह वीर समालोचक पदवी पाता है।

शंकर जी के इस "वीर समालोचक" की उस समय आवश्यकता थी, यह स्पष्ट है क्योंकि मध्यकालीन नायिकाभेदी काव्य से हिन्दी नाता तोड़ रही थी। परकीया के स्थान पर 'स्वकीया' के प्रेम और पातिव्रत की प्रशंसा हो रही थी अतः शंकर का उपदेशवाद, काव्यकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण न होकर भी, हिन्दी काव्य के इतिहास के विकास ही नहीं, भारतीय साहित्य के विकास में भी अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देता हुआ दिखाई पड़ता है। उस काल की प्रवृत्ति उक्त काव्य में पूर्णतः प्रतिबिम्बित हुई है।

अन्य कवियों की तरह शंकर जी के काव्य में, राजनीति, समाज और साहित्य एक होकर चलते दिखाई पड़ते हैं। कवि का ध्यान जितना सामाजिक अधःपतन पर है उतना ही राजनैतिक जागरण पर भी है, साहित्य में वह अपनी सीमाओं के भीतर भी कहने के प्रचलित तरीके ही अपनाता है ताकि उसकी बात सामान्य व्यक्ति समझ ले। पाप पर वह फबतियों कसते हैं,

---

१. **क्या शंकर प्रतिकूल काल का अन्त न होगा।**
क्या शुभ गति से मेल मृत्यु पर्य्यन्त न होगा।
क्या अब दुःख दरिद्र हमारा दूर न होगा।
क्या अनुचित दुर्दैव-कोप कर्पूर न होगा।

—"रंकरोदन"

फटकारते हैं, दुःख में सिसक उठते हैं, अतीत के गौरव का स्मरण कर 'गर्व' करते हुए दिखाई पड़ते हैं, किसानों और मजदूरों तथा अन्य निम्न वर्गों की दुर्दशा पर बार-बार आँसू बहाते हैं, विदेशियों पर वाग्वाणों का प्रहार करते हैं और कभी-कभी उमंग में शृंगार के रसरंग में भी मस्त हो जाते हैं किन्तु शृंगार और सौन्दर्य उनका क्षेत्र नहीं है। उनकी अपनी निजी कोई ऐसी मानसिक स्थितियाँ नहीं हैं जो जरा भी अनौखा मार्ग अपना कर चलती हों। सामान्य व्यक्ति के प्रति तादात्म्य इन कवियों की विशेषता है। विचारक यह भूल जाता है कि हिन्दी प्रदेश में इन कवियों की व्यावहारिक और निश्चित खड़ी बोली की पदावली का प्रचार न होता तो आगे का काव्यमहल कहाँ खड़ा होता। इसके अतिरिक्त द्विवेदी युग भी 'सुधार' के प्रति असीम आस्था से आगे के 'सौन्दर्य' का रूप भी असामाजिक नहीं हो सका। द्विवेदी युग का कवि रीतिकाल और आधुनिक युग के बीच खाई खोद चुका था, उसे लाँघकर छायावादी कवि उधर जा नहीं सकते थे अतः सौन्दर्य की सृष्टि के लिए नए विषय और नई भाव भंगिमा, नए सम्बन्धों और नए स्पर्शों के लिए प्रयत्न करना पड़ा। सुधारवादी काव्य ने काव्य और जनमगल का सम्बन्ध, ज़रा भौंडेपन के साथ ही सही, दृढ़ अवश्य कर दिया। क्या द्विवेदीयुग का यह ऐतिहासिक कृतित्व उपहासास्पद है?

'शङ्कर' जी की प्रबल पौरुष से भरी रचनाओं की तरह ही, उनसे अधिक कलापूर्ण रचनाएँ लाला भगवानदीन 'दीन' के वीर-काव्यों में मिलती हैं। यह आश्चर्य का विषय है कि आचार्य केशव के काव्य का अवगाहन करने वाले इस अलंकृत काव्य के प्रशंसक कवि और आचार्य के हृदय मे इतनी सरल अभिव्यक्ति के प्रति अनुराग कैसे बना रहा? ब्रजभाषा के कवियों की शब्द-क्रीड़ा की ओर न जाकर 'दीन' जी ने "वीर क्षत्राणी", "वीर बालक' और "वीर पंचरत्न" नामक काव्यों में "बोलचाल ही की फड़कती भाषा में जोशीली रचना" की है। उर्दू के छन्द को अपनाकर उसमें भूषण की आत्मा का प्रवेश करने में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। दीन जी ने प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास से वीरगाथाएँ चुनकर बालकों और युवकों के सम्मुख कल्पना और प्रेरणा के अभिनव स्रोत खोल दिए थे। मुझे स्मरण है कि सन् ४० के आसपास 'दीन' जी की कविता को छात्र किस प्रकार झूम-झूम कर पढ़ते थे। छायावाद तो जनता के सामान्य स्तरों का भेदन कर नहीं सका, उसने 'मध्यवर्ग' की कल्पना को अधिक प्रभावित किया, विशेषकर शिक्षित वर्ग का किन्तु सर्व साधारण में सौन्दर्य-काव्य की पहुँच न होने से शङ्कर और दीन जैसे कवि ही रिक्तता को भर रहे थे। दीन जी का आदर्श था—

वीरों की सुमाताओं का यश जो नहीं गाता।
वह व्यर्थ सुकवि होने का अभिमान दिखाता।
जो वीर सुयश गाने में ढील दिखाता।
वह देश के वीरत्व का है मान घटाता।
सब वीर किया करते हैं सम्मान कलम का।
वीरों का सुयश गान है अभिमान कलम का।

मैथिलीशरण गुप्त के रोला और गीतिका, हरगीतिका की तरह 'दीन' जी की उपर्युक्त "बहर" भी बहुत अधिक प्रचलित हुई थी।

सन् १९०१ ई० में द्विवेदी जी ने 'कवि "कर्त्तव्य" शीर्षक लेख में काव्य का नूतन संस्कार किया था। द्विवेदी जो ने कहा था कि छन्द विधान में नूतनता लानी चाहिए।[१] उक्त कवियों के विवरण से स्पष्ट है कि कवियों ने विविध छन्दों का प्रयोग किया था और पुराने छन्दों में भी खड़ी बोली में नए विषयों पर लिखा था। कवित्तों और सवैयों में भी खड़ी बोली परिष्कृत हो रही थी। द्विवेदी जी ने उर्दू का प्रयोग भी वाञ्छनीय बताया था।[२] भगवानदीन और हरिऔध ने उर्दू के छन्दों में अपनी कुशलता प्रमाणित की है। 'प्रियप्रवास' में हरिऔध जी ने द्विवेदी जी की 'संस्कृतवृत्तों' की इच्छा को पूर्ण किया था।

द्विवेदी जी के अतिरिक्त शङ्कर जैसे कवियों ने भारतेन्दु युग के 'लोक-काव्य' का भी अनादर नहीं किया। "शङ्कर सर्वस्व" में भजनों, बारहमासा, कजली आदि का प्रयोग भी बराबर दिखाई पड़ता है।

द्विवेदी जी का भाषा के विषय में मत था कि काव्य की भाषा "सरल और सुबोध" होनी चाहिए। द्विवेदी युग का कोई भी कवि इतनी दुरूह भाषा नहीं लिखता जो समझ में न आसके। भारतभारती, जयद्रथवध, रंग में भंग, 'वीरपञ्चरत्न' तथा स्फुट रचनाओं की भाषा सुबोध है। केवल 'प्रियप्रवास' की भाषा में कहीं-कहीं दुरूहता है किन्तु अभिधा शैली के प्रयोग के कारण शब्द का

---

१. **"दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय और सवैया आदि का प्रयोग हिन्दी में बहुत हो चुका। कवियों को चाहिए कि यदि वे लिख सकते हैं तो इनके अतिरिक्त और-और छन्द भी वे लिखा करें।"**

२. **"आजकल की बोलचाल की हिन्दी की-कविता उर्दू के से एक विशेष प्रकार के छन्दों में अधिक खुलती हैं। अतः ऐसी कविता लिखने में तदनुकूल छन्द प्रयुक्त होने चाहिए।"**

अर्थ समझ लेने पर प्रियप्रवास के दुरूह अंश भी सरल हो जाते हैं। हम कह चुके हैं कि प्रियप्रवास में लघु छन्दों में भाषा सरल ही रखी गई है।

द्वितीय युग में भाषा में लाक्षणिकता और ध्वनि उत्पन्न करने का कार्य बहुत कम हुआ। द्विवेदी जी का आग्रह नूतन भंगिमाओं पर उतना नहीं था। जितना भाषा की सुबोधता और शुद्धता पर। द्विवेदीयुग की प्रतिनिधि कृतियों जयद्रथबध और प्रियप्रवास में भाषा की शुद्धता पर बराबर ध्यान दिया गया है। छन्द के आग्रह के कारण कहीं प्रयोग संस्कृत या उर्दू के आधार पर भले ही किए गए हों किन्तु कुल मिलाकर द्विबेदी युग की भाषा "शुद्ध, कही जा सकती हैं। उसकी "स्थिरता" और "निश्चितता" में कहीं-कहीं गड़बड़ी दिखाई पड़ती है, ब्रजभाषा के प्रयोग बीच-बीच में चलते हैं किन्तु भाषा की शुद्धता में कमी नहीं दिखाई पड़ती। द्विवेदी जी रीतिकाल की भाषा की "तोड़फोड़" खड़ीबोली में न लाना चाहते थे,[१] उन्होंने मुहावरायुक्त भाषा पर भी बल दिया है।

द्विवेदी जी ने स्पष्ट लिखा है कि "शब्दप्रयोग रसानुरूप" होना चाहिए।[२] द्विवेदीयुग के आख्यान-प्रधान काव्यों में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। गुप्त बन्धुओं और हरिऔध जी ने रसानुकूल खड़ी बोली का ही प्रयोग किया है। द्विवेदी युग के कवि पुराने काव्य के भी मर्मज्ञ कवि थे अतः वे रसानुकूल भाषा के प्रयोग की कला का प्रदर्शन खड़ी में करना चाहते थे। इस प्रवृत्ति से खड़ी बोली विभिन्न भावनाओं के अनुकूल पदावली की प्राप्ति में सफल हुई। द्विवेदी युग के प्रमुख कवियों ने इस ओर बहुत ध्यान दिया है किन्तु हमारी प्राचीन काव्य कला के इस विशेष गुण की खोज द्विवेदी युग में न करके विचारक "इतिवृत्तात्मक" कह कर द्विवेदी युग की समाप्त कर देते हैं।[३]

---

१. "शब्दों का रूप (ब्रजभाषा की भाँति) बिगाड़ने की 'निरंकुशता' न होनी चाहिए।"

२. किसी-किसी स्थल विशेष पर रक्षाक्षर शब्द अच्छे लगते हैं परन्तु और सर्वत्र ललित और मधुर शब्दों का प्रयोग में लाना उचित है। शब्दों के चुनने में अक्षत्र मैत्री का विशेष विस्तार रखना चाहिए।"

३. चित्र—तम ढके तरु थे दिखला रहे, तमस पादप से जनवन्द को।
सकल गोकुल गेह समूह भी, तिमिर निर्मित सा इस काल था।
उद्गार—छीना जावे लकुट न कभी वृद्धता में किसी का।
ऊधो कोई न कल छल से लाल ले ले किसी का।

यह सही हैं कि उसमें सूक्ष्मता, प्रतीकात्मकता और अभिनव भंगिमा नहीं है। किन्तु ब्रजभाषा के काव्य के समानान्तर द्विवेदी युग का कवि खड़ी बोली में सीमित सफलता प्राप्त करने पर भी महान आदर का पात्र बन जाता था क्योंकि लोग व्यवहार में जिस भाषा का प्रयोग करते थे, उसी भाषा में काव्य चाहते थे। इसके सिवा ब्रजभाषा के कवि द्विवेदी युग में नए नए विषयों को उतने परिमाण में ब्रजभाषा में नहीं अपना सके। द्विवेदी युग में नाथूराम शङ्कर ने द्विवेदी जी की सरस्वती की कविताओं के विरोधियों में 'रत्नाकर' का नाम भी लिखा है—और उन्हें 'खारी जल' से भरा हुआ कहा है। राय देवीप्रसाद पूर्ण, रत्नाकर तथा सनेही जी नई चेतना को उस मात्रा में वाणी नहीं दे सके, ब्रजभाषा को इस लिए भी नई पीढ़ी उपेक्षा की दृष्टि से देखती थी अतः खड़ी बोली में रसयुक्त शब्दावली का प्रयोग देखकर कवि की सफलता को एक उपलब्धि माना जाता था।

द्विवेदी जी का कथन था कि "अर्थसौरस्य ही कविता का जीव है।" अर्थात् द्विवेदी जी अर्थ पूर्ण पदावली को ही काव्य मानते थे। उनका कथन था

पूंजी कोई जनम भर की गाँठ से खो न देवे।
सोने का भी सदन न बिना दीप के हो किसी का।

—प्रियप्रवास

हा कृतघ्न सुग्रीव! न होगा मुझसे कोई।
तुझे सहायक भी न मिलेगा मुझ सा कोई।

—रामचरित चिंतामणि

त्वेष—कृपण कामिणों का इस जग में कहना करना ठीक नहीं।
बुद्धि बिगड़ती है वृद्धों की यह बात अलीक नहीं।
माता और पिता दोनों को इससे मारूंगा तत्काल।
आज्ञा मिले देखिए सज्जित है मेरे कर में करवाल।

—"रामचरित चिंतामणि"

शृङ्गार—ललित लज्जा-भार से ग्रीवा रुचिर नीची किए।
मन्द गति से बह गई वह अवलम्ब उन सबका लिये।

—रंग में भंग

करुण—फिर पीट कर सिर और छाती अश्रु बरसाती हुई।
कुररी सदृश सकरुण गिरा से, व्यंग्य बरसाती हुई।

—जयद्रथवध

कि "अलंकारों को बलात् लाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए·····बलात् किसी अर्थ को लाने की अपेक्षा "प्रकृत भाव" से जो कुछ आजावे उसे ही पद्य-बद्ध कर देना अधिक सरस और आह्लादकारक होता है।"

द्विवेदी युग के काव्य में "प्रकृत भाव" अतिशयता की सीमा तक पहुँचा हुआ दिखाई पड़ता है। इस युग में कवियों ने "कुशलता" का परिचय न देकर अभिव्यक्ति को अधिक ध्वन्यात्मक या लक्षणात्मक अथवा प्रतीकात्मक न बनाकर सीधे साधे उद्‌गारों का कथन करना अधिक परन्द किया है अतः काव्य में "अनकहा" कुछ भी नहीं रह जाता, सब कुछ कह लेने की प्रवृत्ति के कारण पाठक की कल्पना के प्रयोग के लिए कुछ भी शेष नहीं बचता। "प्रियप्रवास" 'रामचरित चिन्तामणि' (रामचरित उपाध्याय) तथा जयद्रथ वध आदि में यह कमी अवश्य खटकती है। द्विवेदी युग में शब्दावली का अत्यधिक अपव्यय मिलता है। कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ व्यंजित करने की प्रवृत्ति बहुत कम मिलती है। वर्णनात्मक और विवरणात्मक शैली के आधिक्य का ही यह कारण है। 'व्यास शैली' में लिखे हुए इस युग के काव्य आज काव्यकला की दृष्टि से उतने आकर्षक नहीं रह गए हैं। फिर भी यह मानना होगा कि द्विवेदी युग में 'व्यास शैली' के प्रयोग में कवियों को अच्छी सफलता मिली है।

विषय की दृष्टि से द्विवेदी युग नवीन युग है। कवियों को द्विवेदी जी का आदेश था कि नायिका भेद और अलंकार निरूपण छोड़ कर "चींटी से लेकर पर्वत पर्यन्त" प्रत्येक विषय पर छोटी-छोटी कविताएँ लिखनी चाहिए। द्विवेदी युग में "विषय वैविध्य" अवश्य मिलता है। ब्रजभाषा में भारतेन्दु युग से ही नए प्रकृति दृश्यों पर रचनाएँ मिलती हैं। जगमोहनसिंह और प्रेमघन ने गाँव की छवियों का यथाथ्य चित्रण किया है। आगे कविरत्न सत्यनारायण ने ब्रजभाषा में ग्रामछवि की ओर मुग्ध दृष्टि से देखा था। यह परम्परा अधिक वैविध्य के साथ खड़ी बोली में प्रचलित हुई। ऋतु वर्णन एक नए रूप में खड़ी बोली में प्रचलित हुआ। शंकर का निदाघ वर्णन[1] रीतिकालीन निदाघवर्णन

---

१. **बीते दिन वसन्त ऋतु भागी, गरमी उग्र कोप कर जागी।**
ऊपर भानु प्रचण्ड प्रतापी, भू पर भभके पावक पापी।
आवत वात मिले रस रूखे, झावर, झील सरोवर सूखे।
दीपक ज्योति जहां जगती है, चमक चंचला सी लगती है।

से भिन्न है क्योंकि इसमें कवि को केवल जलते हुए दीपक ही बिजली से नहीं लगते किन्तु यह भी बुरा लगता है कि प्रजा का धन उड़ा कर राजे महाराजे गर्मी बरदाश्त न कर पहाड़ पर भाग जाते हैं। गुप्त जी और लोचनप्रसाद पांडेय[1] के निदाघ वर्णन अथवा प्रकृति के अन्य रूपों को देखें तो द्विवेदी युग का योगदान स्पष्ट हो जाता है। रीतिकालीन नायिकाओं के सन्दर्भ में ही प्रकृति को न देख कर प्रकृति का स्वतन्त्र रूप द्विवेदीयुग में वर्ण्यविषय के रूप में निश्चित हो जाता है। गिरिधर शर्मा का "शरद वर्णन" रामनरेश त्रिपाठी की मनोहर चित्रावली, मुरारिवाजपेयी की शरद-सरिता,[2] सत्याशरण की सरिता-छवि, चन्द्रकिरणें, गोपालशरणसिंह के मनमोहक दृश्य-वर्णन[3] प्रियप्रवास के भव्य प्रकृति-दृश्य, पाठक के मन में यह स्पष्ट बोध कराते हैं कि काव्य में परिवर्तन हो गया है, पुरानी रुचि जो केवल उद्दीपन रूप में प्रकृति के निश्चित कुछ रूपों का ही चित्रण करती थी, अब एक अभिनव रूप में, अधिक वैविध्य के साथ प्रस्तुत हो रही है।

अकुला कर राजे महाराजे, गिरिभृंगों पर जाय विराजे।
धूलि उड़ाय प्रजा के धन की, रक्षा करते हैं तन मन की।
खलिहानों पर दाँय चलाना, फिर अनाज भूसा बरसाना।
पूरा तप किसान करते हैं, तो भी उदर नहीं भरते हैं।
हलवाई, भुरजी, भटियारे, सौनी भगत, लुहार विचारे।
नेक न गरमी से डरते हैं, अपने तन फूंका करते हैं—

—"शंकरसर्वस्व" से

१. प्यासे हों चंचु खोले कलरव तज के भीत से मौन धारे।
बैठे हैं कोटरों में, खगगण तरु के ताप सन्ताप मारे।
हो के हा ! शुष्क कण्ठ व्यथित विपिन के जंतु दग्धा मही में।
छाया में हाँफते जा तज, तृण चरना, शांति पाके न जी में।

२. धीरे-धीरे वेग हटाती नदियाँ वेग दिखाती हैं।
ज्यों नवसंगम में लज्जित हो ललना जघन दिखाती हैं।
(द्रष्टव्य—हिन्दी काव्यों में युगान्तर) डा० सुधीन्द्र

३. फूलों के मिस लतिकायें, सब मन्द-मन्द मुस्काती हैं।
पल्लवरूपी पाणि हिलाकर, मन के भाव बताती हैं।
(वही)

यह सही है कि द्विवेदीयुग के कवियों ने आख्यान-काव्यों की तरह प्रकृति वर्णन में कल्पना-वैभव कम प्रदर्शित किया है। किन्तु श्रेष्ठ कवियों यथा रामनरेश त्रिपाठी, गोपालशरण सिंह तथा हरिऔध जी के प्रकृति चित्रण अपनी मोटी उभरी हुई रेखाओं के बावजूद अपनी सरलता के कारण आज भी प्रिय लगते हैं। कारण यह है कि ये कवि एक तो अपनी मानसिक गुत्थियों को प्रकृतिचित्रणों में नहीं भरते, दूसरे प्रकृति चित्रण में उनके हृदय की प्रसन्नता और आवेश भी प्रकृति-चित्रणों को अकर्षक कर देता है। रामनरेश त्रिपाठी के काव्य में तो नायक प्रकृति के सौन्दर्य में इतना मुग्ध होता है कि उसे अपने 'प्रेम' और 'देश' की भी चिन्ता नहीं रहती। "प्रकृतिप्रेम" देश प्रेम के रूप में भी चित्रित हुआ है,[1] भारतवर्ष की छवि का वर्णन एक 'परम्परा' ही बन गई है।

प्रकृति-वर्णन में हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म, पावस, शरद, शिशिर आदि पर अनेक रचनाएँ मिलती हैं परन्तु चित्रणों में सूक्ष्मता न होने पर भी ताज़गी है।

इसके अतिरिक्त राजा रवि वर्मा के चित्रों पर बहुत सी कविताएँ लिखी गईं, वस्तुतः चित्रण करने के लिए इनसे कई कवियों ने प्रेरणा ली। रम्भा, महाश्वेता, कुमुदसुन्दरी, इन्दिरा, कादम्बरी, धनुर्विद्या-शिक्षण, वसन्त सेना, मोहिनी, मालती, प्रार्थना, पंचदशी आदि कविताएँ चित्रों पर ही लिखी गई थीं। इन रचनाओं से द्विवेदी युग की "रुक्षता" में कमी हुई और दूसरी ओर ऐसे चित्रण व्यापक देशभक्ति के अंग के रूप में भी प्रचलित हुए क्योंकि अपने अतीत के दृश्यों और पात्रों की भंगिमाओं का चित्रण इनमें हुआ करता था।

आख्यानकाव्यों, यथा रंग में भंग, जयद्रथवध, शकुंतला, किसान, मौर्यविजय, प्रियप्रवास, रामचरितचिंतामणि, वीरपंचरत्न, प्रेम पथिक, महाराणा का महत्त्व, पथिक और मिलन आदि में यत्र तत्र कवियों ने अपनी चित्रण-

---

१. (अ) **गिरिवर भ्रू भंग धारि, गंगधार कण्ठहार।**
सुरपुर अनुहार, विश्व वाटिका विहारी।
उपवन वन वीथि-जाल सुन्दर सोइ पट दुसाल।
कालिमाल विभ्रमालि, मालिकालिकाली।
"भारत प्रशंसा से" श्रीधर पाठक

(ब) धौत तेरा चरण-तल है, नील नीरधि नीर से।
जय अनिल-कम्पित मनोरम श्याम अंचल धारिणी।
व्योम चुम्बी भाल हिमगिरि है तुषार किरीट है।
—"सियारामशरण"

क्षमता का भली भाँति प्रदर्शन किया है। प्रसाद जी के प्रेमपथिक और महाराणा का महत्त्व में यह चित्रण-क्षमता एक अभिनव रूप में दिखाई पड़ती है जिसे हम यथास्थान देखेंगे।

इसके अतिरिक्त द्विवेदीयुग में भारतेन्दुयुग की "ईश्वरप्रेमप्रवृत्तिप्रधान" रचनाएँ भी मिलती हैं। यदि द्विवेदीयुग की प्रार्थनापरक कविताओं को हम ध्यान में रखें तो आगे की रहस्यपरक रचनाएँ उनका स्वाभाविक विकास दिखाई पड़ती हैं, भले ही रहस्यवादियों ने बाहर से प्रेरणा लेकर अपनी रचनाओं में नूतन-भावभंगिमा की उत्पत्ति की हो। भारतेन्दुयुग में प्रताप-नारायण मिश्र की एक रचना है जो आजकल मूर्खों का मजाक बनाने के लिए प्रयुक्त होने लगी है—"हे प्रभो, आनन्ददाता ज्ञान हमको दीजिए"। द्विवेदी-युगीन काव्य के विशेषज्ञ डा० सुधीन्द्र ने भी स्वीकार किया है कि इस प्रार्थना की परम्परा में ही हरिऔध की "प्रभुप्रताप" लोचनप्रसाद पांडेय की "ईश-गुणगान" तथा कामताप्रसाद गुरु की "दीननिहोरा" आदि रचनाएँ लिखी गई थीं, जो हो, यह स्पष्ट है कि ईश्वर प्रेम विषयक रचनाएँ द्विवेदीयुग में पुरानी कविता से हमारा विषयगत सम्बन्ध बनाए हुए दिखाई पड़ती हैं। यों द्विवेदी-युग में पूँजीवाद का विकास हो रहा था, किन्तु विज्ञान का प्रचार इस युग में उतना नहीं हो पाया था, अतएक विज्ञान के अभाव में यह स्वाभाविक था कि पराधीन कवि आधुनिक युग में भी ईश्वर का सहारा खोजता। यह भी स्मरणीय है कि हरिऔध, गुप्त जी आदि अधिकतर कवि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अपरि-चित थे फिर भी आर्यसमाज के प्रभाव वश अन्धविश्वासों के विरुद्ध द्विवेदी युग ने बहुत अधिक लिखा है।

द्विवेदीयुग में आख्यान, प्रकृति और प्रार्थनाओं के अतिरिक्त विषय वैविध्य की दृष्टि से सुन्दर नीतिकाव्य या उपदेशात्मक काव्य की सृष्टि की है, इस शीर्षक में नाना सामयिक विषयों पर रचनाएँ प्रस्तुत की गई हैं। यह आश्चर्य का विषय है कि संस्कृत-साहित्य में उपदेशपरक काव्य की तो इतनी प्रशंसा होती है, सूक्तिकाव्य का भी वहाँ बड़ा आदर है परन्तु खड़ी बोली के प्रारम्भ में भोलानाथ तिवारी के शोधग्रन्थ के पूर्व हिन्दी के विचारक द्विवेदीयुग के नीतिकाव्य को अत्यधिक उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे।

असलियत यह है कि नीतिकाव्य का अपना एक अलग क्षेत्र ही बन गया है, और उसके प्रभाव का विश्लेषण जब किया जाएगा, तब कोरे सौंदर्य-

वादियों को यह जानकर निराशा होगी कि जनमन और जनकण्ठ पर नीति-काव्य का प्रभाव बहुत अधिक है। काव्य का जनता की दृष्टि से अध्ययन करने वाले विचारक 'नीतिकाव्य' की अवहेलना नहीं कर सकते। जनमनपरिवर्त्तन के लिए नीतिकाव्य एक अचूक अस्त्र है। अतएव विषय-वैविध्य और काव्यरूप दोनों दृष्टियों से द्विवेदीयुग के नीति या उपदेशपरक काव्य का अपना अलग महत्त्व है। गुप्त जी ने कविता कामिनी का उद्देश्य ही "शिक्षा" को माना है[1] इस शिक्षाप्रधान काव्य का जितना और जैसा प्रभाव द्विवेदीयुग में हुआ, उतना प्रभाव छायावाद में अत्यधिक सुन्दर रचनाओं का नहीं हुआ, विशेषत: सर्वसाधारण पर। गुप्त जी, हरिऔध, शंकर आदि की रचनाएँ आज भी जन-कण्ठ का हार बनी हुई मिलती हैं, यह गौरव अत्यधिक ऊँचे गगनचुम्बी कवियों को भी नहीं मिला।

इस उपदेशपरक काव्य में कवियों की मानव प्रेम और देशप्रेम के प्रति इतनी कातरता और करुणा व्यक्त हुई है कि इन कवियों की रचनाओं में बिना किसी उच्च काव्यकला के स्वयं ही मार्मिकता आ गई है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सर्वत्र उपदेश मात्र उपदेश के रूप में ही स्वीकृत होना चाहिए। भावना की वास्तविकता काव्य का मर्म है, वह उपदेशों के बीच-बीच अपनी ओर ध्यान ही नहीं खीचती हमें, क्षण भर के लिए अश्रु पूर्ण कर देने की भी क्षमता रखती है। जब बालमुकुन्द गुप्त कहते हैं कि हम में हाथ की रोटी रखने की शक्ति नहीं रह गई तब आँखों में आँसू भर आते हैं।[2]

१. आनन्दमयी शिक्षिका है सिद्ध कविताकामिनी।
केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।

—(भारतभारती)

२. अपने बल हम हाथ की, रोटी सकत न राख।
नाथ बहुरि कैसे भरैं, मिथ्या बल करि साख।
कहाँ राज कहं पाट प्रभु, कहाँ मान सम्मान।
पेट हेत पायन परत, हरि तुम्हरी सन्तान।
जिनके कर सौं मरन लौं छुट्यो न कठिन कृपान।
तिनके सुत प्रभु पेट हित, भये दास दरबान।

—(बालमुकुन्द ग्रन्थावली)

नीतिकाव्य में एक गुण यह होता है कि पाठक से प्रत्यक्ष अपील करता है अतः जो प्रभाव इस काव्य का होता है, उसमें पाठक या श्रोता को किसी ओर सोचने के लिए नहीं जाना पड़ता। हमारे यहाँ काव्य को जो "कान्ता सम्मति" कहा गया है, उसका कारण यह है कि काव्य कहने का मधुर ढंग अपनाता है और इस तरह से पाठक या श्रोता के मन का परिवर्त्तन कर देता है कि उसका ध्यान इस तथ्य की ओर जा ही नहीं पाता कि उसे बदलने की कोशिश की जा रही है। किन्तु यह स्मरणीय है कि अत्यधिक जागरण के युग में पाठक और श्रोताओं के सम्मुख कान्ता की तरह मधुरमार्ग अपनाने का अवकाश नहीं था। ऐसा लगता है, जैसे कवि किसी बड़ी दुर्घटना के घटित होने पर सबको ज़ोर-ज़ोर से बुला-बुला कर घटनास्थल पर खड़ा हुआ कह रहा हो, "भाई ! देखो यह देश, यह समाज कितना पतित और अवनत हो गया है और उधर देखो, इसकी दुर्दशा के कारण वे विदेशी लोग हैं।" यह "डायरेक्टनेस" ही द्विवेदी युग के काव्य की विशेषता है। यह भी स्मरणीय है कि इस कार्य के लिए कवियों ने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में बहुत लिखा है। बालमुकुन्द गुप्त की कविताओं को पढ़ने से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि जब द्विवेदी जी खड़ी बोली का संस्कार कर रहे थे, उनमें नूतन भावनाएँ भर रहे थे, तब बालमुकुन्द गुप्त ब्रजभाषा में ऐसे काव्य को जन्म दे रहे थे जो ऊपर से देखने में तो पारम्परिक लगता है किन्तु ध्यान से देखने पर ब्रजभाषा की "आत्मा" ही सर्वथा परिवर्त्तित रूप में प्रस्तुत हो रही थी।

भारतेन्दुयुग में भक्ति और शृंगार की सांकेतिक सामायिकता की ओर हमने पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है किन्तु द्विवेदीयुग में ब्रजभाषा के काव्य में बहुत अधिक गुणात्मक परिवर्त्तन दिखाई पड़ता है परन्तु दुख यह है कि महान कलाकारों में यह गुणात्मक परिवर्तन कम हुआ है, उदाहरणतः रत्नाकर और कविरत्न में राजनैतिक दृष्टि से जागरूकता का अभाव ही शायद इसका कारण है। जो हो द्विवेदी युग में बालमुकुन्द गुप्त, और वियोगीहरि ऐसे कवि थे जिनमें सर्वाधिक रूप से गुणात्मक परिवर्तन दिखाई पड़ता है। यह भी स्मरणीय है कि इनमें खड़ीबोली के इतिवृत्तात्मक और उपदेशपरक काव्य से बहुत अधिक मार्मिकता है। इसका कारण यह है कि खड़ी बोली का माध्यम तब पिछड़ा हुआ था, जब कि ब्रज भाषा में कवियों को कोई कठिनाई नहीं होती थी।

उपदेश में एक आतंक होता है जब कि काव्य में अचेतन रूप से, अहिंसक रूप से अर्थात् अधिक मानवीय रूप से हृदय परिवर्तन की शक्ति होती

है। द्विवेदीयुग में जो उपदेश मिलता है, उसमें बहुत सा ऐसा भी है कि उसमें आतंक नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि कवि प्रदर्शनप्रिय नहीं थे, वे "मार्मिक अपील" के रूप में लिखते थे। गोस्वामी तुलसीदास जिस तरह राम के दरबार में "विनय पत्रिका" भेजते हैं, उसी प्रकार द्विवेदी युग के कवि "जनता के दरबार" में अपनी विनय भेजते हैं, जो दीनता, कातरता, आर्त्तता, अहंकारहीनता और अपनत्त्व तुलसीदास की विनय पत्रिका में मिलता है, एक दूसरे मोड़ पर वैसा ही चित्त इन द्विवेदीयुग के कवियों का था अतः यह नए युग का उपदेशपरक काव्य मध्ययुग के नीतिकाव्य से भी "गुणात्मक परिवर्तन" प्रकट करता है। यह तथ्य न समझने के कारण अभी तक यह प्रयत्न ही नहीं हुआ कि सुविधाजनक "फार्मूलों" को छोड़ कर विचारक धैर्य से उन अंशों को अलग करें जिनमें नए ढंग के प्रेरणात्मक काव्यांशों को चुन कर अलग कर लिया जाय। यहाँ कतिपय उदाहरण दिए जा रहे हैं, इस पद्धति पर अलग से "शोध कार्य" होना चाहिए। आर्त्तता, ओज और आलोचना से युक्त काव्य के कतिपय उदाहरण ही पर्याप्त हैं :—

बालमुकुन्द गुप्त—हमरी जाति न वर्न है, नहीं अर्थ नहिं काम।
कहा दुरावैं आप से, हमरी जाति गुलाम।
बहु दिन बीते राम प्रभु, खोये अपने देस।
खोवत हैं अध बैठकै, भाखा, भोजन, भेस।
नहीं गाँव में झूपड़ो, नहिं जंगल में खेत।
घर ही बैठें हम कियो, अपनो कंचन रेत।
सबै कहैं तुम हीन हो, हमहुँ कहैं हम हीन।
धक्का देत दिनान कौं, मन मलीन तन छीन।

× × × ×

हाय समय ने एक साथ सब बात मिटाई।
एक चिन्ह भी उसका देता नहिं दिखलाई।
धरती के जी में छाई ऐसी निठुराई।
उपजीविका किसानों की सब भाँति घटाई।
हे हे दुखियो डूबी हो किस दुखसागर में।
अब उन बूंदों भेंट कहा है भारत भर में।

वियोगी हरि— जा जग की रोटीन तें, सूझतु अलख अनंत।
मिथ्या ताकों कहत ए निलज निठल्ले संत।

रामचन्द्र शुक्ल—पर अजब इस लोक का व्यवहार है
न्याय है संसार से जाता रहा।
श्वान छूना भी जिन्हें स्वीकार है
है उन्हें हम अभागों से घृणा[१]

नाथूराम शर्मा शंकर—जाति पाँति के धर्म जाल में उलझे पड़े गँवार।
मैं इन सबको सुलझा दूंगा, करके एकाकार[२]

मैथिलीशरण गुप्त—जो स्वामिसम रक्षक रहे थे, आअ भक्षक बन रहे।
जो हार थे मंदार के वे आज तक्षक बन रहे।

बुलारेलाल भार्गव—कवि कोविद पालत हुते, जे नरपाल सुजान।
पालत आज खुशामदी, मोटर गनिका स्वान।

महेशचन्द्र प्रसाद—सरकारी सेवक औ स्नेह स्वदेश।
कपफन ढक्यो मृतक जनु लख नभभेस।
धिक चाकर जहँ जननी चरचा पाप।
देवदास दुर बादक जहँ नित जाप।

× × ×

पुलिस पाप पै ही इक ठहरो राज
पुलिस आड़ पर ही अवलम्बित साज।
चुटकी भर सेन्दुर की नारि निबाहु।
भर माथा को तुम्हरो। करह न काहु[3]

अर्थात् नारी तो अपने स्वामी के चुटकी भर सिन्दूर को इतना निभाती है तो पुलिस के सिर पर तो स्वामी द्वारा दी गई माथे की लाल-पगड़ी है फिर भला वे क्यों न निभावें !

वियोगी हरि—भीख सरिस स्वाधीनता कन कन जाचत सोधि।
अरे मसक की पाँखुरिन पाट्यौ कौन पयोधि।

---

१. अछूतों की आह।
२. हिन्दी में नीतिकाव्य, पृ० ९५
३. वही।

रामचरित उपाध्याय—मान, लज्जा कोप ये रहते न उसके पास हैं।
हैं पड़े जिसके गले में दासता के पाश हैं।
बस इसी से शव बराबर भृत्य को कहते सभी।
भस्म में क्या भस्म कारक शौर्य होता है कभी।[२]

नाथूराम शंकर—जो भूखे भर पेट न पाते, दलिया दाल पिसान।
दारुण शीतकाल वे काटें, बिन कन्था-परिधान।
कटते हैं वे पशु बेचारे, हा, बिन जंगल दान।
पेट बने आमिष खोओं के, जिनके कबरस्तान।
सारी प्रजाझुण्ड चिड़ियों का चाकर-चक्र शचान।
कौन करा दे इन दोनों का मेल मिटा कर म्लान।
ओडायर डायर ने जाना, जिसको दमन स्थान।
तारे शोकसिन्धु से हमको, वही बाग जलयान।

काव्य कला की दृष्टि से इस प्रकार के काव्य में अभिव्यंजना कुशलता की कमी है परन्तु हमें जो प्रिय लगता है, वह है कवियों का निश्छल उद्‌गार—कवियों की दृष्टि अपने देश और समाज के विषयों पर किस प्रकार केन्द्रित होकर रह गई है—यह देखते ही बनता है।

द्विवेदीयुग में भारतेन्दु युग की सजीवता समाप्त नहीं हो सकी। देश की दुर्दशा पर अश्रु प्रवाह करते हुए ये कवि साथ ही जनता का मनोरंजन करने के लिए भी लिखते थे। काव्य का एक उद्देश्य 'मनोरंजन' भी है, द्विवेदीयुग के कवि इस तथ्य को नहीं भूले। द्विवेदीयुग का मनोरंजनात्मक काव्य भी सामयिकता से संन्निविष्ट दिखाई पड़ता है। आपत्ति और चतुर्मुखी अवनति के समय निराशा से बचने का एकमात्र उपाय प्रत्येक असफलता और आधिव्याधि को विनोद का विषय बना लेना है। कवि न केवल अपने देश और समाज पर हँसता है अपितु विदेशियों पर भी हँसता है। हास्यरस और व्यंग्य द्विवेदीयुग के राष्ट्रीय और सामाजिक काव्य की एक प्रबल धारा है, करुणा की लहरों को यह धारा सीमा में रखती है।

इसके सिवा द्विवेदीयुग के कवि काव्य को एक उच्च कोटि का मनोरंजन भी समझते थे। वे समाज की रुचि को परिष्कृत करने के लिए काव्य का प्रचार आवश्यक समझते थे। "काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्" का मर्म द्विवेदीयुग ने भली भाँति समझा था। काव्य, शास्त्र और विनोद तीनों

---

१. हिन्दी में नीतिकाव्य, पृ० ६५।

एक ही व्यक्तित्व के तीन पक्षों की तरह एक और अभिन्न रूप में द्विवेदी-युगीन काव्य में मिलते हैं। नाना प्रकार की अन्योक्तियों, मुकरियों और दूसरे काव्य रूपों के द्वारा द्विवेदी युगीन कवि अनपेक्षित तत्वों की असंगतियाँ प्रदर्शित करता है, असंगतियों के उद्‌घाटन में इस "परिहास काव्य" का अत्यधिक महत्वपूर्ण योग है—द्विवेदीयुग के बाद कवियों ने कुछ ऐसी उच्च चिन्तनमुद्रा धारण की कि प्रारम्भिक युग की सजीवता गद्य और पद्य दोनों में लुप्त होती गई। यह सोचने की चीज है कि सन् १९२० के बाद देश को कुछ सुविधाएँ मिलती ही गईं, आन्दोलन भी उग्र होता गया, मुक्ति का आगमन भी स्पष्ट होता गया किन्तु प्रारम्भिक अनिश्चितता, आशंका और सगठनहीन स्थिति में भी उक्त कवियों ने जो महाप्राणता दिखाई, वह अद्‌भुत है, निराशावादियों के लिए द्विवेदीयुग इस बात में भी आदर्श है।

द्विवेदीयुग के द्वारा वही "मानवमूल्य" स्वीकृत हुए थे जो हमारे भारतीय जीवन के आधार रहे हैं। मूल्यों की स्पष्टता के विषय में द्विवेदीयुग अब भी आदर्श हो सकता है। द्विवेदी युग यह मानकर चला था कि अतीत की तरह प्रयत्न द्वारा अधिकाधिक समाज के अधिकाधिक आनन्द को प्राप्त किया जा सकता है। "उपयोगितावादी" विचारधारा से स्वयं द्विवेदी जी प्रभावित थे। "उपयोगितावाद" के दार्शनिक पक्ष में चाहे जितने दोष हों किन्तु इस विचारधारा ने तात्कालिक कवियों और विचारकों को जान या अनजान में बहुत प्रभावित किया था। अतः आधार मज़बूत होने के कारण एक निर्भ्रान्त मानसिक स्थिति और सजग निष्ठा का उदय हुआ, विनोदवृत्ति और कहीं-कहीं हलकी "चुहलबाज़ी" को देखकर जो प्रारम्भिक कवियों को "हलका" कहना, चाहते हैं वे यह भूल जाते हैं, कि यह हलकापन अपने नीचे कितनी गम्भीरता, निष्ठा और लक्ष्य के प्रति आवेश को छिपाए हुए हैं। बच्चों की तरह किलकने वाले किसी तत्वज्ञानी को देखकर क्या यह कहा जा सकता है कि वह "हलका" है ? अतः द्विवेदीयुग की विनोदवृत्ति एक ओर तो क्षण-क्षण चिन्तादाह से बचने का उपाय है और दूसरी ओर वह समाज की असंगतियों के उद्घाटन का प्रयत्न है। कवि जिन लोगों की आलोचना करना चाहते थे, उनमें विदेशियों को छोड़कर सब "अपने" ही थे अतः "भर्त्सनावाद" सदैव सफल नहीं हो सकता था। उद्‌बोधनात्मकता अपने में नीरस होती है, यह भी ये कवि समझते थे अतः हृदयपरिवर्त्तन के लिए वे तरह-तरह के विनोद-युक्त प्रयोग करते थे, द्विवेदी युग का यह पक्ष उसके 'उपदेशवाद' के दोष को कम करता है किन्तु इधर

लेखकों का उतना ध्यान नहीं गया। भ्रम यह है कि द्विवेदीयुगीन कवि स्वप्न में भी उपदेश ही देता होगा।

नाथूराम शंकर की तोते, एरण्ड वन विडाल व्याघ्र, पंचपुकार, तागड़ दिन्नानागर बेल, टेसूराम, भारत का भाट, पितरपचीसी, रामरुपैया, रेलवे देवी, अफीमी की आफत, खिलाड़ी खटमल, अनौखे उल्लू, आलसी, नोट पोट, मुनव्वर मुंशी आदि रचनाओं को पढ़िए, भारतेन्दु युग पूरी सजीवता से सुरक्षित मिलेगा। पं० प्रतापनारायण मिश्र जैसे पुनः उपस्थित हो गए हों।[1]

रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' की "मृत्युंजय", कन्हैयालाल पोद्दार की 'अन्योक्ति दशक', अन्योक्ति पंचक, मैथिलीशरण गुप्त, गिरिधर शर्मा, लक्ष्मीधर वाजपेयी, महेन्द्रलाल गर्ग, आदि कवियों ने संस्कृत और हिन्दी की परम्परा के अनुसार

---

१. (अ) नौकरशाही—

ओ नौकरशाही, ऊल, ऊल उर छील।
बैठी वासुकि के मस्तक पै, ठोक अकड़ की कील।
डाले पोच प्रजा के मुंह में पर न प्यार की खील।
"जा हुजूर वादी" जय बोलें होकर गौरवशील।
जाल अदालत का पूरा है, इतना तूल-तवील।
जिसमें झगड़ालू झूठों का, उलझा झुण्ड झड़ील।

(ब) तागड़दिन्ना—

शंकर स्वामी काट दे, मोह जाल भ्रम फन्द।
टेसू से कर दे मुझे, सेन्ट ढकफुलानन्द।

(स) पंचपुकार—

सुन सुन मेरे शब्द, बोलियाँ, चोंक पड़ें चण्डूल।
पर, जो हिन्दू कथन करेगा, हिन्दी के प्रतिकूल।
उसे धमका धिक्कारूंगा
किसी से कभी न हारूंगा

इंग्लिश डाग नागरी गेंडा, उरदू दुम्बा तीन।
निकलें पेपर, पत्र, रिसाले, मेरें रहें अधीन।
केहरी सा धधकारूँगा।
किसी से कभी न हारूंगा

अनेक अन्योक्तियाँ कही हैं। गुप्त जी की "अन्योक्ति पुष्पावली" में मनोरंजक अन्योक्तियाँ हैं। गिरिधर शर्मा ने "पश्चिम बुद्धि कलंकी" पर[1] तथा गुप्त जी की "खजूर"[2] शीर्षक अन्योक्तियों से यह तो स्पष्ट ही है कि ये कवि मज़ाक करते समय "सुरुचि और संदेश" का बराबर ध्यान रखते थे।

सूर्य ग्रहण (शंकर) उल्लू, रेल की सिग्नल, दावात (गौरचरण गोस्वामी), मैना, तोता, बिल्ली, बगला, अलि (सैयद अमीर अली मीर) आदि अन्योक्तियाँ उस युग में बहुत जनप्रिय हुईं।

डा० सुधीन्द्र के अनुसार 'अन्योक्तिधारा' सूक्तियों में विलीन हो गई, द्विवेदीयुग की विनोद वृत्ति सूक्तियों में भी झलकती है। उन्होंने कुछ मनोरंजक उदाहरण भी दिए हैं।[3] बाबू बालमुकुन्द गुप्त तो भारतेन्दु की विनोद-ज्योति के उत्तराधिकारी थे ही। उन्होंने भैंस का मरसिया, व्याकरणाचार्य, गुरु के पिट्ठू, गुरु जी का हाल, गुरुघंटाल का स्वप्न, मिण्टो मार्ली, टेसू, पोलिटिकल होली, हँसी-दिल्लगी, कर्जनाना, ताऊ और हाऊ, मल्लयुद्ध, उर्दू को उत्तर,

---

१. रे दोषाकर पश्चिम बुद्धि, कैसे होगी तेरी शुद्धि।
द्विजगरण को कोने बैठाया, जड़ दिवान्ध को पास बुलाया—

२. हुए ऊँचे तो क्या यदि सुमन छायादिक नहीं।
कहो कैसे फैले फिर यश तुम्हारा सब कहीं।
सुनो हे खर्जूर! स्फुट मत नहीं है यह नया—
'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।'

३. कहा वाण ने—काम दूर तक नहीं करूंगा।
बोला चाप, परन्तु सहायक मैं जब हूंगा।
प्रत्यंचा ने कहा—कहो सब अपनी-अपनी।
कर बोला है मुझे मौन माला ही जपनी।
—गुप्त जी

तथा

मन! रमा रमणो रमणीयता
मिल गई यदि ये विधियोग में।
पर जिसे न मिली कवितासुधा—
रसिकता-सिकता सम है उसे—
रामचरित उपा०

आजकल का सुख, जोगीड़ा, जोरूदास, पादरी वचनम्, कलियुग के हनुमान, तकरीर मुँह जवानी, सभ्य बीबी की चिट्ठी,[1] भैंस का स्वर्ग खल और साधु, रेलगाड़ी, पंजाब में लायल्टी आदि अनेक रचनाएँ प्रस्तुत की हैं।

बालमुकन्द गुप्त जी की हास्यपरक रचनाओं में "उर्दू को उत्तर" शीर्षक रचना बड़ी जोरदार है।[2] काश ! बालमुकुन्द गुप्त की यह परम्परा आगे बराबर चलती रहती ! जो राजनैतिक और सामाजिक जागरूकता इन रचनाओं में है, वह आगे की "गगन-उड्डीयमानता" के उन्माद में लुप्त होती हुई प्रतीत होती है, हाँ सौभाग्यवश प्रगतिवादी कवियों और हास्य रस के कवियों में यह परम्परा पुनः मुखरित हुई है।

---

१. कहाँ है टेनिस घर दिखलाव, कहाँ मछली का बना तलाव।
बात वह अगली सब सटकी, बहू में जब थी घूँघट की।
मजा अब सुख का पाया है, स्वाद शिक्षा का आया है।
सदा सुन्दर तितली बनकर, उड़ूँ फूलों-फूलों पर।
सभा में परीजान बनकर, डटूँगी कुरसी के ऊपर।

२. न बीबी बहुत जी में घबराइए, सम्हलिए जरा होश में आइए।
करो और कलियों का पाजामा चुस्त, वह धानी दुपट्टा औ नकसक दुरुस्त।
वह दाँतों में मिस्सी घड़ी पर घड़ी, रहे आँख आईने ही से लड़ी।
मगर इतना जी में रखो अपना ध्यान, यह बाजारी पोशाक है मेरी जान।
जना था तुम्हें मा ने बाजार में, पली शाहआलम के दरबार में।
मिली तुमको बाजारी पोशाक भी, वह थी दोगले काट की फारसी।
मेरी गुफ्तगू और हिन्दी के हर्फ, वह शोला फिशानी यह दरयाम बर्फ।
इस अन्दाज पे दिल हुआ लोट पोट, दुलाई में अतलस के गाढ़े की गोट।
तुम आई हो अंगरेजी दरबार में, तो अब छोड़िए शोक बाजार का।
यहाँ आई हो, आँख नीची करो, लटकने चटकने पे अब मत मरो।
न कलियों की अब यों दिखाओ बहार, कभी यां पे चलिये न सीना उभार।
यह अब काम कोठे पे अपने करो, यहाँ तो अदब ही को सिर पर धरो।
यह सरकार ने दी हैं जो नागरी, इसे तुम न समझो निरी घाघरी।
समझ लो यह अदब की यह पोशाक है, दया और इज्जत की यह नाक है।
बुराई न इसकी करो दूबदू, बढ़ायेगी हरदम यही आबरू।
करो शुक्रिया जी से सरकार का, कि उसने सिखाई है तुमको हया।

—बालमुकुन्द ग्रन्थावली

उर्दू—बालमुकुन्द गुप्त ने हिन्दी भाषा को शिष्टता, प्रतिष्ठा और भारतीय परम्परा और नूतन जागरण का माध्यम माना है और उर्दू की "बाज़ारी इश्क" वाली परम्परा का मज़ाक बनाया है किन्तु यह मानना होगा कि कतिपय मुस्लिम नेताओं और "उर्दू ए मुअल्ला" के हामियों तथा अपने को जन्मजात हुक्मराँ मानने बाले मुसलमानों और दरवारबाजों ने उर्दू में नूतन 'जागरण' को रोका परन्तु उर्दू में भी बहुत से देशभक्त कवियों ने भारतेन्दु और द्विवेदीयुग के कवियों की ही तरह नूतन भावनाओं को व्यक्त किया। "शुरू के लोग (१९वी शताब्दी के कवि) सुधार करना चाहते थे, क्रान्ति नहीं, वे अतीत से पूरी तरह कटे हुए नहीं थे, बल्कि उन्होंने अपने उच्चकोटि के साहित्यकारों को नए ढंग से प्रस्तुत किया, उनमें नए अर्थ खोजे। उनका वास्तविक उद्देश्य उर्दू में हार्दिकता और उत्साह का भाव पैदा करना था, जिससे कि वह जीवन के सत्य के अधिकाधिक निकट आ सके। वे पश्चिम के अतिरंजित अनुकरण से बचते रहे तथा नकली अप्रमाणिकता, लम्बे चौड़े कल्पनाचित्र और शब्द-बाहुल्य की निन्दा करते रहे।"[१]

१८७४ ई० में उर्दू में नए ढंग के मुशायरे शुरू हुए, उनमें नए ढंग की नज्में पढ़ी जाती थीं। हाली ने सर सैयद अहमदखाँ की प्रेरणा पर "मुसद्दस" लिखा। 'हाली' और आज़ाद ने उर्दू का पुराना रंग बदल दिया। कहना न होगा कि 'मुसद्दस' से प्रेरणा लेकर गुप्त जी ने 'भारतभारती' की रचना की थी। हाली और इक़बाल की रचनाओं ने उर्दू में सुधारों की आकांक्षा जगाई। फारूकी साहब का यह कहना दुरुस्त है कि उर्दू में इस नए जागरण के बीज कुतुबशाह (मृत्यु १६११) मीर (मृत्यु १८१०) सौदा (मृत्यु १७८० ई०) मीर हसन (मृत्यु १७८६ ई०) अनीस (मृत्यु १८७४) और नजीर अकबरावादी (मृत्यु १८३० ई०) की रचनाओं में मिलते हैं। गालिब के विषय में कहा गया है कि यदि वह न होते तो शायद "हाली" (मृत्यु १९१४ ई०) और इकबाल (मृत्यु १९३८) न होते।

उर्दू में नए युग के काव्य में हाली, इस्मायल (१९१७) सरूर (मृत्यु १९१० ई०) के अतिरिक्त हास्यरसाचार्य "अकबर" की रचनाएँ द्विवेदीयुग में ही आती हैं। अकबर (मृत्यु १९२१) द्विवेदीयुग के सर्वश्रेष्ठ हास्यरस के कवि हैं। भारतेन्दु के "उर्दू का स्यापा" प्रेमधन का "उर्दू का स्यापा" तथा बाबू बालमुकुन्द गुप्त के "उर्दू को उत्तर" में उर्दू के इस जाग्रत

---

१. आज का भारतीय साहित्य—फारूकी का लेख

स्वर का अनादर नहीं था। यह तो मानना ही होगा कि हाली और अकबर जैसे कतिपय कवियों के अतिरिक्त उर्दू का परम्परागत "आशिक मिज़ाजी" वाला रूप बराबर चल रहा था। इसके सिवा उर्दू के आन्दोलनकर्त्ता भारतीय परम्पराओं की उर्दू में चर्चा करना पाप समझते आरहे थे अतः हिन्दी भाषी जनता उन्हें 'विदेशी' रूप में देखती थी। यह देखने की बात है कि हिन्दी और उर्दू के सरल रूपों में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि भाषा एक ही है किन्तु 'परिष्कृत' या अलंकृत रूप सर्वथा भिन्न हैं। 'आत्मा' की दृष्टि से भी अलकृत रूप भिन्न हो जाते हैं और व्याकरण की दृष्टि से भी। अतः समझदार लोग हिन्दी उर्दू को एक ही भाषा की दो शैलियाँ मानते थे और दोनों में लिखते-पढ़ते थे। किन्तु सरसैयद अहमदखाँ के साम्प्रदायिक प्रयत्नों से उसकी प्रतिक्रियास्वरूप हिन्दी वालों की भी साम्प्रदायिकता जगी। सरसैयद ने अंगरेजी राज्य के साथ तादात्म्य कर लिया। उधर हिन्दी में एक भी ऐसा लेखक नहीं मिलता जिसने अँगरेज़ों के साथ तादात्म्य किया हो। अतः जनता उर्दू को और भी घृणा की दृष्टि से देखने लगी। हाली के 'मुसद्दस' और बाद में इक़बाल की नीत्शे से प्रभावित फासिस्ट रचनाओं से सम्प्रदायवाद उर्दू में वढ़ता ही गया, इन कवियों की साम्प्रदायिक व्याख्याओं ने भी अग्नि में घृत का काम किया।

इस साम्प्रदायिकता के विरुद्ध एक जनवादी धारा भी उर्दू में प्रारम्भ से ही दिखाई पड़ती है। 'हाली' केवल यह चाहते थे कि मुस्लिम समाज उन्नतिशील हो, यह बात अपने में हरगिज़ साम्प्रदायिक नहीं थी, उसी तरह, जिस तरह भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमधन, बालमुकुन्दगुप्त तथा द्विवेदी जी "हिन्दी, हिन्दू" की उन्नति चाहते थे। हाली और इक़बाल में बहुत कुछ ऐसा है जो मानवीय है, असाम्प्रदायिक है और सभी सहृदयों की मानसिक उन्नति के लिए प्रेरक है। जनवादी तत्त्वों ने इन्हीं 'प्रवृत्तियों' को सामने रखा। कविता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह हो जाता है कि उसे हम किस रूप में ग्रहण करते हैं, उसकी व्याख्या कैसे करते हैं, प्रायः देखा गया है कि व्याख्याओं द्वारा कवि का मूल स्वर दब जाता है, उसके वास्तविक मंतव्य के स्थान पर व्याख्याकार और आलोचक अपने दृष्टिकोण को आरोपित कर देते हैं और इसी कारण हाली और इक़बाल जन विरोधी साम्प्रदायिक रूप में प्रस्तुत कर दिए जाते हैं अतः जनवादी और एकतासमर्थक राष्ट्रीय तत्त्वों ने उर्दू में नए काव्य के उस रूप को सम्मुख रखा, जिससे उर्दू केवल मुसलमानों की आशा आकांक्षाओं की भाषा न बन कर सभी के मानस की प्रतिच्छवि बन जाय।

यह सौभाग्य का विषय है कि हाली और उनसे भी अधिक "इकबाल" से साम्प्रदायिकों ने साम्प्रदायिकता का "हलाहल" अधिक निचोड़ा है किन्तु "अकबर" पर उनकी अधिक क्रूर दृष्टि नहीं पड़ी। "अकबर" अपने नाम की सार्थकता पूर्णतः प्रकट करते हैं। हिन्दी वालों के हाली और अकबर परमप्रिय कवि रहे हैं बल्कि अकबर को हाली से भी अधिक प्यार मिला है क्योंकि उनमें सर्वसाधारण के लिए, भारतवासीमात्र के लिए सबसे अधिक प्रेरणाएँ मिलती हैं। अपने पुराने दृष्टिकोण के कारण वह भारतवासियों को और भी प्रिय लगे क्योंकि नई शिक्षा के जोश में जो हानियाँ हो रही थीं, अकबर ने उस ओर भी ध्यान आकर्षित किया था।

यह एक भयंकर अपराध है कि हिन्दी के छात्रों को हाली और अकबर जैसे कवियों की रचनाओं से वंचित किया जाता है। पाठ्यपुस्तकों में मुसलमानों की राष्ट्रभक्ति और नूतन जागरण से परिचय के बिना ही जो देशभक्ति का उपदेश देते हैं वे पाखण्डी लोग हैं, और मुसलमानों से भी अधिक साम्प्रदायिक हैं। भारतेन्दु व द्विवेदी युग में उर्दू भाषा में भारतीयता की एक शानदार परम्परा कायम होती हुई दिखाई पड़ती है।

अकबर द्विवेदी युग तक के हिन्दी उर्दू कवियों में हास्यरस के सबसे बड़े कवि हैं।

उर्दू और राष्ट्रीयता—हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन द्विवेदी युग में तीव्रता पकड़ता है। १८५७ ई० में क्रान्ति के डंके की चोट से जो हमारा काव्य और साहित्य जगा, वह द्विवेदी युग में आकर अपनी जागृति के स्वर से आकाश को प्रतिध्वनित करने लगता है। उर्दू में हाली इस जागृति के प्रथम और प्रमुख कवि थे।[1] क्रान्ति के पूर्व आप पुरानी 'रौ' में बहते थे किन्तु क्रान्ति के बाद वतन की मुहब्बत के गीत गाने लगे। हाली ग़ालिब के शागिर्द रह चुके थे अतः उनमें दर्द बहुत है, यह दर्द "राष्ट्रीय करुणा" है।[2] हाली ने लिखा है

---

१. हाली—जन्म १८३८ ई०। रचनाएं—"मुसद्दस" मुनजाते बेवा, "बरखास्त" आदि।

२. **बिलाती है सबा किसको चमन याद**
न मैं बुलबूल न घर मेरा चमन है
रहे लाहौर में आकर सो जाने
यही दुनियां है जो दारुलमेहन है।

—"वतन के गीत"—शाह नसीर फ़रीदी

कि उनका वतन से इतना प्रेम है, कि वह उन्हें जन्नत में भी आराम नहीं मिलने देगा।[१]

जिस तरह द्विवेदीयुग के कवियों की सबसे बड़ी विशेषता देश के प्रति उनकी करुणा है, उसी प्रकार हाली ने अपनी वाणी में इस मुल्क को बड़ी ही ममता और करणापूर्ण दृष्टि से देखा है। गालिब की ही तरह वह इस देश की बरबादी का चित्रण करते हैं, गुल, बुलबुल के चोचलों को छोड़कर वह इस देश को बनाने के लिए उत्साह भी दिखलाते हैं।[२]

जिस तरह भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, मैथिलीशरण गुप्त और द्विवेदी जी व्यर्थ के वितंडावाद से घृणा करते थे और इसे देशव्यापी फूट का ही एक रूप मानते थे, उसी तरह भारतेन्दु-द्विवेदीयुग में हाली ने आपसी फूट का विरोध किया है। राष्ट्रीयता की रचना में मुख्य बाधा आपसी फूट ही रही है। हाली ने स्पष्ट कहा है कि यदि हिन्द में इत्तफ़ाक होता तो हम विदेशियों से ठोकरें क्यों खाते।[३]

यह आश्चर्य का विषय है कि हाली जैसे शायर की भी साम्प्रदयिक व्याख्या की जाती है। हालीं को इस वतन से मुहब्बत थी, वह हिन्दू मुसलमानों में एकता चाहते थे, इसके अगणित प्रमाण हैं। मुसद्दस में यदि मुसलमानों को और भारतभारती में हिन्दुओं को उन्नति के लिए जगाया गया है तो उसका अर्थ साम्प्रदायिकता नहीं लेना चाहिए, अंततः अपनी अपनी "कम्युनिटी" को जगाने का अर्थ है एक-एक इकाई को दृढ़ करना, एक-एक श्रंखला को मजबूत करना और साथ ही उन इकाइयों में संगठन और एकता स्थापित करना

---

१. न मिलने देगा जन्नत में भी आराम
यह गर जजबये मेहरे वतन है।

२. ग़फ़लत की छा रही है कुछ कौम पर घटा सी।
बेफ़िक्रो बेखबर हैं, बूढ़े हैं या जवां हैं।
फ़ज्लों-कमाल उनके कुछ तुम में हों तो जानें।
गर ये नहीं तो बाबा वो सब कहानियां हैं।
खेतों को दे लो पानी अब बह रही है गंगा।
कुछ कर लो नौजवानों चढ़ती जवानियां हैं।

३. फाज़िलों को हैं फाज़िलों से एनाद—पंडितों में पड़े हुए हैं फसाद।
हिन्द इत्तेफ़ाक़ होता अगर, खाते ग़ैरों की ठोकरें क्यों कर।

हाली और मैथिलीशरण गुप्त ने यही किया था, किन्तु साम्प्रदायिकों ने इन इकाइयों की तैयारी को, परस्पर शत्रुता की बुनियाद समझा और दो राष्ट्रों के सिद्धान्त का प्रचार किया। दोनों ओर ग़लती है, दोनों ओर साम्प्रदायिकता है। यह कहना मूर्खता है कि उर्दू के इन कवियों में राष्ट्रीयता नहीं है। या यह कि इनमें मध्यकाल की तरह फारसी संस्कृति का प्रचार मिलता है या यह कि इनमें भारतीय उपमान नहीं मिलते। इक़बाल का "सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा" और "विस्मिल" की गज़लों के बिना राष्ट्रीय आन्दोलन की कल्पना ही नहीं की जा सकती—गाँव-गाँव में उर्दू के कवियों की वाणी ने हमें प्रेरित किया है, इन्हें हिन्दी से कैसे बाहर कर दिया जायगा? अवधी, ब्रजभाषा की कविताएँ जो आज तक हो रही है, उन्हें हिन्दी के खड़ीबोली के इतिहास से भले ही निकाल दिया जाय (यह भी भीषण अपराध होगा, मैं केवल तर्क की रक्षा के लिए कह रहा हूँ) किन्तु उर्दू की कविताओं को हिन्दी के इतिहास से नहीं निकाला जा सकता क्योंकि दोनों शैलियों का आधार एक है, अपने सरल रूप में एक ही प्रदेश की सारी जनता उन्हें समझ लेती है और यह सबसे बड़ा तर्क है। हिन्दी उर्दू के अपने अपने वकील हैं, बहुत से "स्वयं-नियुक्त" न्यायाधीश है, किन्तु सवाल जनता का है। जनता जब मुशायरा और कविसम्मेलन दोनों का आनन्द लेती है, तब दोनों प्रकार की कविताओं को जनता तो "अपना" मानती है, अब आप यदि जनद्रोही नहीं हैं, तो जनता द्वारा स्वीकृत रचनाओं को उस प्रदेश की भाषा के इतिहास के अंतर्गत क्यों नहीं रखते? यदि आधुनिक पाठ्यक्रम में रत्नाकर की ब्रजभाषा पढ़ाई जा सकती है तब हाली, आज़ाद की रचनाओं से प्रत्येक छात्र को परिचित करा देने से क्या हानि होगी? छायावाद के साथ-साथ यदि चकबस्त और इक़बाल की चुनी हुई कविताएँ हमारे छात्र पढ़ लेंगे तो राष्ट्रीयता के किस पक्ष पर चोट पड़ जाएगी? देवनागरी लिपि में जब हिन्दी को अन्य विभाषाओं का काव्य पढ़ाया जाता है तब उर्दू को तो हिन्दी की ही एक शैली के रूप में आप भी मानते हैं। यदि वह हिन्दी की ही एक शैली है, तब उससे हमारे छात्र अपरिचित रहें, ऐसा आप क्यों चाहते हैं? गिरेबाँ में मुँह डालिए, क्या वहाँ मुसलमानों के प्रति नफरत नहीं है? और क्या यह उचित है? बेचारे हाली कह गए कि वह इस देश की मिट्टी—एक मुट्ठीभर मिट्टी को बहिश्त से भी अधिक तरजीह देते हैं, द्विवेदी युग के देशप्रेम से तुलना कीजिए—

ऐ वतन! ऐ मेरे बहिश्ते बरीं।
क्या हुए तेरे आस्मानो जमीं।

जो कि रहते हैं तुझसे दूर सदा।
उनको क्या होगा जिन्दगी का मज़ा।
जिन्नों इंसान की हयात है तू
मुर्गों माही की कायनात है तू
है नबातात की नमू तुझसे
रुख भी तुझ बिन हरे नहीं होते।
सबको होता है तुझसे नशवोनुमा।
सबको भाती है तेरी आबोहवा।
तेरी इक मुश्त ख़ाक के बदले।
लूँ न हरगिज अगर बहिश्त मिले।
जान जब तक न हो बदन से जुदा।
कोई दुश्मन न हो वतन से जुदा।

× × ×

यह जो भारत भूमि हमारी।
जन्मभूमि हम सबकी प्यारी।
एक गेह सम विस्तृत सारी।
प्रजा कुटुम्ब तुल्य है सारी।
जन्मभूमि की बलिहारी है।
यह सुरपुर से भी प्यारी है।

—द्विवेदी जी

दोनों रचनाओं की 'आत्मा' एक है, यहाँ तक कि शब्दावली भी मिलती जुलती है—"तेरी इक मुश्त ख़ाक के बदले, लूँ न हरगिज अगर बहिश्त मिले" और "यह सुरपुर से भी प्यारी है" में क्या अन्तर है ? किन्तु हिन्दी के किसी इतिहास में उर्दू की इन रचनाओं को स्थान नहीं मिला। उर्दू के इतिहासों का भी यही हाल है। नागरीप्रचारिणी सभा से जो विराट इतिहास निकल रहे हैं, उनके लेखक ही यह कार्य कर दें तो साम्प्रदायिकता के कलंक से हम तो मुक्त हो जायँ। हाली ने दुनियाँ की एकता की ओर प्रगति को लक्ष्य किया था और साफ़-साफ़ कहा था कि आज मज़हबों के झगड़े नहीं चल सकते। जिस धार्मिक पक्षपात ने बाप बेटों को जुदा कर दिया, वह सब एकता में परिवर्त्तित होगा किन्तु हाली की इस दुष्टि के विरोधी सुनते कहाँ हैं ?

इख्तिलाफे दीनो मज़हब घुल रहा जिसमें ज़हर।
जिसने मुल्कों में दिए थे ख़ून के दरिया बहा।

दम बदम वह इख्तिलाफ आज बन रहा है इत्तेफाक़।
ज़हर में होने को है ऐसा असर तिरयाक़ का।
कर रहा है जोशे हमदर्दी की सूरत में ज़हूर।
वह तअस्सुब जिसने बापों से किये बेटे जुदा।

उर्दू को 'ब्रजभाषा' की बेटी मानने वाले मुहम्मद हुसैन आज़ाद हाली की तरह प्रसिद्ध राष्ट्रीय लेखक और कवि थे।[1] यद्यपि आज़ाद कवि रूप में उतने प्रसिद्ध नहीं किन्तु उन्होंने कविताएँ लिखी हैं, उनमें द्विवेदी युग की पूरी झलक मिलती है। आज़ाद ने एक कविता में अँगरेजों की देशभक्ति का नमूना पेश किया है कि जब "फ़ररुख़ सियर" बादशाह बीमार पड़े तो उनके अँगरेज डाक्टर ने अपने लिए कुछ न माँग कर अँगरेज व्यापारियो के जहाजों के उतरने लिए बन्दरगाह माँगा और इस तरह इस मुल्क में अपने इङ्गलैंड के राज्य की बुनियाद डाल दी।

दामन में एक अताए खुदादाद पड़ गई।
और सल्तनत की हिन्द में बुनियाद पड़ गई।[2]

भारतेन्दु की ही तरह आज़ाद, देश के आर्थिक शोषण की नीति से वाक़िफ़ थे, इसीलिए बादशाह 'फररुख़सियर' के इलाज के बहाने इस देश पर पैर जमाने की नीति पर उन्होंने हमला किया है। यह देश मुहम्मद हुसैन आज़ाद और अबुल कलाम आज़ाद—इन दो "आज़ादों" को कभी नही भूल सकता।

---

१. जन्म—१८३१ ई०, प्रथम "उर्दू अखबार" के सम्पादक, "आज़ाद", "अतालीक के पंजाब" के सम्पादक। १९१० ई० में मृत्यु।

२. दरयादिली तबीब की देखो मगर ज़रा।
डाली न उसने लालो-गोहर पर नज़र ज़रा।
हुब्बे वतन के जोश से बेताब होगया।
कुछ ऐसा मेरे वास्ते इनआये आम हो।
जिस से तमाम मेंरा वतन शादेकाम हो।
तो इस तरफ जो मेरें वतन के जहाज आएं।
और उनमें ताजिराने जिल-इमतेआज़आयें।
कुछ इनपै होवे राह न बीमो ज़वाल को।
आराम से उतारें यहाँ अपने माल को।

मौलवी वहीउद्दीन 'सलीम' हाली के शागिर्द थे, सलीम ने आर्यों के भारत में आगमन पर लिखी हुई कविता में गंगोत्तरी की शोभा, हिमालय की शान, बरगद के जंगल, काली घटाएँ, देशी पुष्प, पक्षी, इन्द्र की अप्सराएँ, आर्यों के यज्ञ आदि का बहुत ही "दिलकश" विवरण दिया है। "सोरुर"[१] ने सलीम की ही तरह इस देश की सुन्दरता का वर्णन किया है और रामनरेश त्रिपाठी की कविताओं की तरह प्रत्येक पंक्ति में देशभक्ति प्रतिध्वनित होरही है। 'सोरुर' हुब्बे वतन के पौधे लगाने के लिए लिखते थे, इन पौधों को "खूनेजिगर" से सींचकर 'अश्कों' से बेल बूटों की आबरू बढ़ाना चाहते थे।" "रिमझिम बरसते बादरों" में शाख़ों पर बैठकर तरह-तरह की रागिनियों में उन्होंने मुहब्बत के गीत गाने के लिए कहा है।[२]

अकबर ने लिखा है कि यह चमन यद्यपि मिटने लगा है, लेकिन हम इसके आशिक होगए हैं। उन्होंने इस चमन में बेकसों की फर्यादों की गूँज सुनी थी, मुर्दे भी कफ़न के मुहताज हैं, यह भी उन्होंने देखा था।[३] जिस तरह सनातनधर्मावलम्बी तथा उनसे अधिक प्रगतिशील बुद्धिमान देशवासी पश्चिम के अनुकरण—अंधानुकरण को देशहित के विरुद्ध समझते थे, उसी तरह अकबर ने अंधानुकृति पर मज़ेदार व्यंग्य किए हैं। हिन्दी का प्रारम्भिक आन्दोलन अंधानुकरण का विरोधी था, यह प्रत्येक कवि की रचनाओं से स्पष्ट है। देश में एक ऐसा शिक्षित वर्ग उत्पन्न हो रहा था जो प्रत्येक भारतीय वस्तु और तौर तरीक़े का मज़ाक बनाता था, इस प्रवृत्ति का हिन्दी-उर्दू कवियों ने खूब पर्दाफाश किया है और कवित्त्व भी उसमें मिलता है। इस नए शिक्षित वर्ग की स्वार्थपूर्ण देशविरोधी नीति पर अकबर ने लिखा है कि इस वर्ग को सिवा अपनी शान और स्वार्थ के अलावा किसी की चिन्ता नहीं है—

---

१. जन्म १८८३ ई०, मृत्यु १९१० ई०।

२. लिहज़ा जुदा-जुदा हो मुग़ाने नग़माख़ाँ का
एक-एक लफ्ज़ में हो, तासीरे बूये उल्फ़त।

३. मफ़तून होगये हम इस बेवफ़ा चमन के।
आँखों में ख़ाक डाली मिट्टी ने फूल बन के।
गूंजी बहुत हैं इसमें फर्याद बेकसों की।
इस शहर में भी मुर्दे मुहताज हैं कफ़न के।

पैदा हुए हैं हिन्द में इस अहद में जो आप।
खालिक का शुक्र कीजिए आराम कीजिए।
ये सामान जमा कीजिए, कोठी बनाइए।
मज़हब का नाम लीजिए, आमिल न हूजिए।
क़ौमी तरक्कियों के मशाग़िल भी हैं, जरूर।
इस मद में भी ज़रूर कोई काम कीजिए।

यानी नवीन शिक्षित वर्ग सेवा भी करता था तो उसमें एक क्षणिक मानसिक आवेशमात्र था, वह किसी गम्भीर निष्ठा का अंश नहीं था, यह 'बीमारी' देशसेवा और जनसेवा में आज भी दिखाई पड़ती है। अकबर ने देश की नाड़ी को भलीभाँति परखा था, उनके विचार पुराने थे परन्तु वे अंधानुकरणकर्त्ताओं में संतुलन लाने के लिए आवश्यक थे। देश की उन्नति ही उनका लक्ष्य था। हिन्दी में इतना सुखद और सुधारक हास्यररस अन्यत्र नहीं मिलता।

उपसंहार--हिन्दी-उर्दू के उक्त कवियों के प्रयत्नों से यह स्पष्ट है कि द्विवेदी युग का कवि अपने चारों ओर आँखें खोलकर देखता था। वह अपने अन्तरंग में सिमिट कर सर्वथा व्यक्तिगत मानसिक स्थितियों की व्यंजना को वाणी का धर्म नहीं समझता था। "जीवन की आलोचना" ही इस काव्य का मुख्य लक्षण है, अतः इतिवृत्तात्मकता, नैतिकता का कठोर आतंक, नीरसता, उपदेशवाद आदि शब्द उस परिस्थिति से असम्बद्ध करके ही प्रयुक्त किए जाते रहे हैं। जब अग्रचेता कवि को यह विश्वास हो कि उसकी वाणी समाज को दिशा विशेष की ओर प्रेरित और प्रभावित कर सकती है तब वह स्पष्टता के साथ बोलता है, यह निष्ठा और आत्मविश्वास अपने में 'इतिवृत्तात्मक' नहीं कहा जा सकता। 'इतिवृत्तात्मकता' कवियों के लक्ष्य की पूर्त्ति की एक आंशिक पद्धति थी किन्तु जैसा हमने देखा है कि इस युग के काव्य में वैविध्य कम नहीं है। चारों ओर दृष्टि फैली रहने के कारण विभिन्न पात्रों पर विभिन्न प्रकार की रचनाएँ इस युग में मिलती हैं। एक ओर हृदय की ऊष्मा का सहज विस्फोट है जो अपनी अकृत्रिमता के कारण कम रुचिकर नहीं लगता तो दूसरी ओर अतीत के गौरवमय पात्रों का पुनर्सृजन है। इन पात्रों की सहजता और पुरुषार्थ अनुपम है। भारतीय मानस को इन द्विवेदी युग के काव्यपात्रों ने बहुत अधिक प्रभावित किया है। तीसरी ओर पुराने देवी-देवताओं के स्थान पर स्वदेश देवता' की भक्ति की प्रतिष्ठा है। देश की मार्मिक छवियों का विवरण

प्रस्तुत कर द्विवेदीयुग के कवियों ने हमारे हृदय की भक्ति के लिए एक नया 'आराध्य' प्रस्तुत किया। पहली बार द्विवेदी युग के काव्य को पढ़कर ही—हम आश्वस्त होते हैं कि 'देवी-देवता' वस्तुतः मानवीय कल्पनाएँ हैं।

युगों-युगों से मनुष्य ईश्वर को अनेक रूप देता आरहा है, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ, उसके हृदय की आवश्यकताओं में भी परिवर्त्तन हुआ है। बाह्य जगत् और समाज को अपनी इच्छा और सबकी सुविधा के अनुसार बदलने के लिए ईश्वर में भी परिवर्त्तन करना पड़ा है अतः नए-नए देवी-देवताओं, उनके नए-नए रूप और व्यक्तियों का सृजन हमारे यहाँ "कला" का लक्ष्य माना जाता रहा है। द्विवेदी युग में कवियों ने पुराने आराध्यों को इस रूप में प्रस्तुत किया कि वह नए मानस में उतर सकें, इसके सिवा उन्होंने 'देश' को नए आराध्य के रूप में प्रस्तुत करके विदेशियों की देशभक्ति के सम्मुख अपनी देशभक्ति का स्वरूप खड़ा किया और इस प्रकार ईसाई और अँगरेजी साहित्य के प्रचार से उन्होंने अपने वास्तविक स्वरूप को समझने की चेष्टा की।

द्विवेदीयुग का कवि चारों ओर एक सर्वत्रव्यापी षड़यन्त्र का अनुभव करता है, वह जगह जगह रुक कर इस देश की जनता को इस विदेशी ख़तरे के प्रति सावधान करता है। अपने-अपने समाजों के मध्य कुत्साओं और कुरीतियों के विरुद्ध हिन्दी-उर्दू दोनों के कवियों ने इस युग में सबसे अधिक लिखा है। प्रगतिवादी काव्य को छोड़कर द्विवेदीयुग के बाद काव्य के क्षेत्र में इस सर्वक्षेत्र-व्यापिका दृष्टि का ह्रास होता हुआ दिखाई पड़ता है। सौभाग्य का विषय यह रहा कि 'कथासाहित्य' ने इस दृष्टि को अपनाए रखा है और कथासाहित्य का यह महान योगदान है। द्विवेदीयुग के बाद होना तो यह चाहिए था कि दृष्टि-विस्तार को क़ायम रखते हुए, गहराई के लिए प्रयत्न किया जाता किन्तु ऐसा नहीं हो सका। हमारी दृष्टि का विस्तार द्विवेदीयुग के बाद संकुचित होता हुआ दिखाई पड़ता है। कला की दृष्टि से और क्षेत्रविशेष में गहराई की दृष्टि से प्रशंसनीय कार्य हुआ किन्तु दृष्टि संकुचित होते होते "मैं" में सिमिटती गई। इस "मैं वाद" के बहुत से कारण थे, इन कारणों को समझ लेने पर "मैं वाद" के अनिवार्य आगमन को भी हम समझ सकते हैं किन्तु आलोचकों से यह शिकायत करने का हक़ भी शायद रहेगा कि द्विवेदीयुग की वास्तविक कामना—सर्वतोमुखीविकास के लिए सर्वतोमुखी कुत्साओं पर आक्रमण की आवश्यकता है—इस वास्तविक कामना को न समझ कर केवल कलागत दृष्टि से ही द्विवेदी युग को देखा गया। हमारे देश की जनता 'कला' का एक महान स्तर प्रस्तुत

कर चुकी थी और उसे भूल भी रही थी, द्विवेदीयुग ने कला की बारीकियों में न पड़कर भारतीय मानस में उन अभीप्साओं को जगाया जो सर्वतोमुखी सृजन के लिए सक्षम होती हैं। कला और काव्य का सृजन, समाज के सर्वाङ्ग-मुख विकास की उपेक्षा करके नहीं हो सकता, यह बात हमसे अधिक द्विवेदी-युगीन कवि समझते थे। काव्य कोई ऐसी कला नहीं है जिसमें सामान्य जीवन को एक ओर रख कर सौन्दर्य की सृष्टि की जासके, तभी वे काव्य में उपयोगितावाद के समर्थक थे। उपयोगितावाद अपने सामान्यरूप में उपदेशवाद बनता है और उच्चतम रूप में वह ऐसे सौन्दर्य की सृष्टि में सक्षम होता है जिसमें सम्पूर्ण समाज की वास्तविक अभीप्साओं की उपेक्षा नहीं की जाती। काव्य में उपयोगितावाद कला का ह्रास नहीं करता, वह कवि से चाहता यह है कि वह अपने उपकरणों द्वारा, अपनी पद्धति द्वारा, वही कार्य करे जो एक इतिहासज्ञ, राजनीतिविशारद अथवा एक "समाज-वैज्ञानिक" करता है, अन्तर लक्ष्य में नहीं होता, अंतर पद्धति में होता है। तभी काव्यकर्त्ता के लिए सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण समस्याओं से परिचित होना पड़ता है। द्विवेदीयुग के कवि और तत्कालीन "समाज-विज्ञान" के जानकारों में वह दूरी नहीं दिखाई पड़ती जो बाद में दिखाई पड़ती है। द्विवेदीयुग की कमी 'पद्धति' के पूर्ण निर्वाह न कर सकने में है। 'लक्ष्य' और लक्ष्य के प्रति हृदय की उष्मा का जहाँ तक सम्बन्ध है, यह युग आज भी हमें शिक्षा दे सकता है। और 'पद्धति' का दोष इसलिए है कि द्विवेदीयुग में एक ऐसी भाषा को माध्यम बनाया गया, जिसमें काव्य-परम्पराओं का अभाव था—और जब कवि ब्रजभाषा-काव्य-परम्परा का अनुकरण करता था, तब वह खड़ी बोली की रक्षा नहीं कर पाता था। इस उलझन के कारण खड़ी बोली में प्रवचन और उपदेशों में ही तब वह आनन्द आता था जो आज व्यंजनात्मक अथवा लक्षणात्मक पदावली में आता है। तात्कालिक खड़ी बोली कविता के प्रशंसक हमसे अधिक विवेकशील थे क्योंकि उनकी प्रशंसा में यह भाव भी रहता था कि खड़ी बोली में 'इतनी' सफलता भी प्रशंसनीय है।

प्रश्न होगा कि यह सब स्वीकार करने पर भी आज तो उस काव्य का ऐतिहासिक मूल्य ही स्वीकार करना होगा। इस प्रश्न का उत्तर कई तरह से दिया जा सकता है। सर्वप्रथम यह है कि जब हम अपने युग के साहित्य के बाद उस साहित्य की ओर मुख करते हैं तब उसमें स्वयं एक "ऐतिहासिक रस" आता है, किसी काव्य का ऐतिहासिक दृष्टि से ही महत्त्व रह जाने का अर्थ यह नहीं है कि इतिहास-प्रिय पाठक को उसमें आनन्द ही न मिले।

संकुलता से पीड़ित युग 'सरलता' को पसन्द करने लगता है। सरलता से पीड़ित युग संकुलता को पसन्द करने लगता है। आज के युग में एक ही प्रकार की रचनाएँ, एक ही प्रकार की मानसिक स्थितियों का जब बार-बार पिष्टपेषण करती हैं और जब इस स्थिति में द्विवेदीयुग की स्पष्ट निर्मल दृष्टि से हम "पुनः" परिचय पाते हैं तब उन कवियों की सरलता को एक रोमानी दृष्टि से देखने के कारण उसमें आनन्द प्राप्त होने लगता है, साकेत और कामायनी पढ़िए किन्तु 'सिद्धराज' में भी आनन्द आता है। छायावाद के बाद "वीरगाथा काल" की वीर रस से फड़कती कविता आज भी वक्षस्थल स्फीत कर देने की शक्ति रखती है। इसके अलावा यह ज्ञान भी हमारी साहित्यिक संवेदना में मिला रहता है कि इससे अधिक उन कवियों से आशा करना अन्याय है। हम यह भी अनुभव करते चलते हैं कि हमारे मन में जो कमियाँ हैं, उनमें बहुत सी कमियाँ पुराने कवियों में नहीं हैं। हमारी उपलब्धियाँ पुराने काव्य में तो मिल नहीं सकतीं किन्तु प्रत्येक युग अपनी महान उपलब्धियों के साथ कुछ नई बीमारियों को भी पाल लेता है। ये नई बीमारियाँ पुराने काव्य में जब नहीं मिलतीं तब हमें हर्ष होता है। प्रयोगवादी कविता के अद्भुत व्यक्तिवाद और सिद्धान्तहीनता को देखकर द्विवेदीयुगीन हरिऔध—काव्य का जब पाठ करते हैं तब लगता है कि काश ! हरिऔध आज जीवित होते। द्विवेदीयुग की एक उपलब्धि यह भी है कि कविमानस संदेह रहित है—मानवात्मा और मानवसमाज के सम्बद्ध विकास और उन्नति में उसे अखंड विश्वास है।

द्विवेदी युग की कला वर्णनात्मक, विवरणात्मक, और मनोवेगात्मक है। वर्णनात्मक और विवरणात्मक कला के दर्शन पुराने आख्यानों को पद्यबद्ध करने में दिखाई पड़ती है, मनोवेगों से विवरणों और वर्णनों की तीलियों को संग्रथित किया गया है। उद्गारों के कारण यह कला सूक्ष्मता के अभाव और अर्थ की जटिलता के अभाव में भी कवियों के चित्त की पवित्रता को व्यक्त करती है। हिन्दी काव्य में वर्णनात्मक (Escriptive Poetry) काव्य की दृष्टि से केवल द्विवेदीयुग ही श्रेष्ठ है। तत्पश्चात् इस प्रकार के काव्य का परिहास होने लगा, यह सौभाग्य का विषय रहा कि द्विवेदीयुग के काव्यकारों की परम्परा सर्वथा क्षीण नहीं हुई और छायावादी काव्य के समानान्तर वर्णनात्मक काव्य भी थोड़ा बहुत चलता रहा, कई प्रसिद्ध द्विवेदीयुग के कवि बराबर लिखते रहे। इससे अतिशय सांकेतिक और प्रतीकात्मक काव्य को न समझने वाले द्विवेदी-युगीन काव्य से अपना मनोरंजन करते रहे। यह स्मरणीय है कि द्विवेदीयुगीन स्पष्टताप्रिय कवि कभी भी 'छायावाद' के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर

सके। इसका कारण उनकी इतिवृत्तात्मकता नहीं थी, क्योंकि हम देख चुके हैं कि द्विवेदीयुग में अन्य प्रकार की मुक्तक रचनाओं का भी अभाव नहीं है, इसका कारण यह है कि द्विवेदीयुग "स्पष्टतावादी" आन्दोलन था। 'स्पष्टता-प्रिय' युग में चित्रों की रेखाओं में भी स्थूलता रहती है किन्तु रेखाओं में पूर्णता और चित्र को पूर्णतः उभार कर रखने की भी शक्ति होती है। वह 'कल्पना' को अधिक उत्तेजित नहीं करता तथा संश्लिष्टता, पूर्णता और विन्यास में नवीनता न होने पर भी उसकी सर्वजन संवेदद्यता हमें आज भी प्रभावित करती है। जयद्रथवध की 'उत्तरा' प्रियप्रवास की "राधा" और "कृष्ण" तथा पथिक के "पथिक" को देखिए, द्विवेदीयुग की कला का मर्म मिल जाएगा।

इसके अतिरिक्त रविवर्मा के चित्रों के आधार पर बनी कविताओं में सौन्दर्य के उस पक्ष की ओर कवि बढ़ता दिखाई पड़ता है जो केवल 'सौन्दर्य' पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है। यहाँ भी कवियों की विवरणात्मक कला ही दिखाई पड़ती है। सूक्ष्म आत्म अभिव्यक्तियों के लिए यहाँ स्थान कम है अतः कवि सौन्दर्य के प्रभाव का वर्णन उतना नहीं करता, जितना वह चित्रगत सौन्दर्य की पुर्नउत्पत्ति के लिए प्रयत्न करता है। रीतिकाल के सौन्दर्य-चित्रण की सीमा यहाँ विस्तृत होती हुई दिखाई पड़ती है क्योंकि प्रकृति के नए दृश्यों का विवरण भी प्रस्तुत करने की ओर कवि बढ़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। विविध वस्तुओं और दृश्यों को इस युग का कवि इस आशा से देखने चलता है कि उसमें सौन्दर्य अवश्य है, उसके सूक्ष्मतर सौन्दर्य और उसके माध्यम से अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करने की प्रवृत्ति न मिलने पर भी इस युग का कवि वस्तुगत सौन्दर्य को महत्त्वपूर्ण मानने लगता है और इस प्रकार के चित्रण में अनेक सम्भावनाओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। 'प्रियप्रवास' के प्रकृति चित्रण से ही यह स्पष्ट हो जाता है—विलोलितावर्जित 'विल्व', सुमौलि इमली, विटानुकारी वट, चंचलचित्तों की उतावली से पूर्ण आँवला आदि दृश्य स्पष्टतः प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्यशोध की ओर कवि की उत्सुकता प्रकट करते हैं।

द्विवेदीयुग की मानसिकस्थिति मंथन और केन्द्रीकरण की ओर उतनी नहीं जितनी "सामान्य अवलोकन" की ओर है, जैसे कवि समाज और प्रकृति का "सर्वे" कर रहा हो, अथवा भ्रमण करते समय जिस तरह वस्तुओं को देखते हैं और अधिक समय तक किसी एक वस्तु को न देखते रहकर आगे बढ़ जाते हैं, उसी प्रकार द्विवेदीयुगीन कवि का चित्रण "सामान्य

अवलोकन" से सम्बन्धित है। भावनाओं अथवा मनोवेगों के चित्रण में भी वह अनेक लहरों में सबसे अधिक प्रबल 'लहर' को देखता है, उसका लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है किन्तु वह लघु-लघु लहरों की गति, विराटतम लहर से उनका सम्बन्ध, लघु लहरों का आपस में टकराव और आस्फालन और विराटतम लहर में उनका अप्रत्याशित अवसान, दीर्घतम लहर की अपने में शतशः भग्नता और पुनः लघु लहरों का लास्य—आदि का सूक्ष्म चित्रण नहीं करता किन्तु यह कौन कहेगा कि प्रमुखतम लहर के उदय, अस्त, उत्थान-पतन और उसके प्रभाव के वर्णन में द्विवेदीयुगीन कवि असफल हुए हैं? प्रियप्रवास के दशमसर्ग, रंग में भंग के ओजपूर्ण चित्र और 'पथिक' के देशभक्ति के उद्गारों को देखिए। उद्गारात्मक काव्य में भाव-सरिता के मध्य मुख्य-धारा को ही कवि देखता है। क्या काव्य में मुख्यधारा का चित्रण इतना महत्त्वहीन है कि द्विवेदीयुग को मात्र 'तुकबन्द' कवि घोषित कर दिया जाय? प्रत्येक युग की तरह द्विवेदी-युग में नीरस तुकबन्दियाँ हैं, इधर "नीरस तुकहीनता" बहुत बढ़ रही है, परन्तु उस युग के श्रेष्ठ अंशों को बाद के श्रेष्ठ अंशों के साथ रखकर तौलिए, आपको आश्चर्य होगा कि द्विवेदीयुगीन काव्य इतना 'हलका' नहीं लगेगा जितना हम समझते हैं।

द्विवेदीयुग में जितना ध्यान 'सत्य' को सीधे कहने पर दिया गया है, उतना ध्यान अभिव्यक्ति की अनुपमता पर नहीं दिया गया है। इस युग का विश्वास था कि बात सच हो और आवश्यक हो तो उसे कह देना भी काव्य का एक उद्देश्य है। अतः सच्चाई के राजपथ पर निश्चित होकर कवि चलते हुए दिखाई पड़ते हैं, प्रेम की संकीर्ण वीथियों को छोड़कर ये कवि उस मार्ग पर चलते हैं जहाँ सारा जनसमूह थका मांदा आगे बढ़ता हुआ दिखाई पड़ता है, भीड़ में मिलकर लोगों से उनका दुख दर्द पूछते हुए, उनसे सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हुए, उनके साथ हँसते खेलते, उनके दुःख पर आँसू बहाते, उनकी कमजोरियों और लापरवाही का परिहास करते हुए और रास्ते की खराबियों और मौसम की कठोरताओं के बारे में सावधान करते हुऐ ये कवि बढ़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। ये कवि इस प्रकार विराट जनसमूह के पथप्रदर्शक और हमराही के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। कहीं-कहीं थकी हुई, विश्रान्त और विभ्रान्त भीड़ को रोककर ये कवि 'भाषण' भी देने लगते हैं, तब ये 'नेता' के रूप में भी दिखाई पड़ते हैं परन्तु ऐसे नेता जो वोट माँगने वाले नहीं, सच्ची सहानुभूति वाले साथी के रूप में प्रतीत होते हैं।

ऐसा भी अनुभव होता है कि जैसे इन्हें विराट जनसमूह के साथ गंतव्य पर पहुँचने की बहुत जल्दी है अतः देर तक एक ही वस्तु के अवलोकन का इनके पास समय नहीं है, इन्हें तो आगे चलना है, रास्ता लम्बा है अतः जल्दी आगे बढ़ते हुए जनसमूह को भरोसा दिलाने के लिए ये कवि 'कथा' भी सुनाने लगते हैं। इनकी कथाओं में इतना रस तो अवश्य ही है कि इनके श्रोता इनके साथ ही हँसते, रोते, उत्साहित होते, दिखाई पड़ते हैं। महिलाओं के सम्मुख ये कवि नया आदर्श रखते हैं अतः भीड़ के बीच आँखें चार करने वालीं, आँखों ही आँखों में अभिसार का स्थान और समय तै करने वाली छैलछबीली नायिकाएँ उत्तरा, राधा, सीता आदि की कथा सुनकर आत्मशोधन करने लगती हैं। छबीले छलिया युवक घर और गलियों में आँखमिचौनी न खेलने की प्रतिज्ञा करने लगते हैं, जैसे किसी महान संकट के समय इन्हें निजी प्रेम के स्वाद की चर्चा अनावश्यक और अनिष्टकर लगने लगी हो। इस भीड़ में कुछ पुराने 'कविराज' भी हैं जिनका स्वर मीठा है, रास्ता काटने के लिए वह पुराने प्रेम के गीत गाते हैं किन्तु भीड़ मुस्कराकर चुप हो जाती है, उनकी न तो प्रशंसा करती है और न उन्हें पारितोषिक देने के लिए उत्सुक होती है। यह भीड़ कृतसंकल्प है कि हम उनकी ओर देखेंगे जिन्हें हमारी सहानुभूतिमय दृष्टि की आवश्यकता है, हम उधर चलेंगे, जिधर चलने से हम सबकी उन्नति होगी, हम वही सोचेंगे जिससे कुछ लाभ हो, हम वही गीत गाएँगे जो मार्ग का श्रम परिहार तो करें ही, साथ ही यात्रा का लक्ष्य भी बताते चलें, हम उसी को मन में प्रविष्ट होने देंगे जो औरों का भी ध्यान रखे, हम उन्हें भी पहचानेंगे, जो हमारे सहायक और स्वामी बनने के लिए तरह-तरह के सब्ज़ बाग़ दिखाते आए हैं, हम यह भी विचार करेंगे कि पहले हम क्या थे और अब क्या हो गये हैं, गरज़ यह कि द्विवेदीयुग के कवि को इस 'हमराही' रूप में स्मरण रखने से, उनके कृत्तित्व का महत्व और उनकी कृति का रूप हमारे सम्मुख स्पष्ट हो जाता है—भला भीड़ के साथ क़दम से क़दम मिलाकर चलने वाला कवि क्या ऐसी भाषा में बोल सकता है जिसे उसके साथी न समझ सकें ? क्या वह ऐसा गीत गा सकता है जो "क्षितिज के उस पार" का संदेश देता हो ? क्या वह यह कह सकता है कि चलना बन्द कर 'अभिसार' शुरू करो ? क्या वह 'गति' का उपदेश न देकर "कीर्त्तन और करताल" में ही भीड़ का समय नष्ट करो ? क्या वह भीड़ पर आक्रमणकारी दस्युओं और जेबकटों पर क्रोध न दिखाएगा ? क्या वह "कुछ अपनी बीती और कुछ जगबीती" कहकर पड़ाव पर रात में जनता का मन न बहलाएगा ? जो इस रूप में द्विवेदीयुग को न समझ कर "कलाकार" के रूप में

उसे समझना चाहते हैं, वे भूल करते हैं। द्विवेदीयुग के कवि के 'भाव' को उस युग की "भीड़" को समझ कर ही समझा जा सकता है। गतिमान् व्यक्ति के पास इतना समय कहाँ है कि वह वर्षों पड़ाव पर रुक कर अपने गीत के स्वरों को सहलाता रहे।

हिन्दी काव्य में द्विवेदीयुग अपने उक्त जनवाद के लिए सदा स्मरणीय रहेगा, पढ़ा जाता रहेगा। अपनी ईमानदारी और हृदय से कल्याण-कामना चाहने वालों की युक्तियों में स्वतः कुछ ऐसा आकर्षण उत्पन्न हो जाता है जो बातें बनाने वालों की आकर्षक चतुरता में नहीं मिल सकता।

तृतीय प्रवाह

छायावाद-रहस्यवाद

जिस प्रकार अनन्त समुद्र में एक लहर से दूसरी लहर उत्पन्न होती है, उसी प्रकार द्विवेदीयुग के गर्भ से ही 'छायावाद' का विकास हुआ था। मैंने पुष्प से फल का सादृश्य जानबूझ कर नहीं लिया—कभी-कभी लहर से लहर उत्पन्न नहीं भी होती। एक लहर शान्त हो जाती है, तो दूसरी उत्पन्न हो जाती है अथवा एक लहर उठती है और वह आगे बढ़ती चलती है, तब तक एक और उच्चतर लहर उसी के साथ चल पड़ती है। हिन्दी काव्य में यह 'वीचिविलास' यथावत् मिलता है। द्विवेदीयुग की लहर चलती रही और जिस भारतीय चेतना-अम्बुधि से उसका जन्म हुआ था, उसीसे एक नवीन लहर उत्पन्न हो गई, उसने अपने सौन्दर्य से सहसा बहुतों का ध्यान आकर्षित कर लिया, वह क्षीण होने पर भी ऊँचाई की दृष्टि से गगन का चुम्बन करने लगी। वह बहुत देर तक आकाश को स्पर्शती रही अतः उसकी गहराई की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। द्विवेदीयुगीन लहर इस नवीन लहर से कहीं टकराई और नाराज़ भी हुई, "तू कहाँ से आ गई ?" मानो यह कहकर उसने उपेक्षा भी दिखाई परन्तु एक हलकी टकराहट के बाद द्विवेदीयुगीन लहर अपने निश्चित गंतव्य की ओर बढ़ती गई, उसमें कुछ नवीन लहर के मोती और अन्य रत्न आपड़े, इन्हें समेंटती हुई और धन्यवाद देती हुई बढ़ती गई, उधर नवीन छायावादी लहर का लास्य, इतना अद्‌भुत और अप्रत्याशित हुआ कि दर्शक पुरानी लहर की ओर न देखकर इस नए सौन्दर्य में ही रमने लगे, ख़ासकर नवयुवकों को उसमें अधिक आनन्द मिला।

इस उपमान को सम्मुख रखने पर यह विवाद सुलझ जाता है कि छायावाद-रहस्यवाद एक आंधी की तरह हिन्दी में आया। वर्षों हमारी चेतना को मुग्ध करने वाली कविता सर्वथा विदेशी होती यदि विदेशी होने पर भी

वह हमारी चेतना से सादृश्य न रखती। छायावाद-रहस्यवाद में कुछ भी ऐसा नहीं मिलता जिससे भारतवर्ष सर्वथा अपरिचित रहा हो अतः यह 'लहर' भी हमारे हृदय-सागर से ही उठी। रही बात प्रेरणा की, सो प्रेरणा के लिए सागर चन्द्रमा को भी देखता है, और भीतर की आग को भी, जिसे वह बराबर पीता रहता है, वह उस ज्वार का भी जबाब देता है जो उसकी अपनी अनन्तता और शक्ति की अपरिमितता के कारण उत्पन्न हो जाता है। इसके सिवा इस सारी धरती को तीन चौथाई समुद्र घेरे हुए है जो एक और अखंड है। हिन्दमहासागर हमारा है तो अतलांतिक किसका है? जब समुद्र आपस में भेद नहीं करते, किसी ओर से भी धारा आए, उसमें अपना 'गुण' मिलाकर—वे उसे अपनी धारा बना लेते हैं। इसी प्रकार चेतना का महासागर भी अखंड है—जो धारा दुनियाँ के किसी भी कोने में रहने वाले किसी भी व्यक्ति के मन में उत्पन्न हुई है, यदि उसमें 'लहर' बनने की शक्ति है तो वह सम्पूर्ण चेतना-अम्बुधि को अवश्य हिल्लोलित करेगी। इसमें समय लग सकता है, बहुत बार 'लहर' सर्वत्र नहीं पहुँच पाती, बहुत सी धाराएँ एक ही भाग में शांत हो जाती हैं किन्तु जल की अखंडता के कारण बाद में उस 'लहर' का परिचय होने पर उसी तरह की लहरें बनने लगती हैं। छायावाद के पूर्व भी कवि अँगरेज़ी पढ़ते थे, बँगला कविताओं का अध्ययन करते थे किन्तु अपनी वर्तमान धारा में ही वे कवि मग्न रहे, बहते चले, कतिपय अधिक जागरूक कवियों का ध्यान उस 'लहर' की ओर आकर्षित हुआ जो उन्नीसवीं शताब्दी के अँगरेज कवियों के काव्य में बह चुकी थी। रवीन्द्र ने इस योरोपीय लहर में भारतीय दर्शन और प्राचीन निष्ठा से बहुत भिन्नता नहीं पाई, थी भी नहीं, इसके सिवा शैली की नवीनता उसमें अवश्य थी। जिस प्रकार हम विदेशियों की संस्थाओं और शासन के विरुद्ध थे उसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के कवियों की स्वच्छन्द भावना हमारे अग्रचेता कवियों को प्रिय भी लगी। हम बाहरवालों से परेशान थे, और योरोपीय कवि अपने शासन की निष्ठुरता और अमानवीयता से परेशान थे। स्वतंत्रता के लिए किसी भी प्रकार के 'शासन' और 'राज्य' को स्वीकार नहीं किया जा रहा था। हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित होना ही था, आश्चर्य यह है कि भारतेन्दु और द्विवेदीयुग के प्रारम्भ में कवियों ने रोमानी कवियों से क्यों प्रेरणा नहीं ली? बहुत से अँगरेज़ी जानते थे किन्तु जो हुआ उस पर दृष्टि रखनी चाहिए।

अतः 'छायावाद' आँधी की तरह नहीं आया, लहर की तरह आया, और लहर के लिए हमारी चेतना में पर्याप्त जल था। बहाने के लिए पर्याप्त

आँसू थें, जिस स्वच्छन्दता को शेली, बायरन वगैरह चाहते थे और जहाँ-जहाँ वे चाहते थे, वहीं-वहीं हमें भी वह आवश्यक थी।) भारतेन्दु की मृत्यु के बाद से प्रियप्रवास तक युवक कविवर्ग यह अनुभव करने लगा था कि प्रकृति-वर्णनों में जहाँ अधिक संश्लिष्टता की आवश्यकता है, वहीं प्रेम के क्षेत्र में अतिशय मर्यादावाद अपनी अति पर पहुंच कर अमर्यादावाद होता जा रहा है। एक व्यक्ति पर केन्द्रित प्रेमभाव असामाजिक नहीं है, समाज की धुरी है। अन्य मानवीय सम्बन्ध इस एक व्यक्ति पर केन्द्रित प्रेम के ही उपग्रह हैं जो उसी के चारों ओर घूम रहे हैं। सर्वदा इस प्रेम का गायन पुण्य माना गया है अतः नैतिकता के आवरण के भीतर इस प्रेम की अवहेलना, नैतिकता को भीतर से पुष्ट नहीं करती। बासना को वश में लाने का उपाय उसे कहीं एक जगह केन्द्रित करना है, अन्यथा वह विस्फोट के रूप में फूट कर समाज का नाश कर देगी। अतः आन्तरिक नैतिकता की रक्षा के लिये प्रेम का गायन चल पड़ा। इसके लिये बाहर से प्रेरणा ली गई तो इसमें अनुचित क्या था ? द्विवेदीयुग की वेदना को "घनीभूत" किया गया और उन दुर्दिनों में उसकी वर्षा की जाने लगी। द्विवेदीयुग की देशभक्ति को यथावत् स्वीकार किया गया। भारत की छवि के एक से एक सुघर चित्रण हुए।

द्विवेदीयुग के उपदेशवाद को प्रेरणावाद के रूप में अपनाया गया। पहले कवि सीधी पद्धति अपनाता था, अब अधिक कलापूर्ण मार्ग अपनाया गया, एक नई 'रीति' चल पड़ी। द्विवेदीयुग के आर्य समाज की दृष्टि में साम्प्रदायिकता बढ़ रही थी, गांधी जी के मैदान में उतरने के बाद 'एकता' का स्वर प्रबलतर होने लगा था अतः 'हिन्दूवाद' के स्थान पर 'विश्वमानवतावाद' को अपनाया गया। 'भारत भारती और 'प्रियप्रवास' में देश के साथ-साथ "जाति" पर भी बहुत बल दिया गया है, वह "जाति" निराला के "शिवाजी का पत्र" आदि रचनाओं में एक अधिक उच्च स्तर पर व्यक्त होने लगी किन्तु समग्रतः 'जाति' के स्थान पर "मानव जाति" का अर्थ छायावाद में अधिक स्वीकृत हुआ। रोमानी कवियों में भी मानव मात्र के लिए संदेश था अतः छायावाद-रहस्यवाद में उसी 'विश्वमानववाद' की प्रष्ठिा हुई।

द्विवेदीयुग के अन्त तक देशी विदेशी पूँजीवाद दृढ़ हुआ अतः सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से देश उस 'व्यक्तिवाद' के लिए प्रस्तुत था—जो रोमानी कवियों में व्यक्त हो रहा था अतः अब कवि "अपनी बात" कहने लगे। केवल 'कवि' को ही देखने पर वह अपने में ही मग्न, एकांत प्रेमी, सपनों में डूबा हुआ पलायनवादी सा लगता है। किन्तु युग और इतिहास को ध्यान में रखने

पर छायावाद—रहस्यवाद युगचेतना का माध्यम मात्र प्रतीत होता है। नए युग के सपनों में नए मानवीय सम्बन्धों की स्थापना का प्रयत्न था, अनजाने ही छायावाद-रहस्यवाद मध्ययुग के मूल्यों के स्थान पर नए मूल्यों और मानवीय सम्बन्धों की प्रतिष्ठा कर रहा था। उसने द्विवेदी युग की तरह धर्म के बहाने व्यभिचार का समर्थन नहीं किया किन्तु द्विवेदीयुग की ऊपरी नैतिकता का विरोध कर 'विवाह' को आरोपित क्रिया न मानकर उसे "प्रेम" के आधार पर प्रतिष्ठित किया अतः उस युग में निराला, पन्त और महादेवी 'प्रेम' के लिए स्वच्छन्दता चाहते हैं और समाज के जड़ बन्धनों में 'प्रेम' की उपेक्षा की शिकायत करते है। महादेवी विवाह के प्रचलित रूप के विरुद्ध "स्वयंस्वीकृत" 'परित्यक्ता' का व्रत धारण पर बैठीं क्योंकि द्विवेदीयुग में "विवाह" पिता द्वारा 'कन्यादान' पर ही आधारित रहा। 'हरिऔध' में 'प्रेम' की प्रशंसा है किन्तु वह भी स्वच्छन्दता देते हुए डर गए। शिथिल युवकों-युवतियों की "बुद्धि" और 'उत्तरदायित्व की भावना' में अविश्वास का दूसरा नाम है—"कन्यादान"। द्विवेदी युग ने बाल विवाह का विरोध किया, विधवा-विवाह का समर्थन किया किन्तु विवाह के लिए 'प्रेम' करने की स्वच्छन्दता को स्वीकार नहीं किया अतः छायावाद ने रीतिकालीन दुराचार के विरोध के साथ इस 'जड़ता' का भी विरोध किया और एक नए मानव मूल्य की सृष्टि की कि 'प्रेम' स्वयं अपने में सामाजिक है, उसके लिए समाज के रूप को नष्ट भ्रष्ट किए बिना ही स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। चूंकि गाडविन और रूसो की विचारधारा का आधार मनुष्य की स्वाभाविक 'सदिच्छा' (Natural goodness) थी अतः प्रेम की स्वतन्त्रता की वकालत करने वाले कवि बिना घोषणा करके ही यह मानते थे कि मनुष्य मूलतः 'भद्र' और 'नैतिक' होता है, बाह्य बन्धनों से जकड़ कर जो नैतिकता बनती है, वह दृढ़ नहीं होती। हिन्दू समाज में बाह्य नैतिकता के कारण भीतर जो दुराचार चलता है, उसकी मात्रा इतनी कम नहीं है कि उस पर गर्व किया जा सके। छायावादी समझता था कि सच्चा प्रेमी अनैतिक प्रेम नहीं कर सकता, उसने प्रेम को "फ्रीलव" से सर्वदा भिन्न समझा अतः यह समझना कि छायावाद रीतिकाल का पुनरुत्थान था, ग़लत है। छायावाद को स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म की प्रतिक्रिया कहने वाले कुछ भी स्पष्ट नहीं करते—छायावाद की राजनैतिक, सामाजिक और दार्शनिक दृष्टि पूर्णतः स्पष्ट है, यह अवचेतन का विस्फोट नहीं था, शुद्ध चेतन का विस्फोट था। द्विवेदीयुग के कवियों और आचारवादियों (Puritans) के विरुद्ध खुलकर छायावादियों ने लिखा। जहाँ निर्भीकता है वहाँ "अचेतन का स्वप्न जाल" नहीं, "सचेतन स्वप्न जाल" होता

है अतः फ्रायडवादी 'अचेतन का विस्फोट' वाली जिस आलोचना को जन्म दे रहे हैं, दे चुके हैं, वह स्वयं अपने में पराजित प्रयत्न है।

जहाँ तक भारतीयता का प्रश्न है, छायावाद शुद्ध भारतीय आन्दोलन था। भारतीय दर्शन का सर्ववाद ही नई शैली में व्यक्त होकर ही छायावाद रहस्यवाद बन गया है। वर्ड्सवर्थ-शेली आदि में जो सर्ववाद मिलता है वह उन्हें यूनानी विचारकों से मिला था। सब जगत में एक ही ब्रह्म की ज्योति का दर्शन यूनानियों को भारत से मिला था, यह तथ्य ही गर्वीले भारतीयतावादियों के लिए काफी संतोषदायक होना चाहिये। सर्वप्रथम यह भारतीय-दर्शन शैव-दर्शन से प्रेरित होकर प्रसाद की कविताओं में व्यक्त हुआ। जीव ब्रह्म के प्रेमालापों के रूप में यह भारतीय काव्य में बहुत पहले ही आ चुका था। स्वयं रवीन्द्र ने कबीर से प्रेरणा ली थी। प्रसाद पर सूफी प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। सूफी सर्ववाद स्पष्टतः भारतीय ही है और असलियत तो यह है कि सर्ववाद अपनी मानवीयता के कारण अधिक आकर्षक प्रतीत हुआ। अंततः जीव-ब्रह्म के रूप में मानवीय प्रेम का ही वर्णन हुआ। रहस्यवाद का आधार है—मानवीय प्रेम, उसे दिव्य कह देने भर से वह दिव्य हो नहीं जाता। मध्यकालीन सन्त-सूफी तथा आधुनिक रहस्यवादियों ने वस्तुतः मानवीय प्रेम का ही वर्णन किया है। मानवात्मा में प्रेम की भूख जब तक रहेगी, तब तक वह रुचिकर लगेगा क्योंकि उसका हमारे हृदय से सम्बन्ध है और चूंकि प्रेमपात्र कुछ अधिक सूक्ष्म था अतः अस्पष्टता और कृत्रिमता (अपूर्ण कवियों में) भी आई। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के बाद रहस्यवाद समाप्त होने लगा परन्तु रहस्यवादी काव्य आज भी प्रिय लगता है, क्यों ? क्योंकि रहस्यवाद का माध्यम ही मानवीय नहीं था, वर्णित प्रेम भी मानवीय ही था। प्रेम चाहे ब्रह्म से हो या 'अब्रह्म' से, अपनी सर्वव्यापकता और जिजीविषा तथा सृजन के लिए मनुष्य की उत्सुकता और विवशता के कारण सर्वथा प्रिय रहेगा।

अतः छायावाद-रहस्यवाद को पुराने लोग इसलिए नहीं समझ सके कि वे रीतिकाल के अलावा और कुछ न पढ़ते थे, जिन्हें बाहर का भी ज्ञान था, उन्हें यह काव्य पसन्द आया। "अँग्रेजी की नकल है" कह देने से सम्पूर्ण आधुनिक साहित्य का निषेध करना होगा और कुछ पुराचीन लोग वैसा करते भी हैं किन्तु युग से वे पिछड़ चुके हैं। अतः उनका मत विचारणीय नहीं है। देखना यह चाहिए कि प्रेरणा चाहे कहीं से ली गई हो, उसको भारतीय हृदय में कवि प्रविष्ट करा सका है या नहीं अथवा उसकी रचना मात्र आरोपित या अनुकृत तो नहीं है।

तृतीय प्रवाह का जन्म—नवीन छायावादी, रहस्यवादी चेतना का उदय द्विवेदीयुग में ही हुआ। यह चेतना सर्व प्रथम प्रसाद जी की रचनाओं में दिखाई पड़ती है। गुप्त जी तथा मुकुटधर पांडेय की कतिपय रचनाओं को उद्धृत करते हुए शुक्ल जी ने अपने इतिहास में लिखा है कि मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय आदि कई कवि खड़ी बोली काव्य को अधिक कल्पनामय, चित्रमय और अन्तर्भाविव्यंजक रूप-रंग देने में प्रवृत्त हुए। शुक्ल जी ने यह भी बताया है कि यह बँगला का प्रभाव था। क्योंकि पारसनाथसिंह के किए हुए बँगला कविताओं के हिन्दी-अनुवाद सरस्वती आदि पत्रिकाओं में १९१० ई० से ही निकलने लगे थे।) जीतनसिंह ने वर्डसवर्थ और ग्रे की रचनाओं के भी अनुवाद प्रकाशित किए थे। ("अतः खड़ी बोली की कविता जिस रूप में चल रही थी, उससे संतुष्ट न रह कर द्वितीय उत्थान के समाप्त होने के कुछ पहले ही कई कवि खड़ी बोली काव्य को कल्पना का नया रूप रंग देने और उसे अधिक अंतर्भावव्यंजक बनाने में प्रवृत्त हुए जिनमें प्रधान थे सर्व श्री मैथिली शरल गुप्त, मुकुटधर पांडेय और बदरीनाथ भट्ट।") गुप्त जी की नक्षत्र-निपात (सन् १९१४ ई०) अनुरोध (सन् १९१५) पुष्पांजलि (१९१७) स्वयं आगत (१९१८) बदरीनाथ भट्ट की कुछ रचनाओं (१९१३) को शुक्ल जी ने उद्धृत भी किया है। अतः शुक्ल जी के अनुसार गुप्त जी तथा मुकुटधर पांडेय ही नई धारा के प्रवर्तक माने जाने चाहिए।

"गुप्त जी और मुकुटधर पांडेय आदि के द्वारा यह स्वच्छन्द नूतनधारा चली ही आ रही थी कि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उन कविताओं की धूम हुई जो अधिकतर पाश्चात्य ढाँचे का आध्यात्मिक रहस्यवाद लेकर चली थी। पुराने ईसाई सन्तों के 'छायाभास' (Phantasmata) तथा योरोपीय काव्य-क्षेत्र में प्रवर्त्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (Symbolism) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल में ऐसी कविताएँ छायावाद कही जाने लगी थीं। यह वाद क्या प्रकट हुआ, एक बने बनाए रास्ते का दरवाजा सा खुल पड़ा और हिन्दी के कुछ कवि उधर एक बरगी झुक पड़े। यह अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता नहीं था" (पृष्ठ ६५१)।

काश ! शुक्ल जी के इतिहास में उन कवियों का भी उल्लेख होता जो 'एकबारगी' छायावाद की ओर झुक पड़े। छायावादियों में काल की दृष्टि से सर्वप्रथम प्रसाद जी आते हैं और शुक्ल जी ने प्रसाद जी पर सबसे अधिक व्यंग्य भी किये हैं किन्तु प्रसाद जी की रचनाओं में विकास मिलता है। वह

एकबारगी छायावाद रहस्यवार की ओर नहीं झुक पड़े, वह चित्राधार की ब्रज-भाषा को कविताओं में सौंदर्य और रहस्य को व्यक्त करते हुए दिखाई पड़ते हैं। उनकी प्रथम कविता १९१० ई० में प्रकाशित हुई और काननकुसम का प्रथम संस्करण १९१२ ई० में प्रकाशित हुआ। प्रेमपथिक का प्रथम संस्करण १९१४ ई० में प्रकाशित हो चुका था और चित्राधार का प्रथम संस्करण १९१८ में प्रकाशित हुआ था, जिसमें पूर्व की अनेक रचनाएँ शामिल कर ली गई थीं। सन् १९१६ ई० में निराला की जुही की कली प्रकाशित हुई थी। उसके पूर्व काननकुसुम और प्रेमपथिक में स्पष्टत: नवीन शैली, नवीन चेतना को व्यंजित कर चुकी थी। सन् १९१२ में प्रकाशित काननकुसुम की रचनाएँ कम से कम १९१२ के पूर्व से ही लिखी जाती रही होंगी। गुप्त जी की नक्षत्र-निपात सन् १९१४ ई० में प्रकाशित हुई थी, प्रसाद के कानन कुसुम के दो वर्ष बाद ! पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की नई रचनाएँ १९१५-१६ ई० की हैं।

प्रसाद जी की रचनाओं में स्पष्ट विकास मिलता है। 'इन्दु' की प्रथम कला सन् १९०९ ई० (श्रावण संवत् १९६६ वि०) में प्रकाशित हुई थी, सन् १९०९ ई० से 'इन्दु' की रचनाओं में बराबर विकास मिलता है। छायावादी नवीन प्रयोग सर्व प्रथम ब्रजभाषा में मिलते हैं पुनः प्रसाद जी ने उन्हें खड़ी बोली में भी प्रस्तुत किया। अतः वस्तुतः छायावाद प्रथम ब्रजभाषा में आया और तत्पश्चात् खड़ी बोली में। ब्रजभाषा के कवियों ने पुरातन प्रेम के कारण नवीन शैली का अनुकरण नहीं किया। ब्रजभाषा के प्रति उपेक्षा देख[illegible]र नवीन भाषा के प्रति उत्साह देख कर तथा यह समझ कर कि खड़ी बोली काव्य भाषा बन चुकी है, प्रसाद जी ने अपनी ब्रजभाषा की रचनाओं का खड़ी बोली में अनुवाद किया। चित्राधार में प्रकाशकीय वक्तव्य से भी स्पष्ट है कि प्रसाद जी ही सर्वप्रथम नई भावनाओं और नई शैली के प्रयोक्ता थे।[1]

---

१. **बीस वर्ष की अवस्था के पहले ही आपने इस ढंग की कविताओं का प्रारम्भ किया था और वे यथा समय इन्दु की प्रारम्भिक कलाओं (संवत् १९६६-६७) में निकल भी चुकी थीं। इस संग्रह में जो कविताएँ दी गई हैं, उन्हें देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रजभाषा में नवीन भावनाओं को आपने प्रथम-प्रथम किस प्रकार व्यक्त किया और वे ही भावनायें खड़ी बोली में उसके प्रचार पाने में किस रूप में आयीं। सच तो यह है कि नवीन कविता शैली के आप सजीव इतिहास हैं·····**

उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में एक नया तत्त्वदर्शन, सौन्दर्य के प्रति अद्‌भुत अनुराग तथा प्रेम के क्षेत्र में एक स्वच्छन्दता के दर्शन होते हैं। प्रकृति में जो सौन्दर्य है, वह प्रकृति की पृष्ठभूमि में स्थित अलक्षित सत्ता की झलक है, यह दृष्टि भी प्रारम्भिक कविताओं में मिलती है। द्विवेदीयुग की 'अन्त' की सीमा तक पहुंचा हुआ कठोर मर्यादावाद प्रसाद की प्रारम्भिक कविताओं में कहीं भी नहीं मिलता। द्विवेदीयुग में रीतिकाल के विरोध में कठोर नैतिकतावाद के कारण कवियों की दृष्टि पाप, पुण्य, शृंगार और संयम, दानव, देव आदि द्वन्द्वों को परस्पर विरोधी मान कर चली जब कि प्रसाद जी इन दोनों को एक ही सत्ता की अभिव्यक्ति के दो रूप मान कर चले। जगत् जब शिव की अभिव्यक्ति है तब उसमें प्रत्येक अभिव्यक्ति शिव-शक्ति की ही प्रतिच्छवि है, यह दृष्टिकोण प्रारम्भिक रचनाओं में ही मिल जाता है। गुप्त जी, मुकुटधर पांडेय आदि की रचनाओं में नवीनता है परन्तु इन कवियों में इस प्रकार की रचनाओं का क्रमवद्ध और निरन्तर विकास नहीं मिलता। गुप्त जी ने द्विवेदीयुग की विवरणात्मक प्रवृत्ति आगे भी नहीं छोड़ी, साकेत, द्वापर आदि यत्र-तत्र नवीन शैली के प्रयोगों के बावजूद 'छायावादी' रचनाएँ नहीं हैं। मुकुटधर पांडेय आगे कविरूप में साहित्य को प्रभावित नहीं कर सके। यदि प्रसाद जी इकबारगी छायावाद की ओर झुक पड़ने वाले कवि होते तो उनके सम्पूर्ण काव्य में बीज-वृक्ष की तरह क्रमशः विकास क्यों मिलता है ? छायावाद में जिस सौन्दर्य की खोज हुई, उसकी ओर प्रसाद जी प्रारम्भ से ही आकर्षित थे और बाह्य [illegible]परकता को काव्य नहीं मानते थे—

नील नीरव देख कर आकाश में,
क्यों खड़ा चातक रहा किस आश में।
क्यों चकोरों को हुआ उल्लास है,
क्या कलानिधि का अपूर्व विकास है।
है यही सौन्दर्य में सुषुमा बड़ी,
लौह प्रिय को आँच इसकी ही कड़ी।
देखने के साथ ही सुन्दर वदन,
दीख पड़ता है सजा सुखमय सदन।

इस संग्रह को अपने पास रख कर आप हिन्दी साहित्य के अभिनव युग के प्रारम्भिक युग का प्रारम्भिक इतिहास सहज ही प्राप्त कर सकेंगे।

—"प्रसाद जी की कवितायें"—सुधाकर पांडेय

लोग प्रियदर्शन बताते इन्दु को,
देख कर सौन्दर्य के इक बिन्दु को।
किन्तु प्रियदर्शन स्वयं सौन्दर्य है,
सब जगह इसकी प्रभा ही वर्य है।
मानवी या प्राकृतिक सुषुमा सभी,
दिव्य शिल्पी के कलाकौशल सभी।[1]

यह रचना 'काननकुसुम' में संकलित है, शीर्षक 'सौन्दर्य' है। प्रसाद जी ने इसके अन्त में कहा है कि सौन्दर्य को देखकर लेखनी द्वारा उसे चित्त पर अंकित करना चाहिए और अंकित करते करते स्वयं सौन्दर्य चित्र बन जाएगा और इससे 'सत्य और सुन्दर' की व्यंजना हो जाएगी—

देख लो जी भर इसे देखा करो।
इस कलम से चित्र पर रेखा करो।
लिखते लिखते चित्र वह बन आएगा।
सत्य-सुन्दर तब प्रकट हो जाएगा।

यह दृष्टि 'गीतांजलि' के प्रकाशन के पूर्व ही प्रसाद में विकसित हो चुकी थी और उसका कारण यह था कि शैवागमों के 'आनन्दवाद' में वह अपने को लीन कर चुके थे जिसके अनुसार यह सब सृष्टि आनन्द और सुन्दर की अभिव्यक्ति है। अतः प्रकृति में सौन्दर्य और सत्य की झलक [redacted] छायावादी प्रवृत्ति सर्वप्रथम सैद्धान्तिक आधार के साथ प्रसाद जी में ही दिखाई पड़ती है।

१९१४-१५ ई० में प्रकाशित 'प्रेम पथिक' में 'छायावाद' का यह दृष्टि-कोण मिलता है कि समाज में 'प्रेम' की स्वच्छन्दता नहीं है अतः उसका विरोध आवश्यक है। 'प्रेम' और 'नारी' का गौरवगायन, प्रेम की पीड़ा की महत्ता-स्थापना—प्रेम पथिक में स्पष्टतः व्यक्त हुई हैं। पं० सुधाकर पांडेय ने ठीक ही कहा है कि "उस समय द्विवेदी जी की आदर्शवादी प्रभा आभा से दीप्त थी। सामाजिक आदर्श की बात बाह्य दृष्टि से कहना ही काव्य की अभिव्यक्ति की जीवन-सीमा थी। सामाजिक सत्यों को अन्तरदृष्टि से देखकर जनमन पर उसे प्रतिष्ठित करना काव्य की अन्तर-आत्मा नहीं मानी जाती थी, ऐसी परिस्थिति

---

१. सुधाकर पांडेय, पृ० ९१ से उद्धृत।

में अडिग होकर स्वच्छन्दतापूर्वक प्रेमसाम्राज्य की बात मानवीयभित्ति पर करना बहुत बड़े पौरुष का कार्य था ।"

पन्त जी की कृति 'ग्रन्थि' की पूर्वआत्मा 'प्रेमपथिक' में सुरक्षित है। प्रेम की स्वच्छन्दता, वेदना और सूक्ष्म उपमानों के अतिरिक्त इस काव्य में छायावाद-रहस्यवादी युग की दार्शनिकता भी मिलती है—छायावादी-रहस्य-वादी कवि 'प्रेम' और सौन्दर्य का कवि था ओर 'ब्रह्म' और सौन्दर्य को एक मानकर चला। प्रेम और सौन्दर्य की सर्वव्यापकता उसे रीतिकालीन 'प्रेम' से भिन्न कर देती है—

इसका परिमित रूप नहीं है जो व्यक्ति मात्र में बना रहे।
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है, जहाँ कि सबको समता है।
इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं।
अथवा उस आनन्द भूमि में जिसकी सीमा कहीं नहीं।

अतः रहस्यमय "आनन्द भूमि" जो कामायनी में मिलती है, वह १९१४-१५ में ही संकेतित हो चुकी थी, यह स्पष्ट है। प्रसाद जी ने 'प्रेम' को एक महान कल्याणकारी भावना के रूप में अपनाया था, जिसमें मनुष्य को 'उदार' और 'अनन्त' बनाने की शक्ति है, जिसमें सौन्दर्य और संयोग-वियोग, सबका आनन्द निहित है—द्विवेदीयुग के विषेधवाद को सर्वप्रथम प्रसाद जी ने ही अस्वीकृत किया था।

काव्य हमारी चिन्तनात्मक और भावनात्मक शक्ति को आन्दोलित करता है। द्विवेदीयुग में मंगल का भाव घोषित अधिक हुआ। हम कह चुके हैं कि रीतिकालीन मानसिकता से सहसा सम्बन्ध विच्छेद करने के लिए यह आवश्यक था। किन्तु द्विवेदी युगीन काव्य में काव्य-प्रक्रिया की विशिष्टता का सर्वत्र निर्वाह नहीं किया जा सका। हरिऔध संधियुग के कवि थे अतः उनमें कहीं काव्य-प्रक्रिया स्वाभाविक रूप में और कहीं घोषणा रूप में मिलती है। परन्तु समग्रतः द्विवेदीयुग काव्यप्रक्रिया की विशिष्टिता का निर्वाह नहीं कर सका। यदि काव्य-पद्धति आनन्दमय नहीं हो पाती तब वह अनुकूल प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पाती। द्विवेदीयुग में काव्य जीवन से सम्पृक्त होकर चला, वह समाज में शुभ परिवर्त्तन के लिए उत्सुक था, यह उसकी महानता है किन्तु व्यक्ति हितकर और उपयोगी विचारों और भावों को भी 'तटस्थ' होकर काव्य

में भोगना चाहता है। काव्य की सफलता इस बात में है कि वह पाठक या श्रोता में इस चेतना को न जगने दे कि उसे कोई 'लाभप्रद' वस्तु दी जा रही है। मरीज़ को बिना यह बताए हुए कि यह ओषधि है, काव्यकार अच्छे वैश्य की तरह यह भावना जगाता है कि श्रोता के आनन्द के लिए ही वह प्रयत्न कर रहा है। आनन्द की भावना की तृप्ति के लिए ही पाठक पढ़ता है, श्रोता सुनता है और छविमान मूर्त्तियों (Images) की सृष्टि द्वारा कवि श्रोता के अनजान में ही उसके हृदय में उपयोगी विचार और भाव जाग्रत कर देता है। काव्य और अन्य कलाएँ इसीलिए अपने में "स्वतन्त्र और पूर्ण" प्रतीत होती हैं। वह निरुद्देश नहीं होतीं, अपितु वे उद्देश्य को छिपाकर, पाठक और श्रोता के अनजान में ही, उसके हृदय में प्रविष्ट कर देती हैं। अतः जिस काव्य में पाठक या श्रोता की उपयोगिता के प्रति जागरूकता बनी रहेगी, वह काव्य श्रेष्ठ नहीं होगा। द्विवेदीयुग में 'उपयोगिता' को घोषित किया गया है, यही उसकी कमी है। प्लेखानव ने काव्यानन्द की परिभाषा इस प्रकार की है—

Enjoyment of astistic production is the enjoyment of that which is benificial to the race, irrespective of any conscious consideration of benifit.[1]

अर्थात् समाज के लिए कल्याणकारी (तत्त्व) का आनन्द ही काव्यानन्द है किन्तु काव्यानन्द के समय किसी 'लाभ' की भावना नहीं रहती।

द्विवेदीयुग का ध्यान सर्वदा 'लाभ' (Benifit) पर रहता है अतः उसके काव्यानन्द की प्रक्रिया सदोख है। कवि काव्य को अपने में 'पूर्ण' मान कर नहीं चलता वह सृष्टि के समय भी उपयोगिता को नहीं भूलता, इस कमी को पूरा करने का सर्वप्रथम प्रयत्न प्रसाद जी की रचनाओं में मिलता है, प्रारम्भ से ही उन्होंने उपयोगितावाद के प्रति अनावश्यक जागरूकता की मात्रा को कम करना चाहा है।

चूंकि इस प्रस प्रयत्न में निरन्तरता और क्रमशः सफलता मिलती है अतः तृतीय प्रवाह के अभ्युदय का श्रेय प्रसाद जी को ही दिया जा सकता है। वास्तविक स्वच्छन्दतावाद का उन्नतिशील रूप भी सर्वप्रथम प्रसाद जी में ही दिखाई पड़ता है। जगमोहनसिंह, श्रीधर पाठक आदि का स्वच्छन्दता 'प्रारम्भिक' और अस्फुट रूप में प्रस्तुत हो पाया था।

---

1. Unadressed Letters—Moscow 1957, Page 111,

मैंने "हिन्दी के प्रमुखवाद" नामक पुस्तक में इसीलिए लिखा था "नूतन युग का प्रवर्तन प्रसाद व निराला से होता है। 'प्रसाद' द्विवेदी-मण्डल के सदैव बाहर रहे,.....अपनी सहानुभूति के बल पर तथा प्राचीन अद्वैतवादी दर्शन के आधार पर उन्होंने अपने वेदनापरक काव्य का ताना बाना बुना जो द्विवेदीयुग की १९१८ ई० के पहले की प्रचलित धारा से उन्हें अलग कर देता है।"[१]

प्रसाद की तरह 'निराला' भी एकबारगी 'छायवाद-रहस्यवाद' की ओर नहीं झुक पड़े। निराला जी तो बंगभूमि में रह रहे थे। उन्होंने बँगला में ही नवीन काव्य का अनुशीलन किया था। वह 'रवीन्द्र' की कला से परिचित थे और यह भी जानते थे कि योरोप के रोमानी कवियों से प्रेरणा लेकर भी रवीन्द्र रोमानी और रहस्यवादी काव्य के भारतीयकरण में पूर्ण सफल हुए थे। 'रवीन्द्र' पर सन्त कवियों का भी प्रभाव था, इस तथ्य का उल्लेख स्वयं 'रवीन्द्र' ने किया है किन्तु शुक्ल जी ने नहीं किया। रवीन्द्र के काव्य की 'आत्मा' स्वदेशी थी, उसमें सौन्दर्य को एकत्र करने का चाव था, ऐसा सौन्दर्य जो मूलतः ब्रह्म से भिन्न नहीं है, मंगल से भिन्न नहीं है। हृदय के अंतराल के अनुसंधान की उसमें चेष्टा है, स्वानुभूति की प्रधानता है, तथ्यवर्णन की नहीं अतः तथ्यों को पद्यमय रूप देने वाले कवि गुप्त जी तथा मुकुटधर पांडेय भी इस काव्य से प्रभावित हुए थे किन्तु वह इस काव्य के साथ तादात्म्य नहीं कर सके अतः कुछ पद्यों की रचना के बाद वह अपनी प्रकृतभूमि पर ही चले, जब कि प्रसाद, निराला आदि ने अपना स्वतन्त्र मार्ग बनाया।

निराला पर विवेकानन्द का प्रभाव अधिक था अतः भारतीय वेदान्त ने उन्हें 'सर्ववाद' की ओर उन्मुख कर दिया। अनेकता में एकता, अर्थात् नाना सम्प्रदायों, जातियों, प्राणियों और पदार्थों में 'एक ही तत्त्व' का दर्शन होने लगा। प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ अपनी आत्मा का अंश प्रतीत होने लगा, उसमें प्राणपुलक का संचार होने लगा। प्रकृति परमात्मा के अनुराग में रंगी दिखाई पड़ने लगी। द्विवेदीयुग के लघु और असंश्लिष्ट चित्रों के स्थान पर "विराट" के साथ सम्पर्क के कारण विराट और संश्लिष्ट चित्रों की सृष्टि होने लगी। निराला की प्रसिद्ध "जुही की कली" १९१६ में लिखी गई। इस एक कविता ने सभी का ध्यान आकर्षित किया। तुकान्तहीनता, प्रेम की

---

१. हिन्दी के प्रमुखवाद और प्रवर्तक—पृष्ठ ३९।

स्वच्छन्दता व नवीन अप्रस्तुतविधान ही नहीं, 'लघु' की परिसमाप्ति 'विरा होने के कारण भी यह कविता द्विवेदीयुग की रचनाओं से सर्वथा भिन्न अ लेकर आई, द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में इस कविता को प्रकाशित ही किया।

निराला जी के पक्ष में यह कहना आवश्यक है कि उन्होंने नई रचना का हिन्दी में प्रवेश बड़े ही नाटकीय ढङ्ग से किया, उनके व्यक्तित्व अ रचनाओं की स्वच्छन्दता की ओर पाठक प्रुतगति से आकर्षित हुए, अन्य कि कवि की ओर नहीं हुए अतः तृतीय प्रवाह के अवतरण में यदि एक भगीरथ ः जगह यदि दो 'भगीरथ' स्वीकार किए जाएँ तो भी अनुचित न होगा।

जिस प्रकार 'प्रसाद' जी ने नवीन शैली की 'कांति' या छाया औ मोती जैसी तरलता का सम्बन्ध 'कुन्तक' से जोड़ा था और अभिनव रहस्यवा का सम्बन्ध शैवागमों और उपनिषदों से स्थापित किया था, उसी प्रकार निराल जी ने भी अभिनव सौन्दर्य और रहस्य का सम्बन्ध प्राचीन अद्वैतवाद या वेदान्त से स्थापित किया था। वेदान्त से निराला जी ने "आत्मा की मुक्ति" औ "काव्य की मुक्ति" का सन्देश एक साथ ग्रहण किया था। उनकी 'आत्मा की मुक्ति' में "देश और जाति की मुक्ति" का भी सिद्धान्त निहित था अतः एक ओर सौन्दर्य-संग्रह, और उद्याम यौवन का प्रवाह तथा दूसरी ओर क्रान्ति का विकट घोष भी उनमें साथ ही साथ मिलता है—

"साहित्य की मुक्ति उसके काव्य में देख पड़ती है, इस तरह जाति के मुक्ति के प्रयास का पता चलता है; चित्रों की सृष्टि होती है, पर वहाँ उन तमाम चित्रों को अनादि और अनन्त सौन्दर्य में मिलाने की चेष्टा रहती है— **साहित्य में इस समय यही प्रयत्न जोर पकड़ता जारहा है** और यही मुक्ति-प्रयास के चिन्ह भी हैं अब लीलाम्बरी ज्योतिर्मूत्ति की सृष्टि कर चतुर साहित्यिक फिर उसे अनन्त नीलनभ मण्डल में विलीन कर देते हैं, पल्लवों के हिलने में किसी अज्ञात चिरन्तन अनादि सर्वज्ञ को हाथ के इशारे अपने पास बुलाने का इङ्गित करते हैं, इस तरह चित्रों की सृष्टि असीम सौन्दर्य में पर्यवसित हो जाती है और यही जाति के मस्तिष्क में विराट दृश्यों के समावेश के साथ ही साथ स्वतन्त्रता की प्यास को प्रखर तर करते जारहे हैं।"

इस प्रकार छायावादी कवियों की सौन्दर्य साधना और 'रहस्य साधना' दोनों, एक और अभिन्न होकर चली हैं, उनमें प्रेरणा चाहे बाहर से ली गई हो परन्तु उनका रूप-निर्माण भारतीय दर्शन के आधार पर ही हुआ है और अपनी

अन्तिम व्याख्या में इस सौन्दर्य साधना को व्यक्ति और देश के साथ एक कर दिया गया है।

यही नहीं, छायावाद पर जो रीतिकालीनता का दोष लगाया जाता है, वह निराधार है। छायावाद में 'नारी' के सौदर्य को उसी विराट सौंदर्य के साथ एक किया गया है, वह जीवन की प्रेरणादायिनी ज्योतिस्वरूपा शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुई है। जैसे रीतिकाल में छीनी गई उसकी महिमा और गरिमा उसे पुनः वापस मिल गई हो और उससे भी संतुष्ट न होकर जैसे 'नारी' को 'ब्रह्म' का पद दे दिया गया हो—

"साहित्य के एक एक पृष्ठ में एक विकच नारी की मूर्त्ति, तम के अतल प्रदेश में मृणालदण्ड की तरह, अपने शत-शत दलों को संकुचित, संपुटित लेकर बाहर आलोक के देश में अपनी परिपूर्णता के साथ खिल पड़ती है, जड़ों में प्राण संचरित हो जाते हैं—अरूप में भुवनमोहिनी ज्योतिः स्वरूपा नारी !"[१]

इस प्रकार छायावाद ने 'नारी' को सौन्दर्य और प्रेरणाशक्ति के रूप में स्वीकार किया, यह स्पष्ट है। नारी और प्रकृति के सौन्दर्य का एकत्रीकरण एक उच्च चिन्तन भूमि पर होने के कारण छायावादी सौन्दर्य वह कुत्सित प्रभाव नहीं उत्पन्न करता, जो रीतिकालीन काव्य उत्पन्न करता है। द्विवेदीयुग में प्रेमभाव के मुक्त आदान-प्रदान को असंयम माना जाता था, इस सहमी हुई चित्तवृत्ति तथा हृदय के निषेध और जीवन के मधुरतम पक्ष की अवमानना के विरुद्ध छायावाद में जो प्रतिक्रिया हुई, वह न केवल साहित्य के लिए आवश्यक थी अपितु "भारतीय संस्कृति" के व्यापक दृष्टिकोण के प्रसार के लिए भी आवश्यक थी। उसमें द्विवेदीयुगीन आर्यसमाजी साम्प्रदायिकता की छाया भी नहीं है। छायावाद गान्धीयुग की सृष्टि है, सम्पूर्ण भारतीय जाति की अखंडता और एकता के लिए 'विश्वात्मवाद' से प्रेरित होकर नए कवियों ने मानवमात्र के लिए लिखा—द्विवेदीयुग का 'हिन्दूवाद' उसमें नहीं है अतः छायावाद की आधारभूमि अधिक विस्तृत है।

छायावाद की प्रमुख प्रवृति कण-कण में बिखरे हुए 'सौन्दर्य' का दर्शन और उसकी व्यंजना है। साथ ही साथ कवि अज्ञेय सत्ता के प्रति प्रेम-सम्बन्ध भी स्थापित करता है और तब उसकी संज्ञा 'रहस्यवाद' हो जाती है। यह 'रहस्यवाद' भी साधनापरक न होने के कारण अत्यधिक गूढ़ न होकर

---

१. प्रबन्ध-पद्म, पृष्ठ १५६।

सरल और मानवीय है। शुक्ल जी का यह कथन सही है कि छायावाद में "वर्ण्य" का क्षेत्र संकुचित हुआ, अनगढ़ और अनुकरणकर्त्ता कवियों ने कुछ निश्चित शब्दावली की पुनरावृत्ति शुरू करदी, कृत्रिमता आने लगी, अस्पष्ट पदावली का प्रयोग बढ़ा परन्तु छायावाद के श्रेष्ठ कवियों में ये दोष बहुत कम मात्रा में मिलते हैं। 'वर्ण्यविषय' सीमित और सूक्ष्म होने पर भी अपने क्षेत्र के भीतर कवियों ने प्रत्येक पदार्थ से सौन्दर्य का दोहन किया है। छायावाद में जिन पदार्थों का वर्णन हुआ है, वह मोहक बन पड़ा है, जिन भावनाओं का वर्णन हुआ है, उनमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है, यह अपने में एक महान उपलब्धि है।

प्रसादजी और निराला के बाद सुमित्रानन्दन पन्त की रचनाओं ने पाठकों को आकर्षित किया। वीणा में १९१८-१९ की रचनाएँ हैं। ग्रन्थि १९२० में लिखी गई थी और पल्लव में १९१८ से १९०५ तक की रचनाएँ थीं। पन्तजी की रचनाओं में एक अभूतपूर्व कोमलता और प्रकृति के पदार्थों को विस्मित हो हो कर देखने की भावना ने पाठकों को मुग्ध कर दिया। खड़ी बोली के लिए यह कोमलता एक वरदान थी। प्रसाद और निराला में भाव की मधुरिमा और चित्रों का सौन्दर्य तो था, किन्तु कोमलता उतनी नहीं थी। पन्तजी में चित्रों की सुघरता, लक्षणात्मक शैली और पदावली की कोमलता भी थी अतः पन्त जी की रचनाओं ने तृतीयप्रवाह के निर्माण में गंगा-ययुना के बाद 'सरस्वती' का कार्य किया। प्रसाद-निराला और पन्त की वाणी से जो त्रिवेणी प्रस्तुत हुई, खड़ी बोली काव्य के पूर्वकाव्य को पीछे छोड़कर नवशिक्षित वर्ग के हृदय-सिंहान पर अभिषिक्त होगई, सन् १९२० के बाद तृतीयधारा प्रतिष्ठित होगई।

छायावादी कविता प्रकृति और प्रेम के क्षेत्रों में ही सिमिट कर चली। पन्तजी ने रोमानी कवियों से प्रत्यक्षतः भावों और विचारों को ग्रहण किया। टेनीसन की शब्दकला और वर्डसवर्थ तथा शेली (Shelley) से प्रकृति-वर्णन की प्रेरणा ली। विवेकानन्द तथा प्राचीन भारतीय दर्शन से भी अपने सर्ववाद के लिए भी वह प्रेरित हुए किन्तु पल्लव काल तक की रचनाओं में शिशुओं जैसी जिज्ञासा, कोमलता और प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति अपरिमित लालसा ही अधिक व्यक्त हुई, उनके चित्र अपेक्षाकृत सरल, स्फुट और अनुप्रास और संगीतमयी भाषा के कारण अधिक प्रचलित हुए। इस प्रकार प्रसाद, निराला और पन्त अपनी विशिष्टिताओं के साथ-साथ एक ही भावभूमि पर स्थित दिखाई पड़ते हैं।

यह कहा जा चुका है कि द्विवेदीयुग में श्रीधर पाठक गोल्डस्मिथ से प्रेरित हुए थे। द्विवेदीयुग में वर्डसवर्थ की "सामान्यजन की भाषा" में काव्य लिखने के सिद्धान्त से द्विवेदी जी ने प्रेरणा ली थी, किन्तु वर्डसवर्थ का सहज जिज्ञासामूलक प्रकृति-चित्रण द्विवेदीयुग में नहीं आपाया था। छायावाद में वर्डसवर्थ, कीट्स और बायरन और सबसे अधिक शेली से प्रेरणा ली गई। पन्त जी पर इन इन रोमाँटिक कवियों का सीधा प्रभाव दिखाई पड़ता है। कई जगह पन्तजी ने उनकी शब्दावली का भी अनुकरण किया है किन्तु पन्तजी को अनुकरणकर्त्ता कहना काव्य-प्रक्रिया से अनभिज्ञता प्रकट करना है। प्रेरणा ग्रहण करना एक बात है और उधार लेकर यथावत् रूप में दूसरों के भावों और शब्दों को प्रस्तुत करना दूसरी बात है। पन्तजी ने प्रेरणा ग्रहण की है, उसे भारतीय वातावरण में अपनी चेतना के माध्यम से पन्तजी ने प्रस्तुत किया है, मधुमक्खी विभिन्न पुष्पों से रसग्रहण करती है किन्तु उसे आत्मसात करके जब वह 'मधु' के रूप में एकत्र करती है तब मूल पुष्परस और मधु में स्पष्ट अंतर दिखाई पड़ता है। सम्पूर्ण सत्कवियों में यह गुण मिलता है। पन्तजी में भी यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। कई स्थानों पर केवल 'अनुकृति' भी मिल सकती है परन्तु समग्रतः पन्तजी अवश्य मौलिक कवि हैं।

समग्रतः उक्त तीनों कवियों का काव्य स्वच्छन्दतावादी काव्य कहा जा सकता है और योरोप के स्वच्छन्दतावादी काव्य से उसकी तुलना भी की जा सकती है, उसी तरह जिस तरह द्विवेदीयुगीन प्रवृत्तियों की तुलना, एक सीमा तक, डा० जान्सन के युग के साथ की जा सकती है किन्तु उस तुलना में भिन्न भारतीय परिस्थितियों पर भी पर्याप्त बल देने की आवश्यकता है।

भारतेन्दु के उत्तरकाल में पोप, गोल्डस्मिथ, टामसन, ग्रे, कूपर, वर्डसवर्थ स्काट, बायरन, आदि की कविताओं के अनुवाद हुए थे। "भारतेन्दुयुग में विश्वविद्यालयों में हर्मिट डैज़र्टिडविलेज तथा ट्रैवलर पढ़ाए जाते थे"। श्रीधर पाठक ने इन रचनाओं के अनुवादों में भारतीय वातावरण प्रस्तुत किया था और "प्रकृति-वर्णन" को स्वतन्त्र रूप से काव्य में स्थान देने के लिए कवियों को प्रेरित किया था। पाठक जी ने ग्रे के "शेफर्ड एण्ड फिलासफ़र" नामक रचना का अनुवाद भी "गड़रिया और आलिम" के नाम से किया था।

हम कह चुके हैं कि 'प्रेमघन' के "जीर्ण जनपद" में भी प्रकृति-सुषुमा का स्वतन्त्र चित्रण मिलता है। श्रीधर पाठक और प्रेमधन आदि के प्रयत्न से खड़ीबोली और ब्रजभाषा दोनों में पुरानी रीति-परम्परा कमजोर हुई।

१९०९ ई० में लल्लीप्रसाद पांडेय का 'कविता का दरबार' शीर्षक लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। इसमें होमर, वर्जिल, दाँते, चासर, स्पेन्सर, शेक्सपियर, मिल्टन, ड्राइडन, कूपर, लौंगफेलो, बर्न्स, कालरिज, मूर, साउदे, शेली और टेनीसन की चर्चा की गई है।[1] अँगरेजी कवियों के अपनी भाषा के प्रति प्रेम, विद्रोह और विप्लव की प्रवृत्ति, तथा स्वतन्त्रता के प्रति-प्रिय भाव द्विवेदीयुग मे पाठकों के सम्मुख लाए गए। स्वयं द्विवेदीजी ने बायरन, जेम्स-टेलर, शेक्सपियर, ग्रे आदि की रचनाओं के अनुवाद 'सरस्वती' में प्रकाशित कराए। द्विवेदीयुग पर बेंथम और मिल के अतिरिक्त 'रूसो' का भी प्रभाव पड़ा था।[2]

इस प्रकार हिन्दी में पूर्ण स्वच्छन्दतावादी आंदोलन (छायावाद) की एक पृष्ठभूमि द्विवेदीयुग में ही प्रस्तुत हो रही थी किन्तु वर्डसवर्थ की काव्य-परिभाषा और काव्य से प्रभावित होने पर भी द्विवेदीयुग में शुद्ध स्वच्छन्दता-वाद 'सरस्वती' द्वारा प्रस्तुत न होकर 'प्रसाद' जी के 'इन्दु' द्वारा हुआ, जो धीरे-धीरे अपनी कलाएँ विकसित कर रहा था। रवीन्द्रसहाय वर्मा का कथन है कि उस समय 'पोप' के "मारल एसेज़", "एसे औन मैन" तथा "एसे आन क्रिटिसिज़्म" का प्रभाव नवशिक्षितों पर बहुत अधिक था। द्विवेदी जी से प्रभावित कवियों पर पोप का विशेष प्रभाव था। जगन्नाथ दास रत्नाकर ने ब्रजभाषा में पोप के "एसे आन क्रिटिसिज़्म" का अनुवाद किया था।

अतः द्विवेदीयुग में स्वच्छन्दतावाद का पूर्ण विकास नहीं हो सका, परन्तु उसी के गर्भ में स्वच्छन्दतावाद का विकास हो रहा था, यह प्रसाद तथा निराला की रचनाओं से स्पष्ट है। काव्य की 'शुद्ध पद्धति' का भी आविष्कार हो रहा था और द्विवेदी जी के प्रभावक्षेत्र के बाहर के कवि उपदेशवाद की उपेक्षा कर रहे थे। स्वयं द्विवेदीजी से प्रभावित कवियों में उद्गारों को सरल भाषा में व्यक्त करने की प्रवृत्ति थी (यद्यपि उसमें वैयक्तिक भावना का अपेक्षाकृत अभाव था, यह कमी छायावाद में पूरी हुई।)

द्विवेदीयुग और पोप जान्सनयुग में कुछ समताएँ और कुछ भिन्नताएँ भी मिलती हैं। नियमबद्धता के प्रति पोप-जान्सन की अत्यधिक आसक्ति थी। द्विवेदीयुग में संस्कृत छन्दों के प्रति आसक्ति में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

---

१. हिन्दी पर आंग्ल प्रभाव—रवीन्द्र सहाय वर्मा, पृष्ठ ८९।
२. वही, ९२

जान्सन की कठोर नैतिकतावादिता भी द्विवेदीयुग में अपना सादृश्य प्रस्तुत करती है। डा० जान्सन जैसा कठोर अनुशासन द्विवेदीजी भी लेखकों पर प्रदर्शित करते रहे परन्तु द्विवेदीयुग में 'उद्गारात्मक' काव्य जान्सनयुग से अपनी भिन्नता भी प्रदर्शित करता है। जान्सनयुग में "नागरिक कविता" ही अधिक हुई, प्रकृति के प्रति उसमें आसक्ति नहीं मिलती किन्तु द्विवेदीयुग में 'प्रकृति' का वर्णन भी हुआ और चित्रण भी यद्यपि उसमें कवि अपनी अंतर्भावना नहीं भर सके फिर भी प्रकृतिसौन्दर्य स्वयं अपने में एक स्वतन्त्र विषय बन गया। 'प्रियप्रवास' के कवि ने कथा की चिन्ता न करके बीच-बीच में प्रकृति-वर्णन भरे हैं। पोप-जान्सनयुग में "पार्टी-साहित्य" प्रचलित हुआ था। ह्विग और टोरी दलों के राजनीतिज्ञ लेखकों को साथ लेकर चले अतः एक दूसरे पर आक्षेपों का तत्कालीन साहित्य में प्रादुर्भाव हुआ। द्विवेदीयुग में 'आक्षेप' को अधिक महत्त्व नहीं मिला किन्तु अँगरेजों के विरुद्ध आक्षेपों, व्यंग्यों और परिहासात्मक पद्यों का अभाव नहीं है। अतः पोप-जान्सनयुग और द्विवेदीयुग में समताओं के साथ भिन्नताएँ भी हैं, इसमें संदेह नहीं।[१] द्विवेदीयुग

---

१. **जोन्सन-पोपयुग की नियम-प्रियता चासर, शेक्सपियर तथा स्पेन्सर जैसे महान कलाकारों से भिन्न अन्य सामान्य कोटि के कवियों द्वारा कला के अनुशासन से रहित केवल अंध-उद्गारों की अभिव्यक्ति की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न हुई थी—**

But, when the art of poetry is making, the second rate poets, inspired only their feelings, will write in a "natural" style unrestrained by rules, that is, they will put their feelings into verse without caring much for the form in which they do it,.....this is the general history of the style of the second-class poets of the middle period of Elizabeth's reign and even shakespeare affords examples of this want of art.

English literaturc—S. A. Brooke and G. Sampsun p. 114

द्विवेदीयुग के पूर्व यह परिस्थिति नहीं थी। भारतेन्दुयुग के खड़ीबोली के काव्य का ही अगला पग द्विवेदीयुग का काव्य था। ब्रजभाषा काव्य के 'वर्ण्यविषयों' और 'विलासिता' के विरुद्ध द्विवेदीयुग ने अवश्य विद्रोह किया। इसके अलावा जान्सन-पोप युग के 'पार्टी-

पोप-जान्सन और गोल्डस्मिथ ग्रे, कूपर, बर्न्स आदि पूर्वस्वच्छन्दतावादी कवियों को एक साथ अपना कर चला था।

फिर भी छायावादी या स्वच्छन्दतावादी काव्य में द्विवेदी जी की कठोर नैतिकतावादी, उपदेशवादी तथा बहिर्मुखी प्रवृत्तियों के विरुद्ध उग्र प्रतिक्रिया हुई और छायावादी कवि विवरणात्मक, आख्यानात्मक, काव्य को छोड़कर प्रकृति प्रेम और समाज के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रियाओं को अत्यधिक आभ्यन्तरिक पद्धति पर व्यक्त करने लगे। सीधे बुद्धि या नैतिक भावना की अपील करने के स्थान पर धूप-छाँह-प्रधान सुन्दर चित्रों को बुनने लगे, जिसने हमारे सौन्दर्य बोध को सर्वथा परिवर्त्तित कर दिया।

योरोप के स्वच्छन्दतावादी कवियों में मुख्य स्वर इस प्रकार थे—

सौन्दर्यवाद—पोप-जान्सन युग के बाद स्वच्छन्दतावादी कवियों में "प्रकृति और नारी" के सौन्दर्य से कवि प्रेरणा लेने लगे। सूफियों की तरह कण-कण में इन्हे 'सौन्दर्य' के दर्शन होते थे।[२] 'सौन्दर्य' को सिद्धान्त और जीवन तथा काव्य के उद्देश्य के रूप में ये कवि स्वीकार करके चलते दिखाई पड़ते हैं। सामान्य से सामान्य वस्तु में सौन्दर्य की झलक देखकर ये कवि शिशुओं के समान किलक उठते हैं। जीवन की कुरूपता, और कर्दम के विरोध में ये कवि इस सौन्दर्य को प्रस्तुत करते हैं। नागरिक जीवन की कृत्रिमता और कष्ट के विरुद्ध ये कवि प्रकृत जीवन, प्रकृत भाषा और अनागरिक चित्रों की प्रकृति के सौन्दर्य को प्रस्तुत करते हैं। 'सौन्दर्य' शास्त्रीय काव्य में कम नहीं है किन्तु अपने समय के गलितकुष्ठ सामाजिक क्रम से असंतुष्ट प्राकृतिक सुषुमा और प्राकृतिक जीवन को ये कवि जिस उत्सुकता और कौतूहल से देखते

काव्य' की भूमि भी यहां नहीं बनी थी—किन्तु जान्सन-पोप युग के प्यूरिटन कवियों और लेखकों के द्वारा राज्यदरबार के भोगवाद के विरुद्ध प्रदर्शित कठोर नैतिकतावाद द्विवेदीयुग में अवश्य मिलता है। इस दृष्टि से Andrew Marvell के व्यंगों (Satires) के साथ द्विवेदी जी के 'उपदेशवादी' रचनाओं की आत्मा में एकता दिखाई देगी।

2. I have loved the principle of Beauty in all things and if, I had time, I would have made myself remembered.

—Keats

हैं, वह कौतूहल पुराचीन काव्य में नहीं मिलता। स्वच्छन्दतावादी सौन्दर्य बाह्य नियमों—सावयवता, सामञ्जस्य, आदि पर आधारित न होकर आंतरिक अनुभूति पर आधारित है।

'सौन्दर्य' एक सिद्धान्त, एक आंतरिक विश्वास के रूप में द्विवेदीयुग में स्वीकृत नहीं था। वहाँ सौन्दर्य-साधना अवान्तर रूप में हुई है। छायावाद में इसे "सर्वस्व" मानकर कवि चल पड़े अतः बाह्य दृष्टि से साहित्य को देखने वाले विचारकों ने घोषित किया कि छायावादी को न देश की चिन्ता है और न समाज की, उसे केवल अपने "अहं" और "स्व" की चिन्ता है। इस आक्षेप को बल तब और मिलता गया जब छायावादी कवियों ने अपनी 'जनभीरुता' का परिचय दिया। छायावादी सभी कवि "एकान्तसाधक" रहे, जबकि द्विवेदी-युग का एक भी कवि 'एकान्तसाधक' न था। अतः छायावाद के 'सौन्दर्यवाद' के भी दो पक्ष हैं, एक उसे द्विवेदीयुग के उपदेशवाद से अलग कर काव्य में स्वतंत्र' स्थान देता है और उसके प्रभाव से काव्य बुद्धि और नैतिकभावना के अतिरिक्त हमारे "सौन्दर्य-बोध" को अपील करने लगता है, यह उसका उज्ज्वल पक्ष है, दूसरा पक्ष उसे 'जनसंघर्ष' से दूर करता है। इस पक्ष की स्वयं छायावादियों ने आलोचना की किन्तु आगे चल कर यह भुला दिया गया कि छायावाद सौन्दर्य के प्रथम पक्ष की दृष्टि से सर्वदा अनुकरणीय रहेगा। काव्य का एक प्रमुख कर्त्तव्य विभिन्न पदार्थों में अवस्थित सौन्दर्य का संचय भी है। "नई कविता" की सौन्दर्य-संग्रही प्रवृत्ति स्पष्टतः छायावादी प्रवृत्ति है और प्रशंसनीय है। काव्य जिस प्रकार कर्म और हृदय के सौन्दर्य या भावना के सौन्दर्य का चित्रण करता है, उसी प्रकार पदार्थों से सौन्दर्य का दोहन भी करता है।

छायावाद में हृदय का सौन्दर्य कवियों की सहज विस्मयभावना, मानवमात्र के प्रति अनुराग, समता का उद्घोष, स्वतन्त्रता के प्रति अमिट प्यास, नारी के प्रति सम्मान, उसकी महिमा और सुषमा के गायन और देश तथा समाज के लिए अद्भुत, अपूर्व स्वर्ग के निर्माण के लिए अटूट विश्वास के रूप में व्यक्त हुआ है अतः योरोप के रोमानी कवियों की 'सौन्दर्यवादी' प्रवृत्ति अपने सभी रूपों में छायावाद में मिलती है। निश्चितरूप से कवियों ने योरोप से नया दृष्टिकोण अपनाया है परन्तु उसे आत्मसात करके भारतीय प्रकृति और भारतीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है।

भावातिरेक—योरोप के रोमानी काव्य की द्वितीय विशेषता भावातिरेक है (expense of enthusiasm) है। हरिऔध और गुप्त जी की कृतियों

में जो 'उद्गार' मिलते हैं, उन्होंने छायावादी भावातिरेक का मार्ग स्वच्छ किया था किन्तु द्विवेदीयुग और छायावादी भावातिरेक में अंतर है—छायावादी भावातिरेक वैयक्तिक है, वैयक्तिक का अर्थ यह नहीं है कि उसका साधारणीकरण नहीं होता किन्तु भारतीय काव्यशास्त्र में कवि के वैयक्तिक अंश का सम्भान होने पर भी छायावाद वैसा वैयक्तिकतावाद नहीं मिलता। "मैं" के माध्यम से छायावादी कवि प्रकृति और समाज के प्रति निजी प्रतिक्रियाओं को मुक्त रूप से वाणी का विषय बनाता है। जयद्रथवध और प्रियप्रवास में कवि विभिन्न पात्रों के भावों के साथ तादात्म्य करके उनके उद्गारों को व्यक्त करता है, किन्तु छायावादी काव्य में कवि हृदय को टटोलता है, वह अपनी 'अनुभूति' को समाज के सम्मुख रखता है। और चूँकि कवि की 'निजी' भावनाओं में हम अपनी भावनाओं का भी प्रतिबिम्ब देखते हैं—अतः उन 'व्यक्तिगत' अनुभूतियों का साधारणीकरण अवश्य होता है, विशेषकर प्रेम और प्रकृति के क्षेत्र में छायावादी कवियों के उद्गार हमारे हृदय के निकट प्रतीत होते हैं। द्विवेदीयुग में निजी भावनाओं को व्यक्त करने में 'अशिष्टता' का भय रहता था। छायावाद में कवि कहीं निर्भय होकर और कही संकोच के साथ अपनी प्रेम की भावनाओं का निवेदन करता है, कहीं प्रकृति के माध्यम से वह अपने सुख-दुःख और आशा-आकांक्षाओं का वर्णन करता है और कहीं सीधे 'समाज' पर प्रहार करता है। यह मानना होगा कि कवियों का विरोध और उत्ताप सर्वत्र "समान्य हृदय" का प्रतिनिधित्व नहीं करता और छायावादी काव्य मे एक अवश्य ऐसा अंश है जो "अतिशय व्यक्तिगत" है किन्तु बहुत सा अंश ऐसा भी है जहाँ कवियों का भावातिरेक हमें विचित्र नहीं लगता। उसका साधारणीकरण हो जाता है। प्रश्न यह है कि क्या इस 'साधारणीकरण' और प्राचीन काव्य के 'साधारणीकरण' में अन्तर नहीं है ? उत्तर यह है कि आँसू (पन्त) आँसू (प्रसाद) उच्छ्वास (पन्त) आदि कविताओं में इन कवियों के उद्गार पुराने काव्यों के उद्गारों से प्रकृत्या अधिक भिन्न नहीं है। भविष्य के सम्बन्ध में इन कवियों की आशा आकांक्षाएँ भी हमें विचित्र नहीं लगतीं, किन्तु कवि जिस प्रकार अपने को सर्वथा गुप्त रखकर निश्चित-पैटर्न पर कल्पित पात्रों की सामान्य या स्थायी-भावों को वाणी देकर 'रस विशेष' की सृष्टि करता था, उससे छायावादी कवियों के उद्गारों में यह अंतर अवश्य है कि सर्वत्र उसके व्यक्तित्व का स्पर्श हमें अनुभूत होता चलता है—अतः छायावादी उद्गार न तो प्राचीनकाव्य से इतने भिन्न हैं कि उनका साधारणीकरण ही न हो सके और न वे उद्गार इतने 'सामान्य' हैं कि उनमें कवि के व्यक्तित्व का स्पर्श ही न हो।

दूसरा अन्तर छायावादी भावातिरेक में यह है कि उसे जिस लक्षणात्मक शैली में और नए अप्रस्तु विधान द्वारा व्यक्त किया है, उससे प्रारम्भ में पुराने पाठकों को बड़ी उलझन होती थी परन्तु धीरे-धीरे नई शैली से परिचित हो जाने पर नए काव्य में हार्दिकता विचित्र प्रतीत नहीं हुई।

छायावादी भावातिरेक इसलिए भी कुछ विचित्र लगा कि वह प्रकृति के माध्यम से भी व्यक्त हुआ है। प्राचीन काव्य में प्रकृति अप्रधान और मानवीय भावनाएँ प्रधान रही हैं अतः प्रकृति या तो पृष्ठभूमि के रूप में अथवा भावनाओं को उद्दीप्त करने के माध्यम के रूप में प्रयुक्त हुई है। छायावाद में कवि अपने उद्गारों को प्रकृति-वर्णन करते समय अप्रत्यक्ष रूप से और कहीं प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त करता था। अतः परम्परागत पाठक को उलझन होती थी। द्विवेदीयुग में इस पद्धति की प्रथम झलक 'प्रियप्रवास' और रामनरेश त्रिपाठी के काव्यों में मिलती है किन्तु यत्र-तत्र ही।

अँगरेजी के रोमानी काव्य में वडर्सवर्थ ने काव्य की परिभाषा ही यही की कि काव्य 'प्रबल भावनाओं' को व्यक्त करता है। उसकी परिभाषा के दूसरे अंश—(Recollectead in tranquility) पर द्विवेदीयुग ने ध्यान नहीं दिया था। छायावाद में कहीं 'मैं' के माध्यम से प्रबल उद्गार भी हैं और शान्त मानसिक अवस्था में प्रबल उद्गारों को स्मरण करती हुए चित्तवृत्ति द्वारा चित्रण भी हैं। वडर्सवर्थ, शेली, कीट्स, बायरन आदि ने अपने हृदय की भावनाओं को जिस प्रकार नई शैली में निःसंकोच व्यक्त किया था, उसी प्रकार प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी तथा परवर्ती छायावादी कवियों अंचल, नरेन्द्र और बच्चन ने भी अपनी भावनाओं के लिए काव्य में कोई कृपणता नहीं बरती। बच्चन, नरेन्द्र आदि में अधिक वैयक्तिक अंश उनके भावातिरेक की विशेषता है।

कृत्रिमता के विरुद्ध सादगी का विद्रोह (Instinct for elemental Simplicity)—पोप-जान्सन युग की भाषा में कृत्रिमता थी। उस युग का लेखक सामान्य प्रातःकाल को "अरोरा", सामान्य व्यक्ति को काव्य-हंस तथा चन्द्रमा को "निशा का देदीप्यमान दीपक" कह कर ही पुकार सकता था। रोमांटिक काव्य में—विशेषकर वर्डसवर्थ के काव्य में सादी भाषा में जन-साधारण के जीवन के सौन्दर्य का चित्रण किया गया। यद्यपि सादी भाषा का सिद्धान्त पूर्णतः नहीं चल सका परन्तु सामान्य पदार्थों और सामान्य व्यक्तियों के जीवन के सौन्दर्य की ओर नए कवियों ने बड़ी लालसा से देखा। 'रूसो'

के प्रभाव से कवि नागरिक जीवन को सभ्यता की व्याधि मानने लगे थे और प्रकृति और प्राकृतिक जीवन के प्रति पुनः प्यास उत्पन्न होगई थी। हमारे यहाँ द्विवेदीयुग में यह कृत्रिमता नहीं थी क्योंकि यहाँ देश को मुक्त करने का प्रयत्न सर्वोपरि था। चूंकि द्विवेदी युग में वर्डसवर्थ की "व्यावहारिक भाषा" का सिद्धान्त भाषा में सौन्दर्य नहीं ला पाया था अतः छायावादियों ने प्रारम्भ से ही 'अलंकृत भाषा' का प्रयोग किया क्योंकि अन्ततः नए कवियों के सम्मुख अपने साहित्य की समस्याएँ भी प्रमुख थीं। इस 'अलंकृत भाषा' और अलंकृत वर्णनों के कारण छायावाद सामान्य जनता में प्रचलित नहीं हो सका किन्तु काव्य की दृष्टि से वह उच्चतर काव्य की सृष्टि में सफल हुआ। सामान्य व्यक्ति की 'बुभुक्षा' और 'अभावों' का वर्णन छायावाद में बहुत कम मिलता है यद्यपि सहानुभूति वहाँ अवश्य विद्यमान है अतः 'प्रकृति' के क्षेत्र में ही रूसो का प्रभाव छायावाद पर अधिक दिखाई पड़ता है। रूसो और रोमांटिक कवियों की प्रेरणा से छायावाद 'प्रकृति' के अंचल में शरण अवश्य लेने लगा—जीवन की कुरूपता और समाज की शृंखलाओं से मुक्ति के लिए कवियों ने प्रकृति की ओर देखा। प्राकृतिक पदार्थों की ताज़गी, सजीवता, स्वच्छन्दता और सुषुमा छायावादी कवि ने 'आत्मतोष' के रूप में अपना ली, यहाँ तक कि कभी कभी तो नारी के 'बाल जाल' में लोचन 'उलझाने' से भी उसने दृढ़तापूर्वक मना कर दिया।

मानवतावाद—'सामान्य' में असामान्य सौन्दर्य की शोध के अतिरिक्त योरोप के रोमांटिक कवियों पर 'रूसो' के मानवतावाद तथा गाडविन के अराजकतावाद का भी प्रभाव पड़ा। १८वीं शताब्दी के अन्तिम दर्शकों तथा १९वीं शताब्दी में राजनैतिक तथा सामाजिक विचारकों का यह विश्वास था कि मनुष्य स्वभावतः 'भद्र' होता है। सभ्यता उसे जघन्य और कृत्रिम बनाती है, विभिन्न बन्धनों की सृष्टि करती है, उसमें धन, पद और विषमता के प्रति लोभ उत्पन्न करती है। इन विचारकों के अनुसार भविष्य में समाज समानता, भ्रातृत्व और स्वतन्त्रता पर आधारित होगा। १८वी शताब्दी में ही यह विचार मार्क्विस (Marquis De condorcet) के दर्शन में मिलता है कि सभ्यता उच्चतर व्यवस्था की ओर गतिमान है और भविष्य में मनुष्य-स्वभाव सर्वथा दोषरहित और समाज समानता पर आधारित होगा। यह मान लिया गया कि पूर्व युगों के जड़ नियमों द्वारा आगे के समाज को बाँधना 'अनैतिहासिक' और 'अबौद्धिक' कार्य है। भविष्य के ऐसे सुखद स्वप्न 'युटोपियन समाजवादियों' के ग्रन्थों में भी मिलते हैं—वर्डसवर्थ,

कालरिज, साउदे तथा शेली की कविताओं में मानवता के भविष्य के सुखद स्वप्न सुरक्षित हैं।[१]

रूसो के 'सोशल कंट्राक्ट' और 'एमली' तथा यूटोपियन समाजवादियों की विचारधारा सारे योरोप में फैल गई थी। 'रूसो' का विचार था कि मनुष्य जन्मतः भद्र उत्पन्न होता है, सभ्यता ने उसमें बुराइयाँ उत्पन्न की हैं। "एमिली" में कहा गया है कि "ईश्वर ने सभी वस्तुएँ अच्छी उत्पन्न की हैं। समय ने उन्हें कुरूप ओर बीभत्स बना दिया है," अतः कवियों में मानवता के स्वर्गीय भविष्य की कल्पाएँ स्वभावतः ही वाणी का विषय बनने लगीं। इस व्यापक मानवतावाद में, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के सुख, समृद्धि, समान अवसर और स्वतन्त्रता का प्रचार किया गया था, देश जाति और धर्म की सीमाएँ नहीं थीं अतः 'विश्वमानवतावाद' के रूप में यह सर्वत्र सम्मानित हुआ। प्रसाद, निराला, पन्त आदि ने भी 'भारतीय विश्वबन्धुत्व' से प्रेरणा लेकर उसे हिन्दी में व्यक्त किया—'शेली' ने जिस तरह तात्कालिक सामाजिक रूढ़ियों और कुत्साओं के विरुद्ध तूफानी कविताएँ लिखी हैं, उसी तरह पन्त ने परम्परा-वाद का खंडन और निराला ने क्रान्ति का शंखनाद किया है किन्तु भारत में परिस्थिति दूसरी थी--विदेशी आधिपत्य के विरुद्ध स्वतन्त्रता का स्वर तथा जड़ परम्पराओं और रूढ़ियों के विरोध के बावजूद छायावाद में अपने भारतीय अतीत के प्रति 'भक्ति' अवश्य मिलती है, बल्कि भारतीय अतीत से प्रेरणा लेकर ही छायावादियों ने अपने "विश्व बन्धुत्ववाद", सब क्षेत्रों में 'स्वतन्त्रता' और "समानता" पर आधारित मानवीय सम्बन्धों की घोषणा की है और ऐसी कविताओं में छायावादी कवि 'पैग़म्बरी मुद्रा' में बोलता है--द्विवेदी युग की संकीर्णता का यहाँ स्पर्श भी नहीं है।

अतः छायावादी मानवतावाद रोमानी प्रवृत्तियों में एक प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में आया था यद्यपि उसका भारतीयकरण भी किया गया है।

व्यक्तिवाद—गोर्की ने व्यक्तिवाद के विषय में लिखा है कि व्यक्तिवाद बाहरी दबाव से उत्पन्न होता है, वर्गवादी समाज में 'दबाव' स्वाभावतः रहता है। व्यक्तिवाद अत्याचार से अपनी रक्षा करने का एक असफल प्रयत्न होता है।[१]

---

1. Recent Political thought—F. W. Coker, Page 28.
1. Individualism results from pressure on man from without from class society ; individualism is the fultile attempt of the individual to protect himself from tyranny.
(Articles and Pamphlets—p. 255)

योरोप के रोमानी कवियों में यह व्यक्तिवाद स्पष्टतः मिलता है। शेली, बायरन आदि वर्गवादी समाज के दबाव से मुक्ति चाहते हैं किन्तु १९वीं शताब्दी के ये कवि यह स्पष्टतः नहीं समझ सके कि अंततः वर्गवादी समाज के स्थान पर वर्गहीन समाज की स्थापना का व्यावहारिक उपाय क्या है ? शोषित वर्गों के संगठन के स्थान पर ये कवि मानव की सदिच्छाओं को जाग्रत करते हैं, या भविष्य के स्वप्नजाल बुनते हैं, इसके अतिरिक्त वे बाह्य दबाव से आत्मरक्षा के लिए अपने "स्व" में निमग्न होने लगते हैं।

यह प्रवृत्ति छायावादी कवियों में भी दिखाई पड़ती है, 'प्रसाद' में 'स्व' में निमग्न होने की प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही मिलती है। एक मनोराज्य में मग्न होने की प्रवृत्ति पन्त और महादेवी में भी है। निराला में यह प्रवृत्ति उनके 'रहस्यवाद' में दिखाई पड़ती है, पन्त जी तो 'स्वप्नद्रष्टा' हैं ही, अपनी निजी भावनाओं, और निजी स्वप्नों को वाणी देने की प्रवृत्ति छायावाद में प्रारम्भ से ही दिखाई पड़ती है। व्यक्तिवादी कवि अपने अंतस् के अवलोकन में मग्न रहता है। वह समष्टि के ऊपर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर पाता। १९२० ई० के आस-पास छायावाद का रूप निश्चित होने लगता है किन्तु यह समय राष्ट्र और समाज के लिए 'संघर्ष' का समय था। इसके सिवा कोटि-कोटि जनता का दैन्य, अशिक्षा, असंगठन आदि युगद्रष्टाओं के लिए एक चुनौती के रूप में सम्मुख उपस्थित था किन्तु ऐसे समय में छायावाद का "मैंवाद" उसके व्यक्तिवाद को स्पष्ट करता है। समाज-विज्ञान का छायावाद के प्रारम्भ में एक प्रकार से अस्तित्व ही नहीं था अतः छायावादी कवि वह नहीं समझ सका कि भारत की मुक्ति सर्वहारावर्ग तथा कृषकों के संगठन में है अतः छायावादी कविता का कुछ अंश ऐसा भी है जो व्यावहारिक समाधान के अभाव में अंतर्मुख हो गया है—आत्मतोष, आत्मशान्ति, आत्मगौरव, आत्मरोदन आदि तत्त्व जो छायावाद में मिलते हैं, ये व्यक्तिवाद के ही विभिन्न रूप हैं। छायावादियों का 'अहं' जो असीमित और चिरन्तन के छोर छूता हुआ दिखाई पड़ता है, वह भी व्यक्तिवाद का ही एक रूप है। व्यक्तिवादी 'सामान्य' में असमान्य सौन्दर्य की शोध भले ही कर ले किन्तु वह सामान्य व्यक्ति से अपने को 'दूर' समझता है। वह 'दूरस्थित' दर्शक या 'द्रष्टा' की तरह बाह्य सत्यों और वास्तविक घटनाओं को मानसिक घटनाओं के रूप में ही देखता हैं। वह कुरूपता, कुत्सा और दारिद्रय से घृणा करता है किन्तु स्वयं 'शालीन' और 'सुखी' जीवन व्यतीत करता है। अपने को 'समष्टि' में मिला देने का नैतिक साहस व्यक्तिवादी में नहीं होता। वह कल्पना से यथार्थ जगत की कटुता और कमी को दूर करके "स्वर्गिक

स्पर्शों" के सुख में मग्न रहता है और इस प्रकार बाह्य अत्याचार यथावत् बना रहता है क्योंकि उसके नाश के लिए वास्तविक प्रयत्न में वह योग नहीं देता। पन्तजी ने इसी व्यक्तिवाद से चिढ़कर कहा था कि छायावाद 'अलंकृत संगीत' बन कर रह गया, उसके स्वप्न खाद्य, मधु और पानी नहीं बन सके थे !

बीसवीं शताब्दी के प्रथम तथा द्वितीय दशक में, हमारे देश में परम्परागत उत्पादन के साधनों में परिवर्तन 'अनुभव' होने लगा था। मध्य-कालीन समाज में 'वैयक्तिक स्वतन्त्रता' का सिद्धान्त पनप ही नहीं सकता था। औद्योगिक विकास ने व्यक्ति को 'स्वच्छन्दता' और 'आत्मगौरव' दिया यद्यपि वह वास्तविक न होकर भ्रमपूर्ण था। 'वैयक्तिक स्वच्छन्दता' के नारे से लाभ उस वर्ग को हुआ जो औद्योगिक विकास में अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए तल्लीन था। फ्रान्स और इंगलैंड में 'स्वच्छन्दता, भ्रातृत्व और समानता' के नारे मध्य-कालीन सामंती व्यवस्था को अपदस्य करने में सफल हुए थे और पूँजीपतिवर्ग की निरंकुश स्वच्छन्दता की स्थापना में सहायक हुए थे। 'निरंकुशलाभ' ही इसका फल था किन्तु इससे 'श्रम' मध्यकालीन बन्धनों और सीमाओं से स्वतन्त्र हो गया। भारतवर्ष में पूँजीवाद का विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ किन्तु सन् २० तक उसकी बुनियाद काफी मजबूत हो चुकी थी अतः योरोप के पूँजीवाद के अभ्युदय के समय के नारों को यहाँ भी अपनाया गया और मानवमात्र की स्वतन्त्रता, सम्मान और समानता के संदेश ने 'व्यक्ति' को एक अभूतपूर्व 'गौरव' दिया। यह 'गौरव' कुछ व्यावहारिक रूप में भी बदल रहा था। नवीन शिक्षा-संस्थानों—विश्वविद्यालयों, कालेजों और स्कूलों में मध्यकालीन भेदभाव लुप्त होने लगा था—जाति, सैक्स और दूसरे आधारों पर आधारित ऊँच नीच की भावना की समाप्ति का श्रीगणेश हो चुका था। जाति और धर्म के आचार और बन्धनों के प्रति इसीलिए कठोर प्रतिक्रिया हुई और व्यक्ति के गौरव के गीत गाए जाने लगे। यद्यपि समाज का अधिकांश और निर्णायक वर्ग वास्तविक अधिकारों से वंचित था तथापि छायावादी काव्य के व्यक्तिवाद ने उसमें 'आत्मगौरव' उत्पन्न करना प्रारम्भ कर दिया। द्विवेदीयुग में ही यह प्रवृत्ति प्रारम्भ हो चुकी थी परन्तु 'व्यक्तिवाद' का स्पष्ट रूप छायावाद में ही मिला। चूंकि पूँजीवाद सामान्तवाद से आगे की विकास-शृंखला है अतः यह 'व्यक्तिवाद' इस दृष्टि से एक "प्रगतिशील" कदम था। 'व्यक्तिवाद' व्यावहारिक रूप में 'मध्यवर्ग' की रक्षा और विकास के लिए भी आवश्यक था जिसमें विभिन्न जातियों और वर्गों से लोग आ रहे थे।

वेदनावाद या दुःखवाद—रोमांटिक काव्य की एक धारा दुःखवादी भी है। 'प्रसाद', में 'वेदना की विवृत्ति' प्रारम्भ से ही मिलती है। कीट्स, शेली आदि की रचनाओं में 'वेदना' का स्वर स्पष्ट सुनाई पड़ता है। जो कवि एक ओर सौन्दर्य के साधक हैं, वे ही दूसरी ओर यह कहते सुनाई पड़ते हैं कि मधुरतम गीत वही होते हैं जिनमें अधिकतम दुःख की व्यंजना होती है। यह दुःख कुछ तो लोक के प्रति करुणा के भाव के कारण था और कुछ मानवीय प्रयत्नों की असफलता देखकर भी उत्पन्न हुआ था। १९ वीं शताब्दी में प्राकृतिक विज्ञान तथा समाजविज्ञान की योरोप में अद्‌भुत उन्नति हुई किन्तु इसके साथ-साथ एक प्रकार का निराशावाद भी दिखाई पड़ता है। बायरन के "चाइल्ड हैरल्ड" में यह निराशावाद दिखाई पड़ता है। बुद्धि (Reason) की असफलता निराशावाद को पोषित करती है। शापेनहावर तथा हर्टमन जैसे जर्मन दार्शनिक निराशावाद का प्रचार कर रहे थे। इसका थोड़ा बहुत प्रभाव काव्य पर भी पड़ा। शेली की कविताओं में कहीं-कहीं निगूढ़ वेदना मिलती है यद्यपि रोमानी कवि प्रायः अन्त में आशा के स्वर के साथ अपनी अपनी रचनाएँ समाप्त करते हैं परन्तु उनमें दुःख और निराशा के स्वर पर्याप्त हैं।

छायावादी कवियों में 'वेदना' प्रसाद, महादेवी और पन्त मे एक प्रेरणा या जीवन-दर्शन के रूप में दिखाई पड़ती है। प्रसाद जी बौद्धों के दुःखवाद से प्रभावित थे, यद्यपि कामायनी में वह शैवागमों के आनन्दवाद से उस दुःखवाद पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। महादेवी में दुःख और निराशा से इतना प्रेम है कि उसे 'साधना' ही मान लिया गया है। पन्त जी ने प्रथम गान को "आह" से निकला हुआ बताया है यद्यपि पन्त जी में 'वेदना' का रूप अधिक साम्प्रदायिक नहीं है। निराला में भी 'वेदना' स्वाभाविक 'करुणा' के रूप में अधिक व्यक्त हुई है, साम्प्रदायिक रूप निराला में बहुत कम है।

दुःख का अनुभव दुःखवाद नहीं है किन्तु 'दुःख या निराशा' को प्रेरणा या जीवन-दर्शन के रूप में अपना लेना दुःखवाद या निराशावाद अवश्य है। अत्यधिक स्वप्नदर्शी व्यक्ति एक ओर तो आशावादी होता है तो दूसरी ओर मनोराज्य के सौन्दर्य से नीचे उतरने पर, वास्तविक परिस्थिति में कोई परिवर्तन न देखकर वह अवश्य दुःखी और निराश होता है, यह स्वाभाविक है। निराशावाद का नाश उचित प्रयत्न द्वारा ही सम्भव है, प्रयत्न के बिना, स्वप्नदर्शिता निराशा की ओर अवश्य उन्मुख कर देती है अतः छायावादी काव्य और रोमांटिक काव्य दोनों में यह प्रवृत्ति सामान्य है।

दु:ख के प्रति सहज करुणा स्वाभाविक है किन्तु वाल्मीकि में राम-लक्ष्मण के "उचित प्रयत्न" का वर्णन होने के कारण निराशा के लिए वहाँ स्थान ही नहीं रहा। परवर्ती संस्कृत काव्य और नाटकों में 'प्रयत्न' के कारण निराशा नहीं आ पाई यद्यपि पुराने कवि हमसे कम संवेदनशील नहीं थे। मध्यकाल में 'निराशा' के स्वर हैं फिर भी भगवान की 'कृपा' और 'कष्ट-हरण' में अटूट विश्वास है। छायावाद में वैसी आस्तिकता का अभाव है अत: स्वप्नों में मग्न रहने वाले कवियों में 'निराशा' के स्वर भी जब तब सुनाई पड़ते हैं।

अलौकिक से प्रेम (Love of Supernatural)—रोमांटिक काव्य में अलौकिक से प्रेम की भी एक प्रवृत्ति है। वस्तुत: व्यक्तिवाद का ही यह एक रूप है। यह सर्वथा विचित्र लगता है कि स्वातन्त्र्य संग्राम के समय छायावाद-रहस्यवाद 'अज्ञेय' से प्रेमालाप करता रहा। द्विवेदी युग के बाद के काव्य में केवल 'रहस्यवाद' ही नहीं है किन्तु रहस्यवाद एक प्रमुख प्रवृत्ति अवश्य है। अँगरेजी साहित्य में 'ब्लेक' और 'वर्डसवर्थ' की रचनाओं में यह रहस्यवाद दिखाई पड़ता है। विशेषकर ब्लेक के काव्य में रहस्यवाद मिलता है। 'रहस्य' से प्रेम एक ओर तो वैज्ञानिक दृष्टि के अभाव को घोषित करता है (पूँजीवादी देशों के वैज्ञानिक भी 'रहस्यवाद' की ओर उन्मुख होने के लिए प्रेरित करते हैं) और दूसरी ओर 'रहस्य' एक माध्यम बनता है। यह 'रहस्य' साम्प्रदायिकता के स्थान पर 'विश्व-प्रेम' के प्रचार का माध्यम बना है, रवीन्द्र और हिन्दी के छायावादी कवियों में यह प्रवृत्ति स्पष्ट है। इसके सिवा 'रहस्य' अपनी निजी आशा-आकांक्षाओं को भी व्यक्त करने का 'माध्यम' बना है, द्विवेदीयुग में जो प्रेमभाव स्पष्टत: व्यक्त नहीं किया जा सका था, उसे 'रहस्य' के माध्यम से अधिक कलापूर्ण ढंग से व्यक्त किया जा सका।

तीसरे, यह मानना होगा कि 'कला' में एक 'रहस्य'—एक 'गोपन' के स्पर्श की आवश्यकता का कवि अनुभव कर रहे थे अत: 'रहस्य' कला को अधिक आकर्षक बनाने के लिए भी सहायक प्रतीत हुआ था—प्रसाद की काव्य-कला में यह 'रहस्य' एक महत्त्वपूर्ण कार्य करता हुआ दिखाई पड़ता है।

चौथे, 'रहस्यवाद' अपूर्ण जगत् को कम से कम कल्पना में 'पूर्ण' करने के प्रयत्न के रूप में तथा अतीत के प्रति आकर्षण के कारण भी आया। भारतवर्ष में विदेशी संस्कृति के विरुद्ध यह 'रहस्यवाद' राष्ट्रीय संस्कृति की मांग को भी पूरा करता था।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह था कि रहस्यवाद "प्रेम", "सौन्दर्य" और "स्वप्न"—तीनों की माँग एक साथ पूर्ण करता था। रवीन्द्रनाथ के सुन्दर और रहस्यमय सौन्दर्य-चित्रण ने सबका मन मोह लिया था अतः अनगढ़ और अभिधावादी द्विवेदी युग के काव्य की तुलना में यह रहस्यवादी काव्य मनोहर प्रतीत हुआ। रवीन्द्र के अतिरिक्त योरोपीय कवियों की रहस्यवादी रचनाओं के सौन्दर्य से छायावादी कवि परिचित थे अतः उनसे भी प्रेरणा मिली। अतः 'रहस्यवाद' आंधी की तरह हिन्दी में नहीं आया, उसके पीछे अनेक शक्तियाँ कार्य कर रही थीं। 'अलौकिक' से प्रेम तब वेग से उमड़ता है जब कवि को लोक से प्रेम तो होता है किन्तु लोक की मुक्ति के लिये कोई स्पष्ट योजना सम्मुख नहीं होती। इसके अतिरिक्त जिस योजना पर समाज चल रहा होता है, यदि उसमें असफलता मिलती है तो 'रहस्य-प्रियता' और बढ़ती है। भारतीय राजनैतिक आन्दोलनों की बार-बार असफलता भी रहस्यवाद को अप्रत्यक्ष रूप से प्रेरित कर रही थी। इसके अतिरिक्त सर्वोच्च राजनैतिक नेता—महात्मा गाँधी जी, 'स्वयं प्रकाश ज्ञान' (Intuition) से अधिक प्रेरणा लेते थे।

गीत्यात्मकता—रोमांटिक कवियों की उपर्युक्त विशेषताओं और प्रवृत्तियों के अतिरिक्त साहित्यिक विधा और अभिव्यक्ति भी भिन्न थी। पोप-जॉन्सन युग में काव्य और कविताएँ अधिक लिखी गई, किन्तु नवस्वच्छन्दतावादी काव्य में गीतियों (Lyrics) का अधिक प्रयोग हुआ। व्यक्तिगत रुचियाँ आशा-आकांक्षाएँ, भावोद्गार आदि को गेय गीतों में व्यक्त किया जाने लगा। इस प्रकार एक नवीन विधा का प्रयोग व्यापक रूप में होने लगा। 'गीति' का अधिकाधिक प्रयोग 'आख्यान काव्य' के अनुकूल नहीं पड़ता। किसी एक "मानसिक-स्थिति" के लिए 'गीति' अधिक उपयुक्त होती है। पुराने गीतों में सामूहिक भावनाओं की प्रधानता रहती थी—सूर, मीरा आदि के गीतों की यही विशेषता है। किन्तु छायावादी गीतियों में कवियों की निजी मानसिक स्थितियों का आनन्द है अतः गीत से गीति भिन्न प्रतीत होती है, इसका अर्थ यह नहीं है कि सूर, तुलसी, मीरा आदि में किंचित् भी वैयक्तिकता नहीं थी अथवा छायावादी गीतियों में सामूहिक भावना कहीं भी नहीं मिलती किन्तु 'वैयक्तिकता' छायावादी गीतियों का 'भेदक' लक्षण अवश्य है।

गीतियों के लिए व्यावहारिक पदावली अपर्याप्त और असफल हो जाती है अतः अँगरेजी और बँगला से प्रेरित होकर कवियों ने "कोमलकान्त पदावली" का प्रयोग किया। हरिऔध जी इस दिशा में पहले ही प्रयत्न कर चुके थे।

किन्तु छायावादियों को इस क्षेत्र में अधिक सफलता मिली। पन्त और महादेवी ने बड़ी ही सुघर और सचिक्कण भाषा का प्रयोग किया है। नए कोमल भावों के लिए सवाक् और सचित्र वाक्यों के आविष्कार में पन्त जी सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, उन्हें "शब्दशिल्पी" ठीक ही कहा गया है। निराला जी की भाषा में बहुविध प्रयोग मिलते हैं, उन्होंने कोमल के साथ-साथ काव्य की "पुरुषत्व" शक्ति पर भी अधिक ध्यान दिया तभी निराला के अंधभक्त पन्त जी को "जनानी भाषा" का प्रयोक्ता कहते हैं। किन्तु वीणा और पल्लव की भाषा जनानी भाषा नहीं है, वह सौन्दर्य-चित्रण में—विशेषकर कोमल दृश्यों के चित्रण में अधिक सक्षम भाषा है। छायावाद अधिकतर कोमल और मधुर भावों तथा कोमल और मधुर दृश्यों को ही लेखनी का विषय बनाकर चला अतः इस कार्य के लिए जिस कोमल भाषा की आवश्यकता थी, उसका सबसे अधिक श्रेय पन्त जी को है। 'प्रसाद' और 'निराला' में भाषा के लक्षणात्मक रूप की जगह ध्वन्यात्मक रूप अधिक विकसित हुआ। फिर प्रसाद और निराला ने कोमल और परुष सभी भावनाओं और दृश्यों को चित्रित किया अतः उनमें कोमलता उतनी नहीं आ पाई। हमारे यहाँ कविता को 'कामिनी' ही कहा गया है और काव्य के कथन को "कान्तासम्मत" कहा गया है अतः पन्त और महादेवी की कोमल और चिकनी भाषा को "कामिनी की भाषा" कहना, उनकी भाषा की उपयुक्तता ही सिद्ध करता है। मैंने निराला के अन्धभक्तों से यह भी सुना है कि काश ! पन्त जी वीणा और पल्लव का मार्ग न छोड़ते !

पं० रामचन्द शुक्ल ने यह बहुत ठीक कहा है कि छायावाद केवल 'मुक्तक' काव्यों के ही अनुकूल पड़ा, उसमें जीवन की विविध दशाओं की व्यंजना के लिए कम अवकाश था। छायावादी गीतियों में 'प्रबन्धकाव्य' नहीं लिखा जा सकता क्योंकि उत्साह, अमर्ष, आदि उग्र भावनाओं का भार कोमल गीतियों का संगीत बरदाश्त नहीं कर सकता। कामायनी में प्रलय के भयंकर रूपों के चित्रण के लिए प्रसाद जी को वर्णनात्मक छन्द अपनाने पड़े हैं। छायावादी काव्य के क्षेत्र की यह 'कमी' है परन्तु अपने क्षेत्र में उसे पूरी सफलता मिली है। वीरगाथाकाल की वीरता, भक्तिकाल-रीतिकाल की करुणा और शृंगार तथा भारतेन्दु-द्विवेदी युग के जागरण-प्रधान बहिर्मुखी काव्य के स्थान पर आंतरिकता और संगीतयुक्त नवीनशैली में अभिव्यक्त छायावादी काव्य की आवश्यकता थी, न केवल खड़ीबोली के लिए अपितु हमारे देश की "चेतना" के विकास के लिए भी छायावादी "मूल्यों" की ऐतिहासिक आवश्यकता थी अतः नए मूल्यों के विकास के लिए गीतियों का अपना योगदान प्रशंसनीय है। हाँ

जो केवल प्रबन्ध काव्य को ही काव्य मानते हैं उन्हें गीतियों में अवश्य काव्य का पतन दृष्टिगोचर होगा अथवा जो संगीत के शत्रु है, छन्दों के रक़ीब हैं, उन्हें भी छायावादी गीतियाँ पसन्द नहीं है अथवा जो "कोरे बुद्धिवादी" है और काव्य में भाव या कल्पना की जगह केवल 'विचारों और "विचित्र स्थितियों" को ही घोषित करना चाहते हैं, वे भी छायावादी गीतियों को पसन्द नहीं कर पाते। इसके अतिरिक्त एक नया कविवर्ग छायावादी गीतियों को इसीलिए पसन्द नहीं करता क्योंकि उनमें 'कुण्ठा' नहीं है, उलझन नहीं है, शैली की अस्पष्टता यत्र-तत्र भले ही हो परन्तु छायावादी कवि का 'मानस' 'सुन्दर' का आराधक है। अशोभन, अशालीन उपमानों से उसे चिढ़ है, परन्तु इस "सुन्दर-शोभन और शालीन" के आतिशय्य को देखकर नए कवि केवल नवीनता के लिए, 'असुन्दर' का ही सृजन करने के कारण छायावादी गीतियों को पसन्द नही करते। जिस प्रकार ग्रीक कलाकार असौन्दर्य का विरोधी था, उसी प्रकार छायावाद 'कुरूपता और कुत्सा' का विरोधी है। छायावादी गीतियों में कुरूप समझी जाने वाली वस्तुओं में भी सौन्दर्य खोजकर उनके चित्रण का प्रयत्न मिलता है। यथार्थ के नाम पर 'अशोभन' को जीवन का आदर्श नही माना जा सकता।

जब तक मनुष्य में 'सुन्दर' वस्तुओं को देखकर मुग्ध होने की प्रवृत्ति है (और यह प्रवृत्ति पशुओं, पक्षियों में ही नहीं, कीट, पतंगों में भी है, डार्विन ने इस तथ्य को सिद्ध कर दिया है) तब तक छायावाद का सौन्दर्य-चित्रण मुग्धकारी बना रहेगा। जब तक मनुष्य में संगीत के प्रति प्रेम है (पशुओं, पक्षियों में ही नहीं, पौधों में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है, यह वनस्पति-शास्त्रियों ने सिद्ध कर दिया है) तब तक संगीतात्मक गीतियों का महत्त्व अखण्ड है। आप नए प्रकार का सौन्दर्य और संगीत चित्रित कीजिए किन्तु उसकी श्रेष्ठता के लिए स्वयंसिद्ध छायावादी गीतियों की श्रेष्ठता को असिद्ध करने का तात्पर्य क्या है ?

कल्पना और नूतन शैली—रोमांटिक काव्य का एक भेदक लक्षण उसकी लक्षणात्मक, मानवीकरणात्मक और विशेषण-विपर्ययात्मक उपचारपरक नूतन शैली भी है। ऐसे शब्दों का प्रयोग जिससे मन में वर्ण्य वस्तु के चित्र उभरते चलें. छायावाद और योरोप के रोमांटिक काव्य की विशेषता है। भावनाओं और प्राकृतिक पदार्थों का मानवीकरण यत्र-तत्र प्राचीन काव्य में भी मिलता है। मुकुटधर पांडेय और गुप्त जी की कतिपय रचनाओं में भी नए

प्रयोग मिलते हैं किन्तु प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी के काव्य में ही यह नवीन शैली अपनी चरम सीमा पर पहुँचती है।

यह नवीन शैली रोमांटिक कवियों के इस सिद्धान्त का फल है कि काव्य मुख्यतः 'कल्पना' की अभिव्यक्ति है। छायावादी कवि भी कल्पना को अधिक महत्त्व देते हैं अतः किसी भाव को चित्रित करने का प्रयत्न उनमें अधिक है, केवल भाव को 'व्यंजित' करने तक ये कवि संतुष्ट नहीं हुए। चित्रण के लिए रूप-विधान की आवश्यकता होती है और 'प्रकृति' से भावना के अनुरूप पदार्थों का चयन मुख्य कवि-कर्म हो जाता है। यही कारण है कि छायावादी कवि-कल्पना प्रकृति के अंचल से चारु-चित्रों का चयन करने की ओर अधिक उत्सुक रही है। प्रकृति को आलम्बन रूप में चित्रित करने के लिए उन्होंने अन्य पदार्थों की सहायता ली है यथा लहरों के लिए "चाँदी के सर्पों" की। 'कविप्रौढ़ोक्ति' अथवा विभिन्न पदार्थों से नए चित्र बनाने पर छायावादियों का बल अधिक रहा है। केवल उपमानों के द्वारा वर्ण्य विषय का वर्णन करने में उन्हें अधिक दिलचस्पी रही है अतः 'कल्पनाविलास' ने उनकी शैली को अलंकृत बनाया है। विशेषणविपर्यय और मानवीयकरण से अमूर्त्त भावनाओं के मूर्तिकरण और मूर्त पदार्थों को अमूर्त्त और सजीव मानसिक स्थितियों में परिवर्तित करने में उनकी प्रवीणता प्रमाणित होती है। जड़ प्रकृति को आत्मा का अंश मानकर जड़-चेतन के मध्य रागात्मक सम्बन्ध दृढ़ करने में छायावादी कवि अन्यतम कलाकार हैं।

प्रायः लोग समझते हैं कि छायावादी काव्य इतना अद्भुत और विचित्र है कि उसके लिए हमें अपनी काव्य विषयक धारणा और मूल्यांकन-पद्धति में एकदम हेरफेर करना होगा। हम आगे देखेंगे कि यह धारणा सही नहीं है। छायावाद की शैली और अप्रस्तुतविधान में 'प्राचीन' को छोड़ा नहीं गया है। केवल मानवीकरण, विशेषणविपर्यय ही छायावाद में नहीं है। अनेक सादृश्य-मूलक अलंकारों में और अन्य कथन-पद्धतियों का प्रयोग भी छायावादियों ने किया है अतः यह काव्य द्विवेदीयुग में भले ही सर्वथा अप्रत्याशित, विचित्र और परम्पराविरोधी लगता हो, अब वैसा प्रतीत नहीं होता क्योंकि किसी ने छायावादी काव्य में परम्परागत पद्धतियों के प्रयोग का अध्ययन नहीं किया था। साहित्य में वास्तविक, स्थायी सौन्दर्य और रस की सृष्टि परम्परा के नाश के द्वारा नहीं, उसके उचित 'समीकरण' द्वारा होती है।

इस प्रकार योरोप के रोमांटिक आंदोलन से छायावादी-काव्य अवश्य सादृश्य रखता है। "हिन्दी छायावाद की मुख्य प्रवृत्तियाँ अँग्रेजी रोमांटिक

साहित्य की प्रवृत्तियों से इतनी अधिक अनुरूप हैं कि वे उनकी छायामात्र प्रतीत होती हैं।" पन्त जी ने स्पष्ट कहा है कि "पल्लवकाल में मैं उन्नीसवी शती के अंगरेज़ी कवियों–मुख्यत: शेली, वर्डसवर्थ, कीट्स और टैनीसन से विशेष रूप से प्रभावित रहा हूँ क्योंकि इन कवियों ने मुझे मशीन युग का सौन्दर्य-बोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का "जीवन स्वप्न" दिया है।"

यह बड़ा विचित्र लग सकता है कि दोनों महायुद्धों के बीच की हिन्दी कविता ने १९ वीं शताब्दी के रोमांटिक काव्य से प्रेरणा ली। समसामयिक अँगरेज़ी काव्य से प्रेरणा क्यों नहीं ली ? इधर टी० एस० इलियट, एज़रा पौंड, बोदलेयर आदि से बहुत प्रेरणा ली जा रही है किन्तु इलियट तथा दूसरे कवियों से प्रेरणा छायावादियों ने क्यों नहीं ली ?

इस प्रश्न का एक जबाब यह है कि रोमांटिक काव्य योरोप में सामंतवादी मान्यताओं के विरुद्ध पूँजीवादी व्यवस्था का विजयघोष है। चूंकि हमारे यहाँ भी पूंजीवाद की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी थी और एक सीमा तक उसका विकास भी हो चुका था अत: एक ऐतिहासिक क्रम के अनुसार ही पहले कवि रोमानी काव्य से प्रभावित हुए और बाद में पूर्ण सत्यता और स्वच्छन्दता के स्वप्नों का पतन देखकर निराशावादियों और प्रतीकवादियों की ओर आकर्षित हुए। इसके अतिरिक्त रीतिकाल की मान्यताओं के विरोध में रोमानी स्वच्छन्दतावाद ही अधिक उपयोगी हो सकता था। दूसरे द्विवेदी युग में सौन्दर्य और शैली के अभाव को भी दूर करने के लिए छायावादी कवि स्वच्छन्दतावाद की ओर ही अधिक आकर्षित हुए। तीसरे "आज़ादी और समता" की भावनाएँ मुक्त आवेग के साथ रोमानी काव्य में ही मिलती हैं और इन भावनाओं की हमें आवश्यकता थी। अवान्तर कारणों में रवीन्द्रनाथ की कविताओं का योरोप में आदर भी एक कारण था। कवि देख रहे थे कि इस प्रकार के काव्य को बाहर भी महत्त्व मिलता है। चूंकि इस रहस्यवाद के लिए हमारा 'दर्शन' और मध्यकालीन काव्य प्रबल प्रेरणा स्रोत थे, अत: कवि 'रहस्यवाद' की ओर आकर्षित हुए, यह स्वाभाविक था। वह कोई "आँधी और तूफान" नहीं था अपने 'कवि' को "विश्वकवि" के रूप में प्रतिष्ठित और स्वीकृत देखकर उस काव्यधारा के प्रति प्रवृत्ति "राष्ट्रीय प्रवृत्ति" के रूप में मानी जानी चाहिए किन्तु रवीन्द्र के काव्य से छायावाद का उत्साह द्विगुणित ही हुआ था, उसके प्रति उत्सुकता हमें प्रसाद के काव्य में 'गीतांजलि' के प्रकाशन से बहुत पूर्व ही मिलने लगती है।

अब यहाँ यह देखना चाहिए कि यह धारणा कहाँ तक सही है, कि

छायावाद पूँजीवाद का प्रतिधिधित्व करता है, मशीनयुग का सौन्दर्य-बोध तो उसमें है परन्तु मशीन युग का रूप हमारे यहाँ कैसा था ? क्या छायावाद के लिए, व्यवस्था की दृष्टि से, पृष्ठभूमि का निर्माण हो चुका था ?

औद्योगिक विकास और छायावाद—१९ वीं शताब्दी में आवागमन के साधनों के विकास से सारा विश्व एक 'बाज़ार' बन गया, और जिस तरह पुराने बाज़ारों और उत्पादन के साधनों में परिवर्तन हो गया, उसी तरह साहित्य में वर्ण्यविषयों और काव्यविधाओं में भी तेज़ी से परिवर्तन हुआ। १९ वीं शताब्दी ही एक ऐसी शताब्दी है जब एक देश के निर्णायक परिवर्तन और भावनाओं का प्रभाव अन्य सभी देशों पर पड़ता दिखाई पड़ता है। १९ वीं शताब्दी के साहित्य में पुरानी मान्यताओं के विरुद्ध जो आन्दोलन उठ खड़े होते हैं, उसका कारण था—उत्पादन के साधनों में परिवर्तन।

मध्य युग की मान्यताएँ आधुनिक युग में तभी चल सकती थीं जब मध्य युग के उत्पादन के साधनों में कोई परिवर्तन न होता। १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में आवागमन के साधनों में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। उसके पूर्व सामन्ती दरबार और अदालतें जिन शहरों में रहती थीं, उनमें 'शिल्प' की उन्नति हो जाती थी अथवा व्यापारिक मार्गों पर पड़ने वाले नगर और उपनगर उन्नतिशील होते थे। इनके अलावा देश के विभिन्न भागों में स्वतन्त्र ग्राम की "इकाई आत्म-निर्भर रूप में चला करती थी। ग्रामीण शिल्पकार ग्राम के सेवक थे, जो कम लगान पर गाँव की ओर से खेती का एक टुकड़ा अथवा प्रत्येक किसान की फ़सल का एक निश्चित अंश पाते थे। शिल्प का यह कार्य परम्परागत था, अतः उसमें बाहर की प्रतियोगिता का भय न होने के कारण उन्नति न हो पाई थी। नगरों के शिल्पी, कीमती और कलापूर्ण वस्त्र, बर्तन, आभूषण आदि बनाते थे जो राजा, महाराजाओं, नबाबों और सामन्तों के द्वारा ही रक्षित और पोषित हो पाते थे। "ग्राम अपना भोजन, अपने औज़ार, घरेलू वस्तुएँ (औषधि, बर्तन आदि) आदि सभी बातों में आत्म निर्भर थे। नमक और दूसरी चीज़ों के लिए ग्रामीण हाट जाया करते थे।"

इस व्यवस्था में बाह्य आक्रमण झेलने की शक्ति थी, इसमें सन्देह नहीं किन्तु आत्मनिर्भर और बाह्य प्रतियोगिता से रहित ग्रामीण शिल्प की उन्नति असम्भव थी।[1] (बाह्य आक्रमणों के बीच भी यह देश अपनी आत्म-निर्भर

---

1. The artisan, who did all the miscellaneous duties connected with his occupation in the viliage, did not specialize, and

ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था के कारण जीवित रहा, "भारतीय संस्कृति" के कारण नहीं, इस तथ्य की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है।) ग्रामसमाज ही १९ वीं शताब्दी के पूर्व महत्त्वपूर्ण था, शहर नहीं। ग्रामसमाज बाह्य जगत् से ही विच्छिन्न नहीं थे, आपस में भी उनका सम्बन्ध अधिक नहीं था।

यद्यपि कई शताब्दियों पूर्व से विदेशी यहाँ आगए थे परन्तु १९ वीं शताब्दी से पूर्व भारतवर्ष अधिक प्रभावित नहीं हुआ था। विदेशी प्रतियोगिता से केवल ढाका का मुस्लिम वस्त्र-निर्माण ही प्रभावित हुआ था। बम्बई के जहाज़ी व्यापार पर भी बुरा असर पड़ा था।

कृषि की दृष्टि से बंगाल में 'जूट' और देश के कतिपय भागों में 'कपास' की खेती अवश्य बढ़ी—इससे आत्मनिर्भर सामन्तवादी कृषि में परिवर्तन हुआ, 'कपास' का उत्पादन निर्यात के लिए भी किया जाने लगा।

१९ वीं शताब्दी के मध्य भाग में देश सीधा इङ्गलैण्ड की रानी के हाथ में आया और साथ ही यातायात के क्षेत्र में कार्य द्रुतगति से बढ़ा। 'गृहयुद्ध' के कारण अमेरिका से जब कपास की आमद इङ्गलैंड के कारखानों के लिए कम हो गई, तो भारत से कपास का विराट निर्यात होने लगा। श्री गाडगिल ने कपास के बढ़ते हुए मूल्य और कपास के निर्यात की मात्रा का नक़शा दिया है। उनके अनुसार १८५९ में कपास की लगभग पाँच लाख गाँठें (Bales), १८६० ई० में साढ़े पाँच लाख, १८६१ ई० से लगभग पौने दस लाख, १८६२ ई० में १० लाख, १८६३ में सवा बारह लाख और १८६४ में लगभग चौदह लाख गाँठों का निर्यात हुआ! १८५९ ई० से कपास का मूल्य १८६५ ई० सन् १८६६ में तिगुने से अधिक हो गया था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कृषि की आत्मनिर्भरता में प्रथम वार बहुत बड़ा परिवर्तन दिखाई पड़ा। कपास का निर्यात करके देश बदले में जो कपड़ा लेता था, वह विकसित यातायात के साधनों द्वारा देश के आंतरिक भागो में भी पहुँचने लगा, फलतः देश के भीतर के शिल्पियों मुख्यतः 'बुनकरों' को सीधे बाहर की प्रतियोगिता में आना पड़ा। देश तबाह होने लगा किन्तु मुख्य बात यहाँ यह है कि १९वीं शताब्दी

---

the division of labour was extremely limited. The Proficiency, therefore, of the artisan in his craft could not be expected to be great—

The Industrial evolution of India—Page (11) D. R. Godgil,

में आत्मनिर्भर ग्रामीण व्यवस्था में प्रथम वार परिवर्तन होने लगे। मध्यदेश में १८६१-६२ में ३७५६२३ एकड़ में कपास की खेती होती थी वह बढ़कर १८६८-६९ में ७५०८७५ एकड़ तक जा पहुंची। गाडगिल ने लिखा है कि कपास की बढ़ी हुई क़ीमत और क्षेत्र की वृद्धि महत्त्वपूर्ण नहीं है, कृषकों की इस "समझ" के लिए यह परिवर्तन अधिक महत्त्वपूर्ण है, कि स्थानीय आवश्यकताओं के अतिरिक्त बाह्य दबाबों का महत्त्व अधिक है, जिनका प्रभाव फसल के स्वरूप और मात्रा पर पड़ता है।[1]

१९वीं शताब्दी के मध्यभाग में ही डलहौज़ी ने 'पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट' की स्थापना की। क्रान्ति के बाद रेलवे लाइनों और सड़कों का और भी वेग से निर्माण हुआ। १८६९ ई० में ५०१५ मील लम्बी रेलवें लाइनों पर गाड़ियाँ दौड़ने लगीं। इससे 'कपास' के निर्यात में साम्राज्यवादियों को सुविधा हुई परन्तु साथ ही रेल, सड़कों आदि के कारण 'श्रमिकवर्ग' की "सृष्टि" हुई। मध्य युग में नहरों, तालाबों आदि के निर्माण में सब जनता का सहयोग लिया जाता था और दुर्गों, महलों, मन्दिरों, मस्जिदों आदि के निर्माण में "फोर्स्ड लेबर" का प्रयोग होता था।[2] डलहौज़ी के समय "अकुशल श्रमिक वर्ग" अस्तित्व में आया।

गरीब किसान, खेतिहर मजदूर इस नए "श्रमिक वर्ग" की सृष्टि में सहायक हुए। तबाह बुनकरों की एक अच्छी संख्या भी इन श्रमिकों में शामिल हुई (वही, पृष्ठ १९),

इसके अतिरिक्त यातायात के साधनों की वृद्धि से प्रथम बार अन्न की क़ीमत 'स्थानीय' न होकर 'सार्वदेशिक' रूप लेने लगी। अतः कृषि में "स्थानीय आत्मनिर्भरता" कम होने लगी। अकालों के कारण कृषक तबाह हुआ किन्तु एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में आवागमन भी बढ़ा।

साम्राज्यवादियों के वस्त्र व्यापार की प्रतियोगिता के कारण 'शिल्प' का पतन होने लगा। इनमें वस्त्र उत्पादन को सबसे अधिक हानि हुई। ढाका

---

1. But the real importance, in the economic sphere to India lay not so much in raising the price of cotton and thus bringing about a temporary period of prosperity but rather in bringing home to the cultivator the fact that causes other than local needs were begining to govern the nature and extent of the crops, he showed.
2. वही

का तो विनाश ही हो गया। लखनऊ, नागपुर, उमरेर आदि नगरों का वस्त्र व्यवसाय भी चौपट हो गया। रेशमी कपड़ों के स्थान पर अब मैनचेस्टर और लिवरपूल के सस्ते कपड़े लोग अधिक पसन्द करने लगे। क़ीमती रेशमी माल को सामन्त वर्ग प्रोत्साहित करता था, उसके अभाव में रेशमी वस्त्र व्यवसाय बरबाद हो गया। काश्मीर, अमृतसर और लुधियाना का ऊनी वस्त्र-उत्पादन १८९५ तक केवल 'स्मृति' के रूप में ही रह गया !

इन उद्योगों के नाश के कारणों में गाडगिल के अनुसार भारतीय दरबारों का लोप, विदेशी राज्य तथा विकसित विदेशी प्रतियोगिता—ये तीन कारण मुख्य हैं। दरबार केवल क़ीमती और उच्च कोटि की कला से पूर्ण वस्तुओं के उत्पादन की माँग ही नहीं करते थे अपितु योग्य और प्रसिद्ध शिल्पियों को मासिक वेतन देकर उन्हें निश्चिन्तता देकर अच्छे से अच्छा माल तैयार कराया करते थे। मुग़ल सामन्त और बादशाह घराने के लोग इस प्रकार 'वस्त्र व्यवसाय' में प्रत्यक्ष भाग लेते थे।[1]

गाडगिल के अनुसार केवल दरबारों के लोप के कारण ही देशी वस्त्र-व्यवसाय नष्ट नहीं हुआ क्योंकि जहाँ दरबारों की सत्ता क़ायम रही, वहाँ भी वस्त्र-व्यवसाय नष्ट हुआ। श्री गाडगिल के अनुसार पुराने सामन्तों का स्थान योरोपियन अफ़सरों, कार्यकर्त्ताओं तथा नवीन हिन्दुस्तानी शिक्षित वर्ग ने लिया। योरोपियन अफ़सर नई रुचि की पूर्ति के लिए परम्परागत 'कला' में परिवर्त्तन चाहते थे अतः यहाँ के कारीगरों ने पाश्चात्य "पैटर्न" अपनाना शुरू किया फलतः प्राचीन उच्चकोटि के शिल्प का पतन हुआ—(Indiscriminate European patronage was lowering the Standard all round) इसके सिवा विदेशी घुमक्कड़ तथा योरीपीय अफ़सर आदि सस्ता माल चाहते थे। नबाबों और राजाओं की तरह वह 'कला-प्रेमी' नहीं थे, इसलिए भी 'कला' का पतन हुआ।

इसके अलावा नवशिक्षित वर्ग जिसने पुराने सामंतों, अफसरों, कर्मचारियों का स्थान ग्रहण किया था, हर बात में अँगरेज़ों की नक़ल करता था। यदि यह वर्ग देशभक्त होता तो वह प्राचीन 'शिल्पकला' को प्रोत्साहित करता किन्तु नवशिक्षित कर्मचारी और नए पेशों में लग्न वर्ग अँगरेजों का हर बात में हिमा-

---

1. State Industries in Mughal Impire—Prof. J. Sarkar in Modern Review (November 1922) quoted by Gadgil, Page 37.

यती था। श्री गाडगिल ने इस नए वर्ग की तुलना पाश्चात्य "बूर्ज्वा" वर्ग से ठीक ही की है—

The next class which was the natural successor to the position of the nobles, was the newly created "educated" class. This was mostly an Urban and professional class, somewhat corresponding to the professional section of the "brourgeoisie" of the west.[1]

श्री गाडगिल ने खेद प्रकट किया है कि "यह नव शिक्षित 'बूर्ज्वा वर्ग' देशी कला और शिल्प से पराङ्मुख था। विदेशी राज्य का सबसे घातक प्रभाव विजित राष्ट्र के आदर्शों और रुचियों पर पड़ता है और इस नवीन 'बूर्ज्वा वर्ग' ने योरोपियन आदर्शों और रुचियों का अधानुकरण और भारतीयता का उपहास किया" (वही, पृष्ठ ३६)।

१८५० के बाद का हिन्दी काव्य और साहित्य न केवल विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ा अपितु उसने इस नवशिक्षित बाबू वर्ग तथा नवीन उद्योगों में लग्न बूर्ज्वा' वर्ग के विरुद्ध भी संघर्ष छेड़ा, यह हम देख चुके हैं। भारतेन्दु और द्विवेदी युग ने इस मोर्चे पर अभिनन्दनीय कार्य किया है। हर बात में "स्वदेशी" भावना का प्रचार किस प्रकार देशी शिल्पकला का समर्थन करता था, यह स्पष्ट है।

इस प्रकार जो मध्यवर्ग तैयार हुआ, उसके दो पक्ष हैं। एक अँगरेजों का हिमायती था, अंधानुकर्त्ता था और दूसरा विद्रोही था, सौभाग्य से हिन्दी भाषा इन देशभक्त विद्रोहियों के हाथ में ही रही।

इस विकास से यह भी स्पष्ट है कि मध्यकालीन आर्थिकव्यवस्था पूरी तरह हिल रही थी। नए उद्योगों ने इसे और आघात पहुँचाया।

योरोप के अधीन देशों में उद्योगों के दो रूप दिखाई पड़ते हैं, एक बाग़ान-उद्योग (Plantation) और दूसरा मशीनी कारख़ाने। बाग़ान-उद्योग में देशी-विदेशी दोनों वर्गों ने भाग लिया। नील, चाय, कहवा के बाग़ों से एक 'नए वर्ग' का उदय हुआ और दूसरी ओर श्रमिकों का दल तैयार हुआ। १९वीं शताब्दी के मध्य तक बाग़ान उद्योग यहाँ पनप चुका था। १८७१ ई० में ३१३०३ एकड़ में चाय के बाग़ लग चुके थे। योरोप की पूँजी उद्योगों में

---

1. Ibid (**बूर्ज्वा वर्ग के अभ्युदय के लिए द्रष्टव्य**)—Indian in Transition, M. N. Roy)

लगने से योरोपियनों का ध्यान व्यापार (Commerce) के अतिरिक्त उद्योगों पर केन्द्रित हुआ। बाग़ान और जूट उद्योग के बाद पूँजीवाद का प्रारम्भिक रूप सम्मुख आया।

१८५० के बाद १८५१ में बम्बई में कताई-बुनाई का कारख़ाना खुल गया। १८६०-७० तक कारख़ानों की प्रगति शनैःशनै हुई। १८५६ ई० में कपड़े के कारख़ानों में केवल ४३००० आदमी काम करते थे। बंगाल में 'जूट' के उद्योग में अधिक तेज़ी से उन्नति हुई।

कपड़े और जूट के अतिरिक्त १९वीं शताब्दी के प्रारम्भिक और मध्य-भाग में खानउद्योग की उन्नति हुई। १८२० में ही कोयला निकालने का कार्य शुरू हुआ था। १८५४ में रेल से इन खानों का सम्बन्ध जुड़ जाने पर अनेक खानों में काम शुरू हुआ। १८८० ई० में ५६ खानों में काम हो रहा था।

स्पष्ट है कि १८८० ई० तक उक्त तीन—रुई, जूट और कोयला—यही तीन उद्योग प्रमुख थे। मद्रास का 'चर्म उद्योग' भी एक महत्त्वपूर्ण उद्योग था।

१८८० के ५८ कारखाने १८९५ में १४४ तक जा पहुँचे। श्रमिकों की संख्या लगभग चालीस हज़ार से एक लाख उनतालीस हज़ार तक जा पहुँची। जूट मिलों की संख्या २२ से २९ होगई और कोयले के उद्योग में २२७४५ से सन् १८९४ में श्रमिकों की संख्या ४३१९७ होगई।

द्विवेदीयुग में पूँजीवाद का विकास—कृषि का क्षेत्र १८९४ से १९१३ तक लगभग दूना होगया। 'नील' को अलावा बिक्री के योग्य फसलों में बहुत अधिक वृद्धि हुई अर्थात् छायावाद के पूर्व कृषि का आत्म निर्भर रूप नहीं रहा। अन्न, गन्ना, कपास, तेल पदार्थ आदि बिक्री योग्य वस्तुओं की उत्पत्ति अधिक होने के कारण यह स्पष्ट है कि कृषि के सामंतवादी रूप में परिवर्तन हुआ। अँगरेज़ों ने स्वयं खेती को बेचने, खरीदने का हक़ दे दिया अतः ग़रीब किसानों के हाथ से इस अवधि में बहुत सी ज़मीन निकल गई। बड़े किसानों, शहर से भागे हुए सामंतों, नबाबों, और दूसरे धनी लोगों ने ज़मीनें ख़रीदीं और बिक्री योग्य फ़सलों को तैयार किया अतः कृषि के क्षेत्र में भी सामंतवादी व्यवस्था कमज़ोर हुई।

उद्योग धन्धों में भी यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ी। कपड़ों के कारख़ाने १८९६ में १५० थे और १९१३-१४ में २६४ होगए। १४६५५२ मज़दूरों से बढ़कर उनकी संख्या २९०४४७ होगई। जूट उद्योग के २८ कारख़ानों से

(१८९५) १९१४ में उनकी संख्या ६४ होगई। ७८११४ श्रमिकों से २१६२८८ तक उनकी संख्या जा पहुँची। धातु उद्योग का मूल्य ६½ करोड़ से बढ़ कर १९१३ में १२½ करोड़ (लगभग) तक जा पहुँचा। कोयले के उद्योग में १९३० से १९१३ तक उत्पादन लगभग दूना हो गया। ९९१३८ मज़दूरों की जगह १५१३६७ मज़दूर काम करने लगे। पेट्रोलियम उद्योग १८७६ में १५०४९२८९ गैलन से बढ़कर २५९३४२७१० गैलन तक १९१४ में जा पहुँचा। रेलवे वर्कशाप में १९११ में लगभग १ लाख श्रमिक कार्य कर रहे थे। Census commission के अनुसार प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व भारत में १७१७२०० श्रमिक कार्य कर रहे थे! नगरों की संख्या और उनके आकार में भी वृद्धि हुई, १८७२ ई० में ८.७२ प्रतिशत आबादी नगरों में रहती थी, १९२१ में यह १०·२ प्रतिशतहोगई। इसमें भी ५०००० से ऊपर आबादी वाले नगरों के आकार में अधिक वृद्धि हुई।

प्रथम विश्वयुद्ध, देश में पूँजीवाद की स्थापना में बहुत अधिक सहायक हुआ। इसके विपरीत १९०० से १९१३-१४ की अवधि में अपेक्षाकृत कृषि की सुधरी हुई दशा और भी बिगड़ी।[1] युद्ध की अवधि में सरकार ने अन्न की क़ीमत को नहीं बढ़ने दिया किन्तु मिट्टी का तेल, वस्त्र, नमक आदि की क़ीमतें असाधारण रूप से बढ़ गई। पूँजीपतियों को अनाप-शनाप लाभ हुआ किन्तु किसान बरबाद हुआ। १९१७ में बहुत से बाजारों को उग्र किसानों ने लूटा। उधर बम्बई, करांची जैसे शहर लंदन से भी अधिक भीड़ भड़क्के से भर उठे! श्रमिकों की दशा अत्यधिक शोचनीय थी और संगठन के अभाव में उनका विकट शोषण हो रहा था। युद्धकाल में सरकार की मूल्यनिर्धारण नीति के कारण किसान भी तबाह हुए जब कि उद्योगपतियों को फ़ायदा हुआ। १९२०-२१ में २५७ कपड़े के कारख़ानों के स्थान पर १९३०-३१ में ३३९ कारख़ाने होगए। जूट मिलों की संख्या ७० से सन् १९२९-३० में ९८ होगई। कोयला का ख़र्च १९१० से १९२५ में दूना होगया। कोयले की स्थिति में कमी

---

१. **देश में १९१३-१४ से १९२९-३० तक के आयात निर्यात के आँकड़ों से स्पष्ट है कि कृषि की स्थिति दुरावह हो गई। १९१३-१४ में आयात १९१९-२० में दुगुना, १९२६-२७ में ड्योढ़ा तथा १९२९-३० में अट्ठाइस से तैंतीस प्रतिशत बढ़ा किन्तु निर्यात में १९१३-१४ से १९२९-३०-तक केवल १८ प्रतिशत की ही वृद्धि हुई।**

हुई क्योंकि देश में मशीनीकरण से उसका खर्चा बढ़ गया था। खानों की संख्या में वृद्धि हुई। १९११ में खानों की संख्या लगभग ५५४ थी तो १९२० में ७०० होगई और १९२२ में ९५३ तक यह संख्या जा पहुँची। पैट्रोलियम की मात्रा में लाखों गैलन की वृद्धि हुई। चाय, कपड़ा, जूट, रेलवे वर्क्स, धातु, इंजीनियरिंग वर्क्स, ईंट, आटा, प्रेस, काफ़ी, लोहा, ईस्पात, पत्थर तथा संगमरमर, शक्कर, स्वर्ण आदि उद्योगों की वृद्धि युद्ध के बाद देश में पूँजीवाद के विकास को पुष्ट करती है।

यद्यपि १९११ से १९२१ के बीच शहरी आबादी की वृद्धि में केवल ½ प्रतिशत से कुछ अधिक की ही वृद्धि होती है परन्तु बड़े शहरों की आबादी बहुत अधिक बढ़ी। सांस्कृतिक आंदोलन कुछ शहरों में ही पहले पनपे, फिर उनका बाहर प्रचार हुआ। बम्बई,[1] कलकत्ता, दिल्ली, लाहौर, करांची, और अहमदाबाद, शोलापुर, जमशेदपुर आदि की बहुत वृद्धि हुई। युद्ध के पूर्व देशी उद्योगों को संरक्षण देने की नीति नहीं अपनाई गई किन्तु युद्ध के बाद उन्हें संरक्षण मिला। १९१८ ई० में औद्योगिक-कमीशन की रिपोर्ट देशी पूँजी के बहुत पक्ष में थी। आयात पर भारी ड्यूटी लगा दी गई और कपड़े के निर्यात को सुविधा दी गई। १९२१ के "फ़िस्कल कमीशन" ने स्वीकार किया कि भारत का औद्योगिक विकास इस देश के हित में है। यदि औद्योगिक विकास को प्रान्तीय सरकारों पर न छोड़ दिया जाता तो और भी अधिक इस क्षेत्र में कार्य होता फिर भी लोहा-और ईस्पात उद्योग को संरक्षण मिल गया। वस्त्र (Cotton piece goods) रासायनिक पदार्थ, शक्कर, दियासलाई तथा स्वर्ण को भी संरक्षण मिला, १९२७ ई० में कागज़ उद्योग को भी संरक्षण मिला। जिंक, सल्फर, मशीनरी आदि उद्योगों को भी सुविधा दी गई।

भारतीय पूँजी छायावाद-युग (प्रथम युद्ध के बाद से—द्वितीय युद्ध के पूर्व तक) में द्विवेदी युग से अधिक "वीरता' के साथ अवतरित हुई। चाय-उद्योग में स्पष्टतः भारतीय पूँजीपतियों की पूँजी की वृद्धि हुई। जूट मिलों में भारतीय पूँजीपतियों के शेयरों की संख्या बढ़ी। किन्तु योरोपीय पूँजी ही

---

1. Bombay is very much more crowded than London, and Karachi a good deal worse than Bombay. The condition of factory workers in general was.. ...as bad as could be expected. Godgil, Page 193

छायावाद-युग में प्रमुख थी अतः देशी पूंजीपति "देशभक्त" बनकर काँग्रेस में काम करता था और उधर सरकार पूँजीपतियों और भूमि सुधार न करके ज़मींदारों को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न कर रही थी। 'मध्यवर्ग' 'स्वतंत्रता के स्वप्न बुन रहा था यद्यपि उसे यह स्पष्ट नहीं था कि वह स्वतन्त्रता कैसी होगी। 'पूँजी' पर अधिकार किसका होगा? इस पर विवाद थे, राष्ट्रीय काँग्रेस में समाजवादी, साम्यवादी धाराएँ जन्म ले रही थीं किन्तु हमारे छायावादी शुरू में इन नई धाराओं से बेख़बर थे। "स्वप्नदर्शन" द्वारा तथा मध्यकालीन विधि-निषेधों, विचारधाराओं, नैतिक मान्यताओं, कलारूपों आदि के विरुद्ध एक नए रूमानी आवेश द्वारा वे इसी विकासोन्मुख, पूँजीवाद की स्थापना में सहायक हो रहे थे। एक भी छायावादी ने प्रेमचन्द के पूर्व समाजवाद का स्वर नहीं अपनाया। राष्ट्रीय काँग्रेस 'मध्यवर्ग' की ही संस्था नहीं थी, उसमें पूँजीपति और भूमिपति भी भरे हुए थे अतः मध्यवर्ग के नेतृत्व में किसानों द्वारा समर्थित केवल "क्रान्तिकारी मजदूरों की पार्टी" के रूप में राष्टीय कांग्रेस का विकास नहीं हुआ था। यदि ऐसा होता तो इस मध्यवर्ग के, जो साहित्य में भी काम कर रहा था, सम्मुख यह स्पष्ट रहता कि 'आज़ादी' का मतलब क्या है! अँगरेज़ों के जाने के बाद सम्पत्ति, पूँजी और भूमि पर कृषकों और मज़दूरों का राज्य होगा जो ९०% से भी अधिक थे अथवा मध्यवर्ग का नेतृत्व देश में भूमिपतियों और पूँजीपतियों के हितों के लिए भी साथ-साथ काम करेगा? प्रथम स्थिति समाजवादियों और उनसे भी अधिक साम्यवादियों की थी और दूसरी स्थिति गान्धीवादी कांग्रेसियों की। गान्धी जी "एकता" के मसीहा और "हृदय परिवर्तनवाद" के पैग़म्बर थे अतः वे अँगरेज़ों के जाने के पूर्व सभी को साथ लेकर चलना चाहते थे अतः "मेरे स्वराज्य में शेर भी रहेगा और बकरी भी"—यह सिद्धान्त वह मानते थे। आर्थिक क्षेत्र में लक्ष्य स्पष्ट न होने के कारण, देश के २० लाख से भी ऊपर मज़दूरों को स्वतन्त्रता-संग्राम तथा आगे के समाज में आवश्यक परिवर्तन के लिए तैयार नहीं किया गया। गान्धी जी वर्ग-संघर्ष के स्थान पर वर्ग-सामञ्जस्य का सिद्धान्त मानते थे। संपूर्ण विश्व के लिए स्वर्ग की कामना करने वाले—सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी, प्रसाद, निराला आदि कोई छायावादी कवि अपने चिन्तन को समाजवाद के अध्ययन और प्रचार के बावजूद वैज्ञानिक रूप नहीं दे सके—ये कवि "आदर्शवादी" ही रहे। अन्याय के प्रति क्रोध और न्याय के प्रति अमिट श्रद्धा होने पर भी अन्याय को मिटाने के लिए अन्याय के "स्वरूप" को समझना

पड़ता है। न्याय की रक्षा के लिए और न्यायमय परिस्थिति की सृष्टि करने के लिए अन्याय का नाश आवश्यक है, चाहे वह 'नाश' धीरे या वेग से वैधानिक विधि से हो या अवैधानिक विधि से, पर है आवश्यक। परन्तु छायावाद युग में प्रेमचन्द को छोड़कर वर्ग-संघर्ष की उपेक्षा साहित्य में भी हुई फलतः समाज में वर्ग-संघर्ष की चेतना तीव्र होते ही छायावाद की अस्पष्ट, "भ्रान्ति जनक स्वतंत्रता" का पर्दाफाश हो गया। स्वयं छायावादियों को छायावाद अलंकृत संगीत लगने लगा। जब बीस-पच्चीस लाख मजदूरों और कृषकों की दुरावस्था को तथा छायावाद के "अस्पष्ट स्वप्नों" और केवल "कलापूर्ण" "शुभकामनाओं" को सम्मुख रखा गया तो छायावाद के नारे खोखले लगने लगे। छायावाद की 'स्वतन्त्रता' का स्वरूप अस्पष्ट था। फिर भी उसकी 'स्वतन्त्रता' की पुकार से सामंतवाद कमज़ोर होता था, यह पूँजीवाद के हित में था, उसके स्वतंत्रता के नारे से विदेशी पूँजीपति कमज़ोर होता था, यह भी देशी पूँजीवाद के हित में था। उसकी स्वतंत्रता के नारे से निम्नमध्यवर्ग तथा मध्यवर्ग "भारतीयता" के लिए लड़ता था, इस भारतीयवाद से देशी-पूँजीवाद का स्पष्ट फ़ायदा था क्योंकि 'संरक्षण' की माँग में उसे इस प्रचार से सहायता मिलती थी। छायावादियों की 'स्वतन्त्रता' अस्पष्ट थी, अर्थात् वे यह न समझ सके कि 'आज़ादी' का अर्थ 'किसान मज़दूरों' का शासन है या पूँजीपतियों—और भूमिपतियों का भी हित साधन करने वाले मध्यवर्ग के नेताओं का। मध्यवर्ग किस प्रकार की आज़ादी की माँग करे—ऐसी आज़ादी का कि जिसकी प्राप्ति के लिए केवल किसान, मज़दूरों और उनके समर्थकों पर ही भरोसा किया जाय या ऐसी आज़ादी का, जिसकी प्राप्ति के लिए भेड़ियों और बकरियों, सबको साथ लिया जाय? भेड़िया बिगड़े तो कहा जाय कि तुम बकरियों को खा सकोगे, खा रहे हो, तो खाते रहो परन्तु आजादी की माँग करो, साथ रहो। बकरियाँ बिगड़ें, तो कहा जाय कि तुम निश्चित रहो, भला किसकी मज़ाल जो तुम्हारा बाल बाँका कर सके—काँग्रेस ने स्पष्टतः 'आज़ादी' की परिभाषा नहीं की, और छायावाद ने भी कभी 'आज़ादी' की स्पष्ट परिभाषा नहीं की। जो व्यक्ति यह कहे कि "सब सुखी रहें", "सबका हित एक साथ हो" वह यह नहीं समझता कि समाज में आर्थिक क्षेत्रों में परस्पर विरोधी वर्गों की स्थिति एक हक़ीक़त होती है और ऊपर के औद्योगिक विकास की कहानी से स्पष्ट है कि पूँजीपति वर्ग का हित किस प्रकार मज़दूर वर्ग के विरोध में स्थित हो गया था अतः "सब सुखी हों" यह शुभ कामना तभी पूरी हो सकती है, जब विश्व भर में सम्पूर्ण पूँजी,

सम्पत्ति और भूमि पर सबके समान अधिकार की भी घोषणा की जाय और उसके लिए संगठित प्रयत्न किया जाय, यही समाजवाद है।

छायावाद शिक्षित मध्यवर्ग की सृष्टि है, द्विवेदी युग के कवियों में रोमांटिक चेतना का पूर्वाभास अवश्य मिलता है परन्तु छायावादी कवि प्रसाद, निराला ही नए स्वप्नों को सम्मुख रखने में समर्थ हुए हैं। इन नए स्वप्नों में नए मानवीय सम्बन्धों से सम्बन्धित स्वप्न थे। द्विवेदी युग के कवियों में प्रमुखतम कवि हैं—हरिऔध और गुप्त जी, दोनों में सामन्तवादी संस्कार अधिशिष्ट हैं। दोनों सारी उदारता और सहिष्णुता के बावजूद वर्ण-व्यवस्था के हामी हैं। इनमें भी गुप्त जी में सामन्ती संस्कार और भी अधिक हैं। नारी की गरिमा और प्रतिष्ठा का गायन होने पर भी इन कवियों में नारी को "समानता" नहीं दी गई। छायावाद युग की कृतियों—यशोधरा आदि में भी पुराना 'पातिव्रत प्रेम और "पुरुषप्रताप प्रबल सब भाँती" की ध्वनि स्पष्ट है। प्रियप्रवास की राधा देवी होकर भी कृष्ण की भक्तिन पत्नी के रूप में ही चित्रित है, समान अधिकार और सम्मान रखने वाली नारी के रूप में नहीं। समाज और धर्म के अन्य संस्कारों के प्रति भी द्विवेदी युग का दृष्टिकोण विद्रोह से युक्त नहीं है, जो रोमांटिक काव्य की विशेषता है।

छायावादी काव्य अँगरेज़ी पढ़े-लिखे यानी तत्कालीन विश्वविद्यालयों, कालेजों में पढ़ने-पढ़ाने वाले तथा इन संस्थाओं के निकट सम्पर्क में रहने वाले लोगों में अधिक प्रचलित हुआ। रत्नाकर और सत्यनारायण कविरत्न भी अँगरेज़ी काव्य से परिचित थे पर वे अपने संस्कारों के कारण परम्परागत काव्य का ही पथ प्रशस्त करते रहे। यह स्मरणीय है कि छायावाद युग में कई विश्वविद्यालय क़ायम हुए। १९२० में अलीगढ़, १९२९ ई० में लखनऊ तथा १९२१ में प्रयाग विश्वविद्यालय क़ायम हुआ। इनके अतिरिक्त बम्बई, कलकत्ता मद्रास में पहले से ही विश्वविद्यालय बन चुके थे और कैनिंग कालेज (१८६४ ई०) अलीगढ़ कालेज (१८७५ ई०) म्योर सेंट्रल कालेज, प्रयाग (१८७२ ई०) तथा आगरा कालेज (१८२३ ई०) जैसे बड़े-बड़े कालेज अँगरेज़ी काव्य से नवशिक्षितों को परिचित करा रहे थे। सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य के प्रथम प्रशंसकों में अँगरेज़ी के अध्यापक तथा निन्दकों में रीतिकालीन काव्य के उपासक थे।

कालिज शिक्षा का वातावरण सामन्तकालीन ऊँच-नीच की भावना, शूद्रों को शिक्षा से बहिष्कृत करने की नीति, नारियों को हीन और पर्दे में रखने की

भावना, जाति और उपजातियों के परस्पर अलगाव की भावना आदि बातों के लिए अनुकूल नहीं था किन्तु उच्चकोटि के मानवतावाद और सब प्रकार के बन्धनों के विरुद्ध विद्रोही साहित्य को पढ़ाने वाले अध्यापकों की ज़हनियत भी पूँजीवादी चेतना से भरी हुई थी। जो यह समझते हैं कि उच्च शिक्षा देने वाले शिक्षकों को केवल गाली देने से हमारा काम चल जाएगा, यह भ्रम है। वस्तुतः "दृष्टिकोण" के निर्माण में इस वर्ग का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। चूंकि छायावाद-युग के प्रोफ़ेसरों में अधिकतर समाज के भावी रूप के विषय में अस्पष्ट थे और समाजवाद के विषय में उनकी धारणाएँ भ्रान्त थीं अथवा उनमें से अधिक-तर अपरिचित थे। अतः १९ वीं शताब्दी के अन्त में तथा बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हमारे शिक्षा संस्थानों में समाजवाद की विशेष चर्चा नहीं हुई। १९०५ की असफल क्रान्ति और प्रथम विश्वयुद्ध के समय रूस की महान क्रान्ति के शीघ्र बाद भी समाजवादी विचारधारा का प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। कई वर्ष बाद यहाँ काँग्रेस के बाहर और भीतर समाजवादी चेतना तीव्र हुई अन्यथा यह सम्भव था कि अँगरेज़ जिस स्वतन्त्रता पर गर्व करते थे, उस स्वतन्त्रता का वास्तविक रूप इंग्लैंड में क्या था, इससे परिचित होकर हमारे कवि स्पष्टतः गोर्की और मायकोवस्की की तरह सर्वहारा वर्ग का सीधा साथ देते और उन भ्रमों का सृजन न करते जिन्हें पन्त जी अरविन्दवाद के नाम पर और महादेवी "प्राचीन भारतीय संस्कृति" के नाम पर कर रही हैं। जिस प्रकार बिना पूँजीवाद का पूर्ण विकास हुए रूस में समाजवादी चेतना फैलने में बाधा नहीं हुई, उसी तरह रूस की सफल क्रान्ति के बाद हमारे देश में भी समाजवादी चेतना द्रुतवेग से फैल सकती थी किन्तु इस देश के कालिजों और विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर 'अँगरेज़ी भ्रम'' से बाहर नहीं निकल सके और आज भी नहीं निकल पा रहे हैं। छायावाद को महत्ता इस नवीन अँगरेज़ी साहित्य से बनी हुई रुचि के कारण ही मिली और चूंकि उसमें युगानुरूप संदेश था, नवीन कल्पनाएँ और नवीन शैली थी अतः वह प्रतिभाशाली कवियों द्वारा शिक्षितों का कण्ठहार बन गया।

बंगाल में यह चेतना हिन्दी-प्रदेश से पहले जन्मी। माइकेलि मधुसूदन दत्त, शेक्सपियर और रोमांटिक कवियों से अधिक प्रभावित हुए। रवीन्द्रनाथ टैगोर पर शेली और कीट्स का प्रभाव अधिक पड़ा। शेली के Nature's naked loveliness तथा Hymn to Intellectual Beauty का रवीन्द्र पर अमिट प्रभाव पड़ा। टेगौर ने सौन्दर्य का सम्बन्ध जो "अनन्त" से

स्थापित किया था, उस पर कीट्स का प्रभाव था, भारतीय दर्शन के भी यह अनुकूल पड़ता था।

रवीन्द्र पर फ्रान्सीसी प्रतीकवादियों का भी प्रभाव पड़ा जो "सौन्दर्य के एक आदर्श जगत् का निर्माण करना चाहते थे, जहाँ मनुष्य की विकल आत्मा को शांति एवं विश्राम प्राप्त हो सके।" आयरलैंड के प्रतीकवादी-रहस्यवादी कवि यीट्स का भी रवीन्द्र पर अत्यधिक प्रभाव था। इस काव्य में रहस्य स्पर्शों, बुद्धिवाद के स्थान पर स्वयंप्रकाश्यज्ञान से प्राप्त अनुभूतियों तथा दिव्य-प्रेम का वर्णन मिलता है। हिन्दी की कविता जो द्विवेदी युग की बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से मुक्त होना चाहती थी, इस नए काव्य से काफ़ी प्रभावित हुई।

सुमित्रानन्दन पन्त शेक्सपियर के "मिड समर्स नाइट ड्रीम" तथा 'टेम्पेस्ट' में चित्रित परियों के जगत् से प्रभावित हुए। निराला तो शेक्सपियर के सानेटों के प्रसिद्ध भक्त हैं। निराला शेली की 'अलास्टर' नामक कविता के पारखी माने जाते हैं। राजकुमार वर्मा ने "गोल्डेन ट्रेज़री" को बार-बार पारायण किया था। उनकी 'रूपराशि' की रचना पर बायरन और कीट्स का प्रभाव है। एन्द्रिकता और भोगवादिता उनके प्रिय विषय रहे। बंच्चन ब्लेक, वर्डसवर्थ, शेली और स्विनबर्न के प्रेमी थे।[1]

प्रसाद जी प्रारम्भ से व्यक्तिवाद को मुखरित करते आ रहे थे। उन पर बँगला कविताओं में अवश्य प्रभाव डाला होगा और उन दिनों रोमांटिक कवियों के काव्य के अनुवादों की धूम थी अतः प्रसाद जी रोमांटिक चेतना से परिचित थे। रहस्यवादी प्रवृत्तियों ने उन्हें विशेष आकर्षित किया था।

'पल्लव' की भूमिका में पन्त जी ने मध्यकालीन कला और मान्यताओं के विरुद्ध बड़े ही सशक्त स्वरों में रोमांटिक काव्य का जयघोष किया है। 'पल्लव' को रोमांटिक काव्य का 'घोषणा पत्र' कहा जाता है। पन्त जी ने कवियों के सम्मुख नूतन काव्य के विषय, सौन्दर्य बोध, भाषा, छन्द, अभिव्यक्ति आदि की नूतनता की वकालत की। इसके अतिरिक्त निराला ने मुक्त छन्द और नूतन सौन्दर्य-बोध के लिए बहुत लिखा, संघर्ष भी किया, उधर 'प्रसाद' जी आर्य समाजी स्थूल नैतिकता और उपदेशवाद के विरुद्ध सांकेतिक, रहस्यमयी, नूतनभंगिमायुक्त शैली में लिखते जारहे थे, फलतः इन कवियों की प्रारम्भिक रचनाओं द्वारा ही स्वच्छन्दतावादी काव्य का एक निश्चित स्वरूप हिन्दी में

---

१. रवीन्द्र सहाय वर्मा, पृ० १४५।

प्रतिष्ठित हो सका। महादेवी ने भी इसी स्वर में स्वर मिलाया, उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

"स्थूल सौन्दर्य की निर्जीव आकृतियों से थके और कविता की परम्परागत नियम-शृंखला से ऊबे हुए व्यक्तियों को फिर उन्ही रेखाओं में बँधे स्थूल का न तो यथार्थ चित्रण ही रुचिकर हुआ और न उसका रुढ़िगत भाषा-आदर्श। उन्हे नवीन रूप रेखाओं की आवश्यकता थी जो छायावाद में पूर्ण हुई।"

छायावाद और रहस्यवाद—अब तक हमने 'छायावाद' शब्द का व्यापक अर्थों में प्रयोग किया है और सामान्यतः उसे "स्वच्छन्दतावाद" कहा है जिसमें रहस्यवाद भी शामिल है। छायावादी कवियों में छायावाद-रहस्यवाद ताने-बाने की तरह बुना हुआ है। फिर भी इन्हें अलग-अलग किया जा सकता है। क्योंकि 'वर्ण्य' विषय' की दृष्टि से दोनों में अन्तर दिखाई पड़ता है। 'छायावाद' का शुक्ल जी ने 'शैलीविशेष' के अर्थ में प्रयोग किया है और साथ ही उन्होंने 'रहस्यवाद' के अर्थ में भी छायावाद का प्रयोग किया है। उक्त विश्लेषण से इतना तो स्पष्ट ही है कि छायावाद शैलीविशेष का नाम नहीं है क्योंकि नूतन दृष्टिकोण के आने पर ही नई शैली का जन्म हुआ था अतः "वर्ण्य विषय और 'दृष्टिकोण' मुख्य वस्तुएँ हैं, शैली गौण। दूसरे छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर यह है कि छायावाद में चिरन्तन सत्ता की विभिन्न पदार्थों में "झलक" ही देखी जाती है और कवि उस 'झलक' का मुग्धता और विस्मय के साथ वर्णन करता है किन्तु रहस्यवाद में दिव्यसत्ता के साथ प्रेम-सम्बन्ध स्थापित किया जाता है और संयोग-वियोग का वर्णन किया जाता है। छायावाद में जिज्ञासा की प्रधानता है तो रहस्यवाद में आत्मा के निच्छल समर्पण की। छायावाद प्रकृति में बिखरे सौन्दर्य को एकत्र करता है और उस सौन्दर्य में किसी पारलौकिक सौन्दर्य की 'झलक' मात्र से संतुष्ट हो जाता है, रहस्यवाद में उस सत्ता को प्राप्त करने के लिए, उस 'सत्ता' की साक्षात् अनुभूति के लिए प्रयत्न किया जाता है। 'रहस्यवाद' में प्रेम साधनात्मक रूप धारण कर लेता है जबकि छायावाद में साधना का प्रारम्भिक सोपान—जिज्ञासा मूलक दृष्टिकोण रहता है, छायावाद केवल जानने की इच्छा व्यक्त करता है, रहस्यवाद "उसे" प्राप्त करने की ! यह अन्तर "मानसिक स्थिति" की दृष्टि से है, और इसे स्पष्ट देखा जा सकता है। शैली की दृष्टि से छायावाद और रहस्यवाद में कोई अन्तर नहीं है, तभी शुक्लजी ने एक नई शैली की प्रधानता देखकर उसे 'छायावाद' नाम दिया था और उसमें और 'रहस्यवाद' में

अन्तर नहीं किया था। इससे इस भ्रम की सृष्टि हुई कि मानसिक स्थिति की दृष्टि से भी छायावाद और रहस्यावाद एक हैं।

छायावाद और रहस्यवाद के उक्त अन्तर को उद्धरणों से प्रमाणित करने के पूर्व अन्य 'परिभाषाओं' पर भी विचार लेना यहाँ उचित होगा।

गंगाप्रसाद पांडेय ने लिखा है कि "किसी वस्तु में एक अज्ञात, सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा आरोप करना छयावाद है।"

छायावादी कवि प्रकृति को कभी जड़ मानकर चित्रित नहीं करता अतः प्रकृति को सप्राण मान कर चलता है और प्रकृतिस्थित सौन्दर्य को देखकर वह यह पूछता है कि प्रकृति में यह सौन्दर्य कहाँ से आता है—जिज्ञासा विस्मय और प्रकृति को सप्राण मान कर चलना—ये प्रवृत्तियाँ अनेक कवियों में मिलती हैं। अतः पांडेय जी की परिभाषा अनुचित नहीं है, रहस्यवाद से छायावाद को अलग करने में भी यह परिभाषा हमारी सहायता करती है। पांडेय जी ने यह लिखा भी है कि छायावाद "वस्तुवाद और रहस्यवाद" के बीच की कड़ी है, अर्थात् वस्तुवाद पदार्थ के जड़ रूप को ही स्वीकार करता है जब कि रहस्यवाद ब्रह्म और जीव के मध्य प्रकृति को एक 'माध्यम' मात्र मानता है।

शान्तिप्रिय द्विवेदी ने छायावाद को एक "दार्शनिक अनुभूति" माना है, पर यह परिभाषा अस्पष्ट है क्योंकि इसमें अतिव्याप्ति दोष है।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार "मानव तथा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान" ही छायावाद है। इस परिभाषा और पांडेय जी की परिभाषा में कोई अन्तर नहीं है। आगे वाजपेयी जी ने छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर भी दिखाया है—"रहस्यवाद और छायावाद में अन्तर है। छायावाद व्यक्त सौन्दर्य सृष्टि से सम्बन्ध रखता है और रहस्यवाद समष्टि सौन्दर्य-सृष्टि है।"

इस 'अन्तर' में अस्पष्टता है परन्तु शायद इसका अर्थ यह है कि छायावाद प्रकृति के सौन्दर्य से ही सम्बन्ध रखता है, यद्यपि वह सौन्दर्य सूक्ष्म रहता है, रहस्यवाद में किसी चिरन्तन सत्ता के सन्दर्भ में ही प्रकृति का सौन्दर्य देखा जाता है। यदि उक्त अर्थ ग्रहण किया जाय तब 'अन्तर' स्पष्ट अवश्य होता है।

रामकृष्ण शुक्ल ने लिखा है कि "प्रकृति में व्यक्ति का (अर्थात्) मानव जीवन का प्रतिबिम्ब देखने की पद्धति छायावाद है।" यहाँ लेखक

केवल प्रकृति के मानवीकरण पर ही बल दे रहा है—मानवीकरण के समय छायावादी कवि में जो एक जिज्ञासा और विस्मय की स्थिति रहती है, उसके लिए इस परिभाषा में स्थान नहीं है। अतः इस परिभाषा में अव्याप्ति दोष है।

डा० रामकुमार रहस्यवाद और छायावाद में मानसिक स्थिति की दृष्टि से भी अन्तर नहीं मानते, उनके अनुसार, "आत्मा, परमात्मा का गुप्त वाग्विलास रहस्यवाद है और यही छायावाद" किन्तु हम देखेंगे कि 'छायावाद' में आत्मा परमात्मा का गुप्त वाग्विलास नहीं मिलता, जहाँ वह मिलता है, वहाँ वह 'रहस्यवाद' ही कहलायेगा। अन्यथा मध्यकालीन कबीर-मीरा के रहस्यवादी काव्य और आधुनिक काव्य में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा।

डा० देवराज "छायावाद को गीतिकाव्य, प्रकृतिकाव्य और प्रेमकाव्य" कहते हैं किन्तु यह परिभाषा अस्पष्ट है, इसमें कवि की मानसिक स्थिति की विशिष्टता पर ध्यान नही दिया गया।

प्रगतिवादी लेखकों ने प्रारम्भ में पूंजीवादी व्यवस्था के साथ रखकर छायावाद की व्याख्या की थी। छायावाद के भौतिक आधार की ओर उन्होंने स्पष्ट संकेत किया था। उनके अनुसार छायावाद समाज और प्रकृति पर व्यक्तिवादी प्रतिक्रिया है—जिसके मूल स्वर हैं, स्वप्न, अतीत प्रेम, निराशा, विषाद, पलायन आदि किन्तु प्रगतिवादियों ने छायावादी काव्य की सौन्दर्यानुभूति की प्रशंसा भी कम नहीं की है अतः परिभाषा देने का प्रयत्न न कर छायावादी आन्दोलन की पृष्ठभूमि उक्त कथन से अधिक स्पष्ट की गई है। यह एक तथ्य है कि छायावाद व्यक्तिवादी प्रतिक्रिया है। किन्तु "प्रतिक्रिया" का स्वरूप निर्देश प्रारम्भिक प्रगतिवादियों की परिभाषाओं से नहीं होता।

प्रसाद जी 'छायावाद' को एक भंगिमा मानते थे। किन्तु उससे यह तथ्य निकालना ग़लत होगा कि वह छायावाद को केवल शैली मानते थे उन्होंने लिखा है—"कविता के क्षेत्र में जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद से अभिहित किया गया। आंतरिक स्पर्श की पुलक, नवीन शैली, स्वतंत्र लावण्य आदि तत्त्व इसमें थे। मोती के भीतर छाया जैसी तरलता होती है वैसी कान्ति की तरलता अङ्ग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत में छाया और विच्छित्ति को कुछ लोगों द्वारा निरूपित किया गया था·····यह वाह्यालंकार मात्र नहीं, यह श्री की बहिन ही है, आन्तरअर्थवैचित्र्य को प्रकट करने में इसका प्रयोग हुआ था।"

यहाँ नूतन भंगिमा के साथ-साथ छायावाद के वर्ण्य विषय—"वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी" आंतर स्पर्श-पुलक, आन्तर-अर्थ वैचित्र्य आदि की भी चर्चा है। प्रसाद जी के अनुसार द्विवेदीवेग की स्वानुभूतिविहीन रचनाओं से छायावाद इसलिए भिन्न है क्योंकि उसमें "स्वानुभूति", वेदना और 'आन्तर-स्पर्शपुलक' की प्रधानता है। भंगिमा की दृष्टि से प्रसादजी ने छायावाद की शैली को कुंतक की 'विच्छित्ति" या छाया या तरलता से जोड़ दिया है, प्रसाद जी हर नई चीज को पुराने के साथ जोड़ देने में अति कुशल थे। किन्तु प्रसाद जीने छायावाद और रहस्यवाद का अंतर स्पष्ट नहीं किया। उनकी 'वेदनामूलक सहानुभूति' में इस दृष्टि से जिज्ञासामूलक छायावाद और दिव्यप्रेम प्रधान रहस्यवाद—दोनों शामिल हैं। प्रसाद जी के अनुसार नया काव्य अंतश्चेतना-प्रधान है जिसे द्विवेदीयुग से अलग किया जा सकता है। यह एक तथ्य है कि कुंतक ने भी नूतन भंगिमा का आधार अनुभूति को ही माना था,[1] प्रसाद जी ने इसीलिए कुंतक से छायावाद की व्याख्या के लिए सहायता ली थी। स्वानुभूति की गंभीरता और अनुपमता से अभिव्यक्ति या कथन-भंगिमा भी अनुपम हो जाती है, द्विवेदी युग में स्वानुभूति का अभाव था अतः शैली में विच्छित्ति नहीं आ सकी।

रहस्यवाद में कवि की अपनी अनुभूति की नहीं अपितु एक सामान्य अनुभूति जो कि रहस्यवादियों की विशेषता रही है, मिलती है। उदाहरण के लिए अज्ञेय सत्ता के संयोग, वियोग के चित्रण सभी रहस्यवादियों की विशेषता रही है।

महादेवी ने अपने 'विवेचनात्मक गद्य' में छायावाद को स्थूल के विरुद्ध प्रतिक्रिया कहा है—"सृष्टि के बाह्याकार पर इतना लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छंद में चित्रित उन मानव अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी प्रिय

---

1. Poetic quality and aesthetic quality change a piece of composition with an excellence and emotion, a life and a thrill, that in for beyond the words and meanings. This we call aesthetic quality which arises out of that unique character of the constitution of proper words and their meanings—
—Dr. S. N. Das Gupta·
History of Alamkaras

लगता है।" अन्यत्र उन्होंने कहा है कि "छायावाद तत्त्वतः प्रकृति के बीच जीवन का उद्‌गीथ है अतः कल्पनाएँ बहुरंगी और विविध रूपी हैं।"

इससे यह स्पष्त हुआ कि छायावाद व्यक्तिगत अनुभूतियों का प्रकृति के माध्यम से प्रकाशन है जो इससे पहले की कविता में नहीं मिलता किन्तु छायावाद और रहस्यवाद के अंतर के विषय में भी महादेवी ने लिखा है—"इस युग की (छायावाद) सब प्रतिनिवि रचनाओं में किसी न किसी अंश तक प्रकृति के सूक्ष्म सौन्दर्य में व्यक्त किसी परोक्ष सत्ता का आभास रहता है और प्रकृति के ध्यक्तिगत सौन्दर्य पर चेतना का आरोप भी। परन्तु अभिव्यक्ति की विशेष शैली के कारण कहीं सौन्दर्यानुभूति की व्यापकता, कहीं संवेदन की गहराई, कल्पना के सूक्ष्भ रंग और कहीं भावना की मर्मस्पर्शिता लेकर अनेक वादों को जन्म दिया है।"

अर्थात् सामान्यतः छायावाद में प्रकृति का सूक्ष्म-सौन्दर्य और उसमें परोक्ष सत्ता का आभास रहता है किन्तु महादेवी ने रहस्यवाद से इस काव्य का अंतर स्पष्ट नहीं किया। यह निश्चित है कि प्रकृति में परोक्ष सत्ता का आभास रहस्यवाद का प्रथम सोपान भले ही कह लिया जाय किन्तु जब तक रहस्यमय सत्ता के साथ प्रेम-सम्बन्धों की अभिव्यक्ति नहीं होती, तब तक उसे रहस्यवाद नहीं कहा जा सकता। किन्तु लगता है कि प्रकृति में परोक्ष सत्ता के आभास के साथ-साथ कवि के प्रेम-भाव को भी महादेवी ने आवश्यक माना है—"स्वयं छायावाद तो करुण की छाया में सौन्दर्य के माध्यम से व्यक्त होने वाला भावात्मक रहस्यवाद ही रहा है।" बात स्पष्ट नहीं हुई परन्तु केवल प्रकृति में परोक्ष सत्ता के आभास को रहस्यवाद नहीं कह सकते, यह महादेवी के कथन की भी ध्वनि है।

'छायावाद' और रहस्यवाद को इस प्रकार मानसिक स्थितियों की दृष्टि से अलग करना उचित है। छायावाद में रोमांटिक काव्य की सभी णिशेषताएँ मिलती हैं उसमें 'रहस्य के प्रति प्रेम निवेदन" भी शामिल कर लिया गया है परन्तु वह स्पष्ट दिखाई पड़ता है। योरोप के रोमांटिक कवियों में भी वर्डसवर्थ, शेली, कीट्स एक ओर हैं तो ब्लेक जैसे शुद्ध रहस्य-वादी दूसरी ओर हैं। पन्तजी की कविताओं में शुद्ध रोमांटिक कवियों की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, उनमें 'ब्लेक' जैसा रहस्यवाद बहुत कम मिलता है। 'प्रसाद' में रहस्यानुभूति कहीं-कहीं बहुत गहरी है, कही-कहीं निराला में भी और महादेवी में सबसे अधिक किन्तु ये सभी कवि वस्तुतः शुद्ध रहस्यवादी नहीं हैं। जहाँ-जहाँ इनमें 'रहस्य-

वाद' मिलता है, उसे स्पष्टतः अलग किया जा सकता है। ये कवि 'रहस्य' को सौन्दर्यतम अनुभूति के रूप में अधिक अपनाते हैं। महादेवी में रहस्य के प्रति आत्म-निवेदन अधिक मिलता है। 'कामायनी' के कुछ सर्गों में 'रहस्यदर्शन' की प्रवृत्ति अधिक हो गई है, ऐसा काव्य छायावाद से भिन्न समझना चाहिए।

अब उदाहरणों से छायावादी मानसिक स्थिति और रहस्यवादी मानसिक स्थिति को अगल-अलग देखना चाहिए—

प्रकृति में परोक्ष सत्ता का आभास—विश्व के पलकों पर सुकुमार।
विचरते हैं जब स्वप्न अजान।
न जाने नक्षत्रों से कौन।
संदेशा मुझे भेजता मौन!

—पन्त

रहस्यवाद—कभी उड़ते पत्तों के साथ, मुझे मिलते मेरे सुकुमार।
बढ़ा कर लहरों से निज हाथ, बुलाते, फिर मुझको उस पार।
नहीं रखती जग का मैं ज्ञान, और हँस पड़ती हूँ अनजान।
रोकने पर भी सखि! हाय, नहीं रुकती तब यह मुस्कान।

—पन्त

अथवा

गगन के भी उर में है घाव, देखतीं ताराएँ भी राह।
बँधा विद्युत-छवि में जलवाह, चन्द्र की चितवनि में चाह।
दिखते जड़ भी तो अपनाव, अनिल भी ठण्डी भरती आह।

—पन्त

परोक्ष सत्ता का आभास—शशिमुख पर घूंघट डाले, अंचल में दीप छिपाए।
जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आए।

—प्रसाद

अथवा

रूपसि तेरा घन केशपाश!
नभ गंगा की रजत धार में, धो आई क्या इन्हें रात।
कम्पित हैं तेरे सजल अंग, सिहरा सा तन है सद्यस्नात।
रूपसि तेरा घन केश पाश। —महादेवी

अथवा

शून्य नभ पर उमड़ जब दुख भार सी।
नैश तम में सघन छा जाती घटा।
बिखर जाती जुगुनुओं की पांति भी।
जब सुनहले आँसुओं के हार सी।
तब चमक जो लोचनों को मूँदता।
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है? —महादेवी

रहस्यवाद— सिंधु को क्या परिचय दें देव।
बिगड़ते बनते बीचि विलास।
क्षुद्र हैं मेरे बुद्बुद् प्राण।
तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश। —महादेवी

वल्लिरियाँ नित्य निरत थीं, बिखरी सुगन्ध की लहरें।
फिर वेणु रन्ध्र से उठकर, मूर्च्छना कहाँ अब ठहरे।
क्षण भर में सब परिवर्त्तित, अणु अणु थे विश्व कमल के।
पिंगल पराग से मचले, अनन्द सुधारस छलके।
समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती, आनन्द अखण्ड घना था।—कामायनी

छायावाद—घूँघट उठा देख मुस्क्याती, किसे ठिठकती सी आती।
विजन गगन में किसी भूल सी, किसको स्मृति पथ में लाती।
पगली! हाँ सँम्हाल ले कैसे, छूट पड़ा तेरा अंचल।
देख बिखरती है मणि राजी, अरी उठा बेसुध चंचल।
—कामायनी

रहस्यवाद—स्पर्श से लाज लगी!
नयनों का नयनों से बन्धन
काँपे थर, थर, थर, तन।
—निराला

छायावाद—किस अनंत का नीला अचल हिला हिलाकर—
आती हो तुम सजी मण्डलाकार!

अथवा

मुग्धा की लज्जित पलकों पर
तू यौवन की छवि अज्ञात ।
आँख मिचौनी खेल रही है
किस अतीत शिशुता के साथ ।

रहस्यवाद—लाज लगे तो जाओ, तुम जाओ ।
फेर ले नयन चलो मंजु-गुंजर धर ।
नूपुर शिंजित–चरण ।
करूँ वरण, प्राणों में आ छवि पाओ ।
लाज लगे तो जाओ ।

—निराला

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'जिज्ञासा' को जब 'रहस्यवाद' का प्रथम सोपान माना जाता है तब जिज्ञासा या परोक्षसत्ता के आभास से युक्त प्रकृति के वर्णन भी क्या 'रहस्यवाद' में नहीं आ जाते ? इसका उत्तर यह है कि मानसिक स्थिति के दृष्टि से छायावादी काव्य में जिज्ञासा और परोक्षसत्ता के आभास से युक्त वर्णन अधिक होने से छायावाद को रहस्यवाद का प्रथम सोपान माना जा सकता है किन्तु 'रहस्यवाद' की वास्तविक स्थिति दिव्यसत्ता के प्रति संयोगसुख अथवा विरह-दुःख की अभिव्यक्ति में ही मानी जानी चाहिए और इस दृष्टि से अपने निश्चित अर्थ में आभास-दर्शनात्मक या जिज्ञासामूलक रचनाएँ 'रहस्यवाद' में नहीं आ सकतीं किन्तु यदि 'रहस्यवाद' शब्द का व्यापक अर्थ लिया जाय तब सभी छायावादी रचनाएँ 'रहस्यवाद' में रखनी पड़ेंगी और मध्यकालीन रहस्यवाद और आधुनिक काव्य में अन्तर करना कठिन हो जाएगा अतः इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'रहस्यवाद' के निश्चित अर्थ में 'छायावाद' को 'रहस्यवाद' से भिन्न मानना होगा, उसी प्रकार, जिस प्रकार 'रोमांटिक काव्य' के निश्चित अर्थ में वर्डसवर्थ, शेली आदि की कविताएँ 'रोमांटिक' कहलाएँगी और ब्लेक और यीट्स की कविताएँ 'रहस्यवादी'। छायावादी काव्य में 'रहस्य भावना' रहती है किन्तु 'रहस्यवाद' और सामान्य रहस्य भावना में अन्तर मानना चाहिए।

छायावादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ—हम रोमांटिक काव्य और छायावादी काव्य के सादृश्य का विवेचन कर चुके हैं अब 'छायावाद' की प्रमुख प्रवृत्तियों का विभिन्न कवियों में क्या स्वरूप रहा है, यह देखना चाहिए ।

प्रेम—स्वच्छन्दतावाद का सर्वप्रथम रूप सामन्ती समाज के मर्यादावाद के विरुद्ध प्रेमभावनाओं के स्वच्छन्द उद्‌गारों के रूप में मिलता है। यह प्रेम कहीं अत्यधिक स्वच्छन्द, कही विचित्र, कहीं अलौकिक और कहीं अयथार्थ भी लगता है। परन्तु प्रत्येक छायावादी कवि प्रेम के सम्बन्ध में अपनी स्वतंत्र भावनाओं को एक विद्रोह के रूप में व्यक्त करता है—

राग से अरुण धुला मकरंद।
मिला परिमल से जो सानन्द।
वही परिचय था, वह सम्बन्ध
प्रेम का मेरा तेरा छन्द। (झरना)

प्रेम की घोषणा—जिसे चाह तू उसे न कर आँखों से कुछ भी दूर।
मिला रहे मन मन से, छाती छाती से भरपूर।

प्रेम का शारीरिक रूप—तुम्हारा शीतल सुख परिरम्भ
मिलेगा और न मुझे कहीं।
विश्व भर का भी हो व्यवधान
आज वह बाल बराबर नहीं।

"इन्दु" में प्रकाशित प्रसाद जी की प्रेम के सम्बन्ध में एक "ग़ज़ल" से स्पष्ट है कि प्रसाद जी द्विवेदी युग में ही अपनी प्रेम-भावना को स्वच्छन्दता के साथ वाणी देने लगे थे। प्रसाद के प्रेमभाव की व्यंजना में एक 'करुणा' या वेदना बराबर मिली रहती है—

उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का यह थका चरण है।

छायावाद को "वह वेदना की विवृति कहते थे। आँसू में उनके प्रेम में संयोग और वियोग के मधुरतम चित्र मिलते हैं। आँसू में प्रेमपात्र के रूप, उसके साथ अनुभूत संयोग सुख और वियोग की दग्धआहों का चित्रण द्विवेदीयुग के आचारों के बोझ से लदे हुए प्रेम के विरुद्ध 'स्वच्छन्द' प्रेम का रूप प्रतिष्ठित करता है।

काली आँखों में कितनी, यौवन के मद की लाली।
मानिक-मदिरा से भर दी, किसने नीलम की प्याली।
तिर रही अतृप्ति जलधि में, नीलम की नाव निराली।
काली पानी वेला सी, है अंजन रेखा काली।
है किस अनंग के धनु की, यह शिथिल शिंजिनी दुहरी।
अलबेली बाहु लता या नवतन छविसर की लहरी।

बाँधा था विधु को किसने, उन काली जंजीरों से।
मणि वाले फणियों का मुख, क्यों भरा हुआ हीरों से।

हरिऔध की "रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना" अथवा "नाना हावभाव विभाव कुशला" राधा के तथ्यकथनात्मक तथा मर्यादावादी रूप वर्णन से आँसू का रूप—वर्णन स्पष्टतः "स्वच्छन्द" दिखाई पड़ता है। 'मादकता' द्विवेदीयुग में कहीं मिलती ही नहीं, छायावाद के स्वच्छन्द काव्य में 'मादक' चित्र अनेक हैं।[1]

भोग-वादिता की झलक भी प्रसाद के प्रेम-वर्णन में सर्वत्र मिलती है यद्यपि अन्त में प्रेमी उस पर विजय प्राप्त कर लेता है। आँसू में "परिरम्भ

---

१. द्विवेदीयुग के कवियों में रामनरेश त्रिपाठी ने प्रेम की 'मादकता' और वेदना का महात्म्य अवश्य गाया है। माखनलाल चतुर्वेदी की रचनाओं में तो राष्ट्रभक्ति के साथ-साथ ही 'मादन' भाव की मधुर अभिव्यंजना मिलती है—कुछ उर्दू से मिलती जुलती।

जिस पर दया दृष्टि करते हैं, मंगलमय भगवान।
पूर्णप्रेम-पीड़ा से पीड़ित होता है वह प्राण
फूल पंखुरी में पल्लव में, प्रियतम रूप विलोक।
भर जाता है, महामोद से, प्रेमी का उर-ओक

किन्तु 'प्रेम' का 'राष्ट्र' से सम्बन्ध यहाँ भी स्थापित किया गया है—

कुशित जाति के उन्नति पथ से—
कंटक चुन कर दूर।
प्रेमी परम तृप्त होता है—
आह्लादित भरपूर।

माखनलाल चतुर्वेदी में 'प्रणयोन्माद' नहीं हैं, राष्ट्रभाव के नीचे दबा हुआ, खिसक खिसक कर ऊपर आता हुआ सा प्रेम है जो वस्तुतः देश-प्रेमरस के संचारी के रूप में अनुभव होता है—

रूठूं, मेरी प्रेम कथा में
रानी इतना स्वाद नहीं है
और मनूं, ऐसा भी मुझमें
कोई प्रणयोन्माद नहीं है।

—मील का पत्थर।

कुम्भ की मदिरा, निश्वास मलय के झोंके" जैसी पंक्तियों में निर्बाध भोग की भावना अवश्य मिलती है किन्तु उसमें 'रहस्य भावना' का भी स्पर्श रहने से तथा अभिव्यक्ति सांकेतिक होने से वह रीतिकाल से सर्वथा भिन्न दिखाई पड़ती है। कामायनी में 'प्रेम' एक सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित हुआ है। कामायनी में काम-भावना को मंगल से मंडित माना गया है और कवि के अनुसार ब्रह्माण्ड में व्याप्त मूलसत्ता 'काम' के रूप में ही प्रकट होती है, अतः नारी और पुरुष का मिलन कामेश्वर (शिव) और कामेश्वरी (शक्ति) के मिलन का ही भौतिक रूप माना गया है। व्यर्थ की मर्यादाओं और स्थूल नैतिकता के उपदेशों से इस 'काम' भाव को दमित नहीं किया जा सकता, किन्तु इस 'काम' का स्वरूप समझ लेने से, यह समझ लेने से कि काम "सर्ग इच्छा" अर्थात् संतान-उत्पत्ति की इच्छा का परिणाम है, पीड़क न होकर शांत-प्राप्ति और मानसिक विकास में सहायक होता है, क्योंकि 'काम' रमणीयता, आशा, उल्लास, ऊष्मा, सृष्टि इच्छा, प्रयत्न और साहस जैसे महान गुणों की भी सृष्टि करता है अतः इस प्रेम के आधार, 'कामभाव' की कमनीयता के चित्रण के लिए कवि ने लज्जाशीला श्रद्धा की लज्जा, वासना तथा काम भावों के मनोरमतम चित्र अंकित किए हैं जो हिन्दी काव्य में आज तक अन्यतम हैं, कोई अन्य कवि उन्हें अपदस्थ नहीं कर सका। कामायनी के उक्त सर्ग बाह्य मर्यादावाद की व्यर्थता को सर्वदा के लिए समाप्त कर, विवेक द्वारा, आंतरिक अनुशासन द्वारा तथा नारी को अपनी 'प्रकृति' की पूरक के रूप में स्वीकृति द्वारा वास्तविक मर्यादावाद की प्रतिष्ठा करते हैं अतः छायावाद की उच्छृंखलता जो आँसू में कहीं-कहीं लोगों को "आशिक-माशूकाना" जैसी लगने लगती है, कामायनी में आकर एक महान जीवन-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करती है। नारी पुरुष के बीच 'काम', सौन्दर्य और-प्रेम आनन्द दायक तत्त्व हैं, उनकी उपेक्षा से दमित वासना बाह्य नैतिकता को भ्रष्ट करके रख देगी अतः काव्य और जीवन दोनों में काम, सौन्दर्य और प्रेम का चित्रण वांछनीय है किन्तु इस प्रकारकि व्यक्ति का मन भोगवादी न होकर श्रद्धा-विवेकयुक्त हो जाय। नारी की कोमल भावनाओं के साथ 'समरस' होकर पुरुष और पुरुष के सहयोग से नारी के व्यक्तित्व का विकास हो, प्रेम की यह अंतिम परिणति छायावाद की महानतम उपलब्धि है।

मानव जीवन का सुन्दरतम अंश उसका यौवन होता है। प्रसाद जी सूक्ष्म प्रेम के पूर्व इस यौवन और यौवन के सौन्दर्य का पूरी उमंग से चित्रण कर गये हैं, किसी भी प्रकार की "कुण्ठा' कोई दमित वासना प्रसाद जी के

सौन्दर्य-चित्रण में नहीं मिलती क्योंकि वह सौन्दर्य को चेतना का उज्ज्वल वरदान मानते थे—

मंगल कुंकुम की श्री जिसमें, निखरी हो ऊषा की लाली।
भोला सुहाग इठलाता हो, ऐसी हो जिसमें हरियाली।
हो नयनों का कल्याण बना, आनन्द सुमन सा बिकसा हो।
बासन्ती के बन वैभव में, जिसका पंचम स्वर पिक सा हो।
हिल्लोल भरा हो ऋतुपति का, गोधूली की सी ममता हो।
जागरण प्रात सा हँसता हो, जिसमें मध्याह्न निखरता हो।
फूलों की कोमल पंखड़ियाँ, बिखरें जिसके अभिनन्दन में।
मकरन्द मिलाती हो अपना, स्वागत के कुमकुम चन्दन में।
उज्ज्वल बरदान चेतना का, सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं।
जिसमें अनन्त अभिलाषा के, सपने सब जगते रहते हैं।

द्विवेदीयुग में "निषेधवाद" बहुत था अतः जीवन के मधुर पक्षों की उसमें अवहेलना हुई, यह मान लिया गया कि मधुर और आकर्षक का वर्णन पतनकारक होता है। छायावाद में इसकी घोर प्रतिक्रिया हुई। इसके अतिरिक्त रीतिकालीन भोगवाद के विरुद्ध भी उसमें प्रतिक्रिया मिलती है, क्योंकि मूलतः छायावाद सामंतवाद के विरुद्ध पूँजीवादी व्यवस्था की सृष्टि है। किन्तु प्रसाद जी सामंतवाद और पूंजीवाद दोनों के दोषों से परिचित हो चुके थे। अतः प्रसाद जी का व्यक्तिवाद कामायनी में नैतिकता के दुराग्रह और भोगवाद दोनों पर विजय पाता है, प्रसाद जी वस्तुतः पूँजीवादी देशों में प्रेम के स्थान पर भोगवाद की वृद्धि देखकर पूर्ण सावधान थे अतः उनका 'व्यक्तिवाद' कम से कम कामायनी में समष्टिवाद में लय होता हुआ दिखाई पड़ता है, किस प्रकार 'काम' को मंगलमय बनाया जाय, इसके लिए मनोवैज्ञानिक उपाय कामायनी में सुझाया गया है। 'काम' की बर्बरता 'मनु' के माध्यम से और 'काम' के मंगलमय रूप को 'कामायनी' के माध्यम से दिखाकर कवि प्रसाद ने 'काम-वासना' के रूपान्तरण की शिक्षा दी है, लोकमंगल के कार्यों में आसक्त चित्त ही अपने 'काम' को रूपान्तरित कर सकता है, यह तथ्य भी कामायनी से व्यंजित होता है। केवल अपने स्वार्थ और सुख की खोज के लिए कठिन से कठिन परिश्रमकर्त्ता व्यक्ति भी अपने काम भाव को वास्तविक रूप में रूपान्तरित नहीं कर सकता।

प्रसाद के 'प्रेम' में प्रारम्भ में जो व्यक्तिवाद मिलता है, उसमें दुःखवाद और भोगवाद भी साथ-साथ चलता है। भोग के प्रति एक संकोच, एक लज्जा के साथ सूक्ष्म आसक्ति प्रारम्भ में सर्वत्र मिलती है, परन्तु 'कामायनी' में उनका व्यक्तिवाद स्वच्छन्दतावादी कवियों से भिन्न सिद्धों के आध्यात्मिक आनन्दवाद की ओर उन्मुख हो जाता है जिसमें प्रत्येक मनुष्य के मानसिक विकास के लिए भी पग-पग पर सुझाव भरे पड़े हैं।

प्रायः यह कहा गया है कि प्रसाद जी के प्रेम में "मधुप वृत्ति" अधिक है। शुक्ल जी का यही विचार था। 'मधुपवृत्ति' का अर्थ यह है कि उसमें 'रूप के प्रति लोभ' का भाव अधिक है। प्रसाद, प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं अतः 'मधुपवृत्ति' प्रेम के प्रारम्भिक सोपान में वांछनीय है। शारीरिक सौन्दर्य के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है, द्विवेदी युग के कवि उसका वर्णन नहीं करते थे किन्तु प्रसाद जी ने सर्व प्रथम उसका वर्णन किया यद्यपि उस 'मधुप-वृत्ति' का भी एक छोर 'अनन्त' से यत्रतत्र जोड़ दिया गया। आँसू में भी यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। लौकिक प्रेमपात्र को विश्वव्यापी सत्ता के रूप में यत्र तत्र परिवर्तित कर देने के कारण 'मधुपवृत्ति का एक पक्ष रहस्यभाव से सम्पृक्त होता हुआ चलता है अतः वह सम्मोहक होने पर भी उतना उत्तेजक नहीं हो पाया। "तुम कनक किरण के अन्तराल में लुक छुप कर चलते हो क्यों" जैसे गीतों में जो सूक्ष्म सौन्दर्य-सत्ता का भव्य वर्णन मिलता है, उसे केवल 'मधुप-वृत्ति' कहकर नहीं टाला जा सकता। मानव जीवन के सौन्दर्य को इतनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रसाद के पहले हिन्दी कवि नहीं देख सके थे फिर कवि ने इस 'सौन्दर्य' के दर्शन से अपने मन में उठने वाली भावसम्पदा का सांकेतिक वर्णन भी किया है अतः 'मधुपवृत्ति' शब्द उपयुक्त नहीं है, "सौन्दर्यवृत्ति" शब्द अधिक उपयुक्त है। जहाँ जो आकर्षण हैं, उसका कण-कण एकत्र करना कवि का कार्य है, इससे मानव-जीवन सम्पन्न होता है, उसमें सुरुचि का विकास होता है, प्रेम के क्षेत्र में भी वह विलासी की दृष्टि से प्रेमिका को न देखकर सौन्दर्य के देवता के रूप में देखता है, यदि प्रत्येक प्रेमी में कवि रूप जाग्रत बना रहे तो विलास भाव रह ही नहीं सकता। विलास तटस्थ चित्रवृत्ति के अभाव में उत्पन्न होता है और प्रसाद के प्रेमदर्शन में घोर आसक्ति की निन्दा मिलती है, उसमें तटस्थ होकर प्रत्येक वस्तु को देखने ओर भोगने की वृत्ति है।

प्रसाद के बाद कालक्रम की दृष्टि से 'निराला' की प्रेम सम्बन्धी रचनाएँ प्रकाशित हुईं। इनमें सर्व प्रथम "जुही की कला" अत्यधिक प्रसिद्ध हुई। द्विवेदी जी की 'सरस्वती' में मुक्त छन्द के ही कारण नहीं, अपनी मुक्त शृङ्गार

भावना के कारण भी "जुही की कली" प्रकाशित नहीं की गई थी। जुही की कली में द्विवेदी युगीन दृष्टि को रीतिकालीनता की दुर्गन्धि भी दिखाई पड़ी थी। वस्तुतः द्विवेदीयुग के वाह्य नैतिकतावाद को "जुही की कली" में स्पष्टतः ललकारा गया था, एक चुनौती के रूप में इस कविता ने १९१६ ई० में द्विवेदीयुग की जड़ता पर प्रहार किया था। महादेवी ने लिखा है कि "स्थूल सौन्दर्य की निर्जीव आकृतियों से थके और कविता की परम्परागत नियम शृङ्खला से ऊबे हुए व्यक्तियों को फिर उन्हीं रेखाओं से बँधे स्थूल का न तो यथार्थ चित्रण रुचिकर ही हुआ और न उसका रूढ़िगत भाषा-आदर्श। उन्हें नवीन रूपरेखाओं की आवश्यकता थी जो छायावाद में पूर्ण हुई।" अन्यत्र उन्होंने लिखा है कि "खड़ीबोली की सौन्दर्यहीन इतिवृत्ति" दीर्घकाल से हमारे ऊपर वासनोन्मुख स्थूल सौन्दर्य के अधिकार को हिला भी न सकता था। परन्तु छायावाद ने उसे हटा कर अपने सम्पूर्ण प्राणवेग से प्रकृति और जीवन के सूक्ष्म सौन्दर्य को असंख्य रूप रङ्गों में अपनी भावना द्वारा सजीव करके उपस्थित किया।"

"जुही की कली" का यही योगदान था। उसमें रीतिकालीन स्थूल सौन्दर्य और प्रेम के स्थान पर सूक्ष्म सौन्दर्य का चित्रण है और दूसरी ओर "जुही की कली" में चित्रित सौन्दर्य "अनन्त" का अंचल भी स्पर्श करता करता दिखाई पड़ता है। 'व्यक्ति और विराट' का जो समन्वय इस कविता में मिलता है, इसकी ओर तात्कालिक स्थूल रूप रेखाओं को पसन्द करने वाले कवियों और आलोचकों का ध्यान नहीं गया। जुही की कली में यौवन की सारी उद्दामता एवं उष्मा अभिव्यक्त हो उठी है। साथ ही साथ कवि ने रति-क्रीड़ा के चित्र को एक प्रतीक के रूप में भी परिवर्तित कर दिया है। यहीं निराला की "रूप में अरूप" उपासना है। निराला ने 'जुही की कली' के मधुर-मिलन में "तमसो मा ज्योतिर्गमय" की ध्वनि सुनी थी।[१]

१. **अभी-अभी हिन्दी साहित्य सम्मेलन में एक नेता ने उसे साहित्य कहा है जो मानव जाति को उठाता हो, यहाँ 'जुही की कली' में जो कला है, वह ऐसी है या नहीं, देख लीजिए, तमसो मा ज्योतिर्गमय की काव्य में उतारी हुई तस्वीर है, क्योंकि मन के अन्धकार के बाद है जागरण, आत्मपरिचय, प्रिय साक्षात्कार, मन का प्रकाश·····कली सोते से जगी हुई—प्रिय से मिली हुई खिली हुई पूर्ण मुक्ति के रूप में·····।**

—'निराला'

रूप और सौन्दर्य का निर्भय होकर सांकेतिक और सूक्ष्म चित्रण करना, पुनः उस 'रूप' में अरूप का प्रतिबिम्ब देखना, संयोग और वियोग में व्यक्तिगत उद्‌गारों को व्यक्त करके भी उनमें ब्रह्म के लिए आत्मा के संयोग और वियोग की प्रतिध्वनि उत्पन्न कर देना अर्थात् 'यथार्थ को प्रतीक में और प्रतीक को यथार्थ में बदल देना—इन प्रवृत्तियों से छायावाद का 'सौन्दर्य और प्रेम चित्रण' रीतिकाल और द्विवेदी युग से भिन्न दिखाई पड़ता है। निराला "रूप द्वारा अरूप की साधना, कल्पना द्वारा अवश्य करते दिखाई पड़ते हैं। प्रेम का चित्रण जब ऐसा होगा कि वह पाठक या श्रोता के मन को केवल 'शरीर' और 'मन' तक ही सीमित न रखकर, "सर्वव्यापी प्रेमभाव" के साथ सम्बद्ध कर देगा तब उसके "ऐन्द्रिक अंश" भी उत्तेजक नहीं रह सकते क्योंकि वे पाठक के ध्यान को नए अर्थों की ओर, नई स्वतः स्फूर्त्त अनुभूतियों की ओर मोड़ देते हैं। एक बार देख लेने पर छायावादी पद्यों का सौन्दर्य समाप्त नहीं हो जाता, ध्यान केन्द्रित होने पर और वर्णित 'रूप' का ध्यान करने पर वह 'रूप' रेडियम की तरह अक्षय किरणें फेंकता हुआ दिखाई पड़ने लगता है। अतः निराला के रूपचित्रणों में अद्‌भुत सांकेतिकता और विराटता मिलती है।

निराला की प्रेमिका विश्वव्यापी प्रेमिका है, यह संध्या में, तरङ्गों में, यमुना में, पुष्पों में, कलियों में अपना रूप बिखेरती हुई कवि को मुग्ध करती हुई प्रतीत होती है। 'प्रसाद' प्रारम्भिक काव्य में सौन्दर्य वर्णन द्वारा "सत्य और शिव" को उतना ध्वनित नहीं कर सके जितना 'निराला' कर सके हैं। प्रसाद में सूफ़ियों जैसी मस्ती और "सरसता" अधिक है जब कि निराला में ब्रह्मवादियों जैसी 'उदात्तता' अधिक है। नारी के चित्रण में एक स्पृहणीय तटस्थता निराला में मिलती है—

"साहित्य के पृष्ठ में एक विकल नारी की मूर्त्ति, तम के अतल प्रदेश में मृणालदण्ड की तरह, अपने शत-शत दलों को संकुचित संपुटित लेकर बाहर आलोक के देश में, अपनी परिपूर्णता के साथ खुल पड़ती है, जड़ों में प्राण संचरित हो जाते हैं, अरूप में भुवन मोहिनी ज्योतिः स्वरूपा नारी" (निराला)!

अतः निराला के प्रेम में मस्ती उतनी नहीं, जितना 'प्रकाश' है। मस्ती और खुमार 'प्रसाद' जी में अधिक है, रूप को देखकर भीतर ही भीतर "भुनभुन" करने की प्रवृत्ति उनमें अधिक है; निराला उस 'रूप' के अन्तर में और पारस की तरह चारों ओर विस्तृत 'प्रकाश' को एकत्र करते हैं—यही

कारण है कि पन्त और प्रसाद में रूप का सम्मोहन अधिक मिलता है। निराला में वशीकरण नहीं है, उदात्तीकरण है—मौन रही हार, प्रिय पथ पर चलती, सब कहते शृङ्गार-पंक्ति से यह स्पष्ट है कि 'प्रियपथ' से कवि का ध्यान कहीं नहीं हटता। मिलन के अवसरों पर कवि संयोग सुख के प्रति स्पृहा न जगाकर प्रेम को 'अरूप' बना देता है—

मेरे प्राणों में आओ।
शत शत शिथिल भावनाओं से उर के तार सजा जाओ।
गाने दो प्रिय मुझे भूलकर।
अपनापन अपार जग सुन्दर।
खुली करुण उर की सीपी पर।
स्वाती जल नित बरसाओ।
मेरे प्राणों में आओ।

अथवा

प्रिय यामिनी जागी।
अलस पंकज दृग, अरुण मुख, तरुण अनुरागी।
हेर उरपट फेर सुख के जाल।
लख चतुर्दिक, चली मन्द मराल।
गेह में प्रिय स्नेह की जयमाल।
वासना की मुक्ति, मुक्ता त्याग में तागी।
प्रिय यामिनी जागी।

निराला के प्रेम में 'रूप और स्नेह' की महिमा है, ऐसे रूप की, ऐसे स्नेह की, जो वासना से मुक्ति दे अतः प्रेम के वर्णनों में वह साधना जैसी 'तटस्थता' और प्रकाश-परिपूर्णता भरते हैं—

रूप अतन्द्र, चन्द्रमुख, श्रम रुचि
पलक ताल तम मृगदृग हारे
देख दिव्य छबि लोचन हारे।

वह रूप को देखकर "नेत्रों को पावन" कर लेने पर बल देते हैं।[1] मन को चंचल करने की प्रेरणा निराला का काव्य नहीं देता।[2] संयोग के वर्णनों में भी यह विशेषता मिलती है—

---

१. पावन करो नयन !
२. मन चंचल न करो।

नयनों का नयनों से बन्धन।
काँपे थर-थर थर-थर युग तन।
समझे युग, रागानुग मुक्ति रे।
ज्ञान परम, मिले चरम युक्ति से।
सुन्दरता के अनुपम उक्ति के।
बाँधे हुए श्लोक पूर्ण का चरण।

निराला का प्रेम और सौन्दर्य "सुन्दरता का पवित्र श्लोक" है। निराला पर वेदना का प्रभाव सबसे अधिक था अतः उन्होंने सौन्दर्य और प्रेम के वर्णनों की ऐन्द्रिकता को अतीन्द्रियता में, रूप को अरूप में, ससीम को असीम में, वासना को ज्ञान पावक में, नारी को 'शक्ति' में, लघु को विराट में, व्यष्टि-हृदय को समष्टि चेतना के अम्बुधि में और स्थूल रेखाओं को सूक्ष्म रंगों में परिवर्तित कर दिया है अतः उनके प्रेम में लौकिकता का आभास भरा है, दिव्यता के सागर में फेन की तरह वह ऊपर तैरती हुए अवश्य दिखाई पड़ती है किन्तु उसके नीचे ज्योति सागर का भरपूर प्रकाश लहरा रहा है।"उनके चित्रों मे रङ्गीनी उतनी नहीं, जितना प्रकाश है।" पन्त जी में यह रङ्गीनी अधिक है। निराला जी "आनन्द की सार्वत्रिक खोज और अभेद भाव से इन्द्रियों की परितृप्ति का पथ स्वीकार करते हुए भी वे मन-बुद्धि की सात्त्विक प्रेरणाओं से अधिक परिचालित हुए हैं।"

सात्त्विक रूप—खुले केश अशेष शोभा भर रहे।
पृष्ठ ग्रीवा बाहु उर पर तर रहे।
बादलो में फिर ऊपर दिनकर रहे।
ज्योति की तन्वी, तड़ित द्युति ने क्षमा माँगी।

सम्मोहन और समर्पण—नयनों में हेर प्रिये
मुझे तुमने ये उचन दिये।

१. **कौन तुम शुभ किरण-वसना ?**
सीखा केवल हँसना, केवल हँसना !
चंचल कैसे रूपगर्व-बल।
तरल सदा बहती कल-कल-कल।
रूपराशि में टलमल-टलमल।
कुन्दधवलदशना !

मेरी वीणा के तारों में।
बँधे हुए झँकारों में
उर के हीरों के हारों में
ज्योति अपार लिये।

मिलन का रहस्यमय वर्णन—चुम्बन चकित चतुर्दिक चंचल।
हेर, फेर मुख, कर बहु सुख-छल।
कभी हास, फिर त्रास, साँस बल।
उठ सरिता उमगी।

मधुर स्नेह के मेह प्रखरतर।
बरस गये रस निर्झर झरझर।
उगा अमर अंकुर उर भीतर।
संसृति भीति भगी।

निराला की अस्फुट तथा ध्वन्यात्मक शैली में लिखे हुए सौन्दर्य और प्रेम के गीत आंतरिक अनुराग से प्राणवन्त दिखाई पड़ते हैं, कहीं 'कुण्ठा' या दमित वासना का चिह्न नहीं मिलता। शरीर, मन और आत्मा—तीनों स्तरों को एक ही प्रेम भाव से पिरो कर जैसे कवि ने शरीर और मन का द्वन्द्व ही समाप्त कर दिया है। यही कारण है कि शब्द, स्पर्श रूप, रस, और गंध के वर्णन भी उत्तेजक नही हो पाए। प्रेम का पार्थिव रूप अपार्थिव के साथ सर्वत्र मिलकर चला है। ऐसा नहीं है कि पहले प्रेम के पार्थिव रूप का उत्तेजक वर्णन हो और फिर उसे अन्त में अलौकिक का स्पर्श दे दिया जाय। अलौकिकता से वस्तुतः शारीरिक सौन्दर्य में 'स्वप्रकाशता' आगई है—

तपा यौवन का दिनकर, बाँह प्रिय की सुछाँह सुखकर।
दूर अति दूर गगन विस्तार, निकट अति निकट हृदय में हार।
समाई उर सर में मधुर बिहार, कर बनी चिन्तामणि भास्वर।

यौवन का दिनकर बिना किसी उष्णता को उद्दीप्ति किए बिना ही। किस प्रकार केवल 'भास्वरता' का प्रेषक बनकर रह गया है, यह निराला की विशेषता है। दुरूह शैली, अस्फुट पदावली, ध्वन्यात्मक और दार्शनिकता के कारण निराला का काव्य अधिक पढ़ा नहीं गया किन्तु जो उसे पढ़ता है वह यही कहता है कि "पास ही है हीरे की खान, ढूंढ़ता अरे कहाँ नादान!"

पन्त जी की 'प्रेम भावना' उनके चिन्तन के साथ-साथ धीरे-धीरे विकसित हुई है। द्विवेदीयुग की 'निषेधवादिता' और रीतिकाल के स्थूल प्रेम के विरुद्ध पन्त जी ने शारीरिक आकर्षण को मुक्त होकर वाणी देने पर भी, मानसिक प्रेम का वर्णन अधिक किया है।

अनिल सा लोक लोक में।
हर्ष में और शोक में।
कहाँ नहीं है प्रेम, सांस सा सबके उर में।

प्रेम की भावना को इतने व्यापक रूप में अपनाने के पूर्व पन्त जी ने 'ग्रन्थि' में अपनी प्रेमिका के प्रणय से वंचित होने की स्पष्ट कथा भी कही है। 'ग्रन्थि' में कवि का प्रेम आदर्शवाद से युक्त न होकर लौकिक है। उसमें समर्पण और प्रेमिका के सौन्दर्य से सम्मोहित होने तथा उससे वंचित होने पर विरह-ताप का वर्णन किया गया है। किन्तु 'वीणा' में अपने को 'बालिका' रूप में चित्रित कर कवि ने प्रकृति को जिस विस्मय के भाव से देखा था, वह कवि को प्रकृति-छवि में इतना लीन कर देता है कि वह अपनी बाला के बाल-जाल में लोचनों को उलझा रखने से बाज आता है—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया।
तोड़ प्रकृति से भी माया।
बाले ! तेरे बाल जाल में कैसे उलझा लूँ लोचन ?
छोड़ अभी से इस जग को !

अतः पन्त का 'प्रेम' प्रकृति-प्रेम बन जाता है। फिर भी 'पल्लव' में 'आँसू' और 'उच्छ्वास' जैसी रचनाओं में पुरानी उद्दीपन पद्धति को भी अपनाकर 'विरह' का वर्णन किया गया है, जिसमें 'प्रसाद' की तरह "वेदना की विवृति" बहुत अधिक हो गई है। कवि ने काव्य की प्रेरणा का स्रोत 'वियोग' में मान लिया है।[1] संयोग के चित्र भी 'पल्लव' में पिलते हैं जिसमें कुसमों से सज्जित सरिता के तट से सरकती हुई लहर के समान प्रेमिका की "छपी सी, पी सी मृदु मुस्कान" के मधुर चित्र हैं। प्रेमिका के

---

१. **वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान।**
उमड़ कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।

सौन्दर्य की प्रकृति-व्यापी रूप भी चित्रित है।"[1] प्रेमिका के शारीरिक सौन्दर्य की पवित्रता का जयनाद पन्त जी ने स्पष्ट किया है जो द्विवेदीयुग की जड़ता पर प्रहार करता है।

मूँद पलकों में पिया के ध्यान को—थाम ले अब हृदय इस आह्वाने को।
त्रिभुवन की श्री भी तो भर सकती नहीं, प्रेयसी के शून्य पावन ध्यान को।

अथवा

तुम्हारे छूने में था प्राण।
संग में पावन गंग-स्नान।

अथवा

बिन्दु में थीं तुम सिन्धु अनन्त।
एक स्वर में समस्त संगीत।
एक कलिका में अखिल बसन्त।
धरा में थी तुम स्वर्ग पुनीत।

'प्रेम' को पुनीत स्वर्ग बना देने वाले पन्त जी ने रीतिकालीन प्रेम की 'अशिष्टता' के स्थान पर स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाली और स्वाभिमान और गरिमा के प्रति जागरूक नारी के प्रति "शिष्ट प्रेम निवेदन" किया है। रीतिकालीन "स्थूल प्रेमनिवेदन" पूंजीवादी सभ्यता में स्वीकृत-शिष्टता के विरुद्ध प्रतीत होने लगा था, यहाँ तक कि संस्कृत के प्रेम सम्बोधन भी अशिष्ट प्रतीत होने लगे थे। विश्वविद्यालय की किसी युवती के सम्मुख यदि उसका प्रेमी, हे रम्भोरु ! हे नितम्बिनी, कहे तो वह प्रेमिका अपमानित अनुभव करेगी अतः छायावादियों ने नारी के नए सामाजिक स्तर के अनुरूप प्रेम का विधान किया है। 'प्रेम' मूलतः प्रवृत्ति (Instinct) पर आधारित होकर भी किस प्रकार आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप "कंडीशंड" हो जाता है, यह छायावादी प्रेम वर्णन से भी स्पष्ट है। प्रत्येक युग में सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप ही 'संस्कृति' का विकास होता है, उस संस्कृति के अनुरूप ही 'कला' का विकास होता है अतः पन्त जी का प्रेम-चित्रण सामंतवादी मान्यताओं के विरुद्ध पूंजीवादी व्यवस्था के अनुरूप अधिक है। सामंतवादी समाज में नारी

---

१. प्रिये कलि-कुसुम-कुसुम में आज, मधुरिमा, मधु, सुषमा, सुविकास।
तुम्हारी रोम रोम-छवि व्याज, छा गया मधुवन में मधुमास।

'भोग्या' थी, उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का महत्त्व अधिक न था। नारियों का अपहरण एक शान समझी जाती थी (विशेषकर क्षत्रियों में) अथवा सामान्यतः उनका पिताओं द्वारा "दान" होता था। बहुविवाह की प्रथा 'प्रेम' के विरुद्ध पुरुष-स्वार्थ की घोषणा करती थी। ऐसे समाज में 'नारी के प्रेम' में वह गरिमा, स्वतन्त्रता और स्वाभिमान नहीं मिल सकता था, जो छायावादी काव्य में मिलता है। नारी के शारीरिक सौन्दर्य के वर्णनों में बिना किसी लज्जा के अश्लील संकेत रहते थे। इसके विरुद्ध द्विवेदीयुग ने शारीरिक सौन्दर्य की अवहेलना की अतः पन्त जी ने नए ढंग का सौन्दर्य-चित्रण किया जो आधुनिकता के गौरव के अधिक अनुकूल था—

अरुण अधरों का पल्लव प्रात।
मोतियों सा हिलता हिमहास।
इन्द्रधनुषी पट से ढँग गात।
बाल विद्युत का पावस लास।
हृदय में खिल उठता तत्काल।
अधखिले अंगों का मधुमास।
तुम्हारी छवि का कर अनुमान।
प्रिये प्राणों की प्राण!

पन्त जी ने प्रेमिका के शारीरिक सौन्दर्य को "सकल ऐश्वर्यों की संधान", 'पावन गंगा स्नान' और 'त्रिवेणी की लहरों का गान' कहकर नारी-सौन्दर्य की महिमा को सम्मानित किया है। अतः छायावादियों के शत्रु जब छायावाद पर रीतिकालीनता का आक्षेप करते हैं तब वे भूल जाते हैं कि जिसे वह रीतिकालीन कहते हैं, वह वस्तुतः रीतिकाल के विरुद्ध है। इसका अर्थ यह नहीं है कि कहीं भी छायावाद में रीतिकालीनता नहीं है। द्विवेदीयुग के विरोध में तथा मनोविज्ञान के दमित कामवासना के सिद्धान्त के अनुसार 'मिलन और सम्भोग' को स्वाभाविक सिद्ध करने के प्रयत्न में कहीं-कहीं चित्र उत्तेजक भी हो गए हैं।[1] किन्तु सामान्यतः उक्त सिद्धान्त सही है।

---

१. **तुम मुग्धा थीं, अति भावप्रवण**
उकसे थे अमियों से उरोज।
चंचल प्रगल्भ, हँसमुख उदार
मैं सलज, तुम्हें था रहा खोज।

पन्तजी ने 'प्रसाद' और निराला की तरह 'नारी' को 'सूक्ष्मसत्ता' के रूप में भी परिणत किया है। छायावाद की नारी पुरुष के कंधे से कंधा भिड़ा कर जीवन के वास्तविक संघर्ष में खून-पसीना एक करने वाली नारी नहीं है, छायावादियों ने उसे इस रूप में देखा है कि जैसे वह किसी अद्भुत लोक से अवतरित इन्द्रजालमयी सुन्दरी हो। छायावाद में इसीलिए उसे एक रहस्यमय भावना में आवृत कर प्रस्तुत किया गया है। कहीं वह पहेली सी, कहीं वह सूक्ष्म प्रेरणादात्री सी और कहीं-कहीं वह 'परमब्रह्म' सदृश सर्वत्र व्याप्त, सूक्ष्म सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित की गई है। रोमानी कवि की विशेषता ही यह है कि वह प्रत्येक वस्तु को कौतूहल की दृष्टि से देखता है। रोज़ देखी हुई वस्तु को भी वह इस दृष्टि से देखता है, जैसे वह आज ही प्रथम वार उसके सम्मुख उपस्थित हुई हो। 'सौन्दर्य' का एक लक्षण "क्षणे-क्षणे नवता" माना गया है। "विस्मय-मुग्ध" होकर छायावादी कवि नारी पर इस "क्षणे क्षणे नवता" का आरोप करके, उसके सौन्दर्य और प्यार का अन्त नहीं पाता। 'नवता' और कौतूहल के आरोप से नारी अक्षय-सौन्दर्य की निधि बन गई है। अतः छायावादी इस 'संम्मोहन' का गायक है। उसमें 'भोगभावना' 'सौन्दर्य' को सदा देखते रहनें और उस सम्मोहन में ही मुग्ध रहने की प्रवृत्ति से मन के ऊपरी स्तर पर नहीं आ पाई जैसा कि अंचल और नरेन्द्र जैसे परवर्ती छायावादियों में दिखाई पड़ता है। 'सौन्दर्य' के आराधक छायावादी कवि प्रसाद, निराला और पन्त के लिए 'नारी' इसीलिए 'आराध्या' बन गई है, परवर्ती कवियों ने इस पवित्रता के विरुद्ध "क्रान्ति" की है, इसे ही 'मांसलवाद' कहा जाता है। छायावाद में इसके विरुद्ध नारी के मानसिक प्रेम का गौरव स्वीकृत है तथा उसका अमूर्तीकरण भी बहुत किया गया है :—

निखिल कल्पनामय अयि अप्सरि !
अखिल विस्मयाकार !
अकथ, अलौकिक, अमर, अगोचर
भावों की आधार

तुमने अधरों पर धरे अधर
मैंने कोमल वपु भरा गोद
था आत्मसमर्पण सरल मधुर
मिल गए सहज मारुतामोद।

अथवा

वह खड़ी दृगों के सम्मुख
सब रूप, रेख, रंग ओझल।
अनुभूतिमात्र सी उर में
आभास शांत, शुचि उज्जवल।

प्रसाद जी के यहाँ भी 'नारी को "कुहुकमयी" रूप में देखा गया है मानो वह अलौकिक इन्द्रजाल और सूक्ष्म स्पन्दन मात्र हो।[1]

किन्तु यह स्मरणीय है कि छायावाद में नारी का यह 'अमूर्तीकरण', सौन्दर्यसाधना पर आधारित है। हम कह चुके हैं कि छायावाद 'सौन्दर्य-शोध' पर आश्रित है। सौन्दर्य-चित्रण में नारी के स्थूल सौन्दर्य का वर्णन बहुत अधिक हो चुका था अतः सौन्दर्य की सूक्ष्म रेखाओं का प्रयोग करके, प्रेमिका को मात्र 'अनुभूति' के रूप में परिणित करने का प्रयत्न भी छायावाद में किया गया है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह "सूक्ष्मीकरण" 'सर्वत्र' दमित वासना का परिणाम है क्योंकि यह तो सौन्दर्य'चित्रण की एक स्वीकृति पद्धति मात्र है जो योरोप के स्वच्छन्तावादी काव्य में बराबर मिलती है। सौन्दर्य-सम्मोहित व्यक्ति को तब तक संतोष ही नहीं होता जब तक वह 'सुन्दर' का आदर्शीकरण अथवा 'अलौकिकीकरण' न कर दे, सीमित को असीमित न बना दे, 'लहर' को 'अम्बुधि' के रूप में और अम्बुधि को 'लहर' के रूप में बार-बार कल्पित करके देखने में एक नया सौन्दर्य-बोध जन्म लेता है, यही प्रवृत्ति छायावाद में दिखाई पड़ती है।

तुम स्पर्शहीन अनुभव सी
नन्दन तमाल के तल में —आँसू, प्रसाद

यह अमूर्तीकरण सर्वत्र नहीं है, पन्तजी में "झरनों के झिलमिल हारों" और प्रसाद जी में 'नील परिधान बीच मदुल अधखुले अंगों" आदि के वर्णन भी कम नहीं हैं। छायावाद में प्रेमिका का अलौकिकीकरण, अतिशयीकरण, अमूर्त्तन अथवा सम्मूर्त्तन—सब कुछ 'नारी' को सौन्दर्य का सर्वश्रेष्ठ आलम्बन मान लेने के कारण मिलता है। नारी सुन्दरतम कृति है, यह मान लेने पर प्रकृति को कामिनी—के रूप में ही चित्रित किया गया है। निराला की सन्ध्या-सुन्दरी,

---

१. कौन हो तुम विश्वमाया कुहुक सी साकार।
प्राणसत्ता के मनोहर भेद सी सुकुमार।

तरंगों के प्रति, महादेवी के रूपसि तेरे घन केश पाश आदि कृतियाँ प्रमाण हैं। पन्त जी नारी के सम्मोहन और सौन्दर्य के बहुत बड़े गायक हैं। निराला की तरह दार्शनिक दुरूहता न होने से उनके रमणीयता के चित्रण अधिक प्रचलित हुए। मानव-सौन्दर्य का गायन पाप नहीं है, बशर्ते कि वह कुत्सा की ओर न ले जाय, पन्तजी अपनी स्वाभाविक शालीनता और 'शोभन के प्रति आसक्ति' के कारण 'कुत्सा' से बच सके हैं। "आज रहने दो यह गृह काज" जैसी रचना में भी।

छायावाद में 'नारी' केवल कौतूहल की वस्तु नहीं है, वह पुरुष के व्यक्तित्व की पूर्त्ति के रूप में भी चित्रित हुई है। वस्तुतः नारी के प्रति आकर्षण दो व्यक्तित्वों की परस्पर पूर्त्ति की निसर्गगत कामना के कारण उत्पन्न होता है। प्रसाद जी ने इसीलिए 'नारी' को केवल 'श्रद्धा' कहा था और पन्त जी ने उसे 'सहचरी' के अतिरिक्त "देवि" और "माँ" तक कहा है। पुरुष में जिन गुणों का अभाव है, उसे नारी पूर्ण करती है।[1]

पन्त जी ने प्रेम के आकर्षण और विरह के वरदान का वर्णन अधिक किया है और अन्य छायावादियों की तरह 'सर्ववाद' के आधार पर 'नारी' को प्रतिष्ठित कर दिया है।[2] पन्तजी के काव्य में नारी, प्रकृति और परमसत्ता की एकता की रक्षा हुई है। सौन्दर्य का जैसे एक त्रिकोण बन गया हो, जिसके मध्य में कवि है जो तीनों बिन्दुओं को अपनी अनुभूति के द्वारा 'एक' करता हुआ तृप्त नहीं होता—

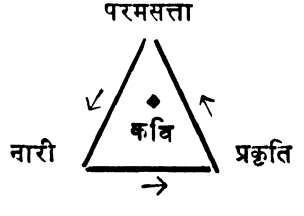

नारी के नैसर्गिक आकर्षण के प्रति कवि पन्त की रति उनके नवीन दार्शनिक काव्य में भी निरन्तरता प्राप्त करती है। जगत् को नारीमय देखने

---

१. तुम्हारी सेवा में अनजान, हृदय है मेरा अंतर्धान।
देवि ! माँ ! सहचरि ! प्राण !

२. बिन्दु में थीं तुम सिन्धु अनंत, एक स्वर में समस्त संगीत।

की प्रवृत्ति के पीछे, नारी की महिमा और उसका सौन्दर्य ही अधिक है, भोग की उत्कट लालसा पन्त जी में बहुत कम मिलती है। अतः इस दृष्टि से पन्त जी ने प्रारम्भ में "धरा है सिर पर मैंने देवि, तुम्हारा यह स्वर्गिक शृंगार" की जो प्रतिज्ञा की थी, उसे वृद्धावस्था में भी निभाया है। चिन्तन की दृष्टि से 'प्रसाद' जैसी 'एकता' (consistency) न मिलने पर भी पन्त जी में सौन्दर्य-शोध की निरन्तरता अवश्य मिलती है।

एक दो उदाहरण भी पर्याप्त होंगे—

ली यह आई विश्वोदय पर
स्वर्णकलश वक्षोजों पर धर
अर्धविवृत कर ज्योति द्वार पर
ज्योति रश्मियों की अंजलिभर। —'स्वर्ण किरण'

अथवा

उठा इन्द्र प्रभ धन अवगु ण्ठन
चन्द्रमुखी ऋतु वारिज लोचन
सरित पुलिन पर करती विचरण
सद्यस्नात, कृश शुभ पीत अंग
कुन्द मिलित स्मिति, गुजित यह रंग
सौम्य सलज चिर प्रकृति अंक में
पली, मोहती मुग्धा जन मन। —'उत्तरा'

महादेवी की प्रेम-भावना का रूप निश्चित है। पन्तजी की ही तरह 'नारी' महादेवी के लिए भी अज्ञेय और अनुपम सौन्दर्य की प्रतीक है अतः प्रकृति वर्णनों में भी नारी सुषुमा का ही आरोप महादेवी के काव्य में मिलता है।

यदि 'सौन्दर्य के प्रतीक' के रूप में 'नारी' को छायावाद में स्वीकृत न किया गया होता तो कम से कम महादेवी तो नारी हैं, उन्होंने प्रकृति पर नारी का आरोप क्यों किया ? 'दमित वासना' के सिद्धान्त से महादेवी के 'नारीवाद' को नहीं समझाया जा सकता। तुलसीदास ने लिखा है कि "मोहै न नारि नारि के रूपा"। उनकी बात भक्ति और माया के विषय में तो ठीक है परन्तु स्वयं नारी नारी के रूप को ही अधिक सुन्दर मानती है, अन्यथा प्रकृति पर महादेवी को पुरुष का आरोप करना चाहिए था ! नारी में पुरुष की परुषता के प्रति प्राकृतिक आकर्षण दूसरे रूपों में व्यक्त होता है, यथा महादेवी के रहस्यवाद में, विरह-वणनों में, पुरुष के प्रति प्रेम की ही व्यंजना है, किन्तु प्रकृति चित्रण में सर्वत्र 'नारीवाद' ही मिलता है। इसका कारण यह है कि प्राचीनतम

काल से लेकर आज तक 'नारी' के सौन्दर्य को एक यथार्थ सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है। अतः महिलाएँ भी 'मानवीकरण' के समय नारी की छवियों का ही आरोप करती हैं। नारी में सौन्दर्य के साथ कोमलता का गुण सौन्दर्य को आकर्षक बनाता है। "उदात्त" वस्तु में 'भय' के मिश्रण के कारण महादेवी ने उदात्त पदार्थों का चित्रण बहुत कम किया हैं अतः छायावाद की सौन्दर्य-साधना का 'मापदण्ड 'नारी' है—सर्वत्र उसी की छवियों का अंकन है। 'छविअंकन' में पर्याप्त तटस्थता बिना छायावादी काव्य में इतनी सुन्दर मूर्तियों का चित्रण सम्भव ही नहीं था अतः अतृप्त वासना का आक्षेप काफी दूर तक असत्य है यद्यपि उसमे सत्य का सीमित अंश अवश्य है—

रूपसि तेरा घन केश पाश !
श्यामल-श्यामल कोमल कोमल
लहराता सुरभित केशपाश
नभगंगा की रजत धार में
धो आई क्या इन्हें रात
कम्पित हैं तेरे सजल अङ्ग
सिहरा सा तन है सघस्नात
भीगीं अलकों के छोरों से
चूतीं बूँदें कर विविध लास।

अतृप्त काम वासना यहाँ-कहाँ हैं, यहाँ तो 'तटस्थ' होकर छवि का अंकन किया गया है।

महादेवी का सौन्दर्य-चित्रण अन्य छायावादियों की ही पद्धति पर है यद्यपि उसमें पुरुष कवियों जैसी 'स्फुटता' और "रिरिंसा" नहीं है। किन्तु 'प्रेम-भाव' के वर्णन में महादेवी अपने असफल प्रेम के कारण 'रहस्यवाद' का मार्ग पकड़ती हैं, उसमें भी 'वेदना' और "दुःख" को एक 'पवित्र साधना' के रूप में अपनाया गया है। 'मिलन' व्यक्ति को संकुचित बनाता है, और विरह और दुःख उसे उदार बनाता है, दुःख के कारण व्यक्ति सम्पूर्ण मानवता के साथ एकता स्थापित कर लेता है। दुःखी व्यक्ति अधिक संवेदनशील और करुणापूर्ण देखे जाते हैं अतः महादेवी ने गौतम बुद्ध के दुःखवाद से प्रेरणा लेकर एक कल्पनात्मक साधना-पद्धति आविष्कृत कर ली है। मीरा की तरह वह अपनी विरह-व्यथा में तड़पना ही जीवन का लक्ष्य मानती हैं। विरह के पग को 'धीमा' करके गंतव्य तक न पहुँच कर, चलते-चलते ही मिट जाना चाहती हैं, पन्थ की सामा पाकर क्या होगा—

चलते-चलते मिट जाऊँ, पाऊँ न पन्थ की सीमा।

अथवा

मेरे छोटे जीवन में, देना न तृप्ति के कण भर।
रहने दो प्यसी आँखें, भरती आँसू के सागर।

अथवा

मैं नीर भरी दुःख की बदली।

अथवा

आज नयन क्यों आते भर-भर।
पिक की मधुमय वंशी बोली
नाच उठी सुन अलिनी भोली।
मृदुल अंकधर, दर्पण सा सर
ओंज रही निशि दृग-इन्दीवर
आज नयन क्यों आते भर-भर!

महादेवी का प्रेम-वर्णन इस सत्य की घोषणा करता है कि पूँजीवादी व्यवस्था आ जाने पर भी 'नारी' को वास्तविक स्वच्छन्दता प्राप्त नहीं होती। भारतवर्ष में तो पूँजीवाद का विषम और अपर्याप्त-विकास हुआ है अतः पूँजीवादी बन्धनों के साथ यहाँ सामंती समाज के बन्धन भी साथ-साथ चल रहे हैं। पूँजीवाद में 'सौन्दर्य' विलासिता का प्रेरक बन जाता है और नारी का प्रेम "मुद्रा" पर आधारित हो जाता है। महादेवी को पुरुष समाज की निष्ठुरता का स्वयं सामना करना पड़ा है। 'विद्वोत्तमा' होकर मूर्ख कालिदासों से अपमानित होना पड़ा अतः अपने जीवन की कटुता, असफलता आदि को उन्होंने 'चिरन्तन सत्य' के माध्यम से व्यक्त किया है। महादेवी के काव्य में 'प्रतिशोध' और परिवर्त्तन की भावना नहीं, अपितु "स्वयंवेदना-भारवहन" करते चलने की प्रवृत्ति है। उनके काव्य की एकरसता उनके जीवन की एकरसता की प्रतिध्वनि मात्र है।

प्रथम 'श्रमविभाजन' सर्वप्रथम स्त्री और पुरुष के बीच हुआ। सन्तान का भार ढोने के कारण नारी को, उस पुरुषत्व-प्रधान युग में क्रमशः हीन स्थिति स्वीकार करनी पड़ी थी। आदिम समाजों में तो वह घर बाहर—सभी जगह अधिष्ठात्री रही परन्तु तत्पश्चात् सभ्यता का सम्पूर्ण इतिहास पुरुष द्वारा नारी के दमन और शोषण की कहानी है। सामन्तवादी समाज में नारी 'भोग्या' रही तो आधुनिक युग में—पूँजीवादी विकास के युग में—'नारी' फैशन और विलासिता की प्रतिमा मात्र रह गई। जो अधिकार उसे मिले, उनसे सामंत-

वादी समाज के बन्धनों से कुछ मुक्ति मिली, किन्तु 'आर्थिक अधिकार' केवल उसे कृत्रिम रूप में ही प्राप्त हुए। वर्गवादी समाज हिंसा पर आधारित होता ही है और जब तक हिंसा है तब तक 'नारी' अपने कोमल गुणों के कारण हीन ही मानी जाएगी। युवावस्था में उसका मूल्य केवल पुरुषों का मन बहलाव के लिए रह जाता है। पुरुष की बर्बरता इधर बढ़ी ही है। इस विकट स्थिति का वर्णन महादेवी ने "शृंखला की कड़ियों" में किया है अतः महादेवी का रहस्य को प्रेम निवेदन, विरह और अश्रुप्रवाह आधुनिक युग के 'नारी समाज' का आर्त्त रोदन मात्र है। मीरा जिस तरह मध्ययुग के नारी समाज का प्रतिनिधित्व करती है, उसी प्रकार 'महादेवी' सामंतवादी-पूँजीवादी समाज के अत्याचारों के विरुद्ध अपनी करुण कथा सुनाती है। इस लोक का 'त्रास', यथार्थ समाधान के अभाव में, पारलौकिक प्रेम में बदल जाता है। महादेवी 'रहस्यवादी' काव्य में भी जो 'समर्पण' नही कर सकीं, उसका कारण पूँजीवादी समाज में नारी की अपने 'व्यक्तित्व' के प्रति जागरूकता है। मध्ययुग की 'मीराएँ' पातिव्रत के सिद्धान्त को स्वीकार करके चली थीं अतः उनमें 'समर्पण' होने के कारण, उनका काव्य 'वास्तविक रहस्यवाद' बन गया है, इसके विपरीत महादेवी का प्रेम-वर्णन, व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के कारण सर्वत्र पुरुष-समाज की बर्बरता की कथा कहता है। पुरुष के प्रति समर्पण सम्भव न होने से आदि पुरुष—ब्रह्म के प्रति भी समर्पण सम्भव नहीं हुआ, केवल उसके प्रति आसक्ति की व्यंजना से यह ध्वनित होता है कि आधुनिका 'सहज जीवन' व्यतीत करना चाहती है किन्तु पुरुषों का पूँजी पर आधारित समाज यह अधिकार उन्हें नहीं देता है। वर्गहीन समाज में ही 'नारी' आत्मनिर्भर होकर अपना अस्तित्व कायम रख सकती है—यह महादेवी के काव्य का रहस्य है।

प्रेमी के प्रति आसक्ति—

मुस्काता संकेत भरा नभ—अलि, क्या प्रिय आने वाले हैं।
विद्युत के चल स्वर्ण पाश में, हँस हँस देता रोता जलधर।
अपने मृदु मानस की ज्वाला, गीतों से लहराता सागर।
दिन निशि को देती, निशि दिन को कनक रजत के मधु प्याले हैं!

अथवा

सिहर-सिहर उठता सरिता उर
खुल-खुल पड़ते सुमन सुधा भर
मचल-मचल जाते पल फिर-फिर

सुन पिय की पदचाप हो गई—
पुलकित यह अवनी !

व्यक्तिवाद—क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार।
रहने दो यह देव अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार।

अथवा

उनसे कैसे छोटापन, मेरा यह भिक्षुक जीवन।
उनमें अनन्त करुणा है, मुझमें असीम सूनापन।

अथवा

अपने इस सूनेपन की, मैं हूँ रानी मतवाली।
प्राणों का दीप जलाकर, करती रहती दीवाली।

महादेवी की प्रेम-भावना इस प्रकार सर्वथा लौकिक है, उसका अलौकिक रूप मात्र आवरण है। अप्रत्यक्ष प्रियतम, प्रत्यक्ष प्रियतम के विषय में अपनी भावनाओं को व्यक्त करने का माध्यम मात्र है। इस 'प्रेम' में समर्पण नहीं, द्वन्द्व है। अहं का अिसर्जन नहीं, अहं की अस्तित्व-रक्षा का जागरूक प्रयत्न है। 'सौन्दर्य' अंकन में जो सांकेतिकता है, वह भी इसलिए कि महादेवी अपने हृदय का स्पष्टतः प्रदर्शन नहीं करना चाहतीं क्योंकि उन्हें सर्वत्र अपमान और उपेक्षा का भय है अतः प्रेम के आकर्षणों को अनुभव करके भी अस्तित्व को अलग रखना चाहती हैं। जब तक प्रिय दूर है, वह पास आने की मनुहार करेंगीं किन्तु यदि प्रिय चाहे भी तो भी पास आने पर प्रिय से अलग भाग कर अपने सूनेपन की आराधना करने लगेंगी ! यह विचित्र लगता है किन्तु यह उस व्यक्ति को स्वाभाविक लगेगा जो एक तो द्विवेदीयुग की कठोर नैतिकता से परिचित है (महादेवी के काव्य में "निजी सुख-दुःख" की व्यंजना के रूप में इस कठोर नैतिकता के विरुद्ध विद्रोह है।) और दूसरी ओर जो पूँजीवादी शिक्षा-सदनों, संस्थाओं, सम्मेलनों आदि में ऊपर से प्रतीत होने वाली स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व की रिक्तता और कृत्रिमता से परिचित है। किसी से भी 'प्रेम' करने की स्वतन्त्रता देकर पूँजीवादी व्यवस्था समाज में ऐसी स्वतन्त्रता के विरुद्ध चुपचाप घृणा फैलाती रहती है। यह नारी को आर्थिक बलिवेदी पर बलिदान करने के लिए, अपने को बेचने के लिए विवश करके भी, ऊपर से यही घोषणा करती है कि सब स्वतन्त्र हैं। बीसवीं शती के इन कृत्रिम नैतिक और

सामाजिक बंधनों को तोड़ने के लिए पूँजीवादी व्यवस्था को ही बदलना होगा, यह तथ्य महादेवी के सम्मुख कभी स्पष्ट नहीं हुआ और न अपने दुःखवाद के कारण दुःख के समूल नाश के लिए व्यावहारिक उपायों में उन्हें श्रद्धा ही रही अतः उनके प्रेमकाव्य में अरण्यरोदन, अक्षय चीत्कार, आत्मपीड़न आदि स्वतः आ गया है। छायावादियों में 'प्रेम' का जितना 'करुण' और 'कातर' रूप महादेवी में मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। महादेवी के काव्य को पढ़कर हम उनके साथ तन्मय नहीं होते अपितु हमारे मन में 'करुणा' और सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है और 'पुरुष' में इस प्रकार के उच्चभाव उत्पन्न करने में सफल होने पर महादेवी का उद्देश्य एक सीमा तक पूर्ण हो जाता है, वह 'दुर्गा' नहीं बनना चाहतीं, दीप-शिखा बनना चाहती हैं जो स्वयं जलती है परन्तु दूसरों को प्रकाश भी देती है! इससे अधिक वह कुछ नहीं चाहतीं और एक कवियित्री को इतनी उपलब्धि के लिए धन्यवाद ही देना चाहिए, महादेवी पर जिस 'कुत्सा' और संकीर्णता की वर्षा की गई है, वह सामाजिक परिस्थितियों को न समझने के कारण ही हुई है अथवा उन समष्टिवादियों द्वारा जो महादेवी से बहुत अधिक आशा रखते थे।

छायावाद के परवर्ती कवियों में अंचल, नरेन्द्र और बच्चन का उल्लेख आवश्यक है। सन् ३० के बाद के छायावादी काव्य में उक्त कवि 'प्रेम' और नारी-सौन्दर्य के चित्रण में नारी की महिमा और गौरव की रक्षा नहीं कर सके। छायावादियों ने 'नारी' को ब्रह्ममय बनाकर, लगता है, इतना उच्चस्तर दे दिया कि उसके साथ प्लेटॉनिक आदर्शवादी प्रेम, इन परवर्ती कवियों को पसन्द नहीं आया। शोभा, शालीनता और सुरुचि को अति की सीमा पर पहुँचते देखकर जैसे इन परवर्ती कवियों ने नारी के साथ शारीरिक सम्बन्ध के प्रति "बड़े चार छायावादियों" द्वारा उपेक्षा अनुभव की अतः जिस प्रकार योरोप में रोमांटिक कवियों के बाद "डिकेडेन्ट्स" का काव्य आया, उसी प्रकार हिन्दी में अंचल, नरेन्द्र और बच्चन का काव्य प्रस्तुत हुआ। जिस प्रकार प्रसाद, पन्त, निराला व महादेवी के काव्य और योरोप के स्वच्छन्दतावादी आंदोलन में सादृश्य होने पर भारतीय स्वच्छन्दतावाद की अपनी विवेषताएँ हैं, उसी प्रकार बच्चन, अंचल और नरेन्द्र के काव्य की अपनी विशेषताएँ हैं।

इन कवियों का मूल उद्देश्य तो यह था कि नारी-पुरुष के सम्बन्ध का जो वासनात्मक आधार है, उसे स्वीकार किया जाय। पन्त जी ने भी प्रगतिवादी रचनाओं में "प्रिया के अधरों पर चुम्बन अंकित न कर सकने वाली रतिकता" का विरोध किया है। किन्तु इन कवियों ने 'सहल वासना' को इतना

अधिक महत्त्व दिया तथा मानसिक प्रेम की इतनी उपेक्षा की कि उनकी क्रान्ति छायावाद की महनीय और शालीन रुचि को कुत्सित बनाने लगी। इनकी 'क्रान्ति' उत्तरदायित्वहीन 'प्रेम' और विलास की ओर उन्मुख करने वाली है। राजनैतिक बंधनों के विरुद्ध जिस प्रकार इन कवियों का अराजकतावादी स्वर है, उसी प्रकार प्रेम के क्षेत्र में भी अराजकतावादी प्रवृत्ति इनकी विशेषता है। ये कवि भी यह नही समझ सके कि प्रेम सम्बन्ध की स्थापना, आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित है, बिना उसके बदले नई मान्यताओं का विकास सम्भव नही है। न तो ये कवि वास्तविक क्रान्ति के लिए सर्वहारा-वर्ग के साथ तादात्म्य करना चाहते हैं, जहाँ यौन सम्बन्ध अब भी मध्यवर्ग से अधिक स्वाभाविक है, और न ये कवि पूँजीपति बनकर मनमाना विलास कर पाए अतः दोनों ओर से कट कर अपने 'अहं' की ही अभिव्यक्ति करने लगे। छायावाद में ललकार नही है, कल्पना का लोक बनाकर उसमें रम रहने की प्रवृत्ति है किन्तु इन कवियों में आत्म-प्रदर्शन, गर्जन-तर्जन, अहं-पोषण और अपनी स्वेच्छाचारी मनोवृत्ति को निर्भय होकर व्यक्त करते की प्रवृत्ति है। भगवतीचरण वर्मा की रचनाएँ भी इन कवियों के साथ-साथ चलती हैं। पैरों के नीचे क्रान्तिकारी वर्गों का आधार न होने के कारण, ये कवि अपने ऊपर शक्ति के आरोप मात्र से यह समझ बैठे कि उनके गर्जन-तर्जन से क्रान्ति हो जाएगी। नग्नता, अश्लीलता, आत्मरति और दम्भ के प्रदर्शन से समाज बदल जाएगा। या यह कि मन चाहे प्रेम सम्बन्ध क़ायम हो जाएंगे—

उच्छृंखलता—प्रीति तराने गाने वाले, सांन्ध्य विहग से हम चंचल।
खोल चला अन्तस्तल अम्बर, नग्न माधुरी उच्छृंखल।
यह मुहूर्त शुभ पर्व पड़ा है, इसे मना लें आज सखी।
सागर सीमा तोड़ चला अब, सरि की कैसी लाज सखी।

अथवा

आज पीते ही चलो, पी लो चलो उन्माद वालो।
जग के इन पुण्य विचारों में, आग लगादें झंझा सी।

प्रारम्भिक छायावाद के पुण्यविचारों में आग लगाने वाले कवियों में प्रमुख हैं, 'अंचल'। हिन्दी में उनका प्रेम काव्य 'मांसलवाद' के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। बच्चन प्रारम्भ में सुरा, सुन्दरी के—हालावादी गीत गाकर सम्मुख आए किन्तु 'हालावाद' में ऐन्द्रिकता की सिफारिश अधिक है, चित्रण कम है।

इसके अतिरिक्त बच्चन ने सुरा, सुन्दरी, सुरालय, साग़िर को 'प्रतीकों' के रूप में अधिक प्रयुक्त किया है अतः प्रत्यक्ष उत्तेजक मस्ती के साथ-साथ एक दूसरा "स्वस्थ" अर्थ भी ध्वनित होता चलता है अतः 'बच्चन' अधिक जनप्रिय हुए। किंतु 'अंचल' ने उत्तेजक चित्र देने प्रारम्भ किए—

फूल उसास प्रदोलित, वक्षस्थल जब उठ-उठ जाता।
पावक सी इस रूपघटा को, कौन विलोक अघाता ?
गमक रही मद भरी मंजरी सी मधुमूर्त्ति नवेली।
गोरे-गोरे अँग में हाला, हालाहाल से अलिबेली।
कहाँ मिलेगा फिर यह बाँका—प्यारा यौवन ?

'रमणेच्छा' यदि अप्रत्यक्ष भी होती तब भी यह काव्य सह्य हो सकता था किन्तु यहाँ 'रमणेच्छा' को अभिधावादी पद्धति पर घोषित किया गया है। छायावाद की अप्रत्यक्ष, प्रतीकात्मक और रहस्यमय अभिव्यक्ति के विरुद्ध इन कवियों का उद्देश्य यह था कि काव्य सरल हो किन्तु 'वर्ण्यवस्तु के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण न रहने के कारण वह 'सरलता' ही अभिशाप बन गई।

बलात्कार प्रियता—आज सुहाग हरूँ मैं किसका, किसका लूटूं यौवन।
किस परदेशी को बन्दी कर, सफल करूँ यह वेदन।

आशिकाना लहजा—आज अमा पूरनिमा का यह मंगल दिखलाओ।
हँस-हँस कर वेणी लहराओ, हियरा मस्त बनाओ।
इन सूनी घड़ियों में तुमको हेर रहा मैं पापी।

प्रकृति में भी अंचल ने अपनी "तृष्णा" का आरोप किया है, यहाँ छायावादी महामयी, सुन्दरता की देवी का प्रकृति पर आरोप नहीं है अपितु कवि का ध्यान यहाँ भी सम्भोग पर ही रहता है—

अरी पगली मदमत्त बयार, चली किससे करने अभिसार ?

छायावादी रेशमी आवरणों में स्थित सौन्दर्य की झलक देखा करते थे। अंचल को यह पाखंड लगता है। उन्होंने 'नग्नवाद' के समर्थन में कहा है कि नग्न उत्पन्न होते हैं अतः 'नग्नता' एक मानवीय मूल्य है—

सभी यहाँ कफ़न लपेटे जाते, किन्तु नग्न आते।
वहाँ सुना सब यौवन अनुभव रंग रूप सब छिन जाते।

अतः 'भोग पिपासा' की घोषणा ही, मांसलवाद की विशेषता है—

एक पल के ही दरस में, जग उठी तृष्णा अधर में।
जल रहा परितप्त अंगों में, पिपासाकुल पुजारी।
कौन जलाता रन्ध्र रन्ध्र में उच्छल रति-गति रस की।
अभी नहीं संतोष अभी तो अमित पिपासा बाकी।

'अंचल' का उद्देश्य नवीन नैतिकता की स्थापना है जिसमें "तृष्णावाद या भोगवाद" की स्वीकृति हो, दूसरे शब्दों में यही अराजकतावाद है।

'अंचल' के भोगवाद में 'प्रेम' के लिए कहीं स्थान नहीं दिखाई पड़ता!

"वासना के गान गाते, कवि चला सूनी डगर में।"

प० नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'अपर्णजता' की भूमिका में व्यर्थ ही क्रान्तिकारी" कहकर 'अंचल' की इस प्रवृत्ति की प्रशंसा की है। भगवतचरण वर्मा में आत्मरति और 'स्व' पर शक्ति का आरोप अधिक मिलता है—

मैं सागर का गर्जन हूँ, तुम सरिता की रँगरेली।
मैं जीवन का विप्लव हूँ, तुम उसकी मौन पहेली।[1]

वर्मा जी "दीवानगी" को बहुत पसंद करने वाले कवियों में से रहे हैं। यह 'दीवानगी' उत्तदायित्व से रहित केवल आत्मतृप्ति का माध्यम मात्र है। वर्मा जी के लिए जगत् भ्रम है, गति भ्रम है, प्रगति भ्रम है, यदि कुछ सत्य है तो बस केवल "मैं"। 'स्व' का ऐसा प्रचार अन्य किसी कवि में नहीं मिलता। शम्भूनाथसिंह ने यह ठीक ही लिखा है कि यह 'व्यक्तिवाद' (Individualism) नहीं है, शुद्ध 'स्ववाद' (Personalism) है। व्यक्तिवाद सामंती बंधनों के विरुद्ध प्रगतिशील तत्त्व बनकर आता है किन्तु 'स्ववाद' पूँजीवाद की विकृति का घोषक है—

हम दीवानों की क्या हस्ती, कल आज यहाँ कल वहाँ चले।
मस्ती का आलम झूम चले, हम धूल उड़ाते जिधर चले।

अराजकतावाद, लक्ष्यहीन क्रान्ति का अन्त सर्वथा निराशा और अन्तहीन वेदना में होता है। बच्चन, अंचल व नरेन्द्र में यह निराशा बहुत मिलती है और नरेन्द्र में तो "क्षयी रोमांस" भी।

आज मुझसे दूर दुनियाँ।

---

१. छायावादयुग—शम्भूनाथ सिंह, द्वारा उद्धृत।

है चिता की राख कर में, माँगती सिन्दूर दुनिया।

अथवा

छल गया जीवन मुझे भी
देखने में था अमृत वह।
हाथ में आ मधु गया रह।
और जिह्वा पर हलाहल, विश्व का वञ्चन मुझे भी।

'निराशा' का सामाजिक निदान न हो पाने पर 'बच्चन' में एक 'नियतिवाद' का विकास दिखाई पड़ता है। प्रसाद भी नियतिवादी थे किन्तु वहाँ नियतिवाद की व्याख्या यह थी—"मैं नियति की डोर पकड़ कर निर्भय होकर कर्म-कूप में कूद सकता हूँ।" अर्थात् प्रसाद में नियति कर्मवाद की विरोधिनी नहीं है। अजातशत्रु में इस नियतिवाद की व्याख्या 'जीवक' के उक्त शब्दों द्वारा स्पष्ट हो जाती है किन्तु 'बच्चन' के नियतिवाद में निष्क्रियता और आत्म-पीड़न ही अधिक है। वर्मा जी में भी यह नियतिवाद मिलता है—

अब असह अबल अभिलाषा है
सबल नियति से संघर्षण[1]

नरेन्द्र में निष्क्रियता और सामाजिक चिंतन के अभाव में मृत्यु-प्रियता का प्रचार मिलता है। प्रेम में मृत्यु-प्रियता एक अस्वाभाविक स्थिति है किन्तु निराशा में मृत्यु भी प्रिय लग सकती है—

मृत्यु ही है, जीवन का शेष
यही आकांक्षा का निःशेष
इसी को कहते हैं अवसान
यहीं रुकता है जीवन यान।

महादेवी ने कहीं-कहीं 'शून्य' और 'अवसान' के प्रति प्रेम अवश्य प्रकट किया है किन्तु 'विरह' को साधना मान लेने के कारण उनकी मानसिक स्थिति 'रुग्ण' नहीं दिखाई पड़ती—

---

१. मैं बढ़ता जाता हूँ प्रतिपल, गति है नीचे, गति है ऊपर।
भ्रमती ही रहती है पृथ्वी, भ्रमता ही रहता है अम्बर।
इस भ्रम में पड़ कर ही भ्रम के जग में मैंने पाया तुमको।
जग नश्वर है, तुम नश्वर हो, बस मैं हूँ केवल एक अमर।

शून्य मेरा जन्म था, अवसान है मुझको सबेरा।
प्राण आकुल के लिए, संगी मिला केवल अँधेरा।
मिलन का मह नाम ले, मैं विरह में चिर हूँ।

किन्तु 'नरेन्द्र' में "मृत्यु की कामना" जिजीविषा को परास्त करती हुई दिखाई पड़ती है। सभ्यता की प्रथम भोर में जिस जाति के पूर्वजों ने "जीवेत् शरदः शतम्" की स्वस्थ कामना प्रकट की हो, वर्गवादी समाज के बन्धनों में तड़पती हुई उन्हीं की सन्तान यह कहने लगी—

मृत्यु ही है जीवन का शेष
यही आकांक्षा है निःशेष !

हालावादी प्रेम भावना—मृत्युवाद या क्षयीरोमांस, मांसलवाद, नियतिवाद, आत्मरति और अराजकतावाद का यह विवेचन बच्चन के हालावाद के बिना अधूरा रहेगा। बच्चन ने १९३३-३४ में मधुशाला, १९३४-३५ में मधुबाला और १९३५-३६ में मधुकलश लिखा है किन्तु इनमें प्रथम रचना अधिक जनप्रिय हुई। बच्चन का भी उद्देश्य छायावादी अत्यधिक अलंकृत शैली के विरुद्ध सरल शैली में काव्य लिखना था। यह स्तुत्य प्रयत्न था क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था में जिस प्रकार उच्चकोटि के 'शिल्प' को कोई नहीं पूछता, उसी तरह छायावादी काव्य प्रचलित न हो पाया था, वह केवल मध्यवर्ग के ही एक भाग में प्रिय हो सका था जो कलापारखी थे। अतः बच्चन ने काव्य को जनता तक ले जाना चाहा, छायावाद की कमी को पूरा करना अपने में उच्च आकांक्षा थी किन्तु काव्य में अभिव्यक्ति का मूल्य नही, चित्र-कल्पना का भी उतना मूल्य नहीं, जितना मूल्य कवि के दृष्टिकोण और उसके "भाव के स्वरूप" का होता है अतः बच्चन का प्रेमकाव्य प्रचलित हो गया किन्तु साथ ही उसकी कला की उच्चता की रक्षा नहीं की जा सकी। पूँजीवादी व्यवस्था की असंगतियों में यह एक विकट असंगति भी दिखाई पड़ती है। पत्रिकाओं, कवि-सम्मेलनों, रेडियो और दूसरे साधनों द्वारा कवि का जनता से सीधा सम्पर्क स्थापित हो जाने पर भी, पूँजीवाद द्वारा चारों ओर जो रुचि-भ्रष्टता फैल जाती है, उससे कवि को लड़ना पड़ता है। सिनेमा पूँजीवादी मनोरंजन है, वह "बाक्स हिट" करने के प्रयत्न में जनता की कमजोरियों का शोषण करता है, जो साहित्यिक पत्रिकाएँ 'रुचि-भ्रष्ट' होती हैं, वह अधिक बिकने लगती हैं, माया, मनोहर कहानियाँ उदाहरण हैं। सिनेमा से सम्बंधित पत्रिकाओं की बिक्री सबसे अधिक हो रही है अतः 'कवि' यदि उच्चकोटि की

'काव्यकला' की सृष्टि करे तो कतिपय लोगों के अलावा उसकी 'पाप्यूलर' माँग नहीं होगी अत: 'पाप्यूलर' होने की इच्छा करने वाले कवि पूँजीवादी 'पाप्यूलैरिटी' के फौरन शिकार हो जाते हैं किन्तु कुछ 'कवि' जनता की रुचि को क्रमश: उच्चकोटि की काव्यकला के स्तर तक उठाने का प्रयत्न करते हैं, यदि उनमें प्रतिभा होती है तो वह भी 'पाप्यूलर' हो जाते हैं क्योंकि पूँजीवाद साधन सुलभ कर देता है। किन्तु कवि 'रुचिभ्रष्टता' के विरुद्ध संघर्ष का सामना करने में सर्वदा सफल नहीं होता अत: मध्यवर्ग से दो प्रकार के कवि सम्मुख आते हैं, एक वे जो पूँजीवादी रुचि का प्रचार करते हैं—सस्ते प्रेम के गीत रचते हैं, कंठ का कमाल दिखाते हैं, कवि सम्मेलनों को व्यवसाय बनाते हैं और धीरे-धीरे उनका 'स्तर' मनोरंजन करने वाले वर्ग के स्तर तक ही सीमित रह जाता है। मध्यकाल में जो कार्य विदूषक, भाँड़ या वेश्याएँ करती थीं, वही ये कवि करते हैं किन्तु साथ ही कुछ कवि ऐसे होते है जो जनता की कमज़ोरियों का रूपान्तरण करते है, सुरुचि जगाते हैं, मनोरंजन का ऐसा रूप प्रस्तुत करते हैं जिससे कला पूँजीवादी मनोवृत्ति से ऊपर उठे और प्राय: ऐसे कवि पूँजीवाद की असंगतियों का पर्दाफाश भी करते हैं। ये कवि भी 'पेशेवर कवि' हो सकते हैं परन्तु वे अपने पेशे में अपना स्वाभिमान और जनता का सम्मान नहीं खो देते।

'बच्चन' ऐसे ही दूसरे प्रकार के कवियों में रहे हैं। 'बच्चन' ने कवि-सम्मेलनों में हिन्दी को जनप्रिय बनाया। वह 'प्रेमसम्बन्धों' की नवीन स्थापना के लिए सम्मुख आते हुए प्रतीत होते हैं। सन् ३० के बाद उमरखैय्याम का अनुवाद बहुत जनप्रिय हुआ था, विश्वविद्यालयों में भी, अत: सूफ़ियों के हाला, प्याला आदि प्रतीकों को लेकर बच्चन ने जिस काव्य का पाठ किया, वह मस्ती, स्वच्छन्दता और सरलता के कारण विद्युतगति से प्रचलित हो गया।

सूफ़ी कवियों ने कठोर नैतिकतावाद के विरुद्ध 'प्रेम' की घोषणा की थी। बच्चन के काव्य में भी यह पक्ष प्रबल है। सन् ३० से ३५ तक का राजनैतिक जगत् भयंकर असंतोष से ओतप्रोत था—ब्रिटेन के अधिकारी गोलमेज़ सभाओं द्वारा भारत के आँसू पोंछ कर भीतर सुलगती हुई आग पर राख डालना चाहते थे। सन् ३० में भगतसिंह ने एसेम्बली में बम फेंका था। क्रान्तिकारियों की कार्यवाहियाँ उग्रतम रूप धारण कर रही थीं। राष्ट्र का यौवन 'विप्लव' के गीत गा रहा था, 'बच्चन' ने इस 'विप्लव' को वाणी न देकर बाह्य नैतिकता के विरुद्ध अपना 'विप्लव' व्यक्त किया। इस 'विप्लव' का एक सीमा तक

समर्थन किया जा सकता है क्योंकि समाज की नैतिकता के विरुद्ध कवि को बोलने का स्वाभाविक अधिकार था किन्तु यह स्मरणीय है कि 'हालावाद' मांसलवाद की तरह 'उच्छृङ्खलता' का भी प्रचार करता है, दिशाहीन विद्रोह चाहे प्रेम के क्षेत्र में हो अथवा राजनीति के क्षेत्र में, अभिनन्दनीय नहीं कहा जा सकता।

अतीत के भक्तों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति की कुछ ऐसी व्याख्या की थी कि उसमें 'प्रेम की मधुरता' के लिए बहुत कम स्थान रह गया था। छायावादियों ने इसका विरोध किया था। 'बच्चन' का 'हालावाद' भी इसका विरोध करता है इसलिए वह प्रशंसनीय है किन्तु छायावादियों की तुलना मे बच्चन की प्रतिक्रिया उच्छृङ्खल अवश्य हो गई है। उसमें सूफ़ियों की सांकेतिकता और कला की उच्चता न होकर सस्तापन आ गया है जो एक पूँजीवादी प्रवृत्ति है अतः बच्चन का 'हालावाद' अंशतः सामती नैतिकता के विरुद्ध विद्रोह भी है और अंशतः पूँजीवादी 'सस्तेपन' का शिकार भी—

नैतिकता के विरुद्ध भीषण ललकार—

वेदविदित ये रस्में छोड़ो, वेदों के ठेकेदारो।
किसी तपोवन से क्या कम है, मेरी पावन मधुशाला।
ध्यान किए जा मन में सुमधुर, सुखकर सुन्दर साक़ी का।
मुख से तू अविरत कहता जा, मधु मदिरा-मादक हाला।

मांसलवाद जैसी वासना—

कह रहा जग वासनामय, हो रहा उद्गार मेरा।
मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधू समझता।
शत्रु मेरा बन गया है, छलरहित व्यवहार मेरा।
वासना जब तीव्रतम थी, बन गया था संयमी मैं।
है रही मेरी क्षुधा ही, सर्वथा आहार मेरा।

पुरानी पीढ़ी के विरुद्ध विद्रोह—

वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी।

समाज से शिकायत—विश्व पूरा कर सका है, कौन सा अरमान मेरा।

'बच्चन' में विरोधी स्वरों का मिश्रण मिलता है। ख़िलाफत आन्दोलन समाप्त होते ही, इस देश के मुसलमान राष्ट्रीय कांग्रेस से अलग हो गए थे और साम्प्रदायिकता बढ़ गई थी। हिन्दुओं में आपस में भी आर्यसमाजियों, सनातनियों आदि की ख़ूनचख़ होती रहती थी अतः 'हालावाद' में इस साम्प्रदायिकता के विरुद्ध भी स्वर मिलता है और 'व्यापक प्रेमभाव' का प्रचार भी—

रक्त से सींची गई है राह मस्जिद मंदिरों की।
किन्तु रखना चाहता मैं, पाँव मधु सिंचित डगर में।
हैं कुपथ पर पाँव मेरे, आज दुनिया की नज़र में।

यहाँ कवि के पाँव वस्तुतः सुपथ पर हैं किन्तु साथ ही कवि पुरानी 'मदहोशी' को 'नव जागरण' पर तरजीह देता हुआ कहता है—

मैं कहाँ हूँ और वह आदर्श मधुशाला कहाँ है ?
विस्मरण दे, जागरण के साथ मधुशाला कहाँ है ?
है कहाँ प्याला कि जो दे, चिर तृषा चिर तृप्ति में भी।
जो डुबो तो ले, मगर दे पारकर हाला कहाँ है ?

कोई इसे 'पलायनवाद' न कह दे अतः कवि अपनी सफाई देता है कि उसने जीवन-समर में ही ये गीत लिखे हैं किन्तु वह भूल गया कि 'राग' के भीतर के 'चीत्कार' को पहचान कर भी दुनिया मार्ग चाहती है, गति चाहती है, जागरण चाहती है, कोरा 'चीत्कार' व्यर्थ है—

राग के पीछे छिपा, चीत्कार कह देगा किसी दिन।
हैं लिखे मधुगीत मैंने, हो खड़े जीवन समर में।

ऐसे काव्य में बाबजूद जड़ नैतिकता और साम्प्रदायिकता के विरोध के, स्वस्थ 'व्यक्तिवाद' नहीं मिलता उसमे 'स्ववाद' अधिक है। अन्यथा सन् ३५ ई० में 'कवि' विस्मृति का पाठ क्यों पढ़ाता, सम्भवतः राजनैतिक क्षेत्र की निराशा ही इस प्रकार के काव्य में प्रकट हो रही थी—

विस्मृति की आई है बेला, कर पांथ न इसकी अवहेला
आ भूलें हास रुदन दोनों, मधुमय होकर दो चार पहर।'

इस प्रकार 'बच्चन' में "अंधक्रान्ति" का भी पर्याप्त अंश है। असफलता की स्थिति आने पर भाग्य से सम्बन्ध जोड़कर कवि अपने दृष्टिकोण की व्यर्थता प्रकट करता है—

लाख पटक तू हाथ पाँव पर, इससे कब कुछ होने का।
लिखा भाग्य में तेरे जो बस, वही मिलेगी मधुशाला।

इस निष्क्रियता की स्थिति में सुन्दरी के कोमल मक्खन से तन का आलिगन करते हुए कवि 'फ़ना' की स्थिति में पहुँचता हुआ अपनी 'नास्तिकता' की भी घोषणा कर देता है क्योंकि आस्तिकता 'संयम' चाहती है और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव में आरोपित नास्तिकता में निर्बाध भोग ही भोग है—

छुड़ा मत भुज पाशों से प्राण
नये मक्खन सा कोमल तन
दूध से धोया सा है मन
ईश्वर को मैं नहीं जानता।
उसकी सत्ता नहीं मानता।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि छायावाद की प्रेमभावना, पूर्व और परवर्ती दोनों रूपों में एक प्रकार के "विद्रोह" को व्यक्त करती है। "चार बड़ों" के काव्य में यह 'प्रेम' स्वच्छन्दता व्यक्त करता हुआ भी, प्रेमपात्र की सुषुमा का भी तल्लीन होकर चित्रण करता है। श्री, शोभा, गौरव और दिव्यता से अपने प्रेमपात्र को युक्त कर "चार बड़ों" ने प्रेम और सौन्दर्य का स्तर उच्चतर किया है, इससे हिन्दी काव्य में एक अभूतपूर्व सुकुमार और सहृदयता का विकास हुआ है। 'छायावाद' चूँकि 'सर्ववाद' को भी सौन्दर्य-सृष्टि के उपादान के रूप में ही स्वीकार करता है, साधना के लिए नही अत: उसके प्रेम-चित्रण में मध्ययुगीन धार्मिकता की जगह मानवीयता अधिक मिलती है। परवर्ती छायावादी कवियों का प्रेम भोग-वासना से पीड़ित होकर जिस सीमा तक पतित हुआ है, उस सीमा तक उसे अवश्य "डिकेडेण्ट" कहा जा सकता है किन्तु जैसा कि हमने देखा है कि परवर्ती कवियों में परस्पर विरोधी स्वर भी मिलते हैं और उसमें कई स्वर सबल और स्वस्थ भी हैं।

छायावाद के 'प्रेमभाव' में केवल योरोप के स्वच्छन्दतावाद से ही प्रेरणा नहीं ली गई है अपितु उसमें भारतीय वेदों, उपनिषदों, आगमों, सन्तकवियों और सूफियों से भी प्रेरणा ली गई है। मध्ययुग में जो वेदान्त 'मायावाद' को ध्वनित करता रहा, उसी वेदान्त के इस पक्ष पर बल न देकर, छायावादियों ने विश्व भर में एकता का सूत्र खोजकर न केवल देश की एकता, असाम्प्रदायिकता और बंधुत्व का प्रचार किया अपितु एक देश द्वारा दूसरे देश के पीड़न का भी विरोध किया और इन दोनों पक्षों के साथ उसी 'एकतासूत्र' को निराला ने 'विश्वमोहिनी' प्रसाद ने 'श्रद्धा' (शक्ति), पन्त ने 'अव्यक्त प्रिया' और महादेवी ने 'चिर सुन्दर' के रूप में अपनाकर वैयक्तिक प्रेम का भी उदात्तीकरण कर दिया। तीसरी ओर इसी 'एकता के सूत्र' की प्रकृति में सर्वत्र झलक देख देखकर प्रवृति और मानवीय प्रेम की भी एकता स्थापित कर दी। छायावाद की यह महान उपलब्धि है। उस समय की परिस्थति में यह 'प्रेमभाव' निचिश्त रूप से प्रगतिशील था किन्तु आज भी 'सर्ववाद' में विश्वास न रहने पर भी उन कवियों की निष्ठा, समर्पण, और सर्ववाद के सौन्दर्यमय पक्ष से कौन प्रभावित

नहीं होगा। मानवजीवन को खुली आँखों देखने वाले कवि अपने युग में किसी अवैधानिक सिद्धान्त को अपनाकर भी स्थायी महत्त्व की अनुभूतियों और ज्ञानसिक स्थितियों तथा उदात्त भावनाओं का ऐसा चित्रण कर जाते हैं जो व्यवस्था बदल जाने और तदनुरूप मन भी बदल जाने पर उनका महत्व बराबर बना रहता है, छायावाद तो अभी अनेक रूपों में, कहीं स्पष्ट और कहीं वेष बदल कर हिन्दी में जीवित है, प्रेम सम्बन्धों की सुन्दरता और मधुरता जब तक मनुष्य अनुभव करता रहेगा, छायावाद जीवित रहेगा।

प्रकृति-प्रेम—छायावाद में 'प्रेम' के बाद 'प्रकृति' का ही स्थान है। क्रम की दृष्टि से भी प्रेम और प्रकृति साथ-साथ चले हैं अतः संक्षेप में छायावाद में प्रकृति का स्वरूप देख लेना चाहिए।

द्विवेदी युग में प्रकृति का स्थूल रेखाओं से चित्रण हुआ था। किसी एक वस्तु का मन लगाकर, विस्तार से चित्रण न करके द्विवेदी युग का कवि शीघ्र-शीघ्र कई पदार्थों का चित्रण करने में निपुण था। अनेक पदार्थों के लघु लघु चित्र 'प्रियप्रवास' के नवम् सर्ग में देखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त पदार्थ-अंकन के समय द्विवेदीयुग का कवि पदार्थ के सौन्दर्य से इतना अभिभूत हो गया है कि वह अपने मन की प्रसन्नता का आनन्द लेने में मग्न हो जाता है और चित्रण उपेक्षित हो जाता है। रामनरेश त्रिपाठी ने अपने 'पथिक' और 'मिलन' में अवश्य संश्लिष्ट चित्रण करने की कोशिश की है किन्तु वह स्वच्छन्दतावादी-पद्धति से भी परिचित थे।

प्रश्न यह है कि छायावाद का प्रकृति-प्रेम क्या इतना विलक्षण है जो सर्वथा अभूतपूर्व है? 'प्रसाद' जी इसे नहीं मानते थे, वह प्राचीन साहित्य में भी 'छायावाद' जैसी प्रवृत्तियाँ देख चुके थे। वस्तुतः प्राचीन साहित्य में 'प्रकृति' के एक से एक संश्लिष्ट चित्र मिलते हैं परन्तु प्रकृति का जैसा स्वतंत्र स्थान छायावाद में बन गया, वैसा कभी नहीं हुआ था। पुराने कवि मानवीय भावनाओं को अधिक महत्त्व देते थे और उनकी व्यंजना के लिए प्रकृति को माध्यम बनाते थे, बीच-बीच में प्रकृति की ओर उन्होंने स्वतंत्र रूप से भी देखा है। दरबारी काव्य में भी प्रकृति के एक से एक सुन्दर चित्र मिलते हैं, नागरिकता की वृद्धि से प्रकृति-वर्णन में स्वाभाविकता भले ही न रही हो परन्तु प्रकृति-प्रेम पर्याप्त मात्रा में मिलता है। छायावाद में प्रकृति के आलम्बनगत चित्रण संस्कृत से बहुत अधिक उत्कृष्ट नहीं हैं किन्तु प्रकृति में चेतना का दर्शन वहाँ इतना नहीं हुआ है। किसी एक पदार्थ को लेकर कल्पना के द्वारा जैसे उपमान पन्त जी

के 'बादल' में मिलते हैं, वैसे संस्कृत में एक स्थान पर नहीं मिलते परन्तु यदि संस्कृत साहित्य के सारे उपमानों को एकत्र कर लिया जाय तो छायावाद के कतिपय प्रयोग ही उत्कृष्ट दिखाई पड़ेंगे। प्रकृति में चेतना के दर्शन को संस्कृत के आचार्यों ने वस्तुतः इतना अधिक महत्त्व नहीं दिया था, छायावाद ने यह कमी अवश्य पूरी की है यद्यपि ऐसे आरोपयुक्त वर्णनों को पढ़कर छायावाद की नारीमय दृष्टि भी एक बार मोहित हो जाएगी—

पर्याप्तपुष्पस्तबकस्नीभ्यः, स्फुरत्प्रवालोष्ठ मनोहराभ्यः
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्र शाखा भुज बन्धनानि।

अर्थात् तरु भी अपनी झुकी हुई शाखाओं के भुज बन्धनों से पर्याप्त पुष्पों के गुच्छों के रूप में स्तनवाली तथा चंचल पल्लवों के रूप में सुन्दर ओष्ठ वाली लता वधू से आलिंगन करने लगे!

वेणीभूतप्रतनु सलिला ताम्यती तस्यु सिंधु :
पाण्डुच्छायातटरुहतरुभ्रंशभिः शीर्णपर्णैः
सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
काश्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवापपाद्यः

पतला प्रवाह जिसकी वेणी हो गया है, तट पर स्थित वृक्षों से घिरे हुए पुराने पत्तों से पाण्डु हुई, बीते हुए सौभाग्य की अपनी विरहावस्था से व्यंजित करने वाली वह सरिता जिस विधि से दुबलता त्यागे, हे सुन्दर मेघ! तुम वही करना!

गुरुगर्भभारक्लान्ताः स्तनन्त्यो मेघपङक्तयः।
अचलाधित्यकोत्सङ्गमिमाः समधिशेरते।

अर्थात् गुरु गर्भ के भार से क्लान्त गर्जन करती हुई ये मेघ-पंक्तियाँ पर्वत की गोद में विश्राम करती हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में इन्द्रियहीन जड़ तथा पक्षियों पर मानवीय भावों के आरोप करने से 'रसाभास' और 'भावाभास' माना है—"निरिन्द्रयेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रसभावाभासौ"[1]

यही कारण है कि 'रस' के स्थान पर 'रसाभास' पर संस्कृत कवियों ने

---

१. विस्तार के लिए दृष्टव्य—"प्रकृति और काव्य"—डा० रघुवंश, संस्कृत खंड।

कम बल दिया है। इस दृष्टि से 'छायावाद' का प्रकृति-वर्णन 'रसाभास' तथा 'भावाभास' ही कहलायेगा क्योंकि पशु, पक्षियों और जड़ पदार्थों पर चेतना के आरोप की उसमें बहुत अधिकता है। वस्तुस्थिति यह है कि छायावाद में कवि प्रकृति को इतना अधिक महत्त्व देता है कि 'प्रकृतिप्रेमरस" एक स्वतन्त्र रस बनता हुआ दिखाई पड़ता है। संस्कृतकाव्यकर्त्ता समाज और सभ्यता से इतना अधिक नहीं ऊब गया था कि वह उसके विरुद्ध विद्रोह करके "प्रकृति की ओर लौटो" जैसे आन्दोलन का समर्थन करता। हमारे यहाँ के सैकड़ों 'रूसो' 'प्राकृतिक जीवन' पर बल देते रहे हैं, 'सिद्ध सरहपा' तो नागरिक जीवन की कृत्रिमता छोड़कर एक "ग्राम्या" के साथ प्राकृतिक जीवन भी व्यतीत करने लगे थे। समूची 'सिद्ध परम्परा' नागरिक जीवन की कृत्रिमताओं, प्रपंचों, नैतिकता आदि के विरुद्ध प्राकृतिक जीवन पर बल देती आई है। साधना के लिए भी हमारे यहाँ मुक्त प्रकृति को ही पसन्द किया जाता था किन्तु नागरिक जीवन की वीभत्सता १९ वीं सदी में दार्शनिकों ने अनुभव की, वह इतनी कभी नहीं अनुभव की गई अतः एक सर्वथा नवीन मानसिकस्थिति का जन्म हुआ जो वस्तुतः सामंतवादी समाज के विरुद्ध 'विद्रोह' के रूप में आई। सामंती नागरिकता की विलासिता, कृत्रिमता और प्रपंचों से चिढ़ कर रूसो और गाडविन ने 'प्रकृति' की शरण में जाने का आदेश दिया, और रोमांटिक कवियों ने इस मानसिक स्थिति का इतना भव्य वर्णन किया कि हमारे कवि भी आकर्षित हुए और 'रसाभास' रस के रूप में परिणत होने लगा। पूँजीवाद के प्रारम्भ में वैज्ञानिक विकास अवश्य होता है अतः 'प्रकृति' में आकर्षण और भी बढ़ा, "प्रकृति में जिज्ञासा" का एक यह भी कारण था। तीसरे दार्शनिकों ने एक ही सत्ता की सर्वत्र झलक की ओर कवियों का ध्यान खींचा। छायावाद में पूँजीवाद की इन तीनों प्रवृत्तियों ने काम किया है अतः छायावाद के 'प्रकृति-वर्णन' में छायावादी कवि की दृष्टि से "रस का आभास" मात्र नहीं माना जा सकता। उसमें जब वास्तविक 'रस' का अनुभव होता है तब इसे 'प्रकृतिरस' मान लेने में क्या हानि है ? 'रति' के नाना रूप होते हैं, यह तो 'रसवादी' भी कहते हैं। और 'वात्सल्यरति' का अधिक वर्णन होने से जब उसे 'रस' मान लिया गया, 'ईश्वर विषयक रति' को भरत 'रस' मानने को प्रस्तुत नहीं थे परन्तु परवर्ती आचार्यों ने भरत की अनुकूल व्याख्या कर 'शांत रस' को भी रस मान लिया तब 'रसों की संख्या' बढ़ने पर प्राचीन आचार्यों की आत्मा संतुष्ट ही होगी, क्योंकि इससे 'रसवाद' व्यापक होकर अधिक जीवित रहेगा। बहरहाल, छायावाद में आचार्यों के शब्दों में 'रसाभास' अधिक है।

संश्लिष्ट वर्णन—शुक्ल जी ने संश्लिष्ट चित्रणों के संस्कृत से उदाहरण दिए हैं। छायावाद में संश्लिष्ट चित्रण अधिक हुआ है। किसी पदार्थ का, उसके आस पास की पूरी परिस्थिति के साथ सांगोपांग चित्रण ही संश्लिष्ट चित्रण कहलाता है, संस्कृति में ऐसे चित्रणों का अभाव नहीं है। वाल्मीकि रामायण में ही कतिपय संश्लिष्ट चित्रण मिलते हैं।[1] डा० रघुवंश के अनुसार रामायण के बाद संश्लिष्ट चित्रणों की जगह अलंकृत वर्णन महाकाव्यों में अधिक होने लगे। फिर भी ऋतुसंहार, रघुवंश, सेतुबन्ध, किरातार्जुनीय, उत्तर रामचरित नाटक आदि से डा० रघुवंश ने उदाहरण दिए हैं। अतः संस्कृत काव्य से परिचित पाठक के लिए छायावाद को संश्लिष्ट चित्र सर्व था अपरिचित नहीं लगते। प्रकृति-चित्रण का विरोध अधिक हुआ भी नहीं। संस्कृत के चित्रणों की विशेषता, अलंकृति और "सादृश्य भावना" है। ऊहात्मक पद्यों को छोड़कर सर्वत्र 'सादृश्य' के आधार पर ही उपमान-विधान किया गया है—ये दोनों प्रवृत्तियाँ 'छायावाद' में यथावत् मिलती हैं फिर भी छायावाद अपने नए दृष्टिकोण के कारण भिन्न है।

छायावादी कवि प्रकृति का "आदर्शीकरण" अधिक करते हैं। प्रकृति की शोभा ही नहीं, स्वयं प्रकृति भी उनके अधिक निकट प्रतीत होती है। इस 'निकटता' का स्वरूप क्या है। वस्तुतः छायावादियों में स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण मिलता है। संस्कृत के कवि के लिए 'प्रकृति' जड़ थी, उस पर चेतना का आरोप हो सकता है किन्तु उसे "जीवित व्यक्तित्व" देकर उसके साथ अपने मन की ग्रन्थि-भेदन का कार्य पुराने कवियों ने नहीं किया, न मध्यकाल में ही यह प्रवृत्ति मिलती है। वर्ड्सवर्थ के अनुसार प्रकृति में 'आत्मा' का निवास है और इस प्रकार प्रत्येक पुष्प, सरिता आदि में उनकी अपनी-अपनी 'आत्मा' है। प्रकृति की इस 'आत्मा' अथवा विभिन्न पदार्थों की विभिन्न आत्माओं में (ईश्वर द्वारा) पूर्वनिश्चित एकता स्थापित हुई है अतः प्रकृति कवि की आत्मा के सम्मुख अपने विचार और भाव व्यक्त करती है। यदि कवि प्रकृति के मूक संदेश और राग को सुनना है तो उसकी आत्मा और प्रकृति में आत्यन्तिक एकता स्थापित हो जाती है।[2])

छायावाद में यह दृष्टि यथावत् स्वीकृत हुई है। अन्तर केवल यह है

---

१. **वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड।**

2. English Literature, page 154.

कि वडर्सवर्थ पर नवीनप्लेटोवादी सर्ववादी दर्शन का प्रभाव था।[1] और भारतीय कवियों पर भारतीय 'सर्ववाद' का। 'प्रसाद' जी 'शैवागम' से प्रभावित हुए अतः उनके प्रकृतिवर्णनों में प्रकृति 'शक्ति' का व्यक्त रूप है जो अपने भीतर 'सत्य' को या शिव को छिपाए हुए है, 'प्रसाद' के यहाँ ज्ञान हो जाने पर प्रकृति-तत्त्व साक्षात्कार में सहायक हो जाते हैं और अज्ञान की स्थिति में उनका मोहक रूप पथभ्रष्ठ भी कर सकता है, जैसा कि मनु के साथ हुआ। निराला, पन्त और महादेवी जी ने प्रकृति के पीछे अवस्थित 'सत्ता' को नारी रूप देकर उसके सौन्दर्य का वर्णन किया है। सबसे अधिक पन्त जी में 'प्रकृति' को निकटतम आत्मीय 'मित्र' के रूप में चित्रित करने की प्रवृत्ति है। प्रकृति के प्रति प्रेम पन्त जी ने सबसे अधिक घोषित भी किया है।

छायावादियों ने न केवल 'प्रकृति' का आलम्बनगत अलंकृत चित्रण किया है बल्कि प्रकृति के अंचल में मुख डालकर निजी सुख:-दु:ख का निवेदन भी किया है, यह पहले के काव्य में नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त जिन मानवीय, राजनैतिक और सामाजिक प्रश्नों के विषय में छायावादी अपनी भावनाएँ और सन्देश व्यक्त करते थे, उन्हें भी प्रकृति-वर्णन के साथ कहते चले हैं जैसे "West Wind" में शेली ने अन्त में अपने विचार व्यक्त किए हैं। प्रतीक रूप में भी प्रकृति को अपना कर आन्तरिक धारणाओं को व्यक्त करने की प्रवृत्ति छायावाद में मिलती है और सबसे ऊपर 'प्रकृति' से इन सब 'तत्त्वों' के दोहन की, जिनका तात्कालिक समाज में वे अभाव महसूस करते थे।

प्रकृति से सौन्दर्य-दोहन—यह प्रवृत्ति पन्त जी में सबसे अधिक मिलती है। सौन्दर्य के प्रति उनकी दृष्टि सतत जागरूक रहती है, उन्होंने 'प्रकृति' में विश्व कामिनी की छबि देखने के लिए कामना भी प्रकट की है—

ऐ असीम सौन्दर्य-राशि में,
हृतकम्पन से अन्तर्धान
विश्यव कामिनी की मानव-छवि
मुझे दिखाओ करुणावान !—"अनंग"

यद्यपि 'प्रसाद' जी ने सर्वप्रथम 'प्रकृति की रमणीयता', उस पर मानवीय चेतना का आरोप और विस्मय तथा रहस्यभाव से युक्त चित्रण प्रार किए किन्तु प्रकृति के प्रति उत्कट प्रेम और 'चित्रशाला' को पन्त जी ही प्रस्तुत

---

१. वही

कर सके। पन्त जी की 'सौन्दर्यप्रियता' ने उन्हें प्रकृति के भीषण रूपों की ओर आकर्षित नहीं होने दिया, 'परिवर्तन' अपवाद मात्र है। कारण कि पन्त जी 'सुन्दरता' के प्रेमी हैं, "उदात्त" (Sublime) सौन्दर्य के नहीं। 'प्रसाद' में दोनों प्रवृत्तियाँ हैं किन्तु उदात्तता 'निराला' में और भी अधिक है। 'तरंगों के प्रति' तथा 'राम की शक्ति की पूजा' में उनके 'उदात्त-चित्रण' प्रसिद्ध हैं। महादेवी भी पन्त जी की तरह सुन्दरता की ही प्रेमिका हैं, 'उदात्त' उनके स्वभाव के भी विरुद्ध है। पन्त जी का काव्य तो प्रकृति के 'अज्ञात और अव्यक्त आकर्षण' से शुरू हुआ। प्रकृति में विशेषकर पर्वतीय सुषमा में उन्हें "महान् नीरव सम्मोहन" मिला। प्रकृति के इस 'सम्मोहन' की प्रेषणीयता में पन्त जी अद्वितीय प्रमाणित हुए हैं।

सम्मोहित दृष्टि से विस्मित हो हो कर देखने से सामान्य पदार्थ, पशु, पक्षी में भी 'सौन्दर्य' उत्पन्न हो जाता है। 'अति परिचय' से उत्पन्न 'जड़ता' को विस्मयभाव समाप्त कर वर्ण्यवस्तु में नया सौन्दर्य भर देता है। "बाल-विहंगिनी' में यही प्रवृत्ति मिलती है।

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि कैसे तूने पहचाना ?
कहाँ-कहाँ है बालविहंगिनि ! पाया तूने यह गाना ?

'निराला' के अंधभक्तों का कथन है कि पन्त के काव्य में 'बचपना' अधिक है, स्वयं पन्त जी ने भी 'कैशोर भावना' को स्वीकार किया है किन्तु लोग इन रचनाओं के समय को भूल जाते हैं। दृष्टिकोण की एकता होने पर भी निराला की दुरूह रचनाओं का प्रचार इसीलिए नहीं हो सका क्योंकि उनमें उस 'बचपने' का कुछ अभाव था ! जिज्ञासामूलक समान रचनाओं की तुलना कीजिए—

कौन तम के पार रे कह
अखिल पल के स्रोत, जल जग, गगन घन-घन-धार रे कह।
गंध व्याकुल मूल उर सर, लहर कचकर-कमल-मुख पर।
हर्ष अलि हर स्पर्श-शर सर, गूंज बारम्बार रे कह।

अर्थ गम्भीर है परन्तु अत्यधिक दुरूह पद्धति के कारण इसमें प्रेषणीयता का अभाव है—किन्तु पन्त जी में सरलता है:—

विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान
न जाने नक्षत्रों से कौन
सँदेसा मुझे भेजता मौन।—पन्त

पन्त जी का प्रकृति-काव्य इसीलिए अधिक जनप्रिय हुआ। निराला की सन्ध्या-सुन्दरी, तरंगों के प्रति, जुही की कली जैसी अपेक्षाकृत सरल रचनाएँ अधिक जनप्रिय हुईं। उक्त रचनाओं में विस्मय' का भाव कम है परन्तु सौन्दर्य की ग्राहिका शक्ति तीव्र होने से ये चित्रण अधिक प्रिय लगे। निराला वस्तुतः कुल मिलाकर मानवीय भावों को अधिक प्रमुखता देकर चले हैं—पन्त जी के लिए तो 'प्रकृति' कवि के चितेरे हृदय के चित्र'' के रूप में अधिक व्यक्त हुई है।

पन्त जी की 'एक तारा', 'नौका बिहार' बादल, अनंग, अप्सरा, नौकाविहार, परिवर्त्तन आदि रचनाएँ हिन्दी-प्रकृति-काव्य के अमर स्तम्भ हैं। 'परिमाण' की दृष्टि से पन्त जी ने प्रकृति पर सबसे अधिक लिखा है। उनकी मधुर, कोमल कल्पनाओं के कारण खड़ी बोली का काव्य संक्षिप्त प्रकृतिवर्णन की पुरानी परम्परा से भिन्न दिखाई पड़ने लगा। 'पल्लव' मानवीय राग के विस्तार का श्रेष्ठ उदाहरण है।

'निराला' में प्रकृति की सुन्दरता के स्थान पर 'उदात्तता' अधिक है, उन्होंने प्रकृति के चित्रों को अनादि और अनन्त सौन्दर्य में मिलाने की अधिक चेष्टा की है। 'जुही की कली' में भी सान्त को अनन्त में मिलाने का प्रयत्न मिलता है—

चौंक पड़ी युवती, निज चारों ओर
हेर प्यारे को सेज पास
नम्रमुखी, हँसी, खिली
खेल रंग, प्यारे संग।

'गीतिका' के चित्रणों में भी यही प्रवृत्ति है—

सोचती अपलक आप खड़ी
लिखी हुई वह विरह वृन्त की
कोमल कुन्द कली
चमका हीरक हार हृदय का।
पाया अमर प्रसाद प्रणय का।

उदात्त चित्रों में निराला का 'बादल' श्रेष्ठ रचना है। पन्त जी के बादल में 'सुन्दरता' को उदात्तता में परिवर्तित नहीं किया जा सका, यद्यपि कवि ने यत्र तत्र वैसा प्रयत्न अवश्य किया है—

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर।
राग अमर अम्बर में भर निज रोर।

झर-झर-झर निर्झर गिरि सर में
घर, मरु, तरु मर्मर सागर में
सरित, तड़ित-गति चकित पवन में
मन में विजन-गहन-कानन में
आनन-आनन में रव घोर-कठोर !

यहाँ सौन्दर्य बटोरने का प्रयत्न नहीं है जैसा कि पन्त जी के 'बादल' में मिलता है। यहाँ गरजते-बरसते बादल का भयमिश्रित क्रान्तिमय प्रभाव चित्रित है। इस प्रकार के चित्रण से हमारी चेतना केवल मुग्ध होकर शांत और सचिक्कण ही नहीं होती, जैसा कि पन्त जी के चित्रणों को पढ़कर होता है, अपितु उसमें 'साहस' और मुक्ति प्राप्त करने की भी कामना उत्पन्न होती है।

इसका अर्थ यह नहीं कि निराला में चित्रण और सौन्दर्य-चयन नहीं है। 'संन्ध्या सुन्दरी' का चित्रण अति प्रसिद्ध है, पर यहाँ पुनरावृत्ति भी पुण्य-कर है—

दिवसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या सुन्दरी परी सी
धीरे, धीरे, धीरे
तिमिरांचल में चंचलता का कहीं नहीं आवास।
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर
किन्तु गम्भीर, नहीं है, उसमें हास विलास।

सुन्दरता और उदात्तता दोनों का चित्रण प्रसाद जी में भी मिलता है। किन्तु 'प्रसाद' जी चित्रकार नहीं, कवि हैं अतः उनकी प्रकृति कहीं भी अकेली नहीं है। 'द्रष्टा' की मानसिक स्थिति के अनुसार वह रूप बदलती है, अथवा यों कहें कि शक्ति की अभिव्यक्तिरूपिणी प्रकृति 'जीव' को कभी अकेला नहीं छोड़ती, वह उसकी 'पशुता' से मुक्ति दिलाने के लिये नाना रूप प्रस्तुत करती है। किन्तु इस शैवदृष्टि के पूर्ण विकास के पूर्व प्रारम्भिक रचनाओं में कवि ने चित्रण-प्रियता भी प्रदर्शित की है—

सुन्दर प्राची, विमल उषा से मुख धोने को है।
पूर्णिमा की रात्रि का शशि अन्त अब होने को है।
तारका का निकर अपनी कान्ति सब खोने को है।
स्वर्ण जल से अरुण भी आकाशपट धोने को है।

चन्द्रिका हटने न पाई, आगई ऊषा भली
क्यों हिमांशु कपूर सा है, तारिका अवली लिए।[1]

'प्रसाद' जी सुन्दर वस्तुओं से कही अधिक "सौन्दर्य" को महत्त्व देते थे जिसके कारण इन्दु, कमल, सर, सरिताएँ आदि अपना 'सौन्दर्य' प्राप्त करती हैं अतः सौन्दर्य-दोहन में प्रसाद जी सर्वत्र उस कारणरूप सौन्दर्य से युक्त किए बिना चित्रण बहुत कम करते हैं—

लोग प्रियदर्शन बताते इन्दु को
देखकर सौंदर्य के इक बिन्दु को।

अतः सौन्दर्य-दोहन इसलिए आवश्यक है ताकि चित्त पर यह मूलस्थित कारणरूप सौन्दर्य अंकित होता चले, इससे अन्त में 'सत्य' का स्वतः साक्षात्कार हो जाएगा। यही कारण है कि बाह्य-प्रतीयमान सौन्दर्य के अन्तराल में "लुक-छुप कर" चलने वाले 'तत्त्व' को वह कभी नहीं भुलाते। 'बीती विभावरी' जैसी कविता में भी उधर संकेत अवश्य मिलता है। 'किरण' जैसी रचना में भी—

किरण ! तुम क्यों बिखरी हो आज
रंगी हो तुम किसके अनुराग।
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान
उड़ाती हो परमाणु पराग।
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश
मधुर मुरली सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञात विश्व की विकल
वेदना दूती सी तुम कौन।

यह रचना पन्तजी की "छाया" से तुलनीय है किन्तु पन्त जी में रहस्य का स्पर्श प्रसादजी से बहुत कम है। वास्तविकता तो यह है कि शुद्ध आलम्बन-गत चित्रण केवल पन्त जी ने ही किया है। प्रसाद जी आँसू में तो आँसू बहती हुई आँखों से ही प्रकृति को देखते हैं। ऐतिहासिक स्थलों पर प्रसाद जी अतीत के स्वप्नों का चित्रण करते हैं, और "ले चल मुझे भुलावा देकर" जैसे गीतों में प्रेम की भावनाओं का। कामायनी में 'प्रकृति' के विविध रूपों का चित्रण अवश्य है परन्तु 'द्रष्टा' की मानसिक स्थिति और दृश्यों के पीछे स्थित परमतत्त्व वहाँ सर्वत्र प्रकृति के नीले परदे से झलमलाता प्रतीत होता है।

---

१. कानन-कुसुम।

प्रकृति पर चेतना का आरोप—पन्त जी ने चित्रकार की तरह ही सर्वत्र प्रकृति को नहीं देखा क्योंकि पन्त जी भी सौन्दर्य की स्थिति द्रष्टा के ही 'मन' में मानते हैं। अन्य कवि भी 'विषयीगत' सौन्दर्य की ही सत्ता स्वीकार करते हैं। अतः 'सौन्दर्य के चयन' के अतिरिक्त 'सौन्दर्य-सृष्टि' छायावाद में अधिक हुई है। प्रसादजी के आँसू, लहर, झरना और कामायनी में मानवीय-भावनाओं के आरोप के कारण 'प्रकृति' में उत्पन्न छवि का अंकन अधिक है—

उठ उठ री लघु लघु लोल लहर।
करुणा की नव अँगड़ाई सी
मलयानिल की परछाई सी
इस सूखे तट पर छहर छहर।

अथवा

बीती विभावरी जाग री
अम्बर पनघट में डुबो रहीं
ताराघट ऊषा नागरी

अथवा

घूंघट उठा देख मुस्क्याती, किसे ठिठकती सी आती।
विजन विपिन में किसी भूल सी, जिसको स्मृति पथ में लाती।
पगली हाँ सँम्हाल ले कैसे, छूट पड़ा तेरा अँचल।
देख बिखरती है मणिराजी, अरी उठा बेसुध चंचल।

मनुष्य को अपनी भावनाएँ और चेष्टाएँ सबसे अधिक प्रिय होती हैं, यह 'प्रियता' सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के कारण उत्पन्न होती है और इस 'प्रियता' का आरोप कर देने पर 'सौन्दर्य' की सृष्टि अवश्य होगी। क्योंकि 'सौन्दर्य' मूलतः हमारी प्रिय, अप्रिय की धारणाओं पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। प्रसादजी ने इसीलिए सूक्ष्म भावनाओं को मानवीय मूर्तियों में चित्रित करके सूक्ष्म मानसिक स्थितियों—लज्जा, वासना, चिन्ता, ईर्ष्या, श्रद्धा आदि को भी "सुन्दर" बना दिया है यदि वह 'लज्जा' को "चपल सौन्दर्य" की 'धात्री' के रूप में चित्रित न करते तो 'लज्जा' का रूप साकार कैसे होता? सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य में प्रकृति और मनोवृत्तियों का यह मानवीकरण दुर्लभ है, छायावाद की इस क्षेत्र में उपलब्धि बेजोड़ है।

यह प्रवृत्ति अन्य अन्य कवियों में भी यथावत् मिलती है। केवल 'प्रसाद' जी की तरह अन्य कोई कवि मानवीय सूक्ष्म वृतियों का मानवीयकरण

नहीं कर सका किन्तु बाह्य प्रकृति का मानवीकरण चारों कवियों में सुन्दर है। निराला की जुही की कली, तरंगों के प्रति, सन्ध्या सुन्दरी यमुना, के प्रति आदि सभी प्रसिद्ध रचनाओं में मानवीकरण द्वारा सौन्दर्य-सृष्टि की गई है। 'गीतिका' में भी यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है—

रूखी री यह डाल, वसन वसन्ती लेगी।
देख खड़ी करती तप अपलक
हीरक सी समीर माला जप।
शैल सुता अपर्ण–अशना
पल्लव-वसना बनेगी
अथवा
मेघ के घन केश, निरूपमे नव वेश !
चकित चपल के नयन तव
देखती ही भूशयन तव
मन्द लहरा - पट-पवन-रव
छा रहा सब देश !

महादेवी ने सर्वत्र इसी पद्धति पर गीत लिखे हैं। 'पुलकती आ बसन्त रजनी' रूपसि तेरे घन केश पाश, 'ओ विभावरी' आदि गीतों में 'नारी' की छवि और चेष्टाओं का आरोप द्वारा ही 'सौन्दर्य-सृष्टि' की गई है। महादेवी के स्वतंत्र चित्रणों में मानवीकरण स्वतः आ जाता है—

सकुच सलज खिलती शेफाली
अलस मौलश्री डाली-डाली।
बुनते नव प्रवाल कुंजों में
रजत श्याम तारे से जाली।
शिथिल मधु पवन, गिन-गिन मधुकण
हरसिंगार झरते हैं झरझर।

पन्त जी ने सैकत शैय्या पर दुग्ध धवल तन्वंगी गंगा, दो बाहों से किनारे, तितली के नव कुमार, समीर की परियाँ, मधुपकुमारि के मीठे गान, नाव की हंसिनी, विधुरों के उर जैसे कुसुम, चकित शिशु सा संसार, नीले नभ के शतदल पर मृदु करतल पर शशि मुख धरे हुए आसीन शरद, आदि के रूपों में प्रकृति को 'मानवीय' रूप देकर उसकी छवि को साकार किया है।

यह कहना आवश्यक है कि इस 'मानवीकरण' को कोरे अंलकार रूप में छायावादियों ने प्रयुक्त न कर प्रकृति में वस्तुतः 'विश्वमोहिनी' नारी के रूप

को देखा है। अतः चेतना के आरोप के जगह "प्रकृति में चेतना के दर्शन" शब्द अधिक उपयुक्त है। समासोक्ति अलंकार का प्रयोग पुराने काव्य में सर्वत्र मिलता है—कुमुदिन हू प्रफुलित भई, देखि कलानिधि साँझ" जैसे प्रयोगों में कवि 'कुमोदनी और चन्द्रमा में' रुचि नहीं रखता, वह नायक और नायिका की ओर संकेत करता है। इसके विपरीत छायावाद का मानवीकरण प्रकृति में "चेतना के दर्शन" पर आधारित होने से वह अधिक भव्यता की सृष्टि में सहायक हुआ है। आज भी इस पद्धति को छोड़ा नहीं जा सका है। और इस रूप में छायावाद जीवित है।

परोक्ष सत्ता का प्रतिबिम्ब—हम कह चुके हैं कि छायावादी, स्वच्छन्दतावादी कवियों की तरह प्रकृति में परोक्षसत्ता का दर्शन करते हैं। "कौन है" की जिज्ञासा इसी का परिणाम है। पन्त जी के शिशु में वर्डसवर्थ के 'शिशु' की तरह यह प्रवृत्ति स्पष्ट है—

खेलती अधरों पर मुस्कान।
पूर्व सुधि सी अम्लान
स्वप्न लोकों में किन चुपचाप
विचरते तुम इच्छा गतिवान !

महादेवी आकाश में प्रिय की मुस्कराहट देखती हैं।[1] वह 'तम' और 'स्वप्न' सभी में प्रिय की आहट सुनती हैं।[2] प्रसाद ने तो स्पष्ट ही कहा है—

छायानट छवि-परदे में-सम्मोहन वीणा बजाता।
सन्ध्या कुहुकिनि अंचल में, कौतुक अपना कर जाता।
प्राची के अरुण मुकुट में-देखूं प्रतिबिम्ब तुम्हारा।

प्रकृति प्रतीक रूप में—छायावाद में केवल 'सादृश्य' को ही आधार नहीं बनाया गया किन्तु किन्हीं भावनाओं और धारणाओं के लिए प्रकृति के कुछ पदार्थ 'प्रतीक' रूप भी प्रयुक्त हुए। यह साम्प्रदायिक 'प्रतीकवाद' नहीं था जो फ्रांस के कवियों में मिलता है और जिसका प्रयोगवाद में अधिक सम्मान है किन्तु 'सादृश्य' के बिना भी छायावादियों ने पदार्थों को 'प्रतीक' के रूप में प्रयुक्त

---

१. मुस्काता संदेश भरा नभ, क्या प्रियतम आने वाले हैं ?
२. अश्रु मेरे मांगने जब नींद में वह पास आया।
अथवा
मेरे प्रिय को भाता है, तम के परदे में आना

किया। कहीं 'सूक्ष्म सादृश्य' भी मिलता है तो कहीं 'गुण' का आश्रय लिया गया है, कहीं 'गति' का, कहीं 'प्रभाव' था। मध्यकाल में कबीर दादू, नानक आदि ने 'प्रतीकों' के द्वारा सूक्ष्म अनुभूतियों का वर्णन किया है। जैसे 'चदरिया' ज़िन्दगी का प्रतीक है और 'चरखा' मानव जीवन या संसार का। 'प्रतीक' वर्ण्य वस्तु या भावना का 'प्रतिनिधि' होता है, उपमान नहीं।

कंप कँप हिलोर रह जाती
पर मिलता नहीं किनारा
बुद्बुद् विलीन हो चुप से
पा जाता आशय सारा।

यहाँ 'लहर' चंचल चित्तवृत्ति की, और 'बुद्बुद' समर्पित जीवन का प्रतीक है। किन्तु दर्शनीय यह है कि उक्त दोनों प्रतीकों में सूक्ष्म सादृश्य भी है—

अपने ही सुख से चिर चंचल
हम खिल खिल पड़तीं प्रतिपल।
जीवन के फेनिल मोती को
ले ले चल करतल में टलमल।

यहाँ भी 'सादृश्य' विद्यमान है। 'लहर' की गति और जीवन की गति में सादृश्य अवश्य है। प्रसाद जीं के झंझा, झकोर गर्जन, वारिदमाला और आंतरिक—आपत्तियों, बाधाओं और उलझनों में 'सादृश्य' विद्यमान है। 'कामायनी' में 'चिन्ता' में जो प्रलय का वर्णन है, वह 'मनु' की चित्तवृत्तियों में चलने वाली 'प्रलय' का प्रतीक है, परन्तु सादृश्य यहाँ भी है। इसी तरह 'कामायनी' में सन्ध्या, निशा, सरिता आदि के वर्णन वस्तुतः 'प्रतीक' के रूप में भी स्वीकृत हैं किन्तु प्रकृति को छायावादी केवल 'प्रतिनिधि' के रूप में प्रयुक्त न कर सर्वदा कुछ न कुछ सादृश्य के आधार पर अवश्य आधारित करते हैं। इससे यह सिद्धान्त प्रतिपादित होता है कि 'प्रतीक' वह अधिक सुन्दर होता है जिसमें प्रतिनिधित्व सादृश्य पर भी आधारित हो। छायावाद में ऐसे ही प्रतीकों का प्रयोग अधिक हुआ है। "धूल की ढेरी" और 'बचपन' में अवश्य सादृश्य है। प्रयोगवाद में छायावादियों की महान सौन्दर्यवादी दृष्टि को भुला दिया गया और प्रतीकों ही नहीं, उपमान विधान में भी 'रूप' के सादृश्य की उपेक्षा की गई फलतः सौन्दर्य का ह्रास हुआ, जहाँ प्रयोगवाद में छायावाद का अनुकरण है, वहाँ सफलता मिली है।

उद्दीपन रूप में प्रकृति—'छायावाद' में प्रकृति का मानवीकरण तथा प्रकृति में परोक्ष सत्ता का आभास-दर्शन भी अधिक किया गया है। शुद्ध आलम्बन रूप में, प्रकृति चित्रण भी उसकी विशेषता है। अर्थात् वस्तु-व्यंजना भी छायायाद में सुन्दर हुई है किन्तु मध्यकालीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण भी छायावाद में कम नहीं हुआ है। इस दृष्टि से वह मध्यकालीन साहित्य से सम्पृक्त दिखाई पड़ता है। मानवीकरण में प्रकृति का सौन्दर्य और मानवीय सौन्दर्य—ये दोनों सौन्दर्य मिलकर द्रष्टा के आनन्द को द्विगुणित कर देते हैं। उद्दीपन में मानव-अनुभूतियाँ प्रधान हो जाती हैं और प्रकृति उन्हें उद्दीप्त करती है किन्तु विशिष्ट मानसिक स्थिति में देखी गई प्रकृति अपनी एक विशिष्ट छवि का विस्तार करती है। संयोग में हमारे हृदय का आनन्द प्रकृति दर्शन से द्विगुणित होता है, उस समय भी हममें एक तटस्थता विद्यमान रहती है जो एक 'विलासी' में नहीं रह पाती, कवि में रहती है, सहृदय में रहती है। जैसे कवि कह रहा हो कि संयोग की स्थिति में "सम्भोग" की विराट परिधि में 'प्रकृति' भी शामिल है और इस स्थिति में जितनी ही अधिक तटस्थता होगी, आनन्द उतना ही अधिक होगा। कामायनी में 'वासना' सर्ग इसका सुन्दरतम उदाहरण है—

सृष्टि हँसने लगी, आँखों में खिला अनुराग।
राग रंजित चन्द्रिका थी, उड़ा सुमन पराग।
मधु बरसती विधु किरन हैं काँपती सुकुमार।
पवन में है पुलक मंथर:, चल रहा मधुमार।
तुम समीप, अधीर इतने आज क्यों हैं प्राण।
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण।

'विप्रलम्भ' स्थिति में 'प्रकृति' एक ओर तो विरही के भाव के विस्तार का अवसर देती है और दूसरे विरही को अपनी मानसिक स्थिति के प्रक्षेप से यथार्थ को अपना सर्वथा नया रूप प्रस्तुत करने का भी अवसर देती है अत: उद्दीपन रूप में प्रकृति चित्रण प्रारम्भ से ही प्रिय रहा है और बराबर रहेगा क्योंकि वह हमारी भावना के साथ गुँथा हुआ है। यह कृत्रिम स्थिति नहीं है। प्राय: सभी प्रकृति की शोभा को सुख में सुखकर और दु:ख में उद्दीपक देखते हैं अत: प्रकृति के इस रूप को छोड़ देने का अर्थ है, एक यथार्थ अनुभव से हाथ धो बैठना। हार्डी ने प्रकृति का मानवी सुख दु:खों से सर्वथा अप्रभावित रूप कहीं-कहीं चित्रित किया है किन्तु प्राकृतिक-विज्ञान की दृष्टि से सत्य होने

पर भी इस दृष्टिकोण में मानवीयता का अभाव है अतः वह काव्य में प्रचलित नहीं हो सका, हिन्दी काव्य में तो उसे स्थान ही नहीं मिला।

'विप्रलम्भ' की स्थिति में प्रकृति का उद्दीपक रूप पन्त जी की कई रचनाओं में मिलता है—

तड़ित सा सुमुखि तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार उर चीर
गूढ़ गर्जन कर जब गम्भीर
मुझे करता है अधिक अधीर
धधकती है जलदों से ज्वाल
बन गया नीलम-व्योम प्रवाल
आज सोने का सन्ध्या-काल
जल रहा जन्तु गृह सा विकराल।

कामायनी में भी उद्दीपन-विधि का नवीन प्रयोग हुआ है—

सन्ध्या अरुण जलज केसर ले अब तक मन थी बहलाती।
मुरझा कर कब गिरा तामरस, उसको खोज कहाँ पाती।
क्षितिज भाल का कुंकुम मिटता, मलिन कालिमा के कर से।
कोकिल की काकली वृथा ही, अब कलियों पर मँडराती।

महादेवी ने इस पद्धति का विस्तार से प्रयोग किया है, प्रायः महादेवी प्रकृति में अपने दुःख का प्रतिबिम्ब देखती हैं, जो विरहिणी की पीड़ा को और बढ़ाता है—

मैं क्षितिज-भ्रकुटि पर घिर धूमिल
चिन्ता का भार बनी अविरल
विस्तृत नभ का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना, इतिहास यही
उमड़ी कल थी, मिट आज चली।

अथवा

विद्युत की चल स्वर्णपाशमें, बँध हँस देता रोता जलधर।
अपने मृदु मानस की ज्वाला, गीतों से लहराता सागर।
सघन वंदना के तम में, सुधि जाती सुख सोने के कणभर।
सुरधनु नव रचतीं निश्वासें, स्मित का इन भीगे अधरों पर।
आज आँसुओं के कोषों पर, स्वप्न बने पहरे वाले हैं।

आत्माभिव्यक्ति और प्रकृति—जब कवि समाज से असंतुष्ट होता है, जब समाज में उसकी सुनने वाला कोई नहीं होता तब वह 'प्रकृति' के सम्मुख अथवा उसके माध्यम से निजी सुख-दुःख की व्यंजना करता है। लगता है कि छायावादी के लिए 'प्रकृति' का वही महत्त्व था जो तुलसी के लिए 'सीता' का। विनयपत्रिका में तुलसी 'सीता' की सिफ़ारिश द्वारा राम से अपनी 'पत्रिका' स्वीकृत कराने का स्वप्न देखा करते थे। छायावादी का लक्ष्य तो एक आदर्श-समाज की सृष्टि है, उसके समय का समाज जब उसकी नहीं सुनता तब वह 'प्रकृति' से आत्म निवेदन करता है, कभी-कभी 'परब्रह्म' से भी और आशा करता है कि समाज का एक भाग उसकी आशाओं, आकांक्षाओं को अवश्य स्वीकार करेगा औरवस्तुतः जैसे सीताजी की सिफारिश पर 'राम' ने तुलसी की विनय-पत्रिका पर "सही" कर दी थी, उसी तरह शिक्षित मध्यवर्ग का एक भाग छायावादी काव्य का समर्थन करने लगा और आज वह वर्ग छायावादियों के 'यूटोपिया' को व्यावहारिक रूप देने में तल्लीन होगया है !

इस आत्म-निवेदन का रूप विविध है। कहीं समाज की जड़ता और संकीर्णता देखकर, कहीं स्वतन्त्रता का अभाव देखकर, कहीं कुत्सित मनोभावनाएँ देखकर और कहीं समाज में सहृदयता का अभाव देखकर छायावादी प्रकृति की शरण खोजता है, 'ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे' जैसे गीतों का यही मर्म है, पन्त जी प्रकृति की ओर समाज का ध्यान खींचते हैं—

यह अमूल्य मोती सा साज
इस सुवर्णमय, सरस परों में
शुचि स्वभाव से भरे सरों में
मुझको पहना जगत देख ले, यह स्वर्गीय प्रकाश !
—'पल्लव'

इसी प्रकार पन्त जी गगन से जग का पाप हरने की प्रार्थना करते हैं।[1] वस्तुतः छायावाद प्रकृति के सौन्दर्य का चित्रण इसी उद्देश्य से करता है कि जीवन में, समाज में असुन्दरता देखकर उसे दुःख होता था अतः सौन्दर्य-चित्रण स्वयं एक उपयोगी कार्य है, सौन्दर्य का आनन्द लेने वाले व्यक्ति का मन किसी भी प्रकार की कुरूपता, कुत्सितता, कापुरुषता और असमानता को सह नहीं सकता। रूप-रंगों और अवयवों के सुविन्यास के प्रशंसक कवि समाज में अवयवों

---

१. **गरज, गगन के गान ! गरज गम्भीर स्वरों में,**
हर मेरा सन्ताप, पाप जग का क्षण भर में।

का संतुलन स्वतः चाहने लगते हैं और सहृदय पाठक भी। अतः छायावाद का इस प्रकार का प्रकृतिवर्णन केवल 'रूपलिप्सा' नहीं है, अपितु वह महत् उद्देश्य से प्रेरित है—

सिखा दो ना हे मधुर-कुमारि
मुझे भी अपने मीठे गान
कुसुम के चुने कटोरों से
करा दो ना, कुछ कुछ मधुपान।

मानवता को 'पूर्ण' बनाने की कैसी भावना इसमें छिपी हुई है। छाया, शिशु, निर्झर, विश्व छवि, बालापन, आदि रचनाओं में पन्त जी ने 'मानवता' को पूर्ण करने के लिए बराबर आकांक्षा प्रकट की है। "याचना" में तो कवि ने स्पष्टतः प्रकृति से ही सद्गुणों को चुनने की इच्छा प्रकट की है।[१] महादेवी ने भी बादल की तरह घिर कर तथा शरदनिशा की तरह बिखर कर जग के विषाद को धोने की इच्छा प्रकट की है।[२] प्रकृति के बदलते चित्र जगत् की नश्वरता का, प्रकृति का सौन्दर्य, जगत् की मादकता का, भ्रमरों और पुष्पों की उपेक्षा को देखकर जगत् की निष्ठुरता का तथा मुस्कराते हुए आकाश को देखकर आशावादिता का संदेश ग्रहण कर कवियित्री मानवता के विविध रूपों को प्रस्तुत करती है। निराला ने तो स्पष्ट ही घोषित किया है कि प्रकृति के विराट चित्रों का अंकन किसी जाति की मुक्ति की कामना को प्रकट करता है। उनके 'शुभ्रकिरण वसना' में मानो मानवता को "शुभ्रकिरण-वसना" बनाने की इच्छा प्रकट की गई है।[३] निराला ने वृन्तहीन जीवन प्रसून को उषा-नभ में खिलते हुए देखा था जिसमें ज्योतिसुरभि धाराएँ भर रही हों।[४]

उस असीम में ले जाओ।
मुझे न कुछ दे जाओ।

---

१. नव नव सुमनों से चुन-चुन कर, धूलि, सुरभि, मधुरस- हिमकण
मेरे उर की मृदु कलिका में, भर दे, कर दे, विकसित मन।

२. पावस घन सी उमड़ बिखरती, शरद निशासी नीरव घिरती।
धो लेती जग का विषाद, ढुलते लघु आँसू कण अपने में।

३. नहीं लाज, भय; अनृत, अनय दुख, लहराता उर मधुर प्रणय सुख।
अनायास ही ज्योतिर्मय-मुख, स्नेहपाश कसना।
कौन तुम शुभ्रकिरण वसना!

४. द्रष्टव्य—'प्रभाती'—परिमल

'तरंगों के प्रति' में भी कवि ने "अबलाओं की करुण-प्रकार" सुनी है और महान कविता का अन्त उक्त कामना के साथ हुआ है।

निराला की दृष्टि प्रायः सर्वत्र प्रकृति-चित्रण के समय मानवीय जीवन की अपूर्णता पर रही है। धारा, वन कुसुमों की शैय्या, रास्ते के फूल से, प्रपात के प्रति, कण, आदि कविताएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। जो छायावादियों को कोरा 'कलावादी' कहते हैं, उन्हें छायावादियों के सौन्दर्य-चित्रण की पृष्ठभूमि में कार्य करते हुए मन को टटोलना चाहिए।

प्रकृति में जो भी सम्मोहन, रूप-रंग, शब्द, गति, सुरभि, स्पर्श सावयवताजन्यसौन्दर्य, जीवन के लिए सुखद प्रेरणाएँ और संदेश मिल सका, उसे छायावाद ने चित्रित करने का प्रयत्न किया है। रीतिकाल की संकीर्ण दृष्टि यहाँ कितनी भव्य, उज्ज्वल और निजी जीवन से लेकर विश्व जीवन तक के सभी छोरों को स्पर्श करती हुई चली है, इसे देख कर बड़ी प्रसन्नता होती है। छायावाद की दृष्टि में सौन्दर्यग्राहिका शक्तिइतनी अधिक सूक्ष्म, संकेतपूर्ण और पदार्थमर्मभेदिनी है कि उसमें पारसमणि और पारदर्शी शीशे के गुण एक साथ मिलते हैं। लघु और सामान्य पदार्थ के सौन्दर्य को पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करना और पारदर्शी दृष्टि डालकर पदार्थ के भीतर के तत्त्व का साक्षात्कार करना—छायावाद की यह प्रमुख प्रवृत्ति है। कुरूपता के प्रति घृणा होने के कारण छायावाद ने प्रकृति के कोमल, प्रकाशमय, और मधुर रूपों का ही चित्रण अधिक किया है परन्तु प्रकृति के भीषण पक्षों अर्थात् उदात्त सौन्दर्य की भी उसने उपेक्षा नहीं की है। 'निराला' और 'प्रसाद' उदात्त के आकर्षण को बादलराग और राम की शक्तिपूजा तथा कामायनी में तल्लीन होकर चित्रित करते हैं। सौन्दर्य और उदात्तचित्रण से हमारा आंदोलनकारी राष्ट्रीय जीवन भीतर से पुष्ट हुआ और सांस्कृतिक जीवन व्यापक मानवमूल्यों पर प्रतिष्ठित हुआ। मध्यकालीन जीवन में 'प्रकृति' की जो उपेक्षा थी, वह वैज्ञानिक युग में कम हुई, प्रकृति न केवल सौन्दर्य की निधि मानी गई अपितु सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए भी हमने प्राकृतिक जीवन की ओर आशा भरे नेत्रों से देखना प्रारम्भ किया। इसके अतिरिक्त प्रकृति के रहस्योद्-घाटन के लिए छायावाद ने हमें प्रवृत्त किया।

अपनी सौन्दर्य-निष्ठा के कारण ही छायावादी कवियों में जो 'प्रगतिवाद' की ओर उन्मुख हुए, उन्हें 'प्रचारवाद' के स्थान पर ग्राम्य-जीवन के सुन्दर चित्रों को प्रस्तुत करने में अधिक सफलता मिली। सौन्दर्य निष्ठा के ही कारण पन्त जी के नाना सिद्धान्तों से प्रभावित होने पर 'प्रकृति' को नाना दृष्टियों से

देखने की प्रेरणा मिली। यहाँ तक कि नूतन दार्शनिक काव्य में भी उनकी सौन्दर्य-निष्ठा नष्ट नहीं हुई। विचारों की दृष्टि से छायावादियों में एक मात्र सक्रिय कवि पन्त जी के काव्य में असंगतियों और समन्वयजन्य उलझनें मिलती हैं। विचारपक्ष की प्रौढ़ता का भी अभाव उनमें खोजा जा सकता है परन्तु छायावादी सौन्दर्य-निष्ठा के कारण उनके समूचे काव्य में जो संगति और एकता मिलती है वह है मानवता के उद्धार के लिए शुभ कामना और पुष्ट सौन्र्य-बोध। छायावादी सर्वत्र पदार्थ, विचार और भाव के सौन्दर्य को खोज लेता हैं। ग्रीक कलाकारों की तरह छायावादी कवियों का सर्वत्र ध्यान वस्तु, व्यक्ति, विचार और भाव के 'सौन्दर्य' पर ही रहा है अतः उनका प्रकृति-दर्शन वास्तविक कलाकार का प्रकृति-दर्शन है, उनके 'पलायन' में भी मानवता की मुक्ति के स्वप्न-दर्शन का प्रयत्न है !

परवर्ती छायावादी कवि और प्रकृति—छायावादी की 'लघुत्रयी'—अंचल, नरेन्द्र और बच्चन तथा अन्य कवियों में सौन्दर्य-निष्ठा का वह उच्च रूप नहीं मिलता जो "बृहत्—चतुर्थी" में मिलता है। फिर भी छायावादी होने के कारण इन कवियों में भी सौदर्यनिष्ठा का एक अपना रूप मिलता ही है। नरेन्द्र शर्मा ने स्पष्ट लिखा है कि पूर्वार्ध के कवि (पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी) सौन्दर्योपासक और असीम, अनन्त के अनुरागी थे।·····असीम के उपासक बहुधा सीमाहीन में अपनी ऐहिक सीमाओं को भुला देने के लिए प्रयत्नशील रहे·····सौन्दर्योपासक और असीमोपासक दोनों में एक विशेष समानता थी। दोनों ही वास्तविकता से दूर हटकर अपने को कल्पनाजन्य स्वप्नों में भुलाते रहे।·····हमें उनके मनोभावों को संक्रान्तिकालीन सामाजिक-व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में समझना चाहिए।"[१]

नरेन्द्र शर्मा भी इस तथ्य को मानते हैं कि सौन्दर्य की भूलभुलैयों में भूले रहने वाले कवि बहुत समय तक अपने को प्रवंचित नहीं कर सकते थे। समाज की वास्तविकता से कोई कब तक आँखें मूँद सकता है ! फ़लतः उत्तरार्ध के कवियों में 'निराशा' व्यक्त होने लगी।

'प्रवासी के गीत' में प्रकृति को इसी उक्त निराशावादी दृष्टि से देखा गया है।

साँझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी
क्या किसी की याद आई, ओ विरह-व्याकुल प्रवासी।

---

१. **प्रवासी के गीत—भूमिका**

नरेन्द्र शर्मा ने 'अस्त रवि' सी आश भाग्य सा घन, भरी हुई आँखों सी निर्झरी, पेड़ के पैरों पर पड़ी शान्त ..., विजन वृक्ष सा कवि, श्वास के पतझार, आदि का वर्णन किया है किन्तु कहीं-कहीं प्रकृति के सौन्दर्य ने कवि के निराशावाद पर विजय भी प्राप्त की है—

कह सकेगा कौन कड़वी बात ऐसी चाँदनी में ।
कौन सोचेगा असुन्दर बात ऐसी चाँदनी में ।
खिल उठे हैं जाग सब गहरी अँधेरी नींदसे अब ।
मन सुमन सा, सुमन सी यह रात ऐसी चाँदनी में

अथवा

तुम चन्द्रकिरण सी खेल रही हो, मेरी चपल तरंगों में ।

'पलाशवन' को छोड़कर नरेन्द्र ने कहीं भी मन लगाकर प्रकृति का निराशा की स्थिति में भी चित्रण नहीं किया । चित्रण से हटकर बार-बार कवि का मन अपने मन के विश्लेषण में लग जाता है । बच्चन की पहली पत्नी की मृत्यु पर लिखी हुई कविताओं में भी यही प्रवृत्ति मिलती है । यदि नरेन्द्र को अपना रूप 'मरघट का पीपल तरु' जैसा लगता है तो 'बच्चन' को रात में कुत्ते, अपने भौंकते हुए अरमानों जैसे लगते हैं किन्तु 'बच्चन' में सौन्दर्य-निष्ठा भी मिलती है ।[1]

बच्चन ने "सिंदूरी चाँद" को भी देखा है और यह भी कि चाँद सारी रात प्रेम के ढाई अक्षर लिखता रहता है । 'पलाशवन' में नरेन्द्र ने भी प्रकृति के सौन्दर्य को देखा है । 'कूर्माचल', कौसानी, रानीखेत की रात और चाँदनी शीर्षक रचनाओं में छायावादी परम्परा का ही पालन किया है यद्यपि संश्लिष्ट-चित्रण के प्रति परवर्ती कवि कहीं भी विस्तार और सूक्ष्मता के साथ अग्रसर नहीं हो सके हैं । वस्तुतः इन कवियों का ध्यान प्रकृति को मानवी भावनाओं के वर्णन के लिए माध्यम बनाने पर अधिक रहा है । सौन्दर्य-साधना में कवि को

---

१. पहचानी वह पगध्वनि मेरी
नन्दन वन में उगने वाली, मेंहदी जिन लतवों की लाली ।
ऊषा ले अपनी अरुणाई, लेकर किरणों की चतुराई
जिनमें जावक रचने आई,

तथा

बुलबुल तरु की फुनगी पर से, संदेश सुनाती यौवन का ।
कल मुरझाने वाली कलियाँ, हँसकर कहती हैं मग्न रहो ।

अपनी भावनाओं और दूसरों की भावनाओं पर अंकुश लगाकर पदार्थ को ध्यान से देखना पड़ता है। पदार्थ-दर्शन में उसके रूप, रंग, शब्द, स्पर्श, सुरभि के चित्रण करते समय कवि बीच-बीच में अपनी भावनाओं को भी वाणी देता है किन्तु चित्रकार की तरह वह पर्याप्त तटस्थता से कार्य लेता है। यह चित्रकार-प्रवृत्ति परवर्ती कवियों में कम होगई है। जहाँ वित्रण हुआ भी है, वहाँ पदार्थ की कतिपय छवियों के अंकन से ही तृप्त होकर कवि अपने मन की ओर लौट पड़े हैं। कहीं-कहीं परवर्ती कवि केवल अपने मन की बात कहने के लिए प्रकृति का एक स्थूल चित्र दे देता है और पुनः "अपनी बात" पर आ जाता है। ये चित्र स्थूल रेखाओं से बनाए गए हैं, यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है। 'दिनकर' के चित्रों में लगता कि द्विवेदीयुगीन कला पुनः उभर कर आ रही है, यद्यपि छायावादी दृष्टि के प्रभाव के कारण उसमें द्विवेदीयुगीन स्थूलता की तुलना में कुछ अधिक सूक्ष्मता मिलती है—

गई सहसा किस रस से भींग, वकुल वन में कोकिल की तान।
चाँदनी में उमड़ी सब ओर, कहाँ के मद की मधुर उफान।
गिरा चाहता भूमि पर इन्दु, शिथिलवसना रजनी के संग।
सिहरते पग सकता न सँम्हाल, कुसुम कलियों पर स्वयं अनंग।
ठगी सी रुकी नयन के पास, लिये अंजन उँगली सुकुमार
अचानक लगे नाचने मर्म, रास की मुरली उठी पुकार।

दिनकर के "हिमालय के प्रति" रचना की पन्त जी के 'पर्वत-प्रदेश' 'हिमाद्रि' और "हिमाद्रि और समुद्र" रचनाओं से तुलना कीजिए, स्पष्ट हो जाता है कि दिनकर का हिमालय कितना स्थूल है। 'कला' की सूक्ष्मता दिनकर के पास नहीं है—वस्तुतः दिनकर ने 'हिमालय' को देखकर राष्ट्रीय भावनाएँ जगाने का अधिक प्रयत्न किया है, संश्लिष्ट चित्रण जो कल्पना को पुनर्जीवन देता है, दिनकर, अंचल, नरेन्द्र बच्चन में बहुत कम मिलता है। छायावाद के अत्यधिक अलंकृत, सूक्ष्म और और रहस्यमय चित्रणों के बाद परवर्ती चित्रणों की सरलता तथा इन कवियों की समझ में आने वाली भावनाओं ने इन्हें अधिक प्रचलित कराया। किन्तु इन परवर्ती कवियों के काव्य से यत्र-तत्र बिखरे हुए संक्षिप्त चित्रों को एकत्र किया जाय तो परवर्ती छायावाद का एक रूप अवश्य प्रस्तुत हो जाता है, इन कवियों में देखने वाले नेत्र अवश्य हैं परन्तु उनकी दृष्टि 'सम्मोहक' पर न रह कर "संक्षोभक" पर स्थित हो गई है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि परवर्ती कवियों ने सम्मोहन और

सौन्दर्य को देखा नहीं है। छायावादी ० दय प्रेमभाव के विरुद्ध जिस प्रकार इन कवियों ने स्थूल शारीरिक आकर्ष० रति स्पष्ट और सरल भाषा में अभिधावादी शैली में अपनी रुचि प्रकट की, उसी प्रकार 'प्रकृति' के संश्लिष्ट चित्रों के स्थान पर संक्षिप्त चित्र और वह भी मानवी भावनाओं के सन्दर्भ में प्रस्तुत करते हुए इन कवियों ने वस्तुतः 'प्रकृतिवाद' को अधिक महत्त्व नहीं दिया। प्रकृति का जो भी वर्णन इन कवियों में मिलता है, ख़ासकर अंचल और नरेन्द्र में, उसमें अधिकांशतः प्रकृति को देखता हुआ कवि अपने मन को भूल ही नहीं पाता। इसके अतिरिक्त प्रकृति के सहज और वास्तविक रूप को यथावत् कह देने की प्रवृत्ति अधिक है, कल्पना के द्वारा नाना उपमानों का विधान इन्हें इष्ट नहीं है। अनलंकृत रूप में आत्माभिव्यकि इनका उद्देश्य है—

आया था हरे भरे बन में पतझर, पर वह भी बीत चला।
कोंपलें लगीं जो लगीं नित्य बढ़ने, बढ़ती ज्यों चन्द्रकला।
पतझर की सूखी शाखों में, लग गई आग, थोले लहके!
चिनगी सी कलियाँ खिलीं और हर फुनगी लाल फूल दहके!
सूखी थीं नसें, बहा उनमें फिर बूँद-बूँद कर नया खून!

बसंत के सौन्दर्य का जो चित्रण पन्त जी के 'पल्लव' में मिलता है, उससे यह चित्रण कितना भिन्न है, कितना सरल, कल्पनाहीन और प्रकृति को केवल 'दर्द' की स्थिति में देखने के प्रयत्न स्वरूप अत्यधिक व्यक्तिवादी—

लो, डाल-डाल से उठी लपट! लो डाल-डाल फूले पलाश
यह है बसन्त की आग, लगा दे आग, जिसे छू के पलाश।[1]

किन्तु 'पलाश वन' से एक बात साफ़ ज़ाहिर होती है कि कवि छायावाद की अतीन्द्रिय, सूक्ष्म उपमाओं और केवल सुहावने प्रकृति रूपों के अतिरिक्त प्रकृति के अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक रूपों की ओर भी देखता है। नरेन्द्र शर्मा ने 'पलाशवन' में सोने के रंग से उजली के साथ-साथ प्रेमिका को सरसों के फूलों से भी उपमा दी है—'अनंग अप्सरा' और 'उर्वशी' की काल्पनिक भव्यता की तुलनायें नरेन्द्र शर्मा का वास्तविक जीवन प्रेम देखिए—

खुली हवा है, खुली धूप है
दुनियाँ कितनी सुन्दर रानी।

---

१. पलाशवन—नरेन्द्र शर्मा।

आओ सारस की जोड़ी से
निकल चलें हम दोनों प्राणी ![1]

नरेन्द्र ने "मैली धोती सी मैली" तथा "मरकत महलों के बीच चाँदी की गलियों सी सरिताएँ" का उल्लेख किया है। फागुन की आधी रात में "बछड़े से बिछुड़ी रँभ्हाती हुई गाय" तथा "गजनेरी साँड़" का, "रोते हुए शृगालों बोलते हुए उल्लुओं" का भी कवि ने उल्लेख किया है। अतीन्द्रियता के स्थान पर अधिक ऐन्द्रिकता, सूक्ष्मता के स्थान पर स्थूलता, संश्लिष्ट चित्रण के स्थान पर विश्लिष्ट चित्रण, तटस्थता के स्थान पर 'स्व' से आक्षिप्त दृष्टि, लक्षणा के स्थान पर अभिधा और काल्पनिक के स्थान पर वास्तविक प्रकृति-चित्रण परवर्ती छायावाद में अधिक मिलता है।

अलौकिक से प्रेम—हम कह चुके हैं कि प्रेम और प्रकृति के अतिरिक्त छायावाद में अलौकिक तत्त्व से प्रेम की भी एक प्रवृत्ति थी। यह अलौकिक से प्रेम एक एकतासूत्र के रूप में पाया जाता है, यह भी हमने संकेतित किया है। प्रेम के क्षेत्र में प्रेमपात्र को 'विश्वमोहिनी' का स्तर दिया गया है। कामायनी में प्रेमिका का निरूपण एक अत्यधिक उच्च दार्शनिक स्तर पर हुआ है जहाँ श्रद्धा, अपनी चेतना के ही एक पूरक अंश के रूप में दिखाई पड़ती है अतः प्रेम के वर्णन में भी 'अलौकिकता' के प्रति प्रेम हमें दिखाई पड़ता है। छायावादी 'प्रेमिका' के सौन्दर्य को सामान्य स्तर पर रखना उसके सौन्दर्य का अपमान समझता है जैसे उसका सौन्दर्य किसी दिव्यलोक से सम्बन्धित हो।

प्रकृति के क्षेत्र में भी यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। हम कह चुके हैं कि छायावादी प्रकृति के कण-कण में एक सर्वव्यापक सत्ता का आभास देखते हुए चले हैं। वस्तुतः इससे उनकी सौन्दर्य-प्रियता के लिए एक अन्य उपादान और मिल गया है अतः उनका प्रकृति के क्षेत्र में अलौकिक से प्रेम साम्प्रदायिक न होकर सौन्दर्यवादी है। यह अंतर न समझने के कारण छायावादियों की इस महान उपलब्धि पर हमारी दृष्टि नहीं जाती कि जिस प्रकार उन्होंने मध्य-कालीन अंधविश्वासों से ग्रस्त धर्म के स्थान पर केवल 'दार्शनिकता' को स्वीकार किया है जैसा कि पूँजीवाद के विकास के दौरान में योरोप में भी हुआ है—कालरिज, शैली, बायरन आदि ही नहीं, कांट, हीगेल जैसे महान दार्शनिकों ने मध्यकालीन अंधविश्वासों के स्थान पर केवल 'दार्शनिकता' को

---

१. वही।

ही अपनाया था, उसी तरह छायावादियों ने अन्ततः ब्रह्म और आत्मा को स्वीकार कर फिर उनका "सुन्दरीकरण" किया। छायावादियों का सौन्दर्यवाद इसीलिए साम्प्रदायिक नहीं है। दार्शनिक क्षेत्र में वह ब्रह्मवाद के आधार पर 'व्यापकवाद' की प्रतिष्ठा करता है सौन्दर्य के क्षेत्र में छायावाद धर्म के पंजे से 'कला' को निकालकर मुक्त कर देता है, पूँजीवाद की मध्ययुग पर यह भी एक महान विजय है।

अज्ञेय को 'अज्ञेय' ही रखकर उसके प्रति प्रेम सम्बन्ध की स्थापना और उसके संयोग-वियोग में मध्यकालीन रहस्यवाद से छायावाद में बहुत अन्तर पाया जाता है। अज्ञेय को सुन्दर और मंगलमय मानकर छायावादियों ने सर्वप्रथम 'अज्ञेय' का सुन्दरीकरण किया है, उसे भव्य से भव्य रूप में देखने का प्रयत्न किया है और दूसरी ओर आत्मा के संयोग के सुखद स्पर्शों का भी सुन्दरीकरण अधिक किया है जो वास्तविक दिव्य अनुभूति पर आधारित न होकर, अनुमान, आरोप तथा कल्पनाजन्य हैं। रहस्यवादी न होकर भी रहस्यवादी की मानसिक स्थिति की कल्पना कर लेना असम्भव नही है और इस विशिष्ट मानसिक स्थिति को जब रवीन्द्रनाथ टेगोर ने अत्यधिक आकर्षक नवीन काव्यकला में अवतरित कर दिया तब इस मानसिक स्थिति की ओर अन्य कवियों का ध्यान भी आकर्षित हुआ। सौभाग्य या दुर्भाग्यवश हमारे प्राचीन काव्य और साहित्य में इस प्रकार के साहित्यकी दीर्घ परम्परा थी। प्रसाद जी ने इसी लिए 'रहस्यवाद' और 'आनन्दवाद की परम्परा वेदों से लेकर आगम साहित्य में खोज निकाली। आचार्य शुक्ल भारतीय साहित्य में रहस्यवाद का निषेध करते रहे[1] किन्तु 'रहस्यवादी रचनाओं के सौन्दर्य ने स्वयं शुक्लजी पर प्रभाव डाला था और 'स्वाभाविक रहस्यवाद' के वह भी प्रशंसक थे। अत्यधिक गूढ़ता, प्रतीकात्मकता और कृत्रिमता उन्हें पसन्द न थी, इनकी निन्दा करते समय जोश में वह यह भी कह गए कि रहस्य के प्रति जिज्ञासा तक तो ठीक है किन्तु उसके प्रति ललक और कामवासना, 'छद्म रूप में भी सही', व्यक्त नहीं होनी चाहिए। असलियत यह है कि छायावाद में 'रहस्यवाद' का गूढ़ रूप बहुत कम मिलता है। 'कामायनी' के अंतिम सर्ग में तथा मुक्तक रचनाओं में वह अवश्य मिलता

---

१. **अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर काम वासना के शब्दों में प्रेम व्यंजना भारतीय काव्यधारा में कभी नहीं चली, यह बात "हमारे यहाँ यह भी था" की प्रवृत्ति वालों को अच्छी नहीं लगती।"**

—हिन्दी साहित्य का इतिहास

है परन्तु उसमें घोर प्रतीकात्मकता और साम्प्रदायिक रहस्यवादियों जैसी धार्मिक अनुभूतियों की व्यंजना नहीं मिलती। 'प्रेमपात्र' के रूप में 'आराध्य' को अंकित करने से छायावाद वस्तुतः प्रेम की मधुरिमा का ही अधिक वितरण करता है। कबीर, मीरा, अंदाल, रबिया, आदि रहस्यवादियों जैसी गूढ़ और आध्यात्मिक निगूढ़ता छायावाद में नहीं है। संत और साधक जिस तत्त्व को 'स्वयंप्रकाश्यज्ञान' द्वारा साक्षात्कृत करते थे, छायावादी उसे 'कल्पना' के नेत्रों से देखते हैं। साधक के लिए जो 'सांक्षात्कृत अनुभव' हैं, छायावादी के लिए वह "विज़न" हैं। सूक्ष्म कल्पनाशक्ति ब्रह्माण्ड में व्यापक किसी सत्य के प्रति मानवीय सम्बन्ध स्थापित कर यदि उनका वर्णन करती है तो इसमें साम्प्रदायिकता क्यों देखनी चाहिए—यह तो रहस्यवाद की, सौन्दर्यवादी अंतर्दृष्टि द्वारा स्वीकृति थी।

छायावाद सत्य की खोज के लिए प्रयत्न नहीं करता, अपितु वह पहले के साधकों द्वारा खोजे गए सत्य को स्वीकार कर उसे सुन्दर अभिव्यक्ति भर देता है और सर्वत्र गूढ़ता से बचता है—

वही उर उर में प्रेमोच्छ्वास्
काव्य में औ कुसमों में बास
अचल तारक पलकों में हास
लोल लहरों में लास —पन्त

पदार्थमात्र में जीवन भरने से सौन्दर्य की सृष्टि हो जाती है क्योंकि सौन्दर्य वहीं है, जहाँ जीवन है। जीवन के बिना केवल 'ज्यामितिक' सौन्दर्य ही रह जाता है अतः यहाँ "लोल लहरों में लास और तारकों के पलकों में हास" के रूप में चित्रित ब्रह्म, "साधना" का नहीं, 'सौन्दर्य' का स्रोत बन गया है—आश्चर्य है कि छायावाद के किसी विवेचन में इस ओर विवेचकों की दृष्टि ही नहीं गई, फलतः छायावादियों के 'रहस्यवाद' पर तरह-तरह के व्यर्थ के आक्षेप हुए हैं। उदाहरणतः छायावादी पाखंडी हैं, उनकी भावनाएँ कृत्रिम हैं, उनमें साधकों जैसी वास्तविकता नहीं है। बातें सही हैं किन्तु छायावादी को साधक होना चाहिए था, यह तो इतिहास के विरुद्ध हो जाता। जिस मध्यकालीन मूर्खता से वह हमें धीरे-धीरे निकाल रहा था, उसी को वह कैसे स्वीकार कर लेता! कुछ पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों के कारण भी "रहस्यवादप्रेमी" विदेशियों के सम्मुख अपने देश के 'रहस्यवाद' को प्रस्तुत करना पड़ा परन्तु उसने उसका अनुकरण न कर उसे नूतन रूपविधायिनी शक्ति के द्वारा ग्रहण किया, "विश्वासवर्धिका" चित्तवृत्ति द्वारा ग्रहण नहीं किया।

'प्रसाद' जी का रहस्यवाद वस्तुतः [illegible]सित रूप में कामायनी में ही पाया जाता है। उसके पहले आँसू में यत्र त[illegible]हस्यप्रियता अवश्य मिलती है। 'आँसू' के पूर्व जिज्ञासात्मक रूप में अथवा पदार्थ मात्र में उसके सौन्दर्य की झलक देखने की प्रवृत्ति है जो वस्तुतः छायावादी प्रवृत्ति है। रहस्य को खोजने की प्रवृत्ति वहाँ उतनी नहीं है जितनी प्रकृति-सौन्दर्यवर्णन के लिए एक जीवनदायनी प्रेरणा की स्वीकृति की प्रवृत्ति है।

'कामायनी' में लगता है कि प्रत्येक कार्य अथवा पात्रों के अनुभव को कोइ शक्ति परदे के पीछे से संचालित कर रही है और पात्र—विशेषकर 'मनु' उसे समझने के लिए विकल हैं। उनका 'भटकाव' भी जैसे उस रहस्यमय सत्ता के संकेत से ही होता है क्योंकि 'असमरता' के दौर से गुज़रे बिना, समरसता प्राप्त नहीं हो सकती अतः सामान्य छायावादी-दृष्टि से उठ कर कवि शैवागमों के प्रत्यभिज्ञावाद को मन में रखकर पात्रों की सृष्टि करके घटनाओं को सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए मोड़ता है। कामायनी में घटना और पात्र उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, जितना कि वह रहस्यमय सिद्धान्त, जिसके प्रतिपादन के लिए 'कामायनी' की सृष्टि हुई है। चूँकि इस सिद्धान्त द्वारा 'प्रसाद' जी अपने युग के सारे प्रश्नों के उत्तर भी देना चाहते थे अतः एक प्रतीकात्मक काव्य की सृष्टि में आसानी रही है।

अतः कामायनी की रचना में मुख्य तत्त्व परमशिवतत्त्व का प्रकाशन और गोपन है। 'पाशों' को काटकर वह कैसे 'पशु' को 'शिव' बना देता है, यही तत्त्व कामायनी में मुख्य है अतः 'रहस्यवाद' का वह रूप जो हमें आगमों और तन्त्रों में मिलता है, कामायनी में भी मिलता है अतः प्रसाद जी ने झूठ नहीं कहा था कि भारतीय काव्य में 'रहस्यवाद' उपनिषदों और आगमों में सुरक्षित है।

नियति, काल, राग आदि कंचुकों या पाशों में वद्ध जीव की स्थिति में कंचुकग्रस्त चित्तवृत्ति में प्रकृति और जीवन का चित्रण जब कामनीकार करता है, तब शैवागमों के रहस्यवाद से परिचित पाठक स्पष्ट यह अनुभव करता है कि यह प्रतिपादन छायावाद की सामान्य पद्धति से भिन्न है और शैवागमों से अपरिचित पाठक के लिए यह अंतर-स्पष्ट नहीं होता, उदाहरण के लिए आशा में निशा का वर्णन देखिए—

किस दिगंत रेखा में इतनी, संचित कर सिसकी सी साँस।
यों समीर मिस हाँफ रही सी, चली जा रही जिसके पास।
विकल खिलखिलाती है क्यों तू, इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर।
तुहिन कणों फेनिल लहरों में, मच जावेगी फिर अंधेर।

घूँघट उठा देख मुस्क्याती, किसे ठिठकती सी आती।
विजन गगन में किसी भूल सी, किसको स्मृति पथ में लाती।

यहाँ रात पर चेतना का सामान्य आरोप मान कर मानवीकरण अलंकारमात्र माना जा सकता है किन्तु शैवागम के रहस्यवाद की दृष्टि से यहाँ प्रकृति का "सजीव शक्ति" के रूप में चित्रण है। 'शक्ति' घूँघट उठाकर 'शिव' से यदि मिलने जाती है तो यह सर्वथा उचित है और यह भी उचित है कि मनु के मन में यह चिन्तन जग रहा हो कि वस्तुतः प्रकृति उस अव्यक्त सत्ता का ही एक व्यक्त रूप है। आत्मा की तरह ही प्रकृति भी पुरुष से एक होने के लिए आतुर रहती है—"चिति का स्वरूप यह नित्य जगत—वह रूप बदलता है शत शत" !

इसी प्रकार श्रद्धा, काम, वासना, ईर्ष्या आदि का दार्शनिक निरूपण भी कामायनीकार का ध्येय है। स्पष्टतः इसीलिए इन वृत्तियों के मानवीकरण द्वारा कवि सौन्दर्य की सृष्टि ही नहीं कर रहा, नए वर्ण्य विषयों पर ही केवल लेखनी नहीं आजमा रहा अपितु शैवागमों के अनुसार मनोजगत् का रूपान्तरण कैसे हो, यह बताना भी कवि का मुख्य लक्ष्य है अतः श्रद्धा और काम के रहस्यमय रूप का प्रतिपादन कामायनी में किया गया है इसे ही तंत्रों में "कामकलाविलास" कहा गया है।

प्रसाद जी इस 'रहस्यवाद' को मानसिक विकास के लिए आवश्यक मानते थे, ऐसा लगता है। क्योंकि नाना संघर्षों में पड़ा हुआ व्यक्ति यदि अपने मानसिक संगठन की ओर ध्यान नहीं देता तो उस संघर्ष और प्रकृति विजय का फल किसी एक या अधिक की महत्त्वाकांक्षापूर्ति का साधन बन सकता है और परिणामस्वरूप पुनः संघर्ष जन्म ले सकता है। अतः प्रसाद जी अंतर्मुखता और 'आन्तरिक अनुसंधान' को बहिर्मुख संघर्ष और प्रकृति-विजय के साथ आवश्यक मानते थे। मानवता की एक कल्पना उनके मन में थी जिसमें, इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीनों का समन्वय करने में समर्थ "समरस व्यक्तित्वों" का विकास होगा जो बाह्य आवश्यकताओं की पूर्त्ति के साथ-साथ मानसिक रूप से आनन्द, सौन्दर्य और नैतिकता की एक उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित होंगे। व्यक्तिगत जीवन में भी बाह्य जीवन को आन्तरिक समरसता के आधार पर प्रतिष्ठित किए बिना प्रयत्न लक्ष्यहीन हो जाएगा, यह कामायनीकार का कथन है—अतः 'दर्शन', 'रहस्य', और 'आनन्द' नामक सर्गों में कवि ने स्पष्टः अलौकिक से उच्चकोटि के प्रेम का परिचय दिया है। इसे आप "यूटोपिया"

भी कह सकते हैं। प्रत्येक छायावादी एक 'यूटोपिया' अपने मन में रखता है और उसके ध्यान में मग्न रहता है। कि ु यूटोपिया' जितने स्पष्ट रूप में पन्तजी की 'ज्योत्स्ना' में हैं, उतनी स्पष्टता के साथ कामायनी में नहीं है क्योंकि कामायनी का 'यूटोपिया' राजनैतिक और सामाजिक जीवन की असफलताओं को दूर करने के लिए 'कल्पित राज्य'' नहीं है अपितु वैयक्तिक साधना से उच्चतम रूप में प्राप्त होने वाले अनुभवों और दृश्यों का वह वर्णन करता है। जीवन का अनुभव कर लेने के बाद सृष्टि के पूर्व की स्थिति का अनुभव व्यक्ति कर सकता है—

विद्युत कटाक्ष चल गया जिधर
कम्पित संसृति बन रही उधर
चेतन परमाणु अनन्त बिखर
बनते विलीन होते क्षणभर
यह विश्व झूलता महा दोल।
परिवर्त्तन का पट रहा खोल।

किस प्रकार मूलचेतना अपने को प्रथम दो रूपों में—शिव-शक्ति रूप में और पुनः नाना रूपों में व्यक्त करती है और साथ ही साक्षी रूप में वह सारे दृश्य को देख देखकर प्रसन्न होती है, यह स्पष्ट करना ही अन्तिम सर्गों का उद्देश्य है। सृष्टि की उन्मीलन, निमीलन की क्रिया जिसके सम्मुख स्पष्ट है, वही मूल सत्ता के साथ एक होकर 'आनन्द' की प्राप्ति कर सकता है। दुःख, सुख की लहरें गिनने वाले कभी आनन्दवादी नहीं हो सकते। 'आनन्द' आत्मा की पूर्ण मुक्तावस्था का नाम है जिसमें इन्द्रियाँ और अन्तःकरण का नाश नहीं हो जाता (जैसा कि शांकर वेदान्त में माना गया है) अपितु दृष्टिकोण बदल जाने से—तत्त्व का ज्ञान हो जाने से, इन्द्रियों और अन्तःकरण के स्वाभाविक अनुभवों की आहुति से चैतन्य उसी प्रकार और भी आनन्दित होता है जैसे कि आहुति से अग्नि आनन्दित होती है अतः समरसता वह रहस्यमय अथवा कल्पित मानसिक स्थिति है जिसमें एन्द्रिक और बौद्धिक तथा आत्मिक स्तरों में परस्पर विरोध नष्ट हो जाय—यही समरसता है—सामाजिक स्तर पर व्यक्ति की यह मानसिक उच्चता वास्तविक समता पर आधारित समाज का निर्माण करेगी—

हम अन्य न और कुटुम्बी, हम केवल एक हमीं हैं।
तुम सब मेरे अवयव हो, जिसमें कुछ नहीं कमी है।

शापित न यहाँ है कोई, तापित पापी न यहाँ है।
जीवन वसुधा समतल है, समरस है जो कि यहाँ है।
वैसे अभेद सागर में, प्राणों का सृष्टि-क्रम है।
सब में घुल मिलकर रसमय, रहता यह भाव चरम है।

कामायनी में उक्त तीन सर्गों में सब कुछ अलौकिक ही दिखाई पड़ता है। अथवा वह इतना अधिक आंतरिक है कि अलौकिक ही सा लगता है किन्तु विश्व के किस रहस्यवादी ने रहस्यमय अनुभवों को प्रस्तुत करते समय क्या राज नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का प्रसादजी की तरह प्रयत्न किया है ? मध्ययुग के रहस्यवादियों की उक्तियों में मानव जीवन के लिए कुछ सार्वभौमिक सत्य अवश्य मिल जाते हैं, किन्तु कामायानीकार की तरह अपने युग की सारी बुराइयों का निदान करके रहस्यवाद के साथ-साथ उनका समाधान सम्भवतः किसी रहस्यवादी ने प्रस्तुत नहीं किया। आधुनिक युग में गेटे के 'फांउस्ट' नाटक में यह प्रयत्न अवश्य है। अतः मध्ययुग के रहस्यवादियों से आधुनिक रहस्यवाद को भिन्न समझना चाहिए। हिन्दी में महादेवी में मीरा का सादृश्य अवश्य मिलता है अन्यथा पन्त, प्रसाद, निराला का अलौकिकप्रेम का रूप ही भिन्न है। मध्ययुग की निरन्तरता इस प्रकार के काव्य में देखी जा सकती है और वह पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति को भी संतुष्ट करती है परन्तु यह नया अलौकिक प्रेम मध्यकालीन न होकर पूँजीवादी व्यवस्था की सृष्टि है जिसमें कवि पुराने विश्वासों में मग्न न रहकर उनके द्वारा एक नया समाधान खोजता है, नया मनोराज्य रचता है। तुलसीदास ने भी मध्ययुग में एक मनोराज्य रचा था परन्तु स्पष्टतः वह मध्ययुग के ही अनुकूल था क्योंकि तुलसी के सम्मुख वे प्रश्न ही नहीं थे, जो कामायनीकार के सम्मुख थे। वैज्ञानिकप्रवृत्ति के अस्तित्व के बिना कामायनीकार बुद्धिवाद पर प्रहार कैसे करता अतः प्रसाद जी का रहस्यवाद साम्पदायिक न होकर सैद्धान्तिक और समसामयिक हो गया है।

निराला शांकर वेदान्त तथा उसकी विवेकानन्द द्वारा की गई व्याख्याओं से अधिक प्रभावित हैं। निराला में जिज्ञासा से अधिक परतत्त्व के प्रति समर्पण की भावना मिलती है जो परमहंसदेव की प्रकृत्ति थी। निराला ने प्रकृति को ही नहीं, परब्रह्म को भी प्रेयसी का रूप देकर उसके प्रति आत्म-निवेदन किया है। परिमल की निवेदन कविता इस ओर संकेत करती है—"एक दिन थम जाएगा रोदन, तुम्हारे प्रेम अंचल में।" "तुम और मैं" शीर्षक कविता में

परब्रह्म के साथ आत्मीय सम्बन्ध स्पष्टतः स्थापित किया गया है। रहस्यवाद में जो प्रेम सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, वह भी यहाँ मिलता है—

तुम पथिक दूर के श्रान्त और मैं बाट जोहती आशा।
तुम नभ हो मैं नीलिमा, तुम शरत काल के बाल इन्दु
मैं हूँ निशीथि मधुरिमा
तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति
तुम मदन पञ्चशर हस्त
और मैं हूँ मुग्धा अनजान

किन्तु आधुनिक रहस्यवाद में प्रेमसम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध भी स्थापित किए गए हैं—

तुम नाद-वेद ओंकार, मैं कवि शृंगार-शिरोमणि।

स्पष्ट उक्त कविता में मध्यकालीन रहस्यवाद से भिन्नता दिखाई पड़ती है, कवि के "व्यक्तित्व" का अलगाव साफ दिखाई पड़ता है। यहाँ 'साधक' की ऊब डूब नहीं है, यहाँ कवि कल्पित मानवीयसम्बन्धों की सुघरता कहने लगता है। अन्यत्र परमहंसदेव की तरह "भक्तिमूलक रहस्यवाद" का भी एक रूप निराला में मिलता है—

देवि, तुम्हें मैं क्या दूँ
क्या, कुछ भी नहीं, ढो रहा व्यर्थ साधनाभार।
एक विफल रोदन का है यह हार—एक उपहार।
भर आँसुओं में हैं असफल कितने विकल प्रयास।
झलक रही है मनोवेदना, करुणा पर उपहास
क्या चरणों पर ला दूँ

इस 'प्रार्थना' और 'भक्ति' में भी कवि की वैयक्तिकता सुरक्षित है। जो सामूहिकता मध्यकालीन प्रार्थनाओं में है, वह यहाँ नहीं है। कहीं-कहीं निराला ने "चलि चकई री···जहाँ न रोग वियोग" वाली पुरानी पद्धति का अनुसरण किया है, किन्तु यहाँ भी आधुनिक व्यक्तिवादिता बोल रही है—

हमें जाना है जग के पार।
वहाँ नयनों में केवल प्रात
चन्द्र ज्योत्स्ना ही केवल गात
रेणु छाए ही रहते पात

मन्द ही बहती सदा बयार
हमें जाना इस जग के पार।

जुही की कली के अन्तिम भाग में कवि ने रहस्य के साथ संयोगसुख को भी सकेतित किया है और उसका प्रभाव 'जीवात्मा' पर दिखाया है—

चौंक पड़ी युवती, चकित चितवन निज चारों ओर फेर
हेर प्यारे को सेजपास
नम्रमुखी हँसी-खिली
खेल रङ्ग, प्यारे संग।

किन्तु यह मानना होगा कि प्रसाद जी जिस प्रकार कामायनी में अलौकिक अनुभवों में गहरे उतरे हैं, वह गहराई निराला में नही मिलती किन्तु पन्तजी से निराला अधिक गहरे पानी में उतरते हुए दिखाई पड़ते हैं। निराला में अद्‌भुत रहस्यमय 'स्पर्श' का वर्णन न तो कृत्रिम लगता है और न यह लगता है कि केवल 'रहस्य' को 'सौन्दर्य' का उपादान ही बनाया गया है। 'सौन्दर्य' के अतिरिक्त 'सुख' की अनुभूति 'निराला' में पर्याप्त मात्रा में मिलती है—

(१) मौन रही हार, प्रिय पथ पर चलते सब कहते शृंगार।
(२) बादल में आए जीवन-धन।
(३) कहाँ उन नयनों की मुस्कान, खोल देती द्रुत परिचय प्राण
(४) स्पर्श से लाज लगी
अलक-पलक में छिपी छलक, उर से नवराग जगी।
(५) नयनों का नयनों से बंधन, काँपे थर थर थर थर युग-तन

निराला की उक्त कविताओं में स्पष्ट यह अनुभव होता है कवि कुछ ऐसे अलौकिक प्रेम का अनुभव कर रहा है जिसे वह कह नहीं पा रहा है किन्तु उसकी अनुभूति मधुर, सर्वव्यापक और हितकारिणी है।

पन्तजी के काव्य में प्रारम्भ में प्रकृति-प्रियता ही अधिक मिलती है यद्यपि प्रकृति-वर्णन में सृष्टि की पृष्ठभूमि में स्थित सत्ता का आभास कवि सर्वत्र देखता है, परन्तु वह छायावाद ही अधिक है, रहस्यवाद नहीं। किन्तु यत्र तत्र कवि उस रहस्यस्पर्श का स्पष्ट अनुभव करता है और संयोग और वियोग का अनुभव भी उसे होता है—

संयोग—कभी उड़ते पत्तों के साथ, मुझे मिलते मेरे सुकुमार।
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ, बुलाते फिर मुझको—उस पार।

नहीं रखती मैं जग का ज्ञान, और हँस पड़ती हूँ अनजान।
रोकने पर भी तो सखि हाय, नहीं रुकती तब यह मुस्कान।

यहाँ स्पष्टतः आत्मा को स्त्री और परमात्मा को पति माना गया है। अतः शुद्ध रहस्यवाद' की श्रेणी में उक्त पंक्तियाँ आती हैं। बंगाली कवियों के "विश्ववेणु" की सर्वत्र व्यापक प्रतिध्वनि भी कवि ने 'विश्ववेणु' नामक कविता मे सुनी है और उसे 'अमर', 'अगोचर' और 'अविकार' भी कहा है। 'शिशु' नामक कविता में कवि एक पूर्वलोक और रहस्यमय अनुभव का स्मरण दिलाता है। 'विसर्जन' में आत्मा के समर्पण को कवि ने स्पष्टतः वाणी दी है—

उस मंदहास में बहकर, गा लूँ मैं वेसुर-प्रियतम।
बस इस पागलपन में ही, अवसित कर दूँ निज जीवन।
नवकुसुमों में छिप छिपकर, जब तुम मधुपान करोगे।
फूली न समाऊँगी मैं, उस सुख से हे जीवनधन।
यदि निज उर के काँटों को, तुम मुझे न पहनाओगे।
उस विरह वेदना से मैं, नित तड़पूँगी कोमल तन।
मैं सखियों से कह आऊँ, प्रस्तुत है पद की दासी।
वे चाहें, मुझ हर हँस लें, मैं खड़ी रहूँगी सनयन!

इस प्रकार रहस्यवादी प्रेम को, "आज रहने दो प्रिय गृहकाज" तथा बादल, अनंग आदि कविताओं से अलग कर लेना चाहिए जैसा कि हम छायावाद और रहस्यवाद के विवेचन में कह चुके हैं क्योंकि उक्त कविता में रहस्यमय सत्ता के साथ स्पष्टतः प्रेम सम्बन्ध की स्थापना हुई है।

रवीन्द्र की पद्धति पर पन्तजी ने परमात्मा से प्रार्थनाएँ भी की हैं और संयोग-वियोग निवेदन भी। "जीवनयान" में प्रथम प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है और द्वितीय 'विसर्जन' शीर्षक कविता में।

'रहस्यवाद' का यह रूप युगवाणी, युगान्त, ग्राम्या के बाद 'नूतनकाव्य' में पुनः एक नया रूप धारण करता है। वहाँ रहस्य के साथ प्रेम सम्बन्ध स्थापित न कर कवि ऊर्ध्व-चेतना के दिव्यस्तरों से छन छनकर आती हुई चेतना को प्रकृति पर प्रक्षिप्तकर, उस अद्भुत आलोक में नूतन सौन्दर्य और नवीन अनुभूतियों का वर्णन करता है, स्पष्टतः ये अनुभूतियाँ अलौकिक हैं। यह अरविन्ददर्शन से जन्य रहस्यवाद कहा जा सकता है।

महादेवी में रहस्य-दर्शन के अतिरिक्त सबसे अधिक स्पष्ट रूप में और अधिक विस्तार के साथ रहस्य के प्रति प्रेमसम्बन्ध की व्यंजना हुई है। विरह

में तड़प की अनुभूति महादेवी ने सर्वत्र व्यंजित की है, मध्यकाल के रहस्यवाद से भिन्नता इस बात में है कि—महादेवी में मिलन की आकांक्षा है, किन्तु समर्पण की भावना नहीं है अथवा यों कहें कि व्यक्तिवाद के कारण कवियित्री अपना स्वाभिमान, अपना व्यक्तित्व सुरक्षित रखना चाहती है, मीरा से इसी बात में महादेवी भिन्न दिखाई पड़ती है। महादेवी को लौकिक प्रेम और अलौकिक प्रेम को एक कर देने में अद्‌भुत सफलता मिली है किन्तु मीरा में जो बिलाशर्त समर्पण मिलता है वह उसे वास्तविक 'रहस्यवाद' की परिधि में प्रतिष्टित करता है। महादेवी "जो तुम आ जाते एक बार" कहकर मिलन सुख के सम्भावित रूप का मग्न होकर वर्णन करती है और "चिरसचित विराग" के लुट जाने की भी चर्चा करती हैं किन्तु मानिनी अपने मान की भी रक्षा करना चाहती है—

मिलन मन्दिर में उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुंठन।
मैं मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिकता में सलिल-कण
सजनि मधुर निजत्व दे कैसे मिलूँ—अभिमानिनी मैं।

समर्पण और स्वाभिमान का द्वन्द्व ही महादेवी के रहस्यवाद को "आधुनिकता" का दान करता है। इस 'द्वन्द्व' का समन्वय होता है, महादेवी के दुःखवाद में जिसे वह मानवता का उच्चतम रूप मानतीं हैं। रातदिन दुःख में जलने से एक ओर वहाँ प्रिय के प्रति प्रेम जाग्रत रहता है, वहीं दूसरी ओर वह दुःख जगत् के प्रति करुणा में भी व्यक्त होता है अतः जिस प्रकार हरिऔध की राधा वियोग में 'जगत सेविका' बन जाती है, उसी तरह महादेवी का 'रहस्यवाद' आंतरिक द्वन्द्व के निराकरण के लिए जगत्-सेवा की ओर उन्मुख हो जाता है अतः जो प्रगतिवादी इस तथ्य को नहीं समझ पाए, वह यह भूल गए कि रहस्यमय सत्ता वैज्ञानिक दृष्टि से असत् होने पर भी कवियित्री के लिए 'प्रेरणास्रोत' ही तो बन ही सकती है। रहस्यप्रियता में देखना यह चाहिए कि रहस्य से कवि किस प्रकार की प्रेरणा ग्रहण करता है। महादेवी के लिए जब तक उनमें जलते रहने की शक्ति है, तब तक उन्हें मिलन की चिंता नहीं, वह अपने लिए 'पीड़ा' को वरदान मानकर, उसी में संतुष्ट होकर अपनी 'जलन' के द्वारा जगत को प्रकाश भी देना चाहती है—

जब यह दीप थके तब आना
यह चंचल सपने भोले हैं
दृगजल पर पाले मैंने मृदु
पलकों पर तोले हैं

दे सौरभ से पंख इन्हें सब नयनों में पहुँचाना।

अतः रहस्यवादी अलौकिक पीड़ा और दुःख का समाजीकरण महादेवी के रहस्यवाद की विशेषता है स्वयं महादेवी के लिए जो मार्ग संयोग से रहित, दाहकारक और दारुण है, वही दूसरों के लिए प्रकाश और साधना का प्रतीक बन गया है अतः वह पुराने साधकों की तरह चित्त को निष्कम्प दीपक के समान एकान्त में स्थिर कर केवल अपनी आत्मा की स्थिरता प्राप्त नहीं करना चाहतीं अपितु जगत् के स्वार्थ, अन्याय, वितृष्णा, बन्धन और बाधाओं के अंधकार के बीच दीपशिखा कीं तरह जलना चाहती हैं—

यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो।

राजकुमार वर्मा में वास्तविक रहस्यवाद की सबसे कम आभा मिलती है। कवि की चेतना पद्धति-निर्वाह सा करती हुई चलती हैं। "यह तुम्हारा हास आया" में पद्धति-निर्वाह मात्र ही दिखाई पड़ता है, कवि की 'हृदयग्रन्थि' का स्वतः भेदन कहीं नहीं दिखाई पड़ता। अतः लौकिक भावनाओं और प्रकृति वर्णन में राजकुमार को अधिक सफलता मिली है—"मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ" जैसी पंक्तियों में महार्घता नहीं आ पाई है। हलकापन आ गया है।

परवर्ती छायावादी कवियों में तो रहस्य और सूक्ष्मता के विरुद्ध विद्रोह दिखाई पड़ता है। किन्तु 'बच्चन' की 'मधुशाला' कृत्रिम बन्धनों के विरुद्ध विद्रोह अवश्य प्रकट करती है। उसकी मदिरा, वाला, मदिराशाला आदि प्रतीकों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु कहीं-कहीं सूक्ष्म रहस्यमय अनुभवों की ओर 'बच्चन' के हालावाद में संकेत अवश्य मिलते हैं—

कल्पना सुरा औ साक़ी है, पीने वाला एकाकी है।
यह भेद हमें जब ज्ञात हुआ, क्या और समझना बाक़ी है ?

आत्यंतिक आनन्द की स्थिति ही यहाँ संकेतित हुई है, जिसकी प्राप्ति बाह्य आचार, विचार, थोथी नैतिकता आदि से नहीं हो सकती।

सारांशतः छायावादी कवियों का रहस्यवाद साधकों का वास्तविक न होकर सौन्दर्यमूलक, प्रकृतिमूलक तथा कल्पनामूलक रहस्यवाद है। उसमें स्वयंप्रकाश्य अथवा स्वतः स्फूर्त भावनाओं के स्थान पर कल्पना द्वारा देख गए "विज़न" और उसके साथ यत्र-तत्र प्रेम सम्बन्धों की अभिव्यक्ति की प्रधानता है। वस्तुतः आधुनिकयुग में आत्माभिव्यक्ति के लिए 'रहस्यवाद' भी एक माध्यम बनगया था। वह साध्य नहीं बना, जैसा कि प्राचीन काव्य में मिलता है। वहाँ

'कला' गौण थी, सौन्दर्य की सृष्टि गौण थी, यहाँ रहस्यमय अनुभूति 'कला' को एक विशेष आकर्षण दे देती है, प्रेम की अभिव्यंजना में भी रहस्य के स्पर्श से एक आकर्षण उत्पन्न हो जाता है, इसीलिए उसे अपनाया गया है। छायावादियों के रहस्यवाद में आत्मसमर्पण की मात्रा जो क्षीण दिखाई पड़ती है, उसका कारण यह है कि ये कवि 'व्यक्तिवादी' थे और 'व्यक्तिवाद' समर्पण का विरोधी होता है। वह 'साधना' और विश्वास के क्षेत्र में भी 'आत्मसत्ता' को सुरक्षित रखना चाहता है। वैष्णवों द्वारा मुक्ति के विरोध में इस उक्त छायावादी प्रवृत्ति का सादृश्य नहीं खोजा जा सकता क्योंकि वैष्णवों के यहाँ मुक्ति का स्वरूप ही भिन्न था और कवियों ने उसी का अनुसरण किया है। महादेवी किसी आचार्य के द्वारा निर्देशित सिद्धान्त का अनुसरण नहीं करतीं अतः उनके अपने 'अंसमर्पणवाद' में उनका अपना व्यक्तित्व बोलता है। बहुत जगह छायावाद में रहस्यभावना स्वाभाविक रूप में ग्रहीत हुई है। पन्तजी जब हिमालय पर्वत की महान अनन्तता के दर्शन करते हैं तब जिस 'सम्मोहन' और आश्चर्यजनक अनन्तता का अनुभव करते हैं, वह वस्तुतः 'रहस्यवाद' से बाहर की वस्तु है क्योंकि वैसा अनुभव सभी करते हैं, 'रहस्यवाद' तभी बनता है जब पारमार्थिक सत्ता में विश्वास के साथ उसके साथ प्रेम सम्बन्ध की अभिव्यंजना हो। समग्रतः 'रहस्यवाद' छायावादी काव्य की एक प्रवृत्तिमात्र है और इस प्रवृत्ति का सादृश्य योरोपीय स्वच्छन्दतावादी काव्य में प्राप्त रहस्यवादी प्रवृत्ति से अधिक है, योरोप के साधनात्मक रहस्यवाद से यह पूर्णतः भिन्न है।

वेदना और दुःख की व्यंजना—छायावादी व्यावहारिक जगत् से ऊबकर जिस 'मनोराज्य' की कल्पना करते हैं और उसमें विचरते हुए सुख, श्री, स्वतंत्रता आदि महत्तर अनुभूतियों का साक्षात्कार करते हैं, उस 'मनोराज्य' को छोड़कर जब कवियों का मन धरती पर विचरता था तब उसे व्यावहारिक जगत् में 'कल्पित जगत्' का आनंद न देखकर दुःख होता था। जितने आवेश से छायावादी कवि तात्कालिक समाज पर प्रहार करता है और उसका फल कुछ नहीं देखता तो "स्वभ्रान्तिनाश" के बाद दुःख स्वभाविक है। 'कल्पित राज्य' की स्थापना व्यावहारिक उपायों द्वारा हो सकती है परन्तु "जनभीरु", स्वप्ननिमग्न, सर्वदा "श्री शोभा और सौन्दर्य, में निमग्न कवि व्यावहारिक कार्यों की कटुता, कुत्सा और कष्ट को कैसे सह सकता था अतः वह समझता था कि केवल मानवीय मूल्यों की घोषणा, स्वप्न चित्रों की सुघर सृष्टि और बंधनों पर वाग्प्रहार से ही समाज बदल जाएगा। आशा के विपरीत समाज द्वारा अपनी गति न छोड़ने के कारण छायावादिवों में एक घुटन और अवसाद मिलता है।

राष्ट्रीय स्तर पर १९२१-१९२९ तक के राअनैतिक आन्दोलनो की असफलता की भी यह अभिव्यक्ति थी। सन् १९२९-४० तक राजनैतिक जगत् बहुत आशा-पूर्ण न था। सन् ३५ का कानून एक भ्रम के रूप में हमारे सम्मुख आया था। व्यक्तिगत परिस्थितियाँ भी छायावादी कवियों के दुःख में सहायक थीं। 'प्रसाद' का आर्थिक कष्ट भाई और पत्नी की मृत्यु, महादेवी का पति के जीवित होने पर भी "वैधव्य", पन्तजी का अविवाहित रहना, प्रियजनों का विछोह, और निराला की पत्नी और बाद में पुत्री 'सरोज' की मृत्यु, दारुण आर्थिक संकट, इस स्थिति में सर्वदा स्वप्नों और सुन्दर छवियों में मग्न रहना, कभी वास्तविकता का अनुभव न करना, यह असम्भव था।

अतः 'प्रसाद' ने तो 'वेदना की विवृति ' को ही आधुनिकता कहा और "करुणाकलित हृदय में विकल रागिनी" को उन्होंने ध्यान से सुना। नाटकों और काव्यों में सर्वत्र 'वेदना' के प्रति एक रोमानी प्रेम प्रसाद जी द्वारा व्यक्त हुआ है। वियोग में वह 'वेदना' वियोग की वेदना न रहकर एक अपना अलग रूप धारण कर लेती है। स्कन्दगुप्त के सम्मुख 'देवसेना' की 'आह' इसका प्रमाण है। निराला "निशीथ की नग्न वेदना और दिन की दम्य दुराशा" का वर्णन करते ही हैं। देवी को वह 'व्यर्थ साधनाभार' और 'विकल रोदन' ही अर्पित कर पाते हैं। सरोज-स्मृति' में तो कवि ऐसा लगता है जैसे विराट अश्वत्व अचानक वज्रपात से भग्न हो गया हो और एक दिगन्तव्यापी चीत्कार के साथ वह धराशायी हो गया हो। किन्तु निराला का दुःख सर्वत्र व्यक्तिगत न होकर सामाजिक भी है—'तरंगों' के प्रति कविता में कवि "दग्ध चिता के हाहाकार" और "अबलाओं की कितनी करुण पुकार" को भी सुनते हैं। वह तोड़ती पत्थर' और 'विधवा' के दुःख को भी देखते हैं, 'अधिवास' में में उन्होंने मनुष्यमात्र के दुःख को भी वाणी दी है।—

मैंने मैं शैली अपनाई
देखा एक दुखी निजभाई
दुख की छाया पड़ी हृदय में
झट उमड़ वेदना आई।

पन्त जी में दुःख और वेदना का रूप प्रारम्भ में प्रेम से सम्बन्धित दिखाई पड़ता है, 'ग्रन्थि' और 'उच्छ्वास', 'भावों' 'आँसू' आदि में यही रूप दिखाई पड़ता है। 'आँसू' में आकर कवि ने अपने दुःख का सामान्यीकरण भी किया है और उस दुःख को व्यापकता भी दी है। दुःख और स्वप्नवाद का द्वन्द्व भी प्रकट किया है—

हाय ! मेरा जीवन
प्रेम औ आँसू के कन !
आह मेरा अक्षय धन
अपरिमित सुन्दरता औ मन

'परिवर्त्तन' में कवि जगत् के दुःख की ओर आकर्षित होता है किन्तु पन्त जी मुख्यतः 'सौन्दर्य' और स्वप्नों के कवि हैं अतः उनमें अधिक समय तक स्वप्नों में निमग्न रहने की क्षमता है। जो करुणा के पात्र होने चाहिए थे उन ग़रीब पासी के "लड़कों" में भी वह सौन्दर्य ही देखते हैं। उनका दुःख प्रायः वियोग वर्णनों में मिलता है, जहाँ वह 'व्यक्तिवाद' की सीमाएँ तोड़ता हुआ, युग में व्याप्त दुःख का भी एक सीमा तक प्रतिनिधित्व करता है। "वैस्ट विंड" नामक कविता में जिस प्रकार शेली रो उठा है, उसी प्रकार छायावादी कवि स्थान-स्थान पर अपने और जगत् के दुःखों पर फफक उठते हैं—

एकाकीपन का अन्धकार, दुःसह है इसका मूकभार
इसके विषाद का रे न पार।

मानवतावाद—छायावादियों के निजी सुख दुःख में व्यापक 'मानवता' के लिए भी पर्याप्त अंश है, यह हम देख चुके हैं। द्विवेदी युग के हिन्दू पुनरुत्थानवाद के विरुद्ध छायावाद व्यापक मानवता के हित के लिए स्वप्न देखता है। उसमें एक ओर "वह तोड़ती पत्थर" के प्रति सहज करुणा है तो दूसरी ओर 'वासना' के स्तर से उठाकर नारी को सौन्दर्य और आराधना के स्तर पर प्रतिष्ठित किया गया है। 'नारी की महिमा' 'कामायनी' में पूर्णतः प्रतिष्ठत की गई है। इसके अतिरिक्त छायावादी कवि व्यापक प्रश्नों में दिलचस्पी लेता है। छायावाद का "विनयपरक काव्य" इस दृष्टि से द्विवेदीयुग मे अवसर मिलने वाले 'जातिवाद' से छायावाद को ऊँचा उठा देता है। निराला तथा पन्त जी की प्रार्थनाओं में प्रत्येक मनुष्य के लिए ज्ञान, प्रेम, सुख और स्वतंत्रता के लिए प्रार्थना की गई है। छायावादी 'प्रकृति' से जो नाना प्रेरणाएँ ग्रहण करते हैं, वे विश्व भर के लिए व्यक्त की गई हैं। पन्त जी ने 'मानव' ,शीर्षक कविता में इसी मानवतावाद को वाणी दी है :—

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर, मानव ! तुम सबसे सुन्दरतम।

इस कविता में मनुष्य की "यौवन ज्वाला" "मदिरा से भी मादक रक्तधार" "लावण्य लोक लोचन", 'नवयुग्मों का जीवनोत्सर्ग, 'असत् सत् का

विवेक', 'परस्पर प्रत्यय', "विज्ञान-ज्ञान का अन्वेषण" आदि मानवी प्रवृत्तियों का महिमागायन मिलता है। मध्ययुगीन निषेधवादिता यहाँ नहीं है। मानव की, उसकी समस्त दुर्बलताओं के साथ, स्वीकृति मानववाद की विशेषता है। 'जीवप्रसू' तथा "चींटी को देखो" जैसी कविताओं में पन्त जी ने मानवमात्र के लिए प्रेरणाएँ दी हैं। मैथिलीशरण गुप्त में जो 'हिन्दूवाद' मिलता है, उसका छायावाद में अभाव है। निराला में जो हिन्दूवाद मिलता है, वह सकीर्ण नहीं है। निराला मानव के "गगन-मगन मन में किरण-विचरण" पर ही बल देते हैं। उनका "तुम और मैं" मानवमात्र के लिए प्रेरक है। छायावाद का सर्ववाद—पदार्थमात्र में एक चेतना का दर्शन, मानवतावाद को पुष्ट करता है क्योंकि सर्ववाद जाति, वर्ण, राष्ट्र के कटघरों को स्वीकार कर नही सकता। रवीन्द्र ने जिस 'विश्वमानवतावाद' का प्रचार किया था, उसका छायावाद पर अवश्य प्रभाव पड़ा है। यह 'विश्वमानवतावाद' उद्धत राष्ट्रीयता के विरोध में चला जाता था किन्तु उसने तक सीमा एक हमारे राष्ट्र के प्रति अन्य राष्ट्रों में सहानुभूति भी उत्पन्न की है यानी अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को राष्ट्र के अनुकूल करने में "विश्व मानवतावाद' सहायक हुआ है। किन्तु 'निराला' के बादलराग में भारतीय जनता के समग्र उद्धार के लिए कम आक्रोश व्यक्त नहीं हुआ है। 'जागो फिर एक बार" में केवल हिन्दुओं को नहीं जगाया गया है, भारतवासी मात्र को भी जगाया गया है और गुरु गोविन्दसिंह के वीर व्रत का स्मरण किया गया है। 'राष्ट्रीयता' के युग में 'हिन्दूवाद' का 'राष्ट्रीयकरण' कर दिया गया है। 'शिवाजी का पत्र' में भी शिवास्तवन स्वतंत्रता सेनानी के रूप में है, मुस्लिम विरोधी शिवाजी के रूप में नहीं। बल्कि सच तो यह है कि शिवाजी के पत्र में साम्राज्यवाद का विरोध अधिक है—

साम्राज्यवादियों की भोग वासना में
नष्ट होंगे चिरकाल के लिये।
आयेगी भाल पर भारत की नई ज्योति,
हिन्दुस्थान मुक्त होगा घोर अपमान से
दासता के पाश कट जाएँगे।

उद्धत राष्ट्रीयता के समय, छायावाद औद्धत्य प्रदर्शन न कर राष्ट्रीयता को मानवतावाद पर प्रतिष्ठित करता है। चूंकि साम्राज्यवाद से दूसरे राष्ट्रों को कष्ट होता है अतः उसका विरोध मानवता की रक्षा के लिए किया गया है। साम्राज्यवादियों को भी 'मानवप्रेम' का पाठ गांधीजी पढ़ा रहे थे, विरोध करते समय भी 'शत्रु' से प्रेम करना उनकी नीति थी अतः छायावद में जाति, राष्ट्र

वर्ण, वर्ग आदि की सीमाओं को तोड़ता हुआ मनुष्य मात्र के प्रति प्रेम व्यक्त किया गया है, यही प्रवृत्ति योरोप रोमानी कवियों में थी। रोमानी कवि अपने देश के अतिरिक्त अन्य देशों की मानवता की मुक्ति के प्रति जागरूक रहे हैं।

छायावादी वर्ड्सवर्थ की तरह प्रकृति और मनुष्य दोनों से प्रेम करते हैं। वर्ड्सवर्थ की तरह छायावादी 'प्रकृतिप्रेम' से मानवप्रेम की ओर उन्मुख हुए हैं। अतः छायावादियों द्वारा सामान्य जनजीवन और सामान्य प्रकृति का का आदर्शीकरण उनके मानवप्रेम का प्रतीक है।

सामंतवादी व्यवस्था में उच्च वर्ग में दो प्रवृतियाँ दिखाई पड़ती हैं, एक अबाधित भोग और दूसरी कतिपय विद्वानों द्वारा जगत् का निषेध, यह अजब विरोधाभास प्रतीत होता है, पर है यह ऐतिहासिक सत्य! एक ओर जनता के क्रन्दन की चिन्ता न कर सुरा और सुन्दरियों का असीमित उन्माद और दूसरी ओर मानवीय जीवन के प्रति पूर्ण निषेधात्मक दृष्टि का प्रचार, जिसमें पूर्ण वैराग्य का उपदेश मिलता है—दोनों दृष्टियाँ मानव विरोधिनी थीं। पूँजीवाद के अभ्युदय काल में उत्पन्न छायावाद ने विलास के स्थान पर प्रेम—यहाँ तक कि "प्लेटोनिक" प्रेम का प्रचार किया और दूसरी ओर शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध और ऐन्द्रिक जगत् के सौन्दर्य को प्रथम वार खड़ी बोली में प्रतिष्ठित किया। 'पल्लव' इस दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण काव्य है। इसके अतिरिक्त छायावाद ने मध्यकालीन निषेधात्मकता को छोड़ कर ऐन्द्रिकता (Sensuousness in poetry) को वाणी देकर भी, उसी ऐन्द्रिकता को अतीन्द्रियता का प्रतिबिम्ब मात्र बताया अतः छायावाद न मनुष्य को संन्यासी बनाता है, न विलासी। मध्ययुगीन विरोधाभास पर यह उसकी विजय है।

छायावादी मानवतावाद का उच्चतम रूप जैसा कि कहा जा चुका है, 'मुक्ति' की अभिव्यंजना में है। 'मानव' भक्तिकाल की तरह न तो 'ईश्वर'

---

1. During this time the interest in mankind, that is, in man independent of nation, class, and caste which we have seen in prose, began to influence poetry. One form of it appeared in the pleasures the poet began to take in men of other nations than england., antoher form.....was a deep feeling for the lives of the poor.

English literatre—S. A. Brooake page 147

पर निर्भर रहना चाहता है, न वह कर्मवाद' के अनुसार यह मानता है कि पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार ही सब कुछ निश्चित है। छायावाद का 'मानवतावाद' यह मानकर चला है कि मनुष्य प्रत्येक क्षेत्र में 'स्वतंत्रता' प्राप्त कर सकता है और एक अभीप्सित समाज की रचना सम्भव है। उसकी दृष्टि सर्वत्र इसी "महत्तम मानव मूल्य" पर केन्द्रित होकर चली है अतः छायावाद धार्मिक आन्दोलन न होकर, दार्शनिक या सैद्धान्तिक आन्दोलन है जो 'बुद्धिवाद' को स्वीकार करता है किन्तु साथ ही 'बुद्धि' के साथ श्रद्धा और विश्वास की भी उपेक्षा नहीं करता। यदि मनुष्य 'मनुष्य' बन सके तो सब कुछ सम्भव है।[1] छायावाद 'सौन्दर्य' 'सत्य' और 'शिव' के समन्वय पर सर्वत्र बल देता है। पन्त जी प्रज्ञा के सत्य-स्वरूप, हृदय के प्रणय और लोक सेवास्वरूप 'शिवत्व' को एक ही तत्व मानकर चले हैं। रवीन्द्रनाथ ने 'सौन्दर्य' को विलास नहीं, मंगल माना है। महादेवी सौन्दर्य और शिवत्व की तुलना में प्रायः 'शिवत्व' को अधिक महत्त्व देकर चली हैं।

वह 'पल्लवों' पर हँसते, हिलते हिमहीरक और दुःखी व्यक्तियों के "आँसू कन" के दर्शन में आँसुओं की ओर ही झुकती हैं। वह अनन्त नभ की दीवाली को देखती हैं परन्तु किसी कुटिया के निर्धन-दीपक को नहीं भूलतीं। इंग्लैंड के रोमानी कवियों पर चाहे 'मेथौडिस्ट' चर्च के कारण ग़रीबों के प्रतिप्रेम उत्पन्न हुआ हो किन्तु हमारे यहाँ कवियों ने 'प्रकृति' के साथ मनुष्य की दुर्दशा को खुली आँखों देखा था अतः उसकी मुक्ति के लिए मध्यकालीन भक्तों और योगियों की तरह छाबावादी केवल 'विनय' और योग की शिक्षा न देकर 'विद्रोह' की शिक्षा भी देता है' यद्यपि यह स्पष्ट नहीं कि इस विद्रोह का स्वरूप क्या होगा ?

अतीत के प्रति प्रेम—वर्तमान से असंतुष्ट कवि सर्वदा अतीत के वैभव के गीत गाता है। वह अतीत को एक इतिहासज्ञ और समाजशास्त्री की दृष्टि से नहीं अपितु उसको वह हृदय में असीमित श्रद्धा भरकर देखता है। वर्तमान के प्रति असंतोष के बावजूद, भावी समाज की स्पष्ट मूर्त्ति न होने के कारण वह अतीत का आदर्शीकरण करता है और अतीत के "बर्बर" समाज को आदर्श मान बैठता है। यह प्रवृत्ति शेली, कीट्स, बायरन आदि कवियों में मिलती है। हमारे क़वियों ने भी अतीत के गीत गाए हैं जो एक ओर साम्राज्यवाद के विरोध में पड़ने के कारण प्रगतिशील बन जाते हैं किन्तु साथ ही आर्य समाजियों

---

१. क्या कभी तुम्हें है त्रिभुवन में, यदि बने रह सको तुम मानव —पन्त

द्वारा पुनरुत्थान की प्रवृत्ति प्रतिक्रियावादी रूप भी धारण कर लेती है। प्राचीन का अंधानुकरण नई व्यवस्था में चल नहीं सकता था। छायावाद आर्य समाज की तरह अंधानुकरण पर बल नहीं देता परन्तु 'अतीत' के प्रति उसमें 'बुद्धिहीन आवेश' अवश्य है—

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल।
भूतियों का दिगन्त छवि जाल।
ज्योति चुम्बित जगती का जाल ! —पन्त

निराला ने 'यमुना' के 'प्रति' कविता में "अतीत के गौरवकागान" का विस्मरण नहीं किया है। परिमल की अंतिम कविता 'जागरण' में भी अतीत का आदर्शीकरण मिलता है—

प्राङ्गणविभूति का बालिका की क्रीड़ाभूमि
कल्पना की धन्यगोद
सभ्यता का प्रथम विकास स्थल
धवल पताका देवत्व की
ज्योतिर्मात्र, अशरीर चिर अधीरता पर
विजय गर्व से चढ़ती हुई, व्योम पथ पर
सोऽहम् का शान्त स्वर।
भरा हुआ प्रतिमुख में·····
पावन वह वनभूमि।

'प्रसाद' ने नाटकों तथा काव्यों में प्राचीन भारत को बड़ी लालसा से देखा है। इस प्रकार छायावादकी यह प्रमुख प्रवृत्ति है जो पूँजीवाद के अभ्युदय-काल में बढ़ती है और हमारे देश में साम्राज्यवाद के कारण और भी बढ़ी।

व्यक्तिवाद—उपर्युक्त प्रेम, अलौकिक प्रेम, दुःखवाद मानवतावाद तथा अतीतप्रेम आदि छायावादी प्रवृत्तियों में छायावादियों का व्यक्तिवाद स्पष्ट दिखाई पड़ता है। छायावाद में मानवता की पीड़ा, परतन्त्रता और विवशता के विरुद्ध एक तीव्र भावावेश मिलता है किन्तु प्रयत्नहीनता के कारण वह जैसे छटपटाहट, वेदना, टीस और कष्टदायक कुरेदन में बदल जाता है। एक ओर रोमांटिक कवि क्रान्ति का आवाहन करता है, दूसरी ओर प्रेम के उन्मुक्त गीत गाता है, प्रेम की प्रतिमा नारी को वह दिव्य, स्वर्गीय ही नहीं, उससे भी उच्चतर सत्ता समझता है। उसके सौन्दर्य को कौतूहल, विमुग्धता और भावावेश से देखता है, इस दृष्टि की प्रतिक्रिया स्वरूप जीवन-संघर्ष से विलगाव की चाह

को भी व्यक्त करता है। मनुष्य पर किसी भी प्रकार के बन्धन को वह असहनीय और हानिकर समझता है अन्याय और विसादृश्य के विरुद्ध उसमें एक प्रलंयकर विद्रोह उत्पन्न हो जाता है। किन्तु जीवन और जगत् के सम्बन्धों के प्रति उसका दृष्टिकोण घोर आदर्शवादी अतः एकाङ्गी रहता है। अव्यावहारिक आदर्शवादिता का परिणाम एकांगिता होता ही है और उसके परिणामस्वरूप 'पलायनवाद' का जन्म होता है। नियमों के विरुद्ध आवेश की यह प्रतिक्रिया इतनी प्रचण्ड, मनोरम और असंयत होती है कि रोमानी कलाकार सामाजिक सम्बन्धों की स्पष्ट व्याख्या न कर सकने के कारण सारे विश्व के विनाश का आवाहन करता है।[1] हमारे यहाँ बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र, दिनकर, पन्त, निराला सभी कवियों में यह प्रवृत्ति मिलती है।

रोमानी कवि को प्लेटो, शंकराचार्य आदि के हवाई विचार शांति देते हैं। वह प्रकृति के पीछे सर्वचेतन सत्ता का अनुभवकरता है। अपना हृत्स्पन्दन सुनकर चौंकता है। क्षितिज के पार जाना चाहता है, कल्पना के धौरहरों पर वह भावना के भवन खड़े करता है, उसमें निश्छलप्रेम के झूले डालकर झूलता, सुमनों के कटोरों से मधुपान करता, ज्योत्स्ना में स्नान करता, कल्पवृक्ष की छाँह में बैठता और मधुपरियों से विहार करता है! रोमांटिक कवियों का यह संसार मनोरम किन्तु परिणाम में 'विषादजनक' होता है क्योंकि उसकी दृष्टि व्यक्ति-वादिनी होती है। वह केवल वैयक्तिक आक्रोश और शुभकामनाओं को ही 'क्रान्ति' के लिए पर्याप्त मानता है, यही 'व्यक्तिवाद' है। वह 'स्मृति' के स्थान पर 'विस्मृति' जागरण के स्थान पर 'नींद' और "नश्तर" के स्थान पर "संहलाव" को अधिक पसन्द करने लगता है। कला का स्तर ऊँचा होता है, यहाँ तक कि उसकी भंगिमा अत्यधिक उच्च होता जाती है जो जनता के सामान्य स्तरों के काम की नहीं रह जाती है। रोमानी कवि अपने "अहं" में ही निमग्न रहने लगता है—"मैं" कला का केन्द्र हो जाता है। छायावाद में बहुत कुछ "मैं" की अभिव्यक्ति है (मैंने "मैं" शैली अपनाई—'निराला') कवि प्रायः अपने ही राग, विराग, आशा आकांक्षाओं केचित्रण को ही पर्याप्त समझता है। वह जानता है—वासना है, मेरा 'मैं' तड़प रहा है, परन्तु 'क्यों" इसका उत्तर स्पष्ट न होने से वह और भी अंतर्मुखी होता जाता है अतः वेदना को ही शाश्वत समझकर उसे चित्रित करता रहता है। यह अहंवाद छायावाद की एक प्रमुख प्रवृत्ति है।

---

१. "एक बार बस और नाच तू श्यामा", "बादल राग", (निराला)
"झरते जगत के जीर्णपत्र", "गा कोकिल बरसा पावक कण" —पन्त

'व्यक्तिवादी' की क्रान्ति वैयक्तिक, 'स्वप्न' वैयक्तिक, सौन्दर्य वैयक्तिक, भाषा वैयक्तिक, नैतिकता वैयक्तिक और अभिव्यक्ति वैयक्तिक होती है। भारतवर्ष के प्राचीन विराट् साहित्य में सबको मिलाकर भी इतना 'अहं' नहीं मिलता जितना अकेले छायावाद में मिलता है ! परवर्ती छायावाद में तो "मैं" चरम सीमा पर पहुँच जाता है और ये कवि अपनी विशिष्ट मानसिक स्थितियों की ही घोषणा करते फिरते हैं। प्रसाद, पन्त, निराला, और महादेवी की अपनी-अपनी "निजता" है उसे वे दूसरों से श्रेष्ठ समझते हैं।' इन कवियों की भूमिकाओं को पढ़िए, यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा। काव्य 'व्यक्ति' की सृष्टि है, यह सत्य है परन्तु 'व्यक्ति' जब कोटि-कोटि जनता की भावनाओं को वाणी नहीं देता तब वह 'व्यक्तिवाद' कहलाता है—छायावाद में एक अंश ऐसी रचनाओं का है जिसमें 'सामान्य' जन की भावना को वाणी मिली है किन्तु एक अंश ऐसा भी है जो सामान्य जन के लिए सुलभ नहीं है, क्योंकि कवि "पैगम्बरी मुद्रा" में बोलता है। जब पन्त कहते हैं कि प्रकृति के आगे बालजाल में लोचन नहीं उलझाएँगे तो यह बात साधारण जन की समझ के परे हो जाती है, एक मामूली वस्तु को देखकर कल्पना के बल पर जो छायावाद में आस्फालन हुआ है, वह भी काव्य को "अत्यधिक उच्च" बना देता है। नारी और प्रेम का आदर्शीकरण भी सामान्य धारणा के विपरीत पड़ता है। अत्यधिक लाक्षणिक शैली 'वर्ण्य' को और भी दुरूह बना देती है। समर्पण के क्षणों में भी अपने 'व्यक्तित्व' की रक्षा का प्रयत्न भी विचित्र लगता है। अपने को बहुत अधिक महत्त्व देने की प्रवृत्ति, एकान्तवास, जनभीरुता, व्यावहारिक उपायों का अभाव, समाज के क्रान्तिकारी वर्गों के संगठन द्वारा स्वप्नों की उपलब्धि के प्रतिउपेक्षा आदि ने 'व्यक्तिवाद' को पुष्ट किया है। 'क्षितिज के उस पार' देखने की कामना उसे और मजबूत करती है।

हम कह चुके हैं कि सामंतवादी समाज की मान्यताओं के विरुद्ध यह व्यक्तिवादी क्रान्ति अनिवार्य और अभीप्सित थी। ऐतिहासिक दृष्टि से यह कार्य 'प्रगतिशील' था फिर "छायावाद' हमारे देश में पूँजीवाद के अपूर्ण विकास की स्थिति में उत्पन्न हुआ था। राष्ट्रीय संग्राम साथ-साथ चलने के कारण उसमें 'व्यक्तिवाद' ही नहीं है और भी स्वर हैं परन्तु उसमें व्यक्तिवाद भी है, इससे कौन इनकार कर सकता है—इस व्यक्तिवाद ने ही रीतिकाल की 'रुचि' और क्लासीकल मान्यताओं के विरुद्ध शंखनाद किया, जो 'पल्लव' की भूमिका में स्पष्टतः वर्णित है। इसी व्यक्तिवाद ने द्विवेदीयुग के स्थूल आचारवाद के विरुद्ध क्रान्ति की। इसी ने भाषा, भाव, छन्द, वर्ण्य विषय सबमें परिवर्त्तन कर

दिया। इसी ने 'विश्वमानववाद' की प्रतिष्ठा की, इसी ने 'नए मसीहा' उत्पन्न किए जिन्होंने जनता से दूर खड़े होकर प्रकृति और प्रेम के उन्मुक्त गीत गाए और नई सामाजिक व्यवस्था—पूंजीवाद के अनुकूल मानव मूल्यों की सृष्टि की।

छायावादी शैली—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उक्त प्रवृत्तियाँ "वर्ण्य विषय" से सम्बन्धित हैं। अतः छायावाद को मात्र "शैली" समझना भूल है। यदि पुरानी शैली में भी उक्त नवीन दृष्टिकोण को व्यक्त किया गया होता तो भी वह 'छायावाद' रहता। अभिधा की जगह लक्षणा अपना लेने से ही काव्य में नया युग नही आगया। नयायुग नए दृष्टिकोण से आता है। "प्लेखानव" का कथन स्मरण रखना चाहिए कि काव्य का आकर्षण 'विचार' में होता है और विचार 'नएभाव' को जन्म देता है जिसकी व्यंजना नई उपमाओं और मूर्त्तियों में होती है। हम समझते हैं कि नई मूर्त्तियाँ, उपमान और नई युक्तियाँ हमें प्रभाबित करती है जब कि असलियत यह है कि हम पर प्रभाव नए विचारों और तदनुरूप नए भावों का होता है। शैली 'वर्ण्य' को प्रेषित करने का माध्यम मात्र है अतः छायावाद मात्र नवीन शैली नहीं, जीवन और जगत के प्रति नवीन दृष्टिकोण का नाम था। तभी छायावाद एक नवीन 'रुचि' का विकास कर सका। छायावाद ने रीतिकाल और द्विवेदीयुग को अपदस्थ कर दिया। यह सफलता उपर्युक्त नवीन विचार और भाव के कारण ही सम्भव हुई थी।

कल्पना का अतिरेक—छायावाद में भावावेग से भी अधिक कल्पना का प्रयोग हुआ है। 'कल्पना' पदार्थ को प्रत्यक्ष करने वाली मानसिक शक्ति (Perception) से भिन्न है, क्योंकि इसमें इन्द्रियजन्य अनुभव से अधिक स्वतन्त्रता होती है। कल्पना 'स्मृति' से भी भिन्न होती है क्योंकि 'स्मृति' केवल पूर्व अनुभव को रक्षित करने वाली शक्ति है, जबकि कल्पना नूतन उपलब्धियों में भी समर्थ शक्ति है। कल्पना 'भाव' से भी भिन्न है क्योंकि कल्पना 'शक्ति' है, भाव 'क्षोभ' का नाम है। कल्पना 'अभिज्ञा' (Understanding) शक्ति से भी भिन्न है क्योंकि कल्पना विभिन्न मानसिक अनुभवों को समेट कर चलती है और साथ ही अपना अलग अस्तित्व भी रखती है जबकि 'अभिज्ञा' जो सम्मुख है, उसी आधार पर कार्य करती है। कल्पना इच्छाशक्ति (will) से भी भिन्न होती है क्योंकि इच्छा शक्ति मानसिक शक्तियों की नियामिका शक्ति है जबकि कल्पना मानसिक जगत् की सम्राज्ञी है जो सर्वतंत्र स्वतन्त्र होकर भी चल सकती है।[1]

---

१. एच० बी० अलैक्जेंडर।

अलैक्जैंडर के उक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि 'कल्पना' के बिना संकुल मानसिक आन्दोलन को अभिव्यक्ति नही मिल सकती क्योंकि रूपविधान, शब्दचयन, पात्र- परिस्थिति-सृष्टि, चेतना के नूतन स्तरों का साक्षात्कार तथा दूसरों के अनुभवों का अनुमान कल्पना के बिना असम्भव है।

शेली ने कविता को इसीलिए 'कल्पना' की अभिव्यक्ति कहा था। वर्डसवर्थ ने 'भावोद्गार' पर अधिक बल दिया है परन्तु उसके "शांतिमय क्षणों" में पुनर्स्मरण (Recollection) के कार्य में 'कल्पना' का योग अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार कर लिया गया है। सबसे अधिक 'महत्त्व' कल्पना को 'कॉलरिज' के द्वारा मिला है। छायावादी रचना-विधान वस्तुतः कल्पना के चमत्कार पर ही अधिक आधारित है।

जर्मन दार्शनिक कांट ने 'ज्ञान' (Reason) को निरपेक्ष बताया था। रोमानी कवि यह मानते थे कि जो कार्य 'ज्ञान' नहीं कर सकता, उसे 'कल्पना' कर सकती है। इस अर्थ में 'कल्पना एक प्रकार की स्वतन्त्र अन्तर्दृष्टि कहलाएगी इस अन्तर्दृष्टि का ज्ञान अपने आनन्दमय रूप में प्रकट होता है (Reason in her most exalted mood) यही कारण है कि रोमांटिक और छायावादी कवि 'परमसत्ता' का भी 'कल्पना' द्वारा ग्रहण सम्भव मानते हैं। कल्पनात्मक दृष्टि से जगत् को देखने से छायावादियों को चारों ओर आनन्द और सौन्दर्य के दर्शन हुए। 'कल्पना' को 'दिव्यशक्ति' मान लेने के कारण यह भी माना गया कि दिव्य सत्ता कवि को उत्तेजित करती है और इस स्थिति में आयास के बिना ही गीत निःसृत होने लगते हैं! तभी कल्पना, दिव्य प्रेरणा, स्वयंप्रकाशज्ञान अथवा अन्तर्दृष्टि शब्द एकार्थक होकर रोमानी कवियों में प्रयुक्त हुए हैं। अतः 'कल्पना' केवल रूपविधायकशक्ति न होकर रोमानी कला का 'सर्वस्व' बन गई है।

कालरिज ने 'कल्पना' की दार्शनिक व्याख्या की है। कल्पना का अर्थ विभिन्न तत्त्वों को रूप देकर 'एक' में बदलना है (To shape into one) कल्पना उसके अनुसार ऐन्द्रिक बोध और बुद्धि के मध्य की शृङ्खला है। चेतन आत्मा विषय और विषयी, दृश्य ओर द्रष्टा, ज्ञेय और ज्ञाता, सीमित और असीमित तथा पदार्थ और चेतना को सम्मिलित और समीकृत करती हुई चलती है। कल्पना शक्ति द्वारा ही परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले तत्त्व एक हो जाते हैं, पदार्थ और चेतना की एकता 'कल्पना' द्वारा ही होती है। अनन्त सत्ता अपने को जड़ जगत् और चेतना के रूप में प्रस्तुत करती है अतः अनन्त सत्ता

सीमित भी है और असीमित भी। चूंकि इस 'समन्वय' का बोध—पदार्थ (Matter) और चेतना की एकता 'कल्पना' से ही ज्ञात होती है अतः 'कल्पना' के द्वारा हम 'ईश्वर' को भी जान सकते हैं। क्योंकि 'प्रकृति' वस्तुतः ईश्वर की 'कला' है। अतः प्रकृति और चेतना में आत्यंतिक विरोध नहीं है।

ईश्वर प्रकृति की रचना करता है और कलाकार की चेतना (जो 'ब्रह्म' का ही अंश है) प्रकृति का पुनर्सृजन करती है। ईश्वर और आत्मा इस प्रकार दोनों कलाकार हैं। कल्पना पदार्थ का आदर्शीकरण और एकीकरण द्वारा पुनर्सृजन करती है। इस प्रकार कल्पना पदार्थ और मन के मध्य की दीवाल को गिरा देती है अतः 'दर्शन' (Philosophy) की उलझन यहाँ नहीं रहती। वह बाह्य को आंतरिकता देती है, आन्तरिकता को बाह्यता देती है, और जड़ प्रकृति को चेतन बनाती है, यही प्रतिभाशाली कलाकार का रहस्य है जो ललित कलाओं में दिखाई पड़ता है। जिस तरह प्रकृति ईश्वर का रूपायित विचार (Externalized Thought) है उसी तरह 'कलाकार' अपने को 'कला' में रूपायित करता है। प्रकृति में ईश्वर की कल्पना क्रियाशील रहती है, इसी तरह 'कला' में कवि की कल्पना क्रियाशील रहती है।

इसी महान कल्पना के द्वारा योरोपोय रोमानी कवियों की तरह छायावादियों ने द्विवेदी युग की तरह प्रकृति की अनुकृति न करके 'नूतन सृष्टि' की है और पदार्थ और मन के मध्य की दीवाल को गिराने का प्रयत्न करते हुए सर्वत्र परमार्थिक सत्ता का आभास देखा है। छायावादी अपने को अपनी सृष्टि का 'विधाता' मानता है, अतः 'कल्पनावाद', रचनाविधान के क्षेत्र में उसके 'व्यक्तिवाद' को पूर्णतः स्पष्ट कर देता है। 'सर्वतंत्र स्वतंत्र' कल्पना के बल से वह दिगन्त तक फैले हुए बहुविध जगत् से नाना नए रूप चुनता है, पार पहुँचने की चेष्टा करता है और पदार्थ को भेद कर उसके मर्म को जानने का भी प्रयत्न करता है। यह मर्मभेदनी प्रज्ञा दिशा, काल के बंधनों के परे जाने वाली 'शक्ति' 'कल्पना' ही है।

कल्पना' की अनन्त शक्ति का विश्वासी छायावादी इसीलिए प्राचीन नियमों को नहीं मानता, वह 'स्वतंत्र' और "निजीसृष्टि" में विश्वास रखता है। १९वीं, २०वीं शताब्दी के किसी भी साहसी पूँजीपति से कम 'साहस' और 'कल्पना शक्ति' पूँजीवाद के प्रारम्भ में जन्म लेने वाले कवियों में नहीं दिखाई पड़ती। दोनों पुरानी व्यवस्था की जगह नए समाज, एक नए सौन्दर्य,

एक नए स्वप्न की रचना चाहते हैं। अतः सर्वत्र 'स्वतंत्रता' की पुकार 'कल्पना' शक्ति से घनिष्टतः सम्बन्धित है।

कल्पना के द्वारा प्रसाद, निराला और पन्त ने प्रकृति की जड़ता को दूर किया, उन्होंने 'प्रकृति' को चेतना दी और चेतना का प्रकृति से सम्बन्ध पुनः स्थापित कर दिया जिसे मायावादियों ने छिन्न-भिन्न कर दिया था। छायावाद ने आत्मवाद पर बल दिया है, जगत् के मिथ्यात्व पर नहीं। 'कल्पना' के द्वारा ही 'प्रकृति' को देखने के कारण वह 'नारी' से भी अधिक सुन्दर लगी। यानी कल्पना ने 'वासना' पर विजय प्राप्त की। अंतर्दृष्टि सदैव मूल प्रवृत्तियों की "अनुशासिका" बनती है! निराला 'जुही की कली' में मानवीय और दिव्य व्यापार देखने लगे। पन्त जी 'पल्लवों' को "विश्व पर विस्मित-चितवन डालने वाले अधरों" के रूप में चित्रित करने लगे। पल्लवों को पन्तजी ने "कल्पना के विह्वल बाल" ठीक ही कहा है।

दिगन्तव्यापी कल्पना के कारण ही प्रकृति अपना सौन्दर्य कवि के सम्मुख स्फुटित करने लगी। 'ऐंचीला भ्रूसुर चाप खींचने वाली और हरियाली-दुकूल हिलाने वाली, झरनों के हार और चपला के पलकों वाली पर्वतीय सुषुमा काव्य में साकार होने लगी। कल्पना का सर्वाधिकअतिरेक पन्त जी में ही मिलता है। वीचियों को यतिगतिहीन गूढ़ साँस, शैशवस्मिति, वारिबेलि, बिना नाल के फेनिल फूल, छुईमुई सी, स्वर्णस्वप्न, मधुरवेणु, मुग्धा, इच्छा, दिव्यमूर्त्ति, सिन्धुगिरा, वारिपरी, किरण-दोल, चाँदी का चुम्बन, खेल मिचौनी, सुधि, अकूल की हास, पुलकित श्वास जैसी नाना उपमाएँ देते हुए कवि नहीं थकता, न उसकी कल्पना शक्ति श्रान्त होती है। छाया, तारा, अनंग, अप्सरा, नौका-विहार, गंगा, बादल आदि रचनाओं में कवि 'भाव' से आन्दोलित न होकर केवल कल्पना के द्वारा नाना रूप प्रस्तुत करता है। इससे प्रकृति और चेतना की एकता स्थापित हुई है और दूसरी ओर कोमल भव्य और चित्रों की चित्रशाला भी प्रस्तुत हुई है। पन्त ने निश्चित रूप से 'कल्पना का इन्द्रजाल" प्रस्तुत किया है और जहाँ-जहाँ इन्द्रजाल है, वहाँ कल्पना 'भाव' द्वारा अनुशासित संशोधित और सीमित नहीं है, जैसा कि 'रसवादी' काव्य में मिलता है। जहाँ 'कल्पना' भाव से शोभित की गई है, वहाँ "उच्छ्वास" जैसी रचनाओं की सृष्टि हुई है। 'गुंजन' के चित्रणों में कल्पना का 'इन्द्रजाल' है और मननात्मक कल्पना है, न कि भावना। वहाँ कवि के नए विचारों का आकर्षण है। 'ज्योत्स्ना' की रचनाओं में कवि ने कल्पना के बल पर नूतन और अद्भुत सृष्टि का निर्माण किया है जो अवास्तविक होने पर भी 'वास्तविकता' को प्रभावित करती

है। 'ज्योत्स्ना' में फैंसी या "ललित और निरपेक्ष कल्पना" का रूप अधिक व्यक्त हुआ है। 'फैंसी' में काल और दिक् का बन्धन नहीं रहता, कल्पना में रहता है। रस्किन ने कहा है, कल्पना ऐसी अंतर्दृष्टि का नाम है जो पदार्थ के मर्म को पकड़ती है और भीतर से बाहर की ओर—मर्म से छिलके की ओर कार्य करती हुई बढ़ती है जब कि फैंसी मुक्त विलास करती है और पदार्थ के मर्भ की ओर उन्मुख नहीं होती।[1] 'ज्योत्स्ना' ऐसी ही एक फैंसी या ललित कल्पना है।

पन्तजी ने 'कल्पना' और 'फैंसी' का प्रायः साथ-साथ प्रयोग भी बहुत किया है। किसी मामूली चीज़ को लेकर पन्तजी का मन दिवास्वप्नों में अधिक डूबता है यद्यपि उसकी 'उड़ान' में लालित्य का सर्व ध्यान रखा गया है। इसीलिए वह द्विवेदीयुग के बाद कल्पना द्वारा 'वशीकरण' में अधिक सफल हुए हैं।

निराला में 'कल्पना' और अधिक फैंसी का प्रयोग बहुत कम मिलता है। इसके सिवा उनकी 'कल्पना' सर्वत्र 'भाव से शोधित' है। भावशोधित कल्पना का रूप 'तरंगों के प्रति' और उससे भी अधिक 'यमुना के प्रति' में अधिक दिखाई पड़ता है। यमुना के प्रति में कवि की कल्पना सुदूर अतीत का गर्भ चीरती हुई सुन्दर चित्रों को पकड़कर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करती है फलतः वह वर्तमान की दुर्दशा को भी व्यजित कर देती है। 'गीतिका' के गीतों में 'लघु कल्पना चित्र' अधिक मिलते हैं। जिन्हें "कल्पना की कंजूसी" के कारण कवि ने प्रायः अस्फुट रखा है। पन्त कल्पना का अपव्यय करते हैं किन्तु निराला में कल्पना का संयम है, इतना अधिक कि चित्र स्पष्ट नहीं हो पाता "कौन तम के पार रे कह" में भी यही दोष है। 'राम की शक्ति पूजा' में कल्पना की अनन्त दौड़ दिखाई पड़ती है और 'तुलसीदास' में "विज्ञन" अत्यधिक मार्मिक है। जिसे 'मर्मोद्‌घाटक कल्पना' कहते है, वह इन दोनों कृतियों में सर्वोच्च रूप में प्रकट हुई हैं पन्त जी में मर्मोद्‌घाटिका शक्ति की कमी है, वह 'उड़ान' अच्छी भरते हैं और सादृश्य-विधान भी अच्छा करते हैं।

---

1. The name of Imagination, he applied, to the insight which seizes the heart of a matter and works from within outwards, while Fancy.....luxuriates in detail without ever piercing to the core—History of Aesthetic—B. Bosanquet, page 458

'प्रसाद' में भव्य सादृश्य-विधान के अतिरिक्त कल्पना बाह्य को आन्तरिकता और आन्तरिकता को बाह्यता देने में अधिक प्रवृत्त हुई है। प्रसाद की सबसे बड़ी उपलब्धि मनोवृत्तियों, गुणों और अन्तः प्रवृत्तियों के चिन्मयीकरण में है। वस्तुतः मानवीकरण की जगह 'चिन्मयीकरण' शब्द का प्रयोग छायावाद के पक्ष में अधिक सार्थक लगता है। पन्त जी की तरह दिक् काल से रहित आनन्दभूमि की कल्पना में प्रसाद जी को सफलता प्राप्त हुई है। जगत् के बाह्य संघर्षों, जीवन के आन्तरिक क्षोभों और आत्मा की ऊँचाइयों की कल्पना द्वारा एकता अथवा सामरस्य में प्रसाद हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। निराला की तरह कल्पना प्रसाद में 'भाव' से शोधित दिखाई पड़ती है। 'आँसू' में भावा वेग की ही प्रबलता है वहाँ स्मृति में मधुर क्रीड़ाओं और सौन्दर्य के मादक रूपों कीं झलक मारती हुई भंगिमाएँ अधिक हैं, जिनमें 'कल्पना' की ही सहायता ली गई है। दुहरी शिथिल शिंजिनी, मणि वाले फणियों के हीरों से भरे हुए मुख, परिरम्भ कुम्भ की मदिरा आदि चित्रों की तथा छवियों की समष्टि कल्पना द्वारा ही सम्भव हो सकी है। कामायनी में कल्पना द्वारा आदिम कालीन मानव के पिता और आदिजननी तथा उनके संघर्षो, अन्तर्द्वंद्वों, मूल-प्रवृत्तियों आदि फा मानवीकरण और अन्य में उनकी एकता कल्पना द्वारा ही रूपायित की गई है।

महादेवी का रहस्यमय प्रेमी कल्पना का परिणाम है। उसकी प्रकृति में झलक और प्रकृति की सुषुमा का चित्रण भी कल्पना के द्वारा ही हुआ है जब कि उस रहस्य के प्रति आत्मनिवेदन में महादेवी ने 'कल्पना' का भाव द्वारा शोधन अधिक किया है। निवेदन में एक तटस्थता बरतने के कारण महादेवी में पन्त जी की "भादों की भरनि" जैसे उद्गार नहीं मिलते, न उनकी कल्पना में आस्फालन ही मिलता है किन्तु साथ ही महादेवी में अन्तर्दृष्टि की वह विराटता नही मिलती जो निराला और उससे भी अधिक प्रसाद में मिलती है।

'कल्पना' के द्वारा सादृश्यविधान, उपमानों की अजस्र वर्षा पुराने काल में भी मिलती है। दरबारी काव्य में कल्पना का प्रयोग बहुत अधिक मिलता है किन्तु वहाँ वह पदार्थ के लिए ललित सादृश्य न खोज कर गूढ़ अनुमानों अथवा दूर की कौड़ी लाने की ओर अधिक प्रवृत्त हुई है। इसके सिवा प्रकृति के प्रति वास्तविक प्रेम का वहाँ अभाव दिखाई पड़ता है। पुराने कवि मनुष्य में अधिक दिलचस्पी रखते थे अतः छायावादी कल्पना के बल पर एक नूतन काव्य की सृष्टि कर सका है क्योंकि वहाँ 'प्रकृति' एक स्वतन्त्र विषय बन गई है।

जहाँ प्रकृति कवि के राग का माध्यम बनी है, वहाँ पुराने काव्य से छायावाद अधिक निकटता प्रदर्शित करता है। कल्पना के द्वारा जिस नवीन दृष्टि से प्रकृति को देखा गया, वह 'छायावाद' को पुराने काव्य से अलग कर देती है।

गीति और भाषा—'भाव' के स्थान पर कल्पना का अतिरेक और प्रबन्ध काव्य के स्थान पर केवल गीतियों का प्रयोग छायावादी रचना विधान को विशिष्ट रूप देता है। कालरिज ने "छन्दोवद्धता की पूर्ण मधुरता" (Perfect Sweetness of Versification) पर बल दिया था। छायावाद ने रोमानी कवियों की तरह ही गीतियों को अपनाया। गीतियों में गेयता के लिए संगीतात्मकता और भाव की मधुरता आवश्यक थी। प्रेम और सौन्दर्य का गायन इसीलिए गीतियों में अधिक कामयाब हुआ। चित्रण के लिए अन्य छन्दों का आविष्कार किया गया। मधुरता के लिए सर्वत्र कोमल कान्त पदावली का प्रयोग किया गया। निराला ने वैदिक छन्दों का प्रयोग किया और 'तुकवाद' को समाप्त कर दिया। आंतरिक नाद सौन्दर्य और आंतरिक लय के द्वारा मात्राओं के निमयों की अवहेलना की गई। पन्त जी ने कहा कि भाषा 'नाद' का चित्र है। ब्रज भाषा का अनुप्रासविधान पन्त जी को 'रक्तमांस हीन' लगने लगा। 'तरनि' शब्द उन्हें ऐसा लगा जैसे 'तरणि' को ग्रहण लग गया हो। "भाषा के प्राण" चिरकाल से क्षयरोग से पीड़ित तथा निःशक्त होकर अब "प्रान" कहे जाने योग्य रह गये।" इसी प्रकार "पत्थर" से "पाहन", 'स्थान' से 'थान' जैसे शब्दों का प्रयोग पन्त जी को श्रीहीन लगा, इसी प्रकार "कहत", "लहत", "हरहु", "भरहु" उन्हें ऐसे लगे जैसे शीत या अन्य किसी कारण से मुँह की पेशियाँ ठिठुर गई हों। मतलब यह कि नए संस्कार खड़ी बोली के शब्दों को अधिक पसन्द करने लगे और कवियों ने उसमें नया सौंदर्य बोध उत्पन्न करने के लिए कठोर श्रम किया। अतः छायावादी गीतियों में कर्कशता, शब्द अपव्ययता और प्रवाहहीनता नहीं मिलती।

इसी प्रकार शब्द के राग को पहचाना गया। पदार्थमात्र को रागमय मान लिया गया। राग के विद्युतस्पर्श से खिंचकर कवि शब्द की आत्मा की खोज करने लगे। पल्लव की भूमिका में पन्त जी ने कुछ शब्दों में स्थित सौन्दर्य और उनकी आत्मा पर प्रकाश डाला है। 'मत्स्य' शब्द चटुल मछली की तरह छप्-छप् करता हुआ प्रतीत हुआ। "भ्रू" से क्रोध की वक्रता, "भ्रकुटि" से कटाक्ष की चञ्चलता, "भौंहों" से स्वाभाविक प्रसन्नता, का अनुभव हुआ। "हिलोर" में उठान, "लहर" में सलिल का कोमल कम्पन,

"तरंग" में लहरों का आपस में घात प्रतिघात, "वीचि" से किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरों का भान हुआ। "पंख" में फड़क और "स्पर्श" में रोमांच तथा "हर्ष" में आनन्द का विद्युत् स्फुरण दिखाई पड़ा।

इस प्रकार नई छायावादी गीतयों में शब्द के 'नाद', चित्र और उसकी 'आत्मा' का अनुसंधान उनकी विशेषता है। द्विवेदी युग में शब्द का अनुशीलन नहीं हुआ। छायावाद के शब्द 'मस्वर' हैं, उनमें भाव और भाषा का सामञ्जस्य है। यही नहीं 'शब्द और अर्थ' को भाव की अभिव्यक्ति में भी लीन करने का प्रयत्न किया गया है अर्थात् शब्दशिल्प के आगे भाव की उपेक्षा नहीं की गई।

छायावाद में हरिऔधीय वर्णिक छन्दों के स्थान पर मात्रिक छन्दों का प्रयोग हुआ क्योंकि "हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों में ही अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य को प्राप्त कर सकता है।" बँगला के छन्दों का भी अनुकरण नही किया गया। पन्त जी ने सवैयों और कवियों की भी निन्दा की। निराला ने कवित्त के 'पुरुषत्व' की प्रशंसा की परन्तु छायावाद में अधिकतर मात्रिक छन्द ही प्रचलित हुए ओर प्रायः गीतियाँ ही अधिक लिखी गईं। महादेवी ने तो गीतों को ही अपनाया, प्रसाद ने 'कामायनी' जैसे प्रबन्ध काव्य में भी बहुत से गीत लिखे। नाटकों लहर और झरना में भी उन्होंने बहुत से गीत लिखे। पन्त जी का "विश्व के पलकों में सुकुमार" तथा प्रसाद जी का "आँसू" में प्रयुक्त छन्द बहुत प्रचलित हुआ—"आँसू" छन्द में आज भी लोग लिख रहे हैं। छन्दों की एकरसता को तोड़ने के लिए छोटी बड़ी पंक्तियों का प्रयोग हुआ और निराला ने छन्द के वाह्यबन्धन का पूर्ण बहिष्कार कर दिया परन्तु आंतरिक लय की उन्हें गज़ब की पहचान थी। प्रयोगवाद में इस विवेक के अभाव में 'मुक्त छन्द' गद्य मात्र रह गया। 'अर्थ की लय' की खोज में काव्य का नाद-सौन्दर्य लुप्त होने लगा।

इस प्रकार छायावाद गेय मुक्तकों का काव्य है। 'मुक्त छन्द' को निराला ने संगीत का विषय बनाया और गाकर भी वताया परन्तु वह चल न सका। गीतिका के गीतों में 'मुक्तसंगीत' का अच्छा प्रयोग मिलता है। गेय मुक्तकों तथा 'गीतियों में प्रेम और सौन्दर्य की मधुर अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में तो अधिक सफलता मिली किन्तु जीवन के अन्य पक्षों के चित्रण के लिए गीतियाँ सदा ही अनुपयुक्त रही हैं किन्तु छायावाद ने जीवन का विशद चित्रण

वाले छायावादी अद्वैतवाद को पैरों के बल खड़ा कर दें। प्रथम "भूततत्त्व" है और चेतना उसी का गुणात्मक परिवर्त्तन है, यह उस व्यक्ति को जल्दी समझाया जा सकता है जो यह मानता है कि प्रथम चैतन्य तत्त्व है और वही चैतन्यतत्त्व सर्वत्र विविध रूपों में अवस्थित है। हीगेल का 'अद्वैतवाद' पूँजीवादी युग के दर्शम की चरम सीमा प्रस्तुत कर अपने गर्भ में उन विचार—बीजों को उत्पन्न करता है जिन्हें मार्क्स ने अपने 'दर्शन" में पल्लवित किया। इसी प्रकार छायावाद के अद्वैतवाद (एक तत्त्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन) के बाद "मैटरमूलक" अद्वैतवाद के लिए, हिन्दी काव्य में मार्ग प्रशस्त हुआ। अत: सर्व प्रथम आदर्शवाद (Idealism) ही एकतास्थापक और द्वैतवाद-विनाशक रूप धारण करता है। उसी के गर्भ से भौतिकवाद का विकास होता है अत: आदर्शवाद इतिहास की प्रगति में एक महान सोपान है जो समसामयिक उत्पादन-शक्तियों का प्रतिबिम्ब होता है।

इस दृष्टि से छायावाद की एकतास्थापक अद्वैतदृष्टि की महत्ता स्पष्ट होती है, और उसकी पैग़म्बरी मुद्रा भी आकर्षक लगती है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से यह अद्वैतवाद छायावाद के कला सिद्धान्त में भी प्रयुक्त हुआ है। द्विवेदीयुग बुद्धिवाद (Rationalism) तथा स्थूल नैतिकता (Puritanism) पर आधारित था। उसमें कोमलभाव को नैतिकता का, विरोधी मान लिया गया था। जिस प्रकार शिलर ने भावावेग (Feeling) को 'ज्ञान' (Reason) का अविरोधी माना था[1] और एन्द्रिकता को बौद्धिकता का साथी, उसी प्रकार छायावाद में ज्ञान और भाव का तथा नैतिकता और ऐन्द्रिकता (Sensuous impulse) का अविरोधी माना गया। छायावाद में यह स्वीकार किया गया कि ऐन्द्रिकता और ज्ञान सम्बद्ध तथा सहयोगी रूप में उपस्थित हो सकते हैं क्योंकि—उनकी आत्यंतिक स्थिति परस्पर अविरोधिनी है। छायावादी विवेक इसीलिए अन्त:करण और आत्मा में एकता स्थापित करता है और अन्त:करण और इन्द्रियों की प्रति-क्रियाओं—का आकर्षक वर्णन करता है। प्रसाद जी चूँकि शैव थे अत: उनमें यह एकता सबसे अधिक मात्रा में दिखाई पड़ती है। समन्वित बुद्धि के अभाव

---

1. The Sensuous impulse must be taken as co-ordinate with and not subordinate to the rational impulse.

बी० बूसांक, पृष्ठ २८६

में इच्छा, क्रिया और ज्ञान को अलग-अलग मान बैठना ग़लत है अतः 'समरसता' का सिद्धान्त पदार्थ और मन की, नैतिकता और ऐन्द्रिक आनन्द की, बुद्धि और विश्वास आदि की कामायनी में पूर्ण एकता घोषित करता है। यही एकता प्रसाद में भाषा, भाव, कल्पना और बुद्धि तत्त्व की एकता के रूप में व्यक्त हुई है।

किन्तु दृष्टि की महत्ता स्वीकृति होने के बाद भी हमारा साहित्यशास्त्र छायावाद के विषय में क्या कहता है, यह कहना भी आवश्यक है क्योंकि प्राचीन साहित्य-शास्त्री पं० रामचन्द्र शुक्ल 'छायावाद' का तटस्थ मूल्यांकन नहीं कर सके। वस्तुतः शुक्ल जी ने, पुराने बटखरों से प्राचीन काव्य का तो सफलता के साथ मूल्यांकन किया और पुराने मापदण्डों को उन्होंने संशोधित किया किन्तु उनसे आशा यह थी कि छायावाद का संशोधित मापदण्डों से मूल्यांकन संभव होगा किन्तु यह सम्भव न हो सका। उनके शिष्यों में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र भी 'घनानन्द' का मूल्यांकन तो कर सके किन्तु नवीन काव्य को समझने का प्रयत्न उन्होंने बहुत कम किया। नूतन विचार पद्धति, नूतन कल्पनाविधान के कारण क्या छायावाद प्राचीन (किन्तु आधुनिक युग में भी वैज्ञानिक प्रमाणित होने वाले) मापदण्डों से परीक्षित नहीं हो सकता ?

शम्भूनाथसिंह ने पुराने मापदण्डों से छायावाद की परीक्षा की है। छायावाद में रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार सभी के उदाहरण देकर उन्होंने छायावाद के ही नहीं, नवीनतम काव्य के परीक्षण की विधि की ओर भी संकेत किया है। इससे नूतन मापदण्डों का स्वतः निर्माण होगा क्योंकि जहाँ प्राचीन मापदण्ड यथावत् लागू नहीं होंगे वहीं उनके संशोधन की समस्या पर विचार करना होगा और उसी स्थान पर अन्य साहित्य शास्त्रों से अथवा 'मौलिक' मापदण्डों से सहायता लेनी होगी। इस प्रकार बना हुआ साहित्य-शास्त्र 'भारतीय साहित्य शास्त्र' का स्वाभाविक विकास होगा क्योंकि उसकी कमी पूरी की जाएगी न कि उसका पूर्ण निषेध कर दिया जायगा जैसा कि उग्र वामपंथी चाहते हैं। उनके लिए सामंतवादी 'साहित्य शास्त्र' भी पूर्णतः सामंतवादी है यानी उस युग की कोई बात हमारे काम की नहीं है, तब प्राचीन धरोहर के उपयोग का क्या अर्थ है ?

छायावाद और ध्वनिवाद—छायावाद के पूर्व का काव्य तो स्पष्टतः प्राचीन मान्यताओं के अनुसार मूल्यांकित हो सकता है किन्तु छायावाद के मूल्यांकन में कठिनाई इसलिए हुई कि आलोचकों की अपनी रुचियाँ अथवा

किसी एक 'वाद' का अनुसरण इस कार्य में बाधक हुआ है। हमारे प्राचीन साहित्य शास्त्र में यदि साहित्य को देखने की द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक पद्धति और जोड़ दी जाय तो वह "पूर्ण वैज्ञानिक" साहित्य शास्त्र बन सकता है। हमने पीछे छायावाद तक के काव्य-विकास में द्वन्द्वात्मक दृष्टि का प्रयोग किया है। यहाँ भारतीय साहित्य शास्त्र का समग्रतः प्रयोग करके हम 'छायावाद' का संक्षिप्त मूल्यांकन करने की चेष्टा करेंगे।

छायावाद द्विवेदीयुग के इतिवृत्तात्मक अर्थात् तथ्य कथनात्मक काव्य के विरुद्ध 'ध्वनि' की घोर प्रतिक्रिया है। हमारे यहाँ 'तथ्यकथन' को काव्य ही नहीं माना गया अतः जिस प्रकार ध्वनिकार ने कामिनी के मुख, नासिका, अधर आदि अंगों के अतिरिक्त प्रतीयमान 'लावण्य' को सौन्दर्य कहा है अथवा मोती की तरलता को, उसी प्रकार प्रसाद जी ने भी छायावाद को मोती में प्रतीयमान कांति या विच्छित्ति कहा है—

मुक्ताफलेषु यच्छायायास्तरलत्व मिवान्तरा।
संलक्ष्यते यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥

मोतियों में कांति की तरलता (पानी) की तरह जो वस्तु अंगों के अन्तर में दिखाई देती है, वही लावण्य है।

'पल्लव' की भूमिका में पन्त जी ने इसी लावण्य की व्याख्या की है। पीछे उनके द्वारा की गई शब्दों की व्याख्या दी जा चुकी है। किस शब्द में क्या तत्त्व या 'लावण्य' छिपा है, यह उन्होंने बताया है।

ध्वनिकार ने कहा है कि महाकवियों की वाणी में प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है जो स्त्रियों में उनके प्रसिद्ध अधर, नेत्र आदि अवयवों के अतिरिक्त लावण्य के समान शोभित होता है अथवा जो अलंकारादि काव्य-अवयवों से भिन्न उसी प्रकार शोभित होता है जिस प्रकार स्त्रियों में प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न 'लावण्य'।

छायावाद में इसी प्रकार के 'लावण्य' की प्रधानता है। इस 'लावण्य' की व्याख्या में कठिनाई इसलिए हुई कि सर्वत्र 'रस' का ही अनुसंधान करने की प्रवृत्ति रही है जब कि ध्वनिकार ने 'रस ध्वनि' के अतिरिक्त "अलंकार ध्वनि" और "वस्तु ध्वनि" की पर्याप्त प्रशंसा की है। "रसध्वनि" श्रेष्ठ है परन्तु "अलंकारध्वनि" और 'वस्तुध्वनि' को भी 'उत्तम' काव्य माना गया है। विश्नाथ द्वारा 'रस' पर अत्यधिक बल दिए जाने के कारण 'रस' प्रधान काव्य के अभाव में आलोचकों को निराशा होने लगी। विश्वनाथ के आधुनिक शिष्य

आचार्य शुक्ल ने भी छायावाद को 'रसवादी' दृष्टि से ही देखा था अतः उन्हें भी निराशा ही हुई। 'ध्वनिकार' की दृष्टि व्यापक थी अतः छायावाद में 'रसध्वनि', 'अलंकारध्वनि' और 'वस्तुध्वनि' तीनों की अधिकता है। मुख्यतः 'अलंकारध्वनि' और 'वस्तुध्वनि' का पूर्व काव्यों से अधिक प्रयोग होने के कारण केवल 'रसध्वनि' का प्रयोग छायावाद में नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त कवियों की आत्माभिव्यंजनाओं से हमारे यहाँ कवि निबद्धपात्रों की अभिव्यंजनाएँ अधिक मार्मिक मानी जाती रही हैं। इसलिए भी 'छायावाद' को समझने में कठिनाई हुई। क्योंकि यह स्पष्ट कहा गया है कि "सहृदयपुरुष कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध से कविनिबद्धवक्तृ प्रौढ़ोक्ति सिद्ध" को अधिक चमत्कारजनक मानते हैं और उसकी गणना कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्ध से अलग करते हैं। कवि में स्वतः रागाद्या-विष्टता नहीं होती परन्तु कवि निबद्ध में रागाद्याविष्टता होती है इसी से उसका वचन अधिक चमत्कारक होता है।"[१]

इसके अतिरिक्त यह भ्रान्ति हमारे यहाँ प्रारम्भ से ही है, कि अलंकार और वस्तु व्यंजना और रस व्यंजना में परस्पर विरोध है जब कि वास्तविकता इसके विपरीत है। पुराने आलंकारिक भी कोरे कथन के कौशल को काव्य नहीं कहते थे। वह अनुभूति को आवश्यक मानते थे। इस दृष्टि से जब भामह, उद्भट, वामन आदि को देखा जाएगा तो वे अलंकारवादी नहीं, अलंकारशास्त्री यानी 'सौन्दर्यशास्त्री' दिखाई पड़ेंगे। परवर्ती टीकाकारों ने भी इस मर्म को नहीं समझा था। ध्वनिकार ने इसीलिए 'अलंकार व्यंजना' को 'रसाक्षिप्त' बनाने पर बहुत बल दिया है—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथयत्न निर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौमतः।

अर्थात् रसादिध्वनि में जिस अलंकार की रचना रस आक्षिप्त रूप में बिना किसी प्रयत्न के हो सके, ध्वनि में वही अलंकार मान्य है।

ध्वनिकार ने 'यमक' जैसे अलंकारों का प्रयोग रसध्वनि में आयासहीनता द्वारा ही श्रेयस्कर माना है। ध्वनिकार ने रूपकादि अलंकारों के प्रयोगमें "सोच समझकर" प्रयोग करने के लिए बार-बार कहा है (समीक्ष्य विनिवेशतः) और 'रस' में अलङ्कार को ध्वनिकार सदैव ही अङ्ग मानकर चले हैं, अङ्गी मानकर नहीं (विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन)। उन्होंने यह भी कहा है कि

---

१. आचार्य विश्वेश्वर—ध्वन्यालोक की टीका, पृ० १८६।

अलंकारों के आयासहीन प्रयोगों को भी एक बार पुनः सावधानी से देख लेना चाहिए कि वे कहीं अङ्गी तो नहीं होगए हैं—

निर्व्यूढापि चाङ्गत्वे "यत्नेन" प्रत्यवेक्षणम् ।
रूपकादिरलङ्कार वर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ।

छायावाद में ऐसे स्थल कम नहीं हैं जहाँ रसकी प्रधानता है, और कल्पनाप्रिय छायावादियों ने जहाँ अलंकारों को 'रस' के 'अङ्ग' के ही रूप में ही प्रयुक्त किया है ।

किन्तु छायावाद तो स्वतन्त्र कल्पना के प्रयोग के कारण प्रसिद्ध है । अतः अलंकार व्यंजना और वस्तु व्यंजना में उनकी कल्पना 'आयाससहित' चित्रों की खोज में निकलती है । वस्तुव्यंजना में भी संश्लिष्टता लाने का प्रयास भी, सायास प्रयत्न है । किन्तु 'ध्वनिकार' ने इस काव्य की श्रेष्ठता का मापदण्ड यह बताया है कि मात्र अलंकार का प्रयोग न कर अलंकार से अलंकार को जहाँ ध्यनित किया जाएगा वहाँ 'अलंकारध्वनित' होगा और यह उत्तम काव्य होगा । इसी प्रकार वस्तुव्यंजना में जहाँ 'वस्तु' से 'वस्तु' को 'ध्वनित' किया जाएगा वहाँ 'उत्तम' काव्य होगा । इसी प्रकार वस्तु से वस्तु की, वस्तु से अलंकार की अलंकार से वस्तु की, अलंकार से अलंकार की जब व्यंजना होती है तो उत्तम काव्य की सृष्टि होती है । 'वर्ण्य' की दृष्टि से 'वस्तु' प्रकृति में पूर्व से ही विद्यमान हो सकती है (स्वतः सम्भवी) अथवा कवि के द्वारा कल्पित (कवि प्रौढ़ोक्ति मात्र सिद्ध) हो सकती है अथवा कविनिबद्धप्रौढ़ोक्तिसिद्ध हो सकती है ।

यह स्मरणीय है कि अलंकारव्यंजना और वस्तुव्यंजना की पृष्ठभूमि में, अनुभूति अवश्य स्थित रहती है । जो 'रस' को केवल पूरी सामग्री के प्रयोगों में ही मानते थे, वे ऐसे स्थलों को 'रसवादी' नहीं कह सकते जहाँ 'रस' की प्रधानता न हो यथा 'अलंकारध्वनि' अथवा 'वस्तुध्वनि' में । परन्तु "विभावानुभाव व्यभिचारि संयोग" के अतिरिक्त भी 'रस' अलंकारध्वनि और वस्तुध्वनि द्वारा ध्वनित होता है यथा पन्त जी की पर्वतीय सुषुमा के वर्णनों में 'वस्तु व्यंजना' अथवा स्वाभावोक्ति अलंकार है । ऐसे स्थानों में प्रकृति के प्रति क्या "रति" की व्यंजना" नहीं होती ? इसी प्रकार "अनंग" और "छायः" में "अलंकार ध्वनि" में क्या विभिन्न विशेषण और अलंकार हृदय की किसी 'वृत्ति' को साथ ही साथ ध्वनित नहीं करते ? पन्त जी ने प्रकृति के प्रति आसक्ति-विषय में तो यहाँ तक कहा है कि 'बाला' की ओर भी वह नहीं देखना चाहते, तब क्या प्रकृति के अलंकृत वर्णन "रति" को ध्वनित नहीं करते, उसी तरह

जिस तरह नारी के प्रति आसक्ति शृंगारिक वर्णनों द्वारा 'ध्वनित' होती है। अतः असलियत यह है कि छायावाद में कहीं-कहीं तो रसात्मक स्थल है, कहीं अलंकार और वस्तुध्वनि का प्रयोग है, कहीं वस्तु से वस्तु को, वस्तु से अलंकार को, अलंकार से वस्तु आदि को ध्वनित किया गया है और उसके बाद यह ध्वनि पुनः 'हृदय' की किसी वृत्ति को भी ध्वनित करती है अतः 'छायावाद' में शास्त्रीय दृष्टि से 'ध्वननव्यापार" कई तत्त्वों को एक साथ ध्वनित करता है, इसीलिए उसमें इतना आकर्षण है। कामायनी में एक साथ ही कितने तत्त्वों—इतिहास, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, अध्यात्म आदि को ध्वनित किया गया है, अतः 'छायावाद' में एक भी उक्ति ऐसी नहीं है, न प्रयोगवाद में ही है जिसका मूल्यांकन 'ध्वनि' सिद्धान्त द्वारा न हो सके और यदि 'रस सिद्धान्त' को व्यापक अर्थों में लिया जाय अर्थात् इस अर्थ में कि काव्य में सर्वदा और सर्वत्र किसी न किसी 'भाव की ही व्यंजना होती है, 'भावरहित' काव्य निकृष्ट होगा यथा प्रहेलिका काव्य, तो 'रसवाद' के द्वारा भी प्रत्येक काव्य का मूल्यांकन हो सकता है किन्तु यदि 'रस' के लिए विभावानुभाव संचारी—सभी तत्त्वों का सहयोग पुराने ढंग पर ही अनिवार्य माना जाएगा तब आनंदवर्धन और अभिनवगुप्त और पण्डितराज जगन्नाथ हमारी अधिक सहायता कर सकेंगे क्योंकि निश्चित रूप से 'ध्वनिवाद' ही सबसे अधिक 'व्यापक' और 'पूर्ण' सिद्धान्त है उसमें प्रबन्ध काव्य, मुक्तककाव्य, दोनों के मूल्यांकन की क्षमता है।

वस्तुतः 'प्रधानता' के आधार पर निर्णय करने के कारण, जहाँ 'रस', अलंकार और वस्तु का नाम दिया गया है, वहाँ भ्रमवश यह मान लिया जाता है कि एक के प्रधान होने से अन्य तत्त्वों का वहाँ अत्यन्ताभाव होजाता है जबकि आचार्यों ने 'अंगी' और 'अंग' के रूप में विभिन्न तत्त्वों को देखने पर बहुत बल दिया है। उदाहरण के लिए 'रस' या असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि वहीं मानीं गई है, जहाँ 'रस' की प्रधानता हो, केवल 'भाव' व्यंजना में 'रस' नहीं माना गया।

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीला कमल पत्राणि गणयामास पार्वती। (कुमारसम्भव)

अर्थात् देवर्षि के ऐसा कहने पर पिता के साथ बैठी हुई पार्वती मुँह नीचा करके लीला कमल की पंखुड़ियाँ गिनने लगीं।

लोचनकार ने इस पद्य को लज्जारूप व्यभिचारि भाव का अभिव्यंजक माना है। और कहा है कि यहाँ असंलक्ष्य क्रमव्यंग्य ध्वनि नहीं है क्योंकि जहाँ साक्षात् शब्द से वर्णित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से रसादि

की प्राप्ति होती है वहीं केवल असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि होती है।[1] अतः उक्त श्लोक में केवल व्यभिचारी 'भाव' की ही व्यंजना मानी गई है।

'रस' के इस संकीर्ण अर्थ में छायावाद में बहुत कम 'रस' प्राप्त होगा किन्तु भावव्यंजना जहाँ प्रधान हो और अलंकार और वस्तुव्यंजना गौण, उसे 'रसवादी' काव्य ही मान लेना उचित है, इससे 'रसवाद' व्यापक होगा और छायावाद में ऐसे उदाहरण बहुत हैं। इसी प्रकार जहाँ अलंकार अंगी और 'रस' या 'भाव' अंग हो वहाँ काव्य को 'चमत्कारवादी' कहकर निकृष्ट नहीं माना जा सकता। जहाँ 'भाव' या अनुभूति इतनी अधिक गौण हो कि हृदय के लिए कुछ न मिले केवल मानसिक व्यायाम ही हो, वहीं 'चमत्कारवाद' मानना चाहिए। इसी तरह 'वस्तुव्यंजना' में जहाँ 'भाव' और अलंकार की प्रधान रूप से सत्ता न हो वहाँ उसे 'इतिवृत्तात्मक' माना गया है। वस्तु जहाँ अलंकार या किसी 'भाव' को व्यंजित करती हो अथवा किसी विशेष मानसिक स्थिति में 'वस्तु' की वर्णना हो, वहाँ प्रधान रूप से 'वस्तु' का सौन्दर्य और अप्रधान रूप से 'रस' और अलंकार का भी आनन्द मिलता है। प्रारम्भिक आचार्यों ने अचेतन पदार्थों पर आरोपित चेतना से युक्त वर्णनों को जब "रसवत् अलंकार" कहा था तब अप्रत्यक्ष रूप से "प्रकृति के मानवीकरण" में 'रस' की सत्ता स्वीकार की थी—

तरङ्ग-भ्रूभङ्गा क्षुभितविहग श्रेणिरशना,
विकर्षयन्ती फेनं, वसनमिव संरम्भशिथिलम्
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो,
नदीरूपेणेयं ध्रुवमसहना सा परिणता।

अर्थात टेढ़ी भौहों के समान तरंगों को और कर्धनी के समान क्षुब्ध विहग पंक्ति को धारण किये हुए क्रोधावेश में खिसके हुए वस्त्र के समान फेनों को खींचती हुई यह नदी बार-बार ठोकर खाकर जो टेढ़ी चाल से चली जा रही है, सो जान पड़ता है कि मेरे अनेक अपराधों को देख कर रूठी हुई वह उर्वशी ही नदी रूप में परिणत होगई है।

यहाँ वस्तु व्यंजना है, इसे कौन 'नीरस' कहेगा, ऐसा 'मानवीकरण' ही छायावाद में है।

---

१. आचार्य विश्वेश्वर—पृष्ठ १८२।

वस्तुव्यंजना—

भावव्रात हठाज्जनस्य हृदयाजन्याक्रम्य यन्नर्तयन् ।
भङ्गीभिर्विविधाभिरात्महृदयं प्रच्छाद्य संक्रीडसे ।
स त्वामाह जडं ततः सहृदयम्मन्यत्व दुःशिक्षितो ।
मन्येऽमुख्य जड़ात्मता स्तुतिपदं, त्वत्साम्यसंभावनात् ।

हे भावव्रात अर्थात् पदार्थ समूह ! समग्र विश्वसौन्दर्य के भंडार इस प्राकृतिक जगत् के चन्द्रमा आदि पथार्थ-समूह ! तुम विविध प्रकारों से अपने आन्तरिक रहस्य को छिपाकर और लोगों को हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर स्वेछापूर्वक नचाते हुए जो क्रीड़ा करते हो, उसी से दुःशिक्षित और सहृदयता का मिथ्याभिमान करने वाले लोग तुमको "जड़" कहते है । वस्तुतः वे स्वयं जड़ हैं ! परन्तु उनको "जड़" कहना भी तुम्हारी समानता का सम्पादक होने से उनके लिए स्तुति रूप ही है, यह प्रतीत होता है !

लोचनकार ने यद्यपि यहाँ 'किसी महापुरुष' का अप्रस्तुत चरित्र प्रतीयमान माना है परन्तु हमें यहाँ 'पदार्थ समूह' की उक्त स्तुति से ही तात्पर्य है । छायावाद की महत्ता उक्त पद्य द्वारा स्पष्ट है । पदार्थसमूह के आंतरिक रहस्य और आकर्षण को व्यक्त करने वाले छायावादी काव्य की निन्दा 'जड़ता' ही है !

अरे ! ये पल्लव-बाल !
सजा सुमनों के सौरभहार गूँथते वे उपहार ।
अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल, नहीं छूटी तरुडाल ।
विश्व पर विस्मित-चितवन डाल, हिलाते अधर प्रवाल ।

न पत्रों का मर्मर संगीत, न पुष्पों का रस, राग, विराग ।
एक अस्फुट, अस्पष्ट, अगीत, सुप्ति की ये स्वप्निलमुस्कान ।
सरल शिशुओं के शुचि अनुराग, वन्यविहगों के गान ।
प्रथम मधु के फूलों का बान, दुरा उर में कर मृदु आघात ।

रुधिर से फूट पड़ी रुचिमान, पल्लवों की यह सजलप्रभात ।
शिराओं में उर की अज्ञात, नव्य जीवन कर गतिवान !

यहाँ 'पल्लवों' का अलंकृत वर्णन है । पल्लवों को 'शिशु' बना देने से 'रूपक' अलंकार है, किन्तु 'मानवीकरण' भी साथ-साथ चला है । किन्तु पूर्ण कविता यह व्यंजित करती है कि प्रकृति 'जीवन और गति' देती है, तथा "सुख

का समय आकर्षक होता है" (मुग्ध होंगे मधु से मधुबाल-सुरभि से अस्थिर मरुताकाश)। यहाँ ध्वननव्यापार से अर्थ 'अर्थान्तर' को प्रकट करता है।

इस प्रकार पल्लवों की 'सुन्दरता' व्यंजित होने से यहाँ वस्तुव्यंजना है किन्तु 'रूपक' से 'मानवीकरण' व्यंजित होने से अलंकार से अलंकार व्यंजना और पूरी कविता से एक मानवीय सत्य की भी व्यंजना है। छायावाद की वस्तुव्यंजना में पदार्थ की सुन्दरता की व्यंजना के साथ-साथ जीवन सत्यों, और अलंकारों की व्यंजनाएँ भी होती चलती हैं और यह भी स्मरणीय है कि प्रकृति के प्रति कवि की 'आसक्ति' की व्यंजना के कारण ही यह पद्य इतना सुन्दर बन पड़ा है। यह 'कौशल' द्विवेदी युग में अथवा रीतिकाल में कहाँ था ?

इसी प्रकार 'उच्छ्वास' में पर्वतीय सुषुमा, वीचिविलास, छाया, बादल आदि में पन्त जी ने नाना व्यंजनाएँ भरी हैं। "प्रकृति कितनी सुन्दर है" यह तथ्य सर्वत्र ध्वनित होने के कारण इन रचनाओं में उच्चकोटि की "वस्तुध्वनि' मिलती है, जिसके साथ कवि के हृदय का 'राग' भी ध्वनित होता चलता है निराला की 'यमुना के प्रति' तरंग के प्रति, जुही की कली आदि में भी यही प्रक्रिया अपनाई गई है। "जुही की कली' और 'मौननिमंत्रण' (पन्त) में रहस्य मय सत्ता की भी व्यंजना है। महादेवी के "कौन तुम मेरे हृदय में" में भी यही विशेषता है। 'प्रकृति की सुन्दरता' छायावाद में सर्वत्र किसी अन्य रहस्यमय सौंदर्य को ध्वनित करती चलती है।

अर्थ शक्ति उद्भव संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि में प्रौढ़ोक्ति—उपर्युक्त उद्धरण 'स्वतः सम्भवी, वस्तु के उदाहरण हैं किन्तु कवि द्वारा कल्पित 'वस्तु' भी व्यंजित होती है, छायावाद में इस प्रकार की ध्वनि के अनेक उदाहरण हैं। 'ज्योत्स्ना' (पन्त) कवि प्रौढ़ोक्ति मात्र है जिससे ऐसा 'समाज' ध्वनित होता है जिसमें पूर्ण सौन्दर्य समानता और स्वतंत्रता है। 'आँसू' की ये पंक्तियाँ देखिए—

चंचला स्नान कर आवे, चंद्रिका पर्व में जैसी।
उस पावन तन की शोभा आलोक मधुर थी वैसी।

चंचला चाँदनी में स्नान नहीं कर सकती क्योंकि चाँदनी रात में मेघ होने पर ही बिजली चमक सकती है और मेघ रहने पर चाँदनी नहीं रह सकती अतः यहाँ "कवि प्रोढ़ोक्ति मात्र" है। यहाँ "नायिका में चमक और शीतलता दोनों एक साथ है" यहाँ 'वस्तु' व्यंग्य है।

कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढ़ोक्ति—

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ बन बीच गुलाबी रंग।

यहाँ 'बिजली का पुष्प' कवि कल्पित है। श्रद्धा के अंग की चमक व्यंग्य है—

कुसुम-कानन अंचल में मन्द-पवन प्रेरित सौरभ सुकुमार।
रचित परमाणु पराग शरीर, खड़ा हो ले मधु का आधार।
और पड़ती हो उस पर शुभ्र, नवल मधुराका मन की साध

"कुसुम कानन में पराग और मधु से निर्मित शरीर" लोक में नहीं मिलता अतः यह कवि प्रोढ़ोक्ति मात्र है और श्रद्धा के शरीर की सुगंधि, मधुरता, मादकता, शीतलता आदि 'वस्तु' व्यंग्य है। चूंकि उक्ति पद्यों में मनु का कथन है अतः यहाँ कवि द्वारा निबद्ध वक्ता से सम्बन्धित प्रौढ़ोक्ति है। इसे अधिक सुन्दर माना गया है क्योंकि इसमें 'राग' अधिक रहता है।

शब्द शक्ति पर आधारित ध्वनि—"शब्द शक्ति उद्भव अर्थान्तर संक्रमण" का उदाहरण "मैं तोड़ती पत्थर" (निराला) से शम्भुनाथ सिंह ने दे दिया है (पृष्ठ २४४) "मैं तोड़ती पत्थर" शब्द अपना मुख्यार्थ छोड़कर मजदूरिनी के दुःख, सामाजिक विषमता आदि को भी क्रमशः व्यंजित करते हैं।

अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि—उक्त कवियों में मुख्यार्थ की आवश्यकता रहती है किन्तु इसमें वाच्यार्थ सर्वथा अनपेक्षित हो जाता है यथा "बाँधा है विधु को किसने इन काली जंजीरों से" में 'विधु' का अर्थ मुख और जंजीरों का अर्थ 'केश' लिया गया है। इसी प्रकार पन्तजी के "उड़ गया अचानक लो भूधर" में पहाड़ उड़ नहीं सकते अतः पहाड़ का अदृश्य हो जाना ही व्यंजित है।

अर्थान्तर संक्रमण और अत्यन्त वाच्यतिरस्कृत ध्वनियों में प्रथम में वाच्यार्थ के बाद अनुरणन व्यापार से अन्य अर्थ की प्रतीति हो जाती है। दूसरी ध्वनि में मुख्यार्थ में सहसा बाधा देखकर सादृश्य के आधार पर पाठक के मन में अन्य अर्थ ध्वनित होता है। छायावाद में इस प्रकार के प्रयोग बहुत हैं, जब कि ब्रजभाषा और द्विवेदीयुग के कई कवि 'श्लेष' के प्रयोगों को नहीं छोड़ सके। 'रत्नाकर' ने ब्रजभाषा में 'श्लेषमूलकता' के कारण व्यर्थ के चमत्कारवाद को प्रश्रय दिया है यथा "रस के प्रयोगनि में सुखद संजोगनि" आदि कवित्तों में। गुप्तजी ने 'साकेत' में "उर्मि रुदन्ती विरहिणी के रुदनरस के लेप से" जैसे श्लेषात्मक प्रयोग किए हैं। 'श्लेष' में अभिधा प्रधान रहती है जबकि उक्त छायावादी प्रयोगों में लक्षणाओं के द्वारा नए अर्थ ध्वनित किए गए हैं। इसके सिवा 'श्लेष' में 'तथ्यकथन' प्रधान रहता है और उक्त ध्वनियों में 'अलंकार' प्रधान रहता है अतः छायावादी पद्धति श्लेष प्रणाली से अधिक श्रेष्ठ है। ब्रजभाषा के रसवादी कवि इसीलिए श्लेष प्रणाली से बचे हैं क्योंकि उसमें कवि

का केवल 'द्विअर्थक' शब्दों पर ही अधिकार प्रकट होता है, काव्य में व्यंजना नहीं आ पाती !

अलंकार ध्वनि—छायावाद में 'कल्पना' का अतिरेक है, यह हम कह चुके हैं। पदार्थों के वर्णन मे कवियों ने मुख्यतः सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग किया है। उपमान विधान में उपयुक्त और नवीन विशेषणों का प्रयोग छायावाद के शिल्प की विशेषता है। अतः पर्यायमूलक 'ध्वनि' छायावादी अलंकृत वर्णनों में बहुत अधिक मिलती है। इसके सिवा अलंकारों के द्वारा 'वस्तु' और अलंकारों को ध्वनित करने से छायावादी अलंकृत शैली में चारुता अधिक आ गई है—

अलंकार से अलंकार की ध्वनि—

मेखलाकार पर्वत अपार, अपने सहस्र दृग सुमन फाड़।
अवलोक रहा है बार-बार, नीचे जल में निज महाकार
जिसके चरणों में पला ताल, दर्पण सा फैला है—विशाल

यहाँ 'रूपक' और 'उपमा' अलंकारों द्वारा 'मानवीकरण' अलंकार व्यंजित है अतः यहाँ 'अलंकार ध्वनि' है।

यही तो काँटे सा चुपचाप
उगा उस तरुवर में—सुकुमार।
सुमन वह था जिसमें अविकार
बेध डाला मधुकर निष्पाप।

यहाँ अलंकार द्वारा यह वस्तु व्यंजित है कि "बड़ों में भी दुर्बलता होती है !" 'अविकार' 'निष्पाप' शब्द अपना अर्थ छोड़कर उक्त अर्थ देते हैं। यहाँ 'अर्थ शक्ति उद्भव "संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि" है।

हो गया था पतझड़, मधुकाल
पत्र तो आते हाय, नवल !
झड़ गए स्नेहवृत्त से फूल
लगा यह असमय कैसा फल !

यहाँ 'स्वभावोक्ति' अलंकार से यह वस्तु व्यंजित है कि "एक का विनाश दूसरे के जन्म का कारण है !" इस प्रकार नवीन विशेषणों से वर्ण्य वस्तु के निहित सौन्दर्य की व्यंजना छायावादी शिल्प की विशेषता है। कामायनी में 'चिन्ता' के विशेषण ध्वन्यात्मक हैं, उनसे 'चिन्ता' के उत्पन्न होने पर सारी मानसिक दशाएँ ध्वनित हो जाती हैं जिन्हें कह कर नहीं बताया जा सकता।

ये विशेषण वाच्यार्थ को सर्वथा छोड़कर अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि के भी उदाहरण हैं। इसी प्रकार पन्तजी की इन पंक्तियों में—

गूढ़ सांस सी यतिगति हीन
अपनी ही कम्पन में लीन
सजल कल्पना सी साकार
पुनः पुनः प्रिय, पुनः नवीन —वीचिविलास

इसी प्रकार अनंग के लिए त्रियन की नयनवह्नि के तप्त स्वर्ण, असीम सौन्दर्य राशि में हृत्कम्पन, 'स्वप्न' के लिए अतीतमृदुहास, पक्षी के लिए 'विटपबालिका' 'विश्ववेणु' के लिए मारुत के मृदुल झकोर, बाल कल्पना, 'निर्झर' के लिए 'जलद ज्योत्स्ना के गात', छाया के लिए रतिश्रान्ता ब्रज वनिता, मुक्त कुंतला, विरक्ति, बच्चों के तुतलेभय, असीम की आँखमिचौनी, अस्पृश्य अप्सरसि, तथा 'नक्षत्र' के लिए अनन्वय वृत्त, स्वर्ण समय के सुखमय स्मारक, अविदितयुग के मुद्राकर, सजगदिगम्बर के तांडव आदि अनेक विशेषणों का प्रयोग पन्तजी ने किया है। इनमें कुछ सुन्दर हैं, कुछ कल्पना का व्यर्थ प्रदर्शन बताते हैं परन्तु उनमें ध्वन्यात्मकता सर्वत्र है, यह स्मरणीय है।

निराला के 'कौन तुम शुभ्र किरण वसना' में 'रूपक' अलंकार और 'कुन्दधवलदशना' जैसे विशेषण एक अज्ञात और सूक्ष्म अशरीरी 'सुन्दरी' के अस्तित्त्व को भी ध्वनित करने में पूर्ण समर्थ हैं। 'बहू' में भी यही विशेषता है, यहाँ 'अलंकृति' सर्वत्र ध्वन्यात्मक है, वह 'वस्तु', 'अलंकार, भाव को एक साथ संकेतित करती हुई चली है—

सौन्दर्य सरोवर की वह एक तरंग
किन्तु नहीं चंचल प्रवाह-उद्दाम—वेग
संकुचित एक लज्जित गति है वह
प्रिय समीर के अंग

और सन्ध्या-सुन्दरी में तो सारा वातावरण अपरिमित सौन्दर्य के साथ-साथ ध्वनित हुआ है—

छाँह सी अम्बर-पथ से चली
नहीं बजती उसके हाथों में वीणा
नहीं होता कोई अनुराग राग आलाप
नूपुरों में भी रुनझुनरुनझुन नहीं

सिर्फ एक अव्यक्त शब्द सा 'चुप चुप चुप'
है गूँज रहा सब कहीं !

महादेवी के "रूपसि तेरा घन केशपाश" और 'वासन्ती रजनी' में भी वातावरण को अलंकृति द्वारा पूर्णतः ध्वनित किया गया है। छायावाद ने इस ध्वन्यात्मक वस्तु वर्णना और अलंकार वर्णना से लोचनकार के इस कथन को पूर्ण चरितार्थ कर दिया है—

भाववात हठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यन्नर्तयन्
भङ्गीभिर्विविधाभिरात्महृदयं प्रच्छाय संकीडसे।

रसध्वनिः—छायावाद में कवियों की निजी आशा-आकांक्षाओं, स्वप्नों आदि की व्यंजना तथा अचेतन प्रकृति का चेतनवत् वर्णन वस्तुतः रसवादी काव्य में गिना जाना चाहिए। कामायनी में मनोवृत्तियों का मानवीकरण तथा चाँदनी-रात, प्रलयकाल में पृथिवी, आदि के वर्णन वस्तुतः रसमय हैं। यहाँ यह दुराग्रह व्यर्थ होगा कि यहाँ रस की पूर्ण सामग्री वर्णित है या नहीं। वस्तुतः ऐसे वर्णनों में रस की जिस सामग्री का वर्णन न हो, उसका समाहार कर लेना चाहिए। कई स्थानों पर पूर्ण रस-सामग्री मिलती भी है—

गिर रहीं पलकें, झुकी थी नासिका की नोक।
भ्रूलता थी कान तक, चढ़ती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल।
खिला पुलक, कदंब सा था भरा गदगद बोल।

यहाँ केवल अनुभावों का वर्णन है, परन्तु श्रद्धा, आश्रय और मनु, आलम्बन उपस्थित ही हैं। रति स्थायी भाव और प्रकृति उद्दीपक है। रोमांच और लज्जा विगत जीवन की स्मृति के बिना रह नहीं सकते अतः ऐसे स्थलों में रसध्वनि स्पष्ट है।

छूने में हिचक, देखने में पलकें आँखों पर झुकती हैं।
कलरव परिहास भरी गूँजें, अधरों तक सहसा रुकती हैं
संकेत कर रही रोमाली, चुपचाप बरजती खड़ी रही।

ऐसे स्थलों में अनुभाव के अतिरिक्त अन्य रस के अंगों का समाहार बहुत बहुत कठिन नहीं है। कामायनी के अंतिम सर्गों में 'शान्तरस' का पूर्ण परिपाक हुआ है। वस्तुतः कामायनी में सर्वत्र हृदय की वृत्तियों का ही संघर्ष प्रधान होने से यह काव्य केवल बुद्धिवादी काव्य नहीं कहा जा सकता।

पन्तजी ने संयोग शृंगार की स्मृति के रूप उच्छ्वास में नायिका के सौंदर्य का वर्णन किया है और 'आँसू' में तो परम्परागत विरह-वर्णन ही मिलता है—

आह ! यह मेरा गीला गान
वर्ण वर्ण में उर की कम्पन
शब्द शब्द में सुधि की दंशन
चरण चरण है आह

तथा

धधकती है जलदों से ज्वाल
बन गया नीलम व्योम प्रवाल
आज सोने का सन्ध्याकाल
जल रहा जतुगृह सा विकराल।

महादेवी का सारा काव्य 'विप्रलम्भ शृंगार' मात्र है, सर्वत्र उनके हृदय की 'वेदना' ही व्यंजित हुई है—

दीप मेरे जल अकम्पित धुल अचंचल !
सिन्धु का उच्छ्वास घन है।
तड़ित तम का विकल मन है।
भीति क्या नभ है व्यथा का।
आँसुओं से सिक्त अंचल।

यहाँ प्रकृति उद्दीपक मात्र है, यहाँ कवियत्री की 'रति' ही मुख्यतः ध्वनित हुई है अतः अलंकार रस के अंग के रूप में महादेवी ने प्रयुक्त किए हैं—

सब बुझे दीपक जला लूं।
क्षितिज भारा तोड़ कर अब, गा उठी उन्मत्त आँधी।
अब घटाओं में न रुकती, लासतन्मय तड़ित बाँधी।
धूलि का इस वीण पर मैं तार हर तृण का मिला लूं।

यहाँ 'रूपक', प्रतीक (आँधी) मानवीकरण (लासतन्मय तड़ित) आदि अलंकार हृदयगत भाव की अभिव्यंजना में सहायक मात्र हैं।

निराला के काव्य में तो प्रकृति वर्णन भी 'अनुभूति' व्यंजित करने का माध्यम है यथा तरंगों के प्रति में अंतिम अंश। 'सरोज स्मृति' (करुण रस) शिवाजी का पत्र (वीर रस) जागो फिर एक बार (वीर रस) बादल राग

(वीर रस) गीतिका के शृंगार मूलक गीत (संयोग और विप्रलम्भ शृंगार) आदि अनेक रचनाओं में रसपरक स्थलों की कमी नहीं है !

इस प्रकार छायावाद में रसध्वनि का अभाव नहीं है ।

अलंकृति—छायावाद ने सौन्दर्य की सृष्टि के लिए नूतन अप्रस्तुत-विधान किया था । द्विवेदीयुग में परम्परागत उपमान ही अधिक मिलते हैं । हम कह चुके हैं कि छायावाद सादृश्य पर सबसे अधिक ध्यान देता है । कल्पनाशील छायावादी कवि ने मानसिक स्थितियों और वर्ण्य वस्तुओं का उपयुक्त सादृश्य खोजकर उन्हें सचित्रित कर दिया है, सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग कोई अद्‌भुत घटना नहीं थी किन्तु नए उपमानों अथवा पुराने उपमानों के नूतन विन्यास से वर्ण्य वस्तु को सचित्रित करना छायावाद की विशेषता है—

अरे, ये पल्लव बाल !
विश्व पर विस्मित चितवन डाल, हिलाते अधर-प्रवाल !

अधर की 'प्रवाल' से उपमा नवीन नहीं है, किन्तु 'हिलाते' शब्द के प्रयोग से चित्रोपमता आ गई है । पन्तजी की सादृश्यप्रियता द्रष्टव्य है—

उपमाएँ—(१) खिल उठी रोओं सी तत्काल, पल्लवों की यह पुलकित डाल !
(२) सिड़ी के गूढ़ हुलास
(३) ढाल सा रखवाला शशि आज
(४) अरुण कलियों से कोमल घाव
(५) कुहरे सी भावी
(६) तड़ित सा ध्यान
(७) जुगुनुओं से प्राण
(८) सरल शुक सी सुधि
(९) विधुर उर के से मदु उद्‌गार
(१०) इन्द्रजाल ही स्वर्ण-पराग
(११) जलनिधि की मृदु पुलकावलि सी
(१२) तारकों से पलकों पर मूद
(१३) बच्चों के तुतले भय सी
(१४) कभी लोभ सी लम्बी
(१५) कभी तृप्ति सी होकर पीन ।

रूपक—(१) तरुणतम सुन्दरता की आग, मधुबाल (पल्लव के लिए)

(२) मेखलाकर पर्वत अपार, अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़

(३) उचक चपला के चंचल-बाल

(४) चला मनिदृग चारों ओर, अरी वारि की परी किशोर।

(५) चाँदी के चुम्बन का चूर

(६) तुमने भौंरों की गुंजित ज्या, कुसुमों का लीलायुध थाम।
अखिल भुवन के रोम रोम में, केशर-शर भर दिए निकाम।

(७) बजा दीर्घ सांसों की भेरी, सजा सटे-कुश कलशाकार।
पलक पाँवड़े बिछा, खड़े कर, रोओं में पुलकित-प्रतिहार।
रोमावलि की शर शैय्या में, तड़प तड़प करता चीत्कार।
ऐ त्रियन के नयन वह्नि के तप्त स्वर्ण, ऋषियों के गान।

(८) ऐ नश्वरता के लघु बुदबुद, काल चक्र के विद्युतकन।
ऐ स्वप्नों के नीरव चुम्बन, तुहिन दिवस, आकाश-सुमन।

पन्तजी के नौकाविहार एक तारा, गंगा, नक्षत्र, बादल आदि रचनाओं में नूतन उपमाओं और रूपकों का ही अधिक चमत्कार मिलता है। विशेषणविपर्यय के कारण इन उपमानों में और भी आकर्षण उत्पन्न हो गया है। कल्पना के बल पर नूतन उपमान खोजने के प्रयत्न में पन्तजी ने सादृश्य का अधिक ध्यान रखा है अतः बेतुके, और अजनबी उपमान उनमें बहुत कम मिलते हैं, 'चित्रोपमता' के लिए सादृश्य का ध्यान रखना ही पड़ता है।

निराला में भी सादृश्यमूलक अलंकारों की ही प्रधानता है, पन्तजी की तरह विरोधमूलक अलंकृति भी नहीं मिलती—छूट गई पतवार, पारावार अपार, प्रात समीरण सा जीवन, अंचल सा चंचल, बालिका सी चितवन, जीवन-प्रसून, यौवन की माया सा ध्यान, आँसू सा उर का उद्गार, नूपुर की ध्वनि सी तरंग, शशि सा मुख, ज्योत्स्ना सा गात, वीचि-चितवन, मरु-मरीचिका सी ताक रही आकाश, हृदय-सरोवर का जलजात, उठा तूलिका मृदु चितवन की, कनक-कोरों के नीरव अश्रु कणों में भर मुस्कान, दिवस स्वप्न सा, अनन्त का नीला अंचल हिला-हिलाकर, सोह रहा क्षीण-कटि में अम्बर-शैवाल, तैर तिमिर-तिल भुज मृणाल, तुम दिनकर के खर किरण जाल में सरसिज की मुस्कान, तुम चित्रकार घनपटल श्याम, मैं तड़ित तूलिका रचना, इत्यादि।

निराला की समासमूलक पदावली सादृश्यमूलक अलंकारों से गुंजित होकर ही व्यक्त हुई है।

मूर्त्त के लिए अमूर्त्त और अमूर्त्त भावनाओं के लिए मूर्त्त उपमान भी छायावाद की विशेषता है, सभी कवियों में यह विशेषता मिलती है। और महादेवी में भी 'सादृश्य' को आधार बनाकर ही उपमान-विधान किया गया है—हिम स्तब्ध उसी के हृदय समान, उसी तपस्वी से देवदारु, ओ चिंता, विश्ववन की व्याली, अभाव की चपल बालिका, जय लक्ष्मी सी उषा, सिंधुसेज पर धरा वधू, मधुर जागरण सी आशा, शीतल दाह सा जीवन, मानो हँसी हिमालय की है, फूट चली करती कल गान, जब कामना सिंधु तट आई, ले सन्ध्या का तारा दीप, संस्कृति जलनिधि तीर तरंगों से फेंकी मणि एक, पहेली सा जीवन, तर्क जाल सी अलकें, आदि।

रूपकातिशयोक्ति अलंकार में सांकेतिकता अधिक रहती है, लक्षणाप्रिय छायावादियों ने साध्यावसाना लक्षणा के लिए इस अलकार का प्रयोग भी खूब किया है—

बाँधा था विधु को किसने, उन काली जंजीरों से।
मणि वाले फणियों का मुख, क्यों भरा हुआ हीरों से।

(प्रसाद)

कहाँ सूर के रूप बाग, के दाड़िम, कुन्द विकच अरविन्द।
कदली, चम्पक, श्रीफल, मृगशिशु, खंजन, शुक, पिक, हंस-मिलिन्द।
काले नागों में मथूर का, बन्धुभाव सुख सहज अपार

—(निराला)

कमल पर जो चारु खंजन थे प्रथम
पंख फड़काना नहीं थे जानते
चपल चोखी चोट कर अब पंख की
ये विकल करने लगे हैं भ्रमर को —(पन्त)

महादेवी में भी सादृश्यप्रियता ही अधिक है—सिन्धु का उच्छ्वास धन, तड़ित, तम का विकल मन, मैं सरित विकल, मैं उर्म्मि विरल, मोम-सी साधें, अगरुधूम-सी साँस, सुमन में संकेत-लिपि, चंचल विहग स्वर ग्राम, तरल मोती से नयन भरे, पारद से अनबीधे मोती, साँस इन्हें बिन तार पिरोती, विद्युत के चरण, धूप सा तन दीप सी मैं, नीलम की निस्सीम पटी पर तारों के बिखरे सित अक्षर, किरणों की अंजन रेखा, तम कारा बन्दी सान्ध्य रँगों सी चितवन,

पाषाण चुराए हैं, लहरों से स्पन्दन, तारकों से चित्र-उज्जवल, हाट किरणों की, विद्युत-प्यास, चन्दन सी ममता, नभ मेरा सपना स्वर्णरजत, हीरक जल, शून्यताभर तरल मोती से मधुर दीप आदि ।

परवर्ती छायावाद में यह अलंकृति कम हुई है, क्योंकि अत्यधिक अलंकृति के बाद अभिधावादी शैली की ओर कवि उन्मुख हो रहे थे, बच्चन, नरेन्द्र दिनकर आदि में सरल उपमाएँ मिलती हैं और वाच्यार्थ मूलकता बढ़ने लगती है ।

सौन्दर्य का आधार सादृश्य है । इस 'सत्य' की उपेक्षा आगे चलकर नई कविता में हुई, जिसमें किंचित्, सादृश्य' के आधार पर उपमान विधान होने लगा ।

भाषा— छायावाद में व्यावहारिक भाषा का बहिष्कार मिलता है, जो द्विवेदीयुग की विशेषता थी । छायावाद के पूर्व इस व्यावहारिक भाषा को काव्य में प्रयुक्त होते देखकर लोग खीझते थे । यह भी कहा जाता था कि खड़ी बोली में सुकुमार और सूक्ष्म भावनाओं की व्यंजना-शक्ति का अभाव है । छायावाद ने इस आरोप को असत्य सिद्ध करने के लिए ललित भाषा को 'अति' की सीमा तक पहुँचा दिया । शब्दशिल्प के नूतन चमत्कारों से छायावाद ओतप्रोत है । असुन्दर, कठोर और अशोभन शब्दावली का छायावाद ने बहिष्कार किया । इससे काव्य भाषा 'समर्थ' अधिक हुई किन्तु उसकी 'सहजता' कम हो गई, काव्य का स्तर जन साधारण से एकदम ऊँचा उठ गया । इस कमी को स्वयं छायावादियों ने महसूस किया—भाषा के साथ केवल सौन्दर्यमूलक दृष्टि की अधिकता के विरुद्ध भी प्रतिक्रिया हुई अतः 'कुकुरमुत्ता' जैसे काव्य लिखे गए—किन्तु 'जुही की कली' और 'कुकुरमुत्ता' में काव्य की दृष्टि से कौन उत्कृष्ट रचना है ? निश्चित रूप से 'जुही की कली' । इसी प्रकार युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या से पन्त जी की 'पल्लव' और 'गुंजन' की रचनाएँ काव्य की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं । क्योंकि परवर्ती काव्य में चित्रण संश्लिष्ट नहीं हो पाए और सिद्धान्तों की घोषणाएँ अधिक होने लगीं । ग्राम्या अपेक्षाकृत अधिक उत्कृष्ट रचना है क्योंकि उसमें कवि की सौन्दर्यमूलक दृष्टि विद्यमान है । भाषा में व्यावहारिकता और सरलता के आन्दोलन ने काव्य को सहज बनाया परन्तु छायावादी काव्य भाषा का "वैभव" और "लावण्य" खड़ी बोली में पुनः नहीं आ सका । दुरावस्था में हमें यह वैभव खटकता है, काव्य को जनप्रिय बनाने की भी हमें चिन्ता है किन्तु दुरावस्था दूर होते ही 'छायावाद' के शब्द-कौशल

और लालित्य की माँग पुनः बढ़ेगी, उसी प्रकार जिस प्रकार हमें कालिदास और भवभूति आज प्रिय लगते हैं। छायावादोत्तर काव्य के प्रति रुचि जागृत करने के लिए 'छायावाद' की भाषा को कोसने के स्थान पर यह सोचना अधिक श्रेयस्कर होगा कि अंतः छायावाद इतना अधिक क्यों आकर्षित करता हैं ? उसकी भाषा में आख़िर कौन सा-आकर्षण है ? हम आज की आवश्यकताओं का अनुभव करें, यह एक बात हुई किन्तु छायावाद में जिस सुरुचि, शालीनता और भव्यता का विधान काव्य भाषा मे किया गया, वह एक उपलब्धि है। उसकी निन्दा न कर, उसकी असामयिकता पर बल देना अधिक श्रेयस्कर होगा। आज हम अलंकृति नहीं चाहते, भाषा के सहज रूप को चाहते हैं परन्तु यह कौन कह सकता है कि नीरस अललित पदावली से ऊबकर कल हम पुनः ललित पदावली को पसन्द न करने लगेंगे, 'रुचि' के इतिहास में पुनरावृत्ति प्रायः पाई जाती है।

भाषा और संगीत—छायावाद की भाषा संगीतात्मक है। सभी जानते हैं कि छायावाद ने छन्दों के क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित की थी किन्तु उसने 'लय' को कभी नहीं छोड़ा। 'निराला' ने वैदिक छन्दों के मुक्त 'नाद' को अपनाया और मात्राओं के निश्चित जड़ बन्धन को तोड़ फेंका। पन्तजी ने गेय गीत और कविताएँ लिखीं। पन्तजी के अनुसार भाषा का प्राण 'राग' है। "राग ही के पंखों की अबाध उन्मुक्त उड़ान में लयमान होकर कविता सान्त को अनन्त से मिलती है। राग ध्वनि-लोक-निवासी" शब्दों के हृदय में परस्पर स्नेह तथा ममता का सम्बन्ध स्थापित करता है। संसार के पृथक्-पृथक् पदार्थ पृथक्-पृथक् ध्वनियों के चित्र मात्र हैं। समस्त ब्रह्माण्ड के रोओं में व्याप्त यही राग, उसकी शिरोपशिराओं में प्रधावित हो, अनेकता में एकता का संचार करता, यही विश्ववीणा के अगणित तारों से जीवन की अँगुलियों के कोमल कर्कश घात-प्रतिगातों, लघुगुरु सम्पर्कों, ऊँच-नीच प्रहारों से अनन्त झंकारों, असंख्य स्वरों में फूट कर हमारे चारों ओर आनन्दाकाश के स्वरूप में व्याप्त हो जाता, यही संसार के मानव समुद्र में अनेकानेक इच्छाओं आकांक्षाओं, भावनाओं-कल्पनाओं की तरंगों में प्रतिफलित हो, सौन्दर्य के सौ-सौ स्वरूपों में अभिव्यक्ति पाता है" (पल्लव की भूमिका)।

पन्तजी ने यह भी बताया है कि 'राग' द्वारा ही हम शब्दों की आत्मा तक पहुँचते हैं। राग द्वारा ही व्याकरण की जड़ता पर विजय पाई जाती है। बिखरे हुए, व्यावहारिक प्रयोगों में सौन्दर्यहीन शब्द 'राग' द्वारा ही 'एक'

होकर एक लय में गूँज उठते हैं। खेद है कि छायावाद के बाद इस 'राग' की उपेक्षा हुई। गीतकारों के द्वारा यह परम्परा अपनाई गई किन्तु उसका रूप भी 'स्थिर' हो गया है।

पन्तजी ने यह भी बताया है कि संस्कृत का संगीत हिल्लोलाकार रूप में प्रवाहित होता है, हिन्दी में "लोल लहरों का चंचल कलरव" अधिक मिलता है। अतः हिन्दी में मात्रिक छन्द ही जमते हैं, वर्ण वृत्तों की नहरों में उसकी धारा अपना चंचल नृत्य खो बैठती है, क्योंकि हिन्दी समास-प्रधान भाषा नहीं है। पन्तजी ने यह स्वीकार किया है कि 'प्रत्येक कवि के अपने विशेष छन्द होते हैं जिनमें उसकी छाप सी लग जाती है। खड़ी बोली में गुप्तजी की 'हरि-गीतिका', हरिऔधजी के 'चौपदे' और सनेही जी की 'षट्पदियों' में उन्हें अधिक सफलता मिली है। किन्तु पन्तजी की इस सलाह की नई कविता में उपेक्षा हुई। प्रत्येक कवि रोज़ नयी रागात्मक पंक्तियों को 'विरागात्मक' करने पर तुला हुआ है और फिर अभिव्यक्ति के लिए उचित माध्यम नही खोज पाता! नई कविता मे विभिन्न छन्दों पर प्रयोग करके कोई अपना 'छन्द' नही खोजा जा सका। अतः या तो काव्य के नाम पर 'गद्य' ही चलता है या न गद्य रह पाता है, न पद्य। 'राग की लय' के स्थान पर 'अर्थ की लय' खोजने का यही परिणाम हो सकता है।

पन्तजी ने 'सवैया' व कवित्त को महत्त्व नहीं दिया। विशेषतः कवित्त को वह 'उच्चारण-संगीत" की रक्षा में असमर्थ मानते हैं किन्तु निराला जी कवित्त को हिन्दी का "जातीय' छन्द मानते हैं। 'जुही की कली', जागो फिर एक बार, आदि में कवित्त के आधार पर ही 'मुक्त छन्द' बनाया गया है—

विजन वन बल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी
स्नेह स्वप्न मग्न अमल कोमल तनु तरुणी
जुही की कली
दृग बन्द किये, शिथिल पत्रांक में
वासन्ती निशा थी
विरह विधुर प्रिया संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल।

प्रसाद जी ने भी प्रलय की छाया, पेशोला की प्रतिध्वनि आदि रचनाएँ इसी आधार पर लिखीं। इस छन्द में "धारा प्रवाह" का सौन्दर्य है। हर-हर करती हुई, बिना रुके हुए जैसे नर्मदा नद बह रहा हो। किन्तु पन्त जी के अनुसार यदि कवित्त छन्द को तोड़ कर एक-एक पंक्ति में दो-दो पंक्तियाँ कर दी जाँय तो एक सुन्दर मात्रिक छन्द बन जाएगा और 'राग' का, जो कहीं निश्चित गति धारण करता हुआ चलता है, विधान हो जाएगा—

कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में—
क्यारिन में कलित कलीन किलकन्त है।

सुकूलन में केलिन में (और)
कछारन कुंजन में (सब ठौर)
कलित क्यारिन में (कल) किलकन्त
वनन में बगर्‌यो (विपुल) बसन्त!

इसी छन्द में पन्त जी नाद की रक्षा सम्भव मानते हैं क्योंकि हिन्दी के असमासप्रधान शब्द इसमें परस्पर मिलकर नृत्य करते हुए चलते हैं और प्रत्येक पंक्ति के अन्त में रुक कर पुनः लौट पड़ते हैं अतः 'गति' निश्चित हो जाती है, आदि और अवसान निश्चित हुए बिना 'संगीत' बिखरा हुआ रहता है। पन्त जी के अनुसार हिन्दी का राग स्वर प्रधान है जबकि कवित्त में व्यंजन वर्णों की प्रधानता हो जाती है। उसमें स्वर और मात्राओं के विकास के लिए स्थान नहीं है।

सारांश यह कि निराला, पन्त प्रसाद और महादेवी तथा पारवर्ती छायावादी कवियों ने सर्वत्र अपने-अपने ढंग पर नाद सौन्दर्य और संगीत का ध्यान रखा है। वे जानते थे कि "भावजगत् में जो कार्य कल्पना करती है, वही कार्य शब्दजगत् में राग करता है, "संगीत के विना भाषा में शक्ति, स्फूर्ति और आकर्षक गतियाँ उत्पन्न नही होतीं।" पन्त जी ने तो 'तुकों' तक का समर्थन किया है—तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणों का स्पन्दन विशेष रूप से सुनाई पड़ता है, राग की समस्त छोटी-बड़ी नाड़ियाँ मानो अन्त्यानुप्रास के नाड़ी चक्र में केन्द्रित रहती, जहाँ से नवीन बल तथा शुद्ध रक्त ग्रहण करके छन्द के शरीर में स्फूर्ति संचार करती रहती हैं।" जो स्थान ताल में सम का है, वही स्थान छन्द में तुक का है! वाक्य के प्राण शब्द-विशेष पर आश्रित हो जाते हैं। अन्त्यानुप्रास वाला शब्द राग की आवृत्ति से सशक्त होकर हमारा ध्यान आकर्षित करता है!" फिर भी पन्त जी ने द्विवेदीयुगीन

'तुक वदिता' के स्थान पर रोला छन्द को अधिक अपनाया जिसकी नीरसता को भंग करने के लिए वे कहीं-कहीं पंक्तियों को तोड़ते चलते हैं अतः वह एक नया छन्द सा प्रतीत होता है—रोला छन्द में शब्दों के कलरव और नृत्य की नाना भंगिमाओं को उत्पन्न करके पन्त जी ने एक नया संगीत उत्पन्न कर दिया है—'परिवर्त्तन' में प्रयुक्त स्वतन्त्र छन्द में भी पन्त जी ने 'संगीत' का ध्यान रखा है। मात्रिक छन्दों में मंदगामी, क्षिप्रगामी, मध्यगामी आदि अनेक प्रकार की पंक्तियों का प्रयोग किया गया है, पर सर्वत्र राग की रक्षा का प्रयत्न है।

पन्त जी 'खेंच ऐंचीला भ्रू सुर चाप' तथा बादल में प्रयुक्त छन्द में तथा निराला जी लय पर आधारित मुक्त छन्द में, अधिक सफल हुए हैं। प्रसाद जी का आँसू छन्द तो प्रसिद्ध ही है, कामायनी में छन्दों का वैविध्य है, महादेवी ने एक ही गीत को सजाया, सँवारा है, सीमित क्षेत्र में ही परिष्कार उनकी विशेषता है।

पन्त जी के मात्रिक छन्दों, निराला के मुक्त छन्दों तथा अन्य छायावादियों के गीतों की 'गेयता' ने सभी को आकर्षित किया क्योंकि संगीत से काव्य सुन्दरतर बनता है। काव्य एक मिश्रित कला है; जिस प्रकार छायावाद में 'चित्रण कला' का भव्यतम रूप मिलता है उसी प्रकार उसमें संगीत का आनन्द भी सुरक्षित है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध के चित्रण और इनका संगीतात्मक रूप प्रियतर बन गया है।

वर्णमैत्री :—स्थापत्य कला का प्रयोग छायावाद के वर्णविधान में दिखाई पड़ता है। पन्त जी के 'अनुप्रास विधान', निराला जी की दीर्घसमासान्त पदावली, प्रसाद जी की अलंकृत पदावली और महादेवी की 'सचिक्कण' पदावली में स्थापत्यकला के उच्च प्रयोग मिलते हैं। पत्थर के टुकड़ों को काट छाँट कर, उन्हें क्रम से सजा कर रखने में जो कला है, वह छायावाद से कोई भी सीख सकता है। रीतिकाल में यह कला चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी किन्तु वहाँ केवल पच्चकारी ही रह गई, अनुभूति की नवीनता और वर्ण्य-विषय पिष्टपेष्टित रहने से, पुनरावृत्ति के कारण रीतिकालीन काव्य में प्रयुक्त पच्चीकारी से लोग ऊब उठे किन्तु छायावाद ने रीतिकाल के दुर्गुणों को दूर कर अनुप्रासप्रियता को अवश्य अपनाया, यह स्मरणीय है। 'अनुप्रास' के बिनः व्यावहारिक भाषा की रुक्षता नष्ट नहीं होती—

बाले ! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा लूं लोचन ?
तेरे भ्रूभंगों से कैसे बिंधवा दूं निज मृग सा मन ?

सम्पृक्त कला:—उक्त पंक्तियों से 'अनुप्रास' निकाल दीजिए, आकर्षण बहुत कम रह जाएगा। अतः छायावादी कवि वर्ण-मैत्री का अत्यधिक ध्यान रखते हैं। बड़े-बड़े पत्थरों के ढोंके लगा कर आतंककारी दुर्ग की दीवाल की तरह भयद भाव के वर्णनों में छायावादियों ने भीषण और बड़े-बड़े शब्दों का ही प्रयोग किया है जैसे कामायनी के 'प्रलय' वर्णन में; पन्त जी के 'परिवर्त्तन' में तथा निराला के बादल राग में। जैसे स्थापत्यकला-निपुण कलाकार यह जानता है कि किस प्रकार के पत्थर का कहाँ उपयोग होना चाहिए, उसी प्रकार छायावादी कवि को शब्द-ज्ञान तथा शब्दों का परस्पर सम्बन्ध भी ज्ञात रहता है। अनुभूति की ऊष्मा, कल्पना की उड़ान और शब्द-शिल्प के साथ-साथ "दृष्टि की विराटता" के कारण ही छायावाद द्विवेदीयुगीन काव्य की नींव पर 'ताजमहल' का निर्माण करने में सफल हुआ है। ताजमहल को देखकर लगता है जैसे वह घनीभूत सगीत (Frozen Music) है। 'ताज' पर समग्र दृष्टि डालते ही पत्थर के टुकड़ों से प्रेमानुभूति भास्वरित होने लगती है। अगों में 'लावण्य' की तरह अनुभूत साफ झलकती है, इसी तरह छायावादी काव्य में संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य और काव्य का एक साथ आनन्द आता है, पाठक की कल्पना में "शिल्प और सहृदयता" के बल पर पल्लव, गुजन, राम की शक्तिपूजा, तरंगों के प्रति, जुही की कली, आँसू, कामायनी, दीपशिखा आदि रचनाएँ लघु और विराट ताजमहलों की रचने में सफल होती है। सम्पूर्ण ललित कलाओं के कौशल को एक साथ अपनाने से काव्य सुन्दर बनता है, इसका प्रबल प्रमाण छायावाद है। कुरूप क़ब्रों के पास बैठा हुआ प्रयोगवादी कवि 'क़ब्र' को प्रतीक मान कर जिस सूक्ष्म यथार्थ को ही सर्वस्व समझ बैठा है और उसी में मग्न है, उसमें भी कुछ आकर्षण अवश्य होगा किन्तु यदि 'क़ब्र' पर बैठे हुए गर्वीले "साईं" की तरह यदि वह 'ताजमहल' की निन्दा करता है, तो दर्शक उसे 'असंतुलित' समझ कर मुस्कराते हुए आगे बढ़ जाएँगे। 'ताजमहल' के भी निन्दक कम नहीं हैं परन्तु उनकी कौन परवाह करता है ?

यह सही है कि केवल 'विन्यास' में सौन्दर्य नहीं है, बिखराव में भी सौन्दर्य है। 'ताजमहल' सुन्दर है किन्तु किसी 'भग्नावशेष, उजाड़ जगह में भी एक आकर्षण होता है। किन्तु यह कहना कि 'ताजमहल' में सौन्दर्य नहीं है और उसका सौन्दर्य सर्वदा मानवीय चेतना को आकर्षित नहीं कर सकेगा, यह मिथ्या सिद्धान्त है, क्योंकि अनुभव इसके विरुद्ध है।

'छायावाद' की कला जानसाधारण से उच्चतर कोटि की हो गई,

लोककाव्य को जो भारतेन्दुयुग समेटता हुआ चला था, वह परम्परा छायावाद में नहीं अपनाई जा सकी किन्तु छायावाद ने गेयता, चित्रण,भावोच्छ्वास, मूर्त्तीकरण और शब्दशिल्प द्वारा जो एक अपना निश्चित और विशिष्ट 'माध्यम' विप्रसित कर लिया, उसके कारण ही खड़ी बोली में यह भव्यता आ सकी और विश्व के श्रेष्ठतम काव्य के समक्ष हम 'कामायनी' को रखने का आज साहस कर सकते हैं अतः जनसाधारव को शिक्षित करके हम उसे छायावाद के आस्वादन के योग्य बना सकते हैं।

हम यह कह सकते हैं कि 'छायावाद' इतना अधिक 'अलंकृत' हुए विना भी महान कृति की सृष्टि कर सकता था। 'रामचरितमानस' प्रमाण है परन्तु जब एतिहासिक परिस्थितियों के कारण ऐसा नहीं हो सका और हमें अलंकृत शैली में उच्चकोटि का काव्य मिल गया तो इसके लिए छायावाद की निन्दा व्यर्थ है। संस्कृत का काव्य जिस प्रकार थोड़ा श्रम करने पर ही आनन्द देता है उसी प्रकार छायावादी काव्य के लिए सहृदयता और शिक्षा की आवश्यकता है। यह कोई नहीं कहता कि सरल भाषा में महान काव्य की सृष्टि असम्भव है किन्तु जब तक ऐसा नही होता तब तक महान काव्य की जो उपलब्धि हो चुकी है, उसकी निन्दा व्यर्थ है। इसके सिवा छायावाद "सांस्कृतिक धरोहर" बन कर समाप्त नहीं हो गया, वह आज भी विभिन्न रूपों में जीवित है, कहीं 'दृष्टिकोण' के रूप में, कहीं सौन्दर्यवादी प्रवृत्ति के रूप में, 'कहीं शब्द शिल्प के रूप में और कही मानवतावादी महान परम्परा के रूप में। इसके सिवा गीतकारों के शिविर में वह आज भी प्रतिध्वनित हो रहा है। इसके साथ-साथ स्वयं पन्त जी अब भी स्वर्ण-काव्य रचते जा रहे हैं जिसमें यत्र तत्र चित्रणकला, नाद सौन्दर्य, भव्य कल्पना और भावोच्छ्वास के साथ-साथ अंतर्दृष्टि की आंतरिकता आज भी मिल जाती है। सिद्धान्तवाद से अलग होते ही पन्त जी की प्रतिभा आज भी जब तब "पुराने जौहर" को प्रस्तुत करने में पीछे नहीं है और उनकी मानवतावादी दृष्टि की तुलना "अवसादी प्रयोगवाद" से करना तो पन्त जी के प्रति अन्याय सा लगता है।

छायावादा दृष्टिकोण की नवीनता के अतिरिक्त एक विशिष्ट माध्यम को अपना कर चला। यह 'माध्यम' कवित्वपूर्ण था क्योंकि इसमें वर्ण्य वस्तुओं, भावनाओं और विचारों को जीवन्त रूप में देखा गया था। यह प्रवृत्ति आज भी प्रचलित है। प्रयोगवादी भी इसे अपनाते हैं क्योंकि काव्य-भाषा तभी समर्थ और सुन्दर होती है, जब एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर आरोप किया जाय। 'दण्डी'

इसे 'समाधिगुण' कहा करते थे। नेत्रों के निमीलन, उन्मीलन का आरोप कमलों पर कर देने से कमल आँखें खोलते और बन्द करते प्रतीत होने लगते हैं। इससे 'कमल' जीवन्त रूप में प्रतीत होते हैं। छायावाद में इस 'उपचार' की ही अधिकता है अतः उसकी सौन्दर्यमयी दृष्टि के अनुकूल 'जीवन्त माध्यम' का आविष्कार हो सका। प्राचीन काल से आज तक बिना इस 'उपचार' के श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि नही हो सकी। छायावाद भी इस तथ्य को प्रमाणित करता है।

छायावादयुग में द्विवेदीयुगीन प्रवृत्तियां—आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि "छायावाद लेकर चलने वाली कविताओं के साथ-साथ और दूसरी धारा की कविताएँ भी विकसित होती हुई चल रही हैं। द्विवेदी काल में प्रवर्त्तित विविध वस्तु-भूमियों पर प्रसन्न प्रवाह के साथ चलने वाली काव्यधारा सर्व श्री मैथिलीशरण गुप्त, ठाकुर गोपालशरण सिंह, अनूप शर्मा, श्यामनारायण पांडेय पुरोहित प्रतापनरायण, तुलसीराम शर्मा 'दिनेश' इत्यादि अनेक कवियों की वाणी के प्रसाद से विविध प्रसंग, आख्यान, और विषय लेकर निखरती तथा प्रौढ़ और प्रगल्भ होती चली चल रही है। उसकी अभिव्यंजना-प्रणाली में अब अच्छी सरसता और सजीवता तथा अपेक्षित वक्रता का भी विकास होता चल रहा है।"[१]

शुक्लजी ने इसी परम्परा के कवियों में रामनरेश त्रिपाठी की रचनाओं को भी प्रतिष्ठित किया है। सियारामशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, गुरुभक्तसिंह, उदयशंकर भट्ट आदि भी इसी परम्परा में आते हैं। ये कवि "न तो केवल नवीनता के प्रदर्शन के लिए पुराने छन्दों का तिरस्कार करते हैं, न उन्हीं में एक वारगी बँधकर चलते हैं। वे एक छोटे से घेरे में इनके प्रदर्शन मात्र से संतुष्ट नहीं होते। उनकी कल्पना इस वक्त जगत् और जीवन की अनंत बीथियों में हृदय को साथ लेकर विचरने के लिए आकुल दिखाई पड़ती हैं।"

इन कवियों के अतिरिक्त माखन लाल चतुर्वेदी का नाम भी लिया जा सकता है परन्तु माखनलाल जी वस्तुतः द्विवेदीयुग और छायावाद के संधि-स्थल के कवि हैं। राष्ट्रीय चेतना और वैयक्तिक कोमल भावनाओं के घात प्रतिघात, और सामञ्जस्य की मनोहरतम अभिव्यक्ति माखनलाल चतुर्वेदी की रचनाओं में दिखाई पड़ती है। उनमें एक ओर तो "चाह नहीं मैं सुरवाला के गहनों में गूँथा जाऊँ" जैसी स्पष्ट पंक्तियाँ हैं, जिनमें अभिधावादी शैली का ही

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास-पृष्ठ ६२८।

प्रयोग है और राष्ट्रीय-उत्तेजक चेतना को ही वाणी मिली है, दूसरी ओर "कैदी और कोकिला" जैसी रचनाओं मेंसंघर्ष के लिए समर्पित चित्तवृत्ति के भीतरी स्तरों पर तड़पती कोमल संवेदनाओं को भी वाणी मिली है—

निज मधुराई को कारागृह पर छाने
जी के घावों पर तरलामृत बरसाने।
या वायुविटप, वल्लरी चीर, हठ ठाने।
दीवार चीर कर अपना स्वर अजमाने
या लेने आयी इन आँखों का पानी
नभ के ये दीप बुझाने की है ठानी ?

लाक्षणिक शैली न अपनाकर भी, चतुर्वेदी जी ने 'निजता' को काव्य में प्रतिष्ठित किया है, जिसका द्विवेदीयुग में अभाव सा दिखाई पड़ता था। वस्तु के मर्म में घुसकर अंतरोद्घाटन इस कवि की विशेषता है। "मील का पत्थर" 'कलिका से' आदि रचनाओं में यही विशेषता मिलती है। 'वार्तालापात्मक' शैली में तो चतुर्वेदी श्रेष्ठ कवि है—

क्यों मुसकाती ! बोलो आली !
जाड़ा है, रात अँधेरी है
सन्नाटा है, जग सोया है
फिर यह काँटों की टहनी है,
कैसे मुसका उट्ठीं आली ?
क्या तुम्हें रात में दीख रहा ?

सियारामशरण गुप्त भावुकतावादी कवि हैं, मनुष्य की भावनाओं का विह्वल होकर वर्णन करने वाले कवि। अतः उनमें कुशल कवि की विदग्धता कम किन्तु सहृदय कवि की रसज्ञता अवश्य मिलती है। विदग्ध और कल्पनावादी कवियों के बीच 'सियाराम' जी की सरल और भावविभोर रचनाएँ एक अलग ही आनन्द देती हैं। दलित वर्ग के प्रति सियाराम जी के वैष्णव हृदय में बड़ी सहानुभूति है—

काम खोजने जा जब निशि को लौटा यह इस घर में।
रुग्णा पाली पहुँच चुकी थी, तब तक लोकान्तर में !
रोया नहीं, नहीं वह विलपा, आँखें भी थीं रूखी,
अच्छा हुआ, बची वह मर कर, अब न रहेगी भूखी।

जीवित थी तब दे न सका कुछ, दिया एक बस अनशन।
अब चिता पर भी न दे सका, उसे यथोचित ईधन।

सियारामशरण वस्तुस्थिति के चित्रण में कहीं भी विदग्धता नहीं लाते, न वैचित्र्य अपनाते है, भावों को द्विवेदीयुगीन कवियों की तरह सीधे सीधे कहते हैं। ऐसी रचनाओं में कवि की भावनाओं की सच्चाई व 'ईमानदारी' और उसकी मानवतावादी दृष्टि अधिक प्रभावित करती है। गीतिड़यों में भी आख्यानात्मकता भरना उनकी विशेषता है।

गोपालशरणसिंह के माधवी, मानवी, संचिता, ज्योतिष्मती, कादंबिनी आदि कई संग्रह हैं। शुक्ल जी ने इनकी रचनाओं में व्यक्त जीवन की अनेक दशाओं की प्रशंसा की है। 'ज्योतिष्मती' पर छायावाद का प्रभाव दिखाई पड़ता है। ठाकुर साहब के खड़ी बोली में कवित्त बहुत पसंद किए गए। कवित्तों का परिष्कृत रूप देखते ही बनता है। काश ! इस प्रवृत्ति का और भी अधिक विकास हुआ होता—"मैने कभी सोचा वह मंजुल मयक मे है, देखता इसी से उसे चाव से चकोर है; कैसा अचरज है, न मैंने जान पाया कभी, मेरे चित्त में ही छिपा मेरा चितचोर है" जैसे कवित्त अत्यधिक सफल हुए हैं—'प्रेम' का बड़ा ही 'उदात्त' रूप इनमें व्यक्त हुआ है, जो गूढ़ता से रहित है—

बन रही तरल तरंग अंग अंग अंग में है—
प्रेम की तरंगिणी तरंगित है तन में।
मन में छिपाये छिपती है अभिलाषा नहीं,
झलक रही है आशा रुचिर वदन में।
त्यों त्यों देखने को दृग होते हैं अधीर और,
ज्यों ज्यों अब हो रहा विलम्ब आगमन में।
जान पड़ता है उन्हें लाने को यहाँ तुरन्त—
आतुर है प्राण उड़ जाने को पवन में।

जगदम्बाप्रसाद ने "हितैषी" इसी प्रदब के अनेक सुन्दर कवित्त लिखे हैं, उनके 'सवैए' भी सफल हुए है। 'हितैषी' जी ने पुराने छन्दों में प्रकृति के प्रति नए दृष्टिकोण को अशिथिल और अलकृत शैली में व्यक्त किया है, साफ लगता है कि ये कवि 'नए कवि' हैं, इनमें आधुनिकता अवश्य है—

नीलोत्पला शैय्या पर निद्रित नीहारिका थी—
झरने लगे थे कल कल गान करने।

उलझे उषा के केश अपने करों से जब
अलग अलग लगा अंशुमान करने।
अम्बर खसित होके जब ओस अम्बुधि में
सुमनों की सुषमा लगी थी स्नान करने।
नाशक वियोग रोग अनुपान आनन्द से
तब योगवारुणी लगा मैं पान करने।

'महादेवी' की तरह हितैषी ने छायावादी सौन्दर्यमूलक दृष्टि और मानवीय दुर्दशा के प्रति आकर्षित होती हुई चित्रवृत्ति के द्वन्द्व का भी चित्रण किया है—"ऊपर प्रसार तारकों के हास्य का है किन्तु, नीचे पृथ्वी के हाहाकार दुखियों का है"। अतः एक ओर तो 'हितैषी' ने "महि से मृत कोमल कामिनियों कलिका बन के फिर से निकली" जैसी सौन्दर्यवादी रचनाएँ प्रस्तुत की तो दूसरी ओर सुधारात्मक स्वर भी उनमे पूरा उभरता हुआ दिखाई पड़ता है। उनमें सर्वत्र 'अभिधावादी' शैली का प्रयोग मिलता है।

अनूप शर्मा ब्रजभाषा के ओजस्वी कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। खड़ी बोली में भी उन्होने दिलचस्प रचना की है, द्विवेदीयुगीन शैली में। कहीं कहीं लगता है कि वैसे 'हरिऔध' बोल रहे हों—

चन्द्रोज्जवल सुभग सुन्दर कान्तिशाली
कैसी प्रशस्त छवि संयुक्त दिग्वधू है!
शोभामयी वसुमती कर यामिनी में
ज्योत्स्ना लसी अमित सुन्दर शोभनीया।

यह "हरिऔधी" शैली "सिद्धार्थ" वर्द्धमान में प्रयुक्त हुई है। हरिऔध ने 'शिखरिणी' का प्रयोग बहुत कम किया है, अनूप जी ने इसी कमी को भी पूरा कर दिया है—

तदा गोपी सोई, सिसक कर दुःस्वप्न दुख से।
पुनः सोते सोते "समय अब आया," सुन पड़ा।
प्रिया के सोते ही विगत कर चिन्ता हृदय की।
लखे फूले तारे रजनिकर-संयुक्त नभ में।

परन्तु 'हरिऔध' जैसी "उद्विग्न भावुकता" अनूप जी में कम मिलती है, कहीं कहीं ही 'भावुकता' कवि पर प्रभाव डालती है—

तमिस्रे, हे निद्रे, कमल दल यों बन्द कर दो।
कि गोपा के दोनों नयन-पुट भी आवृत रहें।

अहो ! ज्योत्स्ने, वामा-अधर अब संपुष्ट कर दो,
सुनाई दें, "हाहा"—वचन उसके जो न मुझको ।

गुरुभक्तसिंह का प्रसिद्ध काव्य 'नूरजहाँ' अभिधावादी शैली में अत्यधिक जनप्रिय काव्य है । छायावादी 'नक़्काशी' सबकी समझ में नहीं आती, न उसके सूक्ष्म संकेत ही सब समझ पात हैं किन्तु 'नूरजहाँ' की भाषा की "अदाएँ" सबको प्रिय लगीं । सरलता, हिन्दू-उर्दू भाषा का अपूर्व सामंजस्य और कवि की चित्रण-शक्ति से सभी प्रभावित हुए । गुरुभक्तसिंह में उचित मात्रा में विदग्धता का भी विधान हुआ है, लक्षणाओं के प्रयोग में भी कवि निपुण है । व्यावहारिक भाषा से सुन्दर महावरे चुन-चुन कर प्रयोग करने में गुरुभक्तसिंह अन्यतम कवि हैं—

मलियानल ! संदेश प्रेम का मेरा उस तक पहुँचा दो ।
उसके अति कठोर मानस को, रस दे देकर पिघला दो ।
अगर उसे सोते पाना तो झटपट नहीं जगाना ।
जाकर पहले छिप उपवन में कलियों को चिटकाना ।
फिर भँवरों को भेज कमलमुख पर गुणगान कराना ।
तितली दल पंखों से झलता रहे, किरण के छींटे ।
पत्रों को समझाते रहना कि ताली मत पीटें ।

'मलयानिल' शीर्षक से रचित कविता की इस भाषा में खड़ी बोली की अपनी सुगंधि है । अत्यधिक संस्कृतमय रूप में भाषा का अपना आनन्द लुप्त हो जाता है और संस्कृत-भाषा अपने आनन्द और सौन्दर्य से खड़ी बोली के स्वरूप और सुगंधि को दबा लेती है, खेद है कि इस तथ्य की ओर कविगण बहुत कम ध्यान देते हैं ।

सुभद्राकुमारी चौहान ने भी द्विवेदीयुगीन अभिधावादी शैली में ही लिखा है किन्तु विषय के गौरव, भाव की ओजस्विता और लोक-काव्य के स्पर्श के कारण उनकी "झाँसी की रानी" बहुत प्रसिद्ध हुई । 'सुभद्रा' जी की भाषा में भी खड़ी बोली ने अपनी सुगंधि क़ायम रखी है । उनकी वाणी ओज में फड़कती हुई और कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति में मसृण हो जाती है—

तुम कहते हो मुझको इसका रोना नहीं सुहाता है ।
मैं कहती हूँ इस रोने से अनुपम सुख छा जाता है ।
सच कहती हूँ इस रोने से छवि को जरा निहारोगे ।
बड़ी बड़ी आँसू की बूँदों पर मुक्तावलि वारोगे ।

श्यामनारायण पांडेय खड़ी बोली के "भूषण" माने जाते हैं। ध्वन्यार्थ-मूलक शब्दों से युद्ध के वातावरण को सवाक् कर देना उनकी विशेषता है। सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत करते हुल चलना उनकी प्रवृत्ति है। 'नर्मदा'-नद जैसा शैली का प्रवाह उनका गुण हैं। "क्षितिज के उस पार क्या है" की धुन में मग्न कवियों के बीच पांडेय जी की वाणी जीवन के उत्साह-क्षणों को व्यक्त करती हुई अपना विशिष्ट स्थान बनाए हुए है। कवि सम्मेलनों में "हाल" की ईंट-ईंट को हिला देने वाली ललकार पांडेय जी में ही मिलती है—

हर एकलिंग, हर एकलिंग, बोला हर-हर अम्बर अनन्त।
हिल गया अचल, भर गया तुरत, हरहरनिनाद से दिगदिगन्त
घनघोर घटा के बीच चमक, तड़-तड़ नभ पर तड़िता तड़की।
झनझन असि की झनकार इधर, कायर दल की छाती धड़की।
गज गिरा, मरा पिलवान गिरा, हय कटकर गिरा, निशान गिरा।
कोई लड़ता उत्तान गिरा, कोई लड़कर बलवान गिरा।

श्यामनरायण पांडेय, आनन्द मिश्र, दिनकर, और नवीन जी ने खड़ी बोली के "कोमल-कोमल" युग में उग्र भावनाओं का वर्णन करके काव्य के वैविध्य को सुरक्षित रखा है। यह दुरूह न होने के कारण और "महाभारत", "आल्हा" पढ़कर उत्साह ग्रहण करने वाली सामान्य जनता में ही नहीं, शिक्षित जनता में भी प्रचलित हुआ। इस काव्य से विदेशी साम्राज्यवाद से लड़ने में भी मदद मिली।

छायावाद-युग में छायावादी चेतना और शैली से प्रभावित मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं का सर्वाधिक महत्त्व है। १९२५ ई० में गुप्तजी की पंचवटी प्रकाशित हुई। इसके प्रारम्भिक प्रकृति-चित्रण पर छायावाद का प्रभाव दिखाई पड़ता है। किन्तु गुप्तजी वैविध्यप्रेमी कवि हैं अतः स्वदेशी संगीत, हिन्दू, शक्ति, सैरन्ध्री, वनवैभव, वकसंहार, गुरुकुल जैसी रचनाएँ भी छायावाद-युग में वह लिखते रहे। 'झंकार' (सन् १९२९ ई०) में प्रकाशित हुई। इसमें स्पष्टतः कवि ने छायावादी चेतना—अलौकिक से प्रेम, का वर्णन किया है किन्तु इसमें कवि की सगुणप्रियता तथा मर्यादावाद और दैन्य बाधक हुआ है। शैली छायावाद से प्रभावित होने पर भी स्पष्टतः द्विवेदीयुगीन अभिधावाद को नहीं छोड़ पाई है। अतः गुप्तजी की महत्त्वपूर्ण कृतियों में केवल 'साकेत' और 'यशोधरा' को ही लिया जा सकता है। 'द्वापर' जयभारत, और 'विष्णुप्रिया' अन्य उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

साकेत और यशोधरा, क्रमशः १९३१ और १९३२ ई० की रचनाएँ हैं, छायावाद के पूर्ण वैभव का यह युग था। दोनों कृतियाँ "उपेक्षिता नारियों के उद्धार" के लिए लिखी गई हैं। छायावाद नारी की महिमा का गायन था, जो सामंतवादी उस दृष्टि का, जो 'नारी' को भोग्या, दासी आदि समझती थी, विरोधी था। छायावाद 'नारी' को जीवनसाथी के रूप में स्वीकार करता है और प्रेम तथा जीवन के अन्य पक्षों में पूर्ण स्वतंत्रता का प्रचारक है बल्कि 'प्रसाद' जी तो नारी को बर्बर मनुष्य का सुधारक मानते थे। प्रकृति पर विजयी और सतत संघर्षशील पुरुष को प्रेम, करुणा और त्याग से वश में करके उसे मानवीय गुणों की शिक्षा देने वाली 'नारी' प्रसाद जी के यहाँ 'श्रद्धा' के रूप में प्रतिष्ठित है जो इस जीवन में ही नहीं, परलोक के लिए भी मनुष्य को "सिद्धि" दे सकती है !

गुप्तजी वैष्णव कवि हैं, जिसमें दलित वर्ग के प्रति प्रारम्भ से ही सहानुभूति रही है। "पराई पीर" को समझने वाले व्यक्ति को ही 'वैष्णव' कहा गया है। युग की प्रवृति देखकर गुप्तजी ने भी अपनी "वैष्णव" सहानुभूति 'उर्मिला' 'यशोधरा' और "विष्णुप्रिया" को दी है किन्तु यह स्मरणीय है कि यह सहानुभूति और नारी का आत्मगौरव किसी समाजशास्त्रीय सिद्धान्त पर आधारित नहीं है, जिसके अनुसार नारी-वर्ग की उन्नति के लिए उन्हें "आर्थिक-शिक्षा सम्बन्धी, सामाजिक कार्य-चयन सम्बन्धी सभी अधिकारों" के देने की प्रवृत्ति है। गुप्तजी प्राचीन हिन्दू पारिवारिक व्यवस्था को ही श्रेष्ठ मानते हैं, और सामंती संयुक्त-परिवार-व्यवस्था के हामी हैं। वे चाहते केवल यह हैं कि स्त्रियों के व्यक्तित्व का आदर हो, उनमें स्वाभिमान का विकास हो किन्तु यह कैसे होगा ? क्या केवल मौखिक सहानुभूति से ? इन प्रश्नों के उत्तरों के चक्र में न पड़कर गुप्तजी केवल पुरुष के मन में सहानुभूति—जागरण को ही पर्याप्त मानते हैं अतः नारी के प्रति छायावादी दृष्टिकोण स्वच्छन्दतावादी था, जबकि गुप्तजी का दृष्टिकोण 'वैष्णवीय' दृष्टिकोण है। स्वच्छन्दतावाद, पूँजीवादी व्यवस्था के अनुसार नारी को सामंती बन्धनों से मुक्त करना चाहता था, जब कि गुप्तजी सामंती बन्धनों के मूलाधार – पुरुष के आर्थिक प्रभुत्व की कहीं आलोचना नहीं करते ! उनकी 'सदिच्छा' है कि नारी पुरुष के समान सम्मान पाए परन्तु इस 'सदिच्छा' को कार्यरूप में परिणित करने के लिए 'सामंती' व्यवस्था में—आमूलचूल परिवर्त्तन के लिए वह कभी प्रस्तुत नहीं हुए—उनमें एक भद्र और उदार व्यक्ति की सदिच्छा मात्र है, सामाजिक क्रान्तिकर्त्ता की वास्तविक दृष्टि नहीं है। तभी यशोधरा और 'उर्मिला' जैसी नारियाँ 'पीड़ा' को

अधिक व्यक्त करती हैं, आत्मसम्मान प्रकट करती हैं किन्तु कहीं भी यह नहीं सोचतीं कि अंततः अबला-जीवन की इस करुण कहानी का अंत कैसे होगा ? अथवा नारी कब से और क्यों "अंचल में दूध और आँखों में पानी" भरकर रोती आई है ! गुप्तजी ने सामाजिक क्रान्ति के "स्वरूप" को समझने का कभी प्रयत्न नहीं किया। यही कारण है कि उनके नारी पात्र अन्त में सर्वदा अंध-समर्पण की ओर उन्मुख हो जाते हैं। 'द्वापर' की विधृता' ही केवल विद्रोह करती है किन्तु वहाँ भी असंतोष 'अंध विद्रोह' है। पाठक के सम्मुख यह स्पष्ट नहीं होता कि अंततः पुरुषों की अहम्मन्यता का कारण क्या है ?

रोग के निदान और वास्तविक औषधि की ओर पाठकों का ध्यान न खींचकर गुप्तजी "नारी जीवन के यथार्थ चित्रण" पर अधिक बल देते हैं। नारी जीवन की 'पीड़ा' को पूरी ईमानदारी से उन्होंने व्यक्त किया है और यहाँ गुप्तजी की उपलब्धि प्रशंसनीय है। साकेत और 'यशोधरा' में कसकते हुए नारी-हृदय की मार्मिक चित्रावलियाँ और उक्तियाँ निश्चित रूप से छायावादी युग में "नारी-जागरण" और "महिला-आन्दोलन" के कवि पर प्रभाव को ध्वनित करती हैं। भारतीय नारी की 'ममता, आत्मयातना, अपमान, और 'आँसुओं' को जितना गुप्त जी समझते हैं, उतना बहुत कम कवि समझते हैं। गुप्तजी की 'नारी' का 'वांयवीकरण' नहीं है जैसा कि छायावाद में मिलता है। यहाँ धरती पर रहने वाली, पग-पग पर यातना भोगती हुई और 'बर्बर पुरुष के तेज को अपने उदर में ढोती हुई नारी का वास्तविक रूप अंकित है ! 'साकेत' और यशोधरा' का मुख्य योगदान समाज के अर्धभाग को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक करने में है।

'साकेत' एक महाकाव्य माना जाने लगा है। उसमें 'राम' का आदर्श चित्रित है और लक्ष्मण, भरत आदि का अनुपम त्याग भी अंकित है। किन्तु इस पुरानी कथा का विन्यास नया है। 'साकेत' के प्रथम सर्ग में मर्यादावाद उतना नहीं है। लगता है, कालेज में शिक्षित युवक अपनी वधू से प्रेमालाप कर रहा है—यह नए युग का प्रभाव है, छायावाद की द्विवेदी युग पर विजय है—

पार्श्व से सौमित्र आ पहुँचे तभी
और बोले—लो, बता दूं मैं अभी
मुस्कराकर अमृत बरसाती हुई।
रसिकता में सुरस सरसाती हुई।

उर्मिला बोली, अजी तुम जग गए।
स्वप्ननिधि से नयन कब से लग गए ?
"मोहिनी ने मन्त्र पढ़ जब से छुआ"
जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ"
"जागरण है स्वप्न से अच्छा नही"
"प्रेम में कुछ भी बुरा होता नही"

उर्मिला की इस उक्ति में भी आधुनिकता की झलक है—

दास बनने का बहाना किस लिए
क्या मुझे दासी कहाना, इसलिए ?

सन् ३० तक इतना मनोविज्ञान गुप्तजी भी समझ गए थे कि कोई व्यक्ति पूर्णतः बुरा नहीं होता। उनकी 'वैष्णवता' ने भी पतित पावनता की ओर उन्हें उन्मुख किया अतः कैकेयी के चरित्र के दोषों को दूर किया गया।

'साकेत' में कथा की विशृंखलता, सर्गों के विस्तार में संतुलन का अभाव आदि दोष नहीं, आधुनिकता के प्रतीक हैं। "फ्लैशलैक" द्वारा कथा को शीघ्र दुहरा देना और अभीप्सित अंश का विस्तार से वर्णन करने की प्रवृत्ति ही 'साकेत' में है। अतः नवम् सर्ग में विस्तृत विरह-वर्णन और छायावादी शैली का प्रयोग, दशम सर्ग में उर्मिला द्वारा पूर्व कथा कहने के लिए "फ्लैशबैक" का प्रयोग तथा द्वादश सर्ग में सारी जनता को एक साथ 'दिवास्वप्न' या "दिव्यदृष्टि" द्वारा लंका की घटनाओं का प्रदर्शन आदि प्रवृत्तियाँ यह बताती है कि साकेत नए युग का काव्य है। अंत भी लक्ष्मण-उर्मिला मिलन से होता है। 'आधुनिका' की तरह ही उर्मिला अपने विगत यौवन पर पश्चाताप करती हुई दिखाई पड़ती है।

'साकेत' में द्विवेदीयुगीन वर्णनात्मक अभिधावादी शैली का ही प्रयोग है, परन्तु यह साफ़ झलकता है कि यह नए युग की रचना है। वेदना का स्तवन (वेदने ! तू भी भली बनी), दीप-शलभ के प्रतीक, स्मृति मे 'आलिंगन' का वर्णन (मुख लज्जा, उसी छाती में छिपाई थी), प्रकृति में प्रिय के सौन्दर्य के दर्शन पर बल (निरख सखी, ये खंजन आए, ध्वन्यार्थमूलक शब्दों में 'नदी" का वर्णन (सखि, निरख नदी की धारा), अमूर्त्त-उपमान, साध्यवसाना लक्षणा का प्रयोग (शिशिर, न फिर गिरि बन में), नए, रूपक (मेरे चपल यौवन बाल) मानवीकरण (श्रुति पुट लेकर पूर्वस्मृतियाँ खड़ीं, यहाँ पट खोल) आदि प्रवृत्तियों से 'साकेत' पर छायावाद का प्रभाव स्पष्ट झलकता है।

यशोधरा में भी गीतिकाव्य पर तथा कई उक्तियों पर छायावाद का प्रभाव दिखलाई पड़ता है परन्तु गुप्तजी की यह विशेषता है कि वह अपना द्विवेदीयुगीन आख्यानात्मक रूप कभी नहीं छोड़ते। उन्हें पढ़कर साफ लगता है कि कोई पुराना सफल कवि, नए युग में लिख रहा है। छायावादी कवि सौन्दर्य-वादी अधिक था, जबकि गुप्तजी की प्रतिभा भावुकतावादी है।

गद्यकाव्य :—जब गद्य में काव्य की भावुकता कल्पना और अलंकृति आती है, तो गद्यकाव्य का जन्म होता है। डा० कमलेश के अनुसार "अपने आधुनिक रूप में गद्यकाव्य हिन्दी की विशेषता है"[1] यानी अन्य भाषाओं में इतनी मात्रा में गद्य काव्य का विकास नहीं हुआ। उक्त लेखक के अनुसार सर्वप्रथम गद्यकाव्य भारतेन्दु के नाटकों के 'समर्पणों' में मिलता है। गोविन्द-नरायण मिश्र, और प्रेमधन में भी गद्यकाव्य मिलता है। जगमोहनसिंह के 'श्यामस्वप्न' में गद्यकाव्य के मार्मिक अंश हैं। बालकृष्ण भट्ट का 'चन्द्रोदय' अलंकृत गद्य काव्य के रूप में प्रसिद्ध ही है।

किन्तु सन् १९११ से कमलेश जी एक नए गद्यकाव्य का आरम्भ मानते हैं। प्रसाद जी के 'इन्दु' और बाबू ब्रजनन्दन सहाय के 'सौन्दर्योपासक' में गद्य-काव्य का अच्छा विकास हुआ। बँगला के चन्द्रशेखर मुखोपाध्याय के 'उद्भ्रान्त' प्रेम में व्यक्तिगत प्रेम की मार्मिक व्यंजना हुई। राजा राधिकारमण प्रसादसिंह की "प्रेम लहरी" (सन् १९१६) मोहनलाल महतो वियोगी के "धुंधले चित्र" (१९३०) और सुधांशु के 'वियोग' में यही परम्परा चली।

द्रष्टव्य यह है कि छायावाद के प्रारम्भिक चरण में यह प्रेम-पूर्ण गद्यकाव्य द्विवेदीयुगीन दृष्टि के विरुद्ध छायावाद के विकास में योग दे रहा था। माखनलाल चतुर्वेदी के सन् १४-१५ के कवित्वमय गद्य खण्डों में प्रेम के ही उद्गार हैं और यह प्रेम परब्रह्मपरक भी है। रायकृष्णदास ने रवीन्द्र से प्रभावित होकर सन् १९१६ में 'साधना' गद्यकाव्य में की प्रस्तुत ही अतः इसे "छायावादी गद्यकाव्य की कृति" ही कहा जाना चाहिए। वियोगी हरि की तरंगिणी' (१९१९) और चतुर सेन शास्त्री के "अन्तस्तल" (१९२१) में भी अन्तर्मुखता की प्रवृत्ति ही प्रधान है।" "अन्तस्तल" में मानसिक वृत्तियों के शब्दचित्र हैं" जो छायावादी प्रवृत्ति थी, सन् १९२६ ई० में वियोगी हरि का 'अन्तर्नाद' प्रकाशित हुआ, इसमें भी रहस्योन्मुखता स्पष्ट है यद्यपि देश, समाज

---

१. हिन्दी गद्य काव्य-शोध-ग्रन्थ।

की भी चिन्ता यहाँ व्यक्त हुई है। सन् १९२९ में प्रकाशित रायमृण्णदास के 'छाया पथ' का तो नाम ही छायावादी है और वर्ण्यविषय और शैली भी नवीन है। रामकुमार वर्मा की 'हिमहास' (१९३५) भी ऐसी ही रचना है।

कहना यह है कि छायावाद ने केवल द्विवेदीयुगीन कवियों को ही प्रभावित नहीं किया अपितु गद्यकारों को भी प्रभावित किया और गद्य में छायावादी-रहस्यवादी चेतना को मुखरित किया गया। दूसरे गद्यकाव्य का विधा की दृष्टि से भी एक महत्त्व है। असलियत यह है कि छायावाद के बाद, प्रयोगवादी कवियों की अनेक रचनाएँ गद्य काव्य में ही रखी जा सकती हैं, क्योंकि किसी भी प्रकार की लय, तुक आदि का प्रयोग जब कवियों को इष्ट नहीं रहता तब उसे 'पद्य' नहीं माना जा सकता। डा० कमलेश ने अपनी शोध में "नई कविता" की गद्यकाव्यात्मक रचनाओं को शामिल नहीं किया, किन्तु होना ऐसा ही चाहिए था। इससे इस भ्रम का विनाश होता कि 'नई कविता में जो लिखा जा रहा है, वह सब कविता है" और यह कोई अपमान की बात नहीं है। 'गद्य' में बाण और सुबन्धु को "कवि" ही कहा गया है किन्तु यह किसी ने नहीं लिखा कि 'कादम्बरी' कविता है, उसे 'गद्य' ही कहा गया है, कहना चाहिए। आगे हम देखेंगे कि प्रयोगवाद में छायावाद-युग में विकसित यह विधा और भी अधिक विकसित हुई।

चतुर्थ प्रवाह

प्रगतिवाद

हिन्दी काव्य छायावाद-युग में, गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों मे सूक्ष्म, अलंकृत और विविध भावनाओं को व्यक्त करने में प्रौढ़ता प्राप्त कर सका। इसके लिए सारा श्रेय केवल छायावादियों को ही नहीं दिया जा सकता, क्योंकि छायावादयुग में द्विवेदीयुगीन कवियों ने भी प्रचलित भाषा के विकास में अद्‌भुत योग दिया है। अभिधा और लक्षणा-दोनों शब्दशक्तियों का चरमविकास छायावाद-युग की उपलब्धि है। वाच्यार्थ के आधार को न छोड़ते हुए, 'कला' का कौशल-प्रदर्शन गुप्तबन्धुओं, गुरुभक्तसिंह, गोपालशरणसिंह आदि कवियों की विशेषता है, यह प्रवृत्ति छायावादी सूक्ष्म शैली की प्रतिक्रिया में बच्चन, अंचल, दिनकर, नरेन्द्र आदि में एक नए रूप में विकसित हुई। उधर छायावाद ने लक्षणा और लक्षणा पर आधारित व्यंजना तथा प्रतीकात्मक भाषा का विकास चरम सीमा पर पहुँचा दिया।

किन्तु छायावाद के उत्तरकाल में लोग यह अनुभव करने लगे थे कि छायावाद विषयवस्तु की दृष्टि से ही 'असाधारण' नहीं है, अपितु उसकी शैली भी सहजगम्य नहीं है। महावीरप्रसाद द्विवेदी का भी मुख्य आरोप यही था किन्तु तब नवीन शैली और नवीन विषयों की व्यंजना की ऐतिहासिक आवश्यकता को अज्ञात रूप से अनुभव करने वाले शिक्षित-वर्ग ने द्विवेदी जी की बात पर ध्यान नहीं दिया था। १०-१२ वर्ष छायावाद का आनन्द ले चुकने के बाद तथा राष्ट्रीयसंघर्ष में नई चेतना के आगमन के कारण लोगों की 'रुचि' में परिवर्त्तन होने लगा। जो यह समझते हैं, कि काव्य के रूप में परिवर्तन का मुख्य कारण 'रुचि' है, उन्हें यह समझना चाहिए कि सामाजिक परिस्थितियाँ ही रुचि विशेष का रूप निर्धारित करती हैं। सामाजिक परिस्थितियों के

कारण कई शताब्दियों तक धार्मिक काव्य के पठन-पाठन से लोग ऊबे नहीं किन्तु 'औद्योगीकरण' होते ही विभिन्न सम्प्रदायों का साहित्य केवल 'शोध' का विषय रह गया। इसी प्रकार 'छायावाद' का आनन्द और भी अधिक समय तक कविगण उठाते रहते, यदि सामाजिक परिस्थितियों में द्रुत परिवर्तन न होते। कम से कम हमारे देश में सामाजिक क्षेत्र में बिना किसी परिवर्तन के रुचियाँ फैशन की तरह नहीं बदलीं।

हम देख चुके हैं कि छायावाद-युग में द्विवेदी युग से अधिक तेजी के साथ उद्योगों में पूँजी लगी किन्तु यह विदेशी पूँजी ही अधिक थी अतः भारतीय श्रेष्ठी वर्ग राष्ट्रीयता का दम भरता था। उधर पूँजीपतियों और ज़मींदारों को अपने पक्ष में रखने के लिए 'शेयरों' के रूप में भारतीय पूँजीपतियों को प्रोत्साहन भी मिल रहा था। बीस लाख से अधिक मज़दूर देश में काम कर रहे थे जिनके सम्मुख यह प्रश्न था कि यदि आज़ादी मिली तो उस पर किसका अधिकार होगा ? गांधी जी के समय में वर्ग-संघर्ष स्पष्ट हो गया था। अतः काँग्रेस के भीतर, एक समाजवादी उपदल की स्थापना हुई। जवाहरलाल नेहरू, राममनोहर लोहिया, जयप्रकाशनरायण, इसी उपदल की प्रतिभाएँ हैं।

सन् १९२७ ई० में भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई किन्तु सन् २७ ई० के पूर्व से ही जागरूक नवयुवकों पर रूसी राज्य-क्रान्ति का प्रभाव पड़ चुका था। रूसी साहित्य और क्रान्तिकारी द्वन्दात्मक भौतिकवाद के प्रति रुचि भी जाग्रत हो चुकी थी। आश्चर्य का विषय यह है कि छायावादी कवियों पर इस दर्शन का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा अन्यथा छायावाद का रूप ही कुछ और होता और यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उसमें अलौकिक प्रेम की इतनी मात्रा और भविष्य-दर्शन के विषय में इतनी अस्पष्टता नहीं आ पाती। कामायनी सन् १९३५ में प्रकाशित हुई किन्तु प्रसाद जी पूँजीवादी पाश्चात्य सभ्यता और उसके भारतीय संस्करण के विरुद्ध तीव्र रोष व्यक्त करके भी, अपने बुद्धिवाद, वर्गवाद, असहृदयता और निष्ठुरता का "सारस्वतनगर" के वर्णन में प्रदर्शन करके भी, साम्यवादी विचारधारा से पूर्णतः परिचित न होने के कारण मनु को कैलास पर ले गए और कल्पित आनन्दवादी भूमि के दर्शन कराके, मानवता को यह संदेश दे गए कि समस्या का निदान बाहर नहीं, भीतर बुद्धि और श्रद्धा के समन्वय में है। स्पष्टतः प्रसाद जी वर्गहीन समाज की कल्पना और उसके कार्य रूप में परिणति के द्वन्द्वात्मक संघर्ष के स्थान पर 'रहस्यवाद' की ही अंत में स्थापना करते हैं।

बावजूद सारी सदिच्छाओं और स्वप्नों के 'ज्योत्स्ना' (पन्त) का 'कल्पित लोक' और कामायनी का कैलास 'यूटोपिया' ही है।

अतः कवियों से कहीं अधिक जागरूक, वे नवयुवक थे जो राजनीति के क्षेत्र में कार्य कर रहे थे। राजनीतिज्ञों द्वारा ही सर्वप्रथम द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का अध्ययन हुआ। कथाकारों में प्रेमचन्द अवश्य राजनीतिज्ञों की तरह ही जागरूक थे और उन्होंने 'गोर्की' के साहित्य का अध्ययन करके समाज के भावी रूप—पूँजीवाद के विनाश और वर्गहीन व्यवस्था को समझ लिया था अतः 'वर्गसंघर्ष' को अपनी आखों से, चारों ओर देखकर उन्होंने उपन्यासों में चित्रित किया। गांधी जी के प्रभाव से उन्हें यह विश्वास था कि शायद उच्च वर्ग का हृदय परिवर्त्तन हो जाए और क्रान्ति के बिना ही वर्गहीन राज्य की स्थापना हो जाय किन्तु 'गोदान' तक आते-आते उनके इस भ्रम का भी निराकरण हो चुका था, यह स्मरणीय है कि गोदान सन् १९३६ की रचना है! हिन्दी में अकेले प्रेमचन्द ही छायावादी युग में सामाजिक व्यवस्था का वास्तविक स्वरूप समझते थे। उनकी रचनाएँ सन् १९१८ ई० से १९३६ ई० के बीच में लिखी गईं। 'निराला' पर भी गोर्की का प्रभाव पड़ा। अतः उनके कथा-साहित्य में भी 'यथार्थ' का चित्रण हुआ। प्रेमचन्द के प्रेरणा-स्वरूप प्रसाद जी ने भी 'कंकाल' और 'तितली' में समाज के अन्तर्विरोधों का पर्दाफाश किया।

सन् १९३५ में कामायनी प्रकाशित हुई। इसी वर्ष पेरिस में फासिस्टों के विरोध में ई० एम० फोर्सटर (E. M. Forester) की अध्यक्षता में साम्यवादी लेखकों की बैठक हुई। इसी वर्ष मुल्कराज आनन्द, सज्जाद ज़हीर आदि के प्रयत्न से प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई, प्रथम बैठक लंदन में हुई। सन् १९३६ में 'गोदान' का प्रकाशन हुआ और इसी वर्ष प्रेमचन्द के सभापतित्त्व में, प्रगतिशील लेखक संघ की बैठक लखनऊ में हुई!

दलितवर्गों के प्रति सहानुभूति भारतीय काव्य और साहित्य में प्रारम्भ से ही मिलती है। महानकवि में मानवतावाद होता ही है, परन्तु उन सबको 'प्रगतिवादी' नहीं कहा जा सकता, उन्हें प्रगतिशील अवश्य कहा जा सकता है, क्योंकि वाद या एक सिद्धान्त के रूप में प्रगतिवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से सम्बन्धित है। उदाहरण के लिए मध्ययुग में ग़रीबी रोग, दुःखों आदि का वर्णन करके भी साहित्यकार समझता था कि यह सब 'ईश्वरीय विधान' है अतः उनकी दृष्टि आदर्शवादी थी। वह 'रामराज्य' की कल्पना तो कर सकते थे किन्तु यह नहीं समझते थे कि समाज के विकास के नियमों को समझकर

वर्ण, वर्गहीन समाज की स्थापना की जा सकती हैं। 'राजा' यदि बुरा था तो वह 'राम' के रूप में आदर्श राजा की कल्पना कर सकते थे परन्तु राजा रहित समाज की कल्पना तब असम्भव थी।

इसी तरह आधुनिक युग में छायावादी स्वतंत्रता और समानता की घोषणाएँ तो करते थे परन्तु यह न जानते थे कि समाज के विकास का सिद्धान्त क्या है, और पूर्ण समतायुक्त समाज कैसे बन सकता है? रवीन्द्रसहाय वर्मा ने लिखा है कि नरेन्द्र शर्मा, नेमिचन्द, शमशेर, प्रभाकर माचवे, नरेशमेहता आदि कवि अँगरेज़ी के साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित 'आडेन' (Auden) जैसे कवियों से प्रभावित हैं। किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी लिखा है कि आडेन वर्ग के कवि राजनीति की दृष्टि से साम्यवाद की ओर प्रवृत्त थे परन्तु उनमें 'व्यक्तिवाद' भी पूर्णतः मिलता है अतः मार्म्सवादी नियंत्रण के विरुद्ध विद्रोह भी ध्वनित करने लगते हैं!

इस तथ्य से भी यही स्पष्ट होता है कि परवर्ती छायावादी कवि भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से पूर्णतः परिचित न थे। अतः प्रगतिशील लेखकसंघ की स्थापना के वाद साहित्यकारों का ध्यान सिद्धान्तपक्ष की ओर भी गया। कुछ ने इसे पूर्णतः स्वीकार किया और कुछ ने इसे "अशतः" स्वीकार किया। उदाहरण के लिए पन्तजी ने मार्क्सवाद को अंशतः स्वीकार किया। ज्योत्स्ना (१९३२) में भी वह भूतवाद और अध्यात्मवाद के समन्वय की चर्चा करते हैं, और युगान्त और युगवाणी में भी। किन्तु स्मरणीय यह है कि युगान्त (१९३५-३६) तथा युगवाणी (१९३६-३९) में उनकी सहानुभूति मार्क्सवाद की ओर अधिक दिखाई पड़ती है और 'गांधी' जी के कार्यों तक को उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टि से देखा है।

निराला जी की रचनाओं को दो अवधियों में बाँटा गया है—१९१६ से १९३४ तक की रचनाएँ और १९३४ से १९३८ ई० तक की रचनाएँ। सन् ३८ के बाद निराला पर स्पष्टतः प्रगतिवाद का प्रभाव दिखाई पड़ता है। सन् ३४ से सन् ३८ ई० के बीच की प्रमुख रचनाएँ ये हैं—सरोजस्मृति (१९३५) राम की शक्ति पूजा (१९३६) वह तोड़ती पत्थर (१९३५) हिन्दी के सुमनों के प्रति (१९३७) वनवेला (१९३७) तुलसीदास (१९३८)। इन रचनाओं में वह 'तोड़ती पत्थर' ही प्रगतिवादी रचना कही जा सकती है अतः सन् ३८ ई० के बाद की रचनाओं को ही प्रगतियुग में रखना उचित होगा। अणिमा, नए पत्ते, कुकुरमुत्ता आदि रचनाओं में निराला प्रगतिवादी दिखाई पड़ते हैं।

सन् १९३८ ई० के 'रूपाभ' में पन्त जी ने सम्पादकीय में लिखा—"इस युग की वास्तविकता ने जैसा उग्र रूप धारण कर लिया है, इससे प्राचीन विश्वासों में प्रतितिष्ठत हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गए हैं। श्रद्धा, अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा है और काव्य की "स्वप्न-जड़ित" आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई है। अतएव इस युग की कविता सपनों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।[१]

अत: रवीन्द्रसहाय वर्मा से मैं सहमत हूँ कि "पन्त द्वारा इंगित कविता का यह नया आदर्श वस्तुत: मार्क्सवादी आदर्श है। युगवाणी में स्पष्टत: कवि ने कहा कि "मृत्यु नीलिमा गहन गगन" को छोड़ कर "पुण्यप्रसू भू" की ओर देखना ही उचित है, युगधर्म है।" युगान्त में कवि पुरातन के नाश के लिए विद्रोहस्वर व्यक्त करता है—

साम्यवाद के साथ स्वर्ण युग करता मधुर पदार्पण।
मुक्त लिखित मानवता करती, मानव का अभिवादन !

(युगवाणी)

ग्राम्या में कवि पन्त ने स्पष्ट घोषित किया—

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार

अत: द्वितीय विश्वयुद्ध के कम से कम ६ वर्ष पूर्व ही छायावादी और परवर्ती छायावादी (अंचल, नरेन्द्र, आदि) तथा राष्ट्रीय (दिनकर, नवीन आदि) कहे जाने वाले कवियों को मार्क्सवाद से प्रेरणा मिलने लगी थी और सन् ३५-३६ से स्पष्टत: हम प्रगतिवादी "काव्य प्रवाह" के दर्शन कर सकते हैं।

किस प्रकार 'विचार तत्त्व' बदल जाने पर 'रुचि' में परिवर्त्तन हो जाता है, इसका प्रबल प्रमाण प्रगतिवादी प्रवाह का आगमन है। स्वयं छायावादी कवियों ने ही 'छायावाद' को असामयिक घोषित किया, उसे मात्र "अलंकृत संगीत" कहा और नई चेतना का स्वागत किया। इससे यह स्पष्ट है कि छायावादी कवि जनमंगल वास्तविक रूप में चाहते थे। 'मार्क्सवाद' के

---

१. हिन्दी पर आंग्ल-प्रभाव।

द्वारा वे जनकल्याण के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों से भी परिचित हो गए अतः अपने को बदलने के लिए प्रस्तुत हो गए किन्तु छायावादी संस्कार इतने गहरे थे कि उनसे शीघ्र मुक्ति मिलना कठिन था। भारतीय आदर्शवादी-चिंतन से पूर्ण मुक्ति भी कठिन थी अतः "भौतिक उन्नति के लिए मार्क्सवाद" और "आध्यात्मिक उन्नति के लिए भारतीय अध्यात्मकवाद" के समन्वय की ओर संस्कार निष्ठ, पन्तजी का मन स्वतः ही अकर्षित हो गया और आज तक वह दोनों परस्पर विरोधी दर्शनों के गडम्गड्ड (Patch-work) को व्यंजित कर रहे हैं। अरविन्द-दर्शन ने उनकी इस इच्छा को पहले से ही सिद्धान्त रूप में प्रतिष्ठित कर रखा था अतः नूतनकाव्य पर अरविन्द का अपरिमित प्रभाव दिखाई पड़ता है।

प्रगतिवाद के फलस्वरूप कविगण नूतन विषयों की ओर आकर्षित हुए। 'आपबीती' के माध्यम से 'जगबीती' कहने वाला छायावादी कवि भी अब चारों ओर फैले दुःख और दारिद्रय का वर्णन करने लगा। प्रत्येक कवि में 'भवभूति' की आत्मा जैसे प्रविष्ट कर गई हो। विषमता के विरुद्ध वह 'भूषण' की तरह गरजने तरजने लगा। उसने अलंकारों द्वारा अलंकार-ध्वनि और अतिशयकल्पनावाद द्वारा केवल सुन्दर पदार्थों के वर्णन में उपमान-विधान के स्थान पर अभिधावादी शैली पुनः अपनाई। उक्तियों की सूक्ष्मतर पगचाप के स्थान पर—सामूहिक जनता की आन्दोलनकारिता का चित्रण होने लगा। 'सुन्दर के स्थान पर 'कुरूप' और 'मोहक' के स्थान 'रुक्ष' की ओर दृष्टि गई। केवल 'प्रेम' की कोमल भावनाओं के स्थान पर सामूहिक क्रान्ति का भैरव नाद ध्वनित होने लगा। 'विरहा' के स्थान पर 'भैरवी' का स्वर सुनाई पड़ने लगा। 'चिरन्तन सत्ता' या "अलक्ष्य साजन" के स्थान पर केवल भूततत्त्व (Matrer) की सत्ता को ही वास्तविक मानकर, उसके विकास के क्रम में, चेतना को स्वीकार कर ईश्वरवाद के स्थान पर मानव' का प्रकृति से सनातन संघर्ष, वाणी का विषय बनने लगा। प्रार्थना, समर्पण, मनुहार, रहस्यवाद, प्रकृति में ब्रह्मरूपाभास के तथा प्रकृति के नारीकरण के स्थान पर ईश्वर को चुनौती, उसकी सत्ता का निषेध, यथार्थवाद, प्रकृति का यथातथ्य रूप-वर्णन और नारीकरण के स्थान पर प्रकृति के अब तक उपेक्षित रूपों के यथावत् चित्रण पर बल दिया जाने लगा। मानवसमाज में शोषित वर्ग को जाग्रत करने का लक्ष्य काव्य के सम्मुख उपस्थित हुआ, क्योंकि केवल 'सर्वहारावर्ग' की जागृति ही समाज के सुनहले भावी रूप की प्राप्ति में कारण मानी गई। वर्गहीन, वर्णहीन, और स्वतंत्रतायुक्त समाज की झाँकियाँ प्रस्तुत की जाने

लगीं और महलों के स्थान पर, झोपड़ियों के गीत गाए जाने लगे ! 'लोक-मानस' को समझने, लोकजीवन के विविध जीवनस्तरों—उसके आचार-विचारों, नाच रंगों आदि को वाणी दी जाने लगी—पन्त जी वैसे पर्वतीय सुषुमा और पारलौकिक सत्य को वाणी देने वाले "जनभीरु" कवि भी कालाकाँकर नरेश के राजमहलों के वातायनों से लोकजीवन के विविध रूपों को पुरानी रोमानी दृष्टि से देखने लगे। जिसे रुक्ष, अशिष्ट, अपरिष्कृत, अशिक्षित समझा जाता था, उस किसान और मज़दूर के जीवन को करुणा पूर्ण नेत्रों से देखा गया। उसकी प्रत्येक गतिविधि को 'विस्मय' की दृष्टि से चित्रित किया गया, नागरिक रुचि और नागरिक जीवन का उपहास किया गया क्योंकि वह शोषकों की संस्कृति थी। सभ्यता को अपने दुर्बल कंधों पर धारण करने वाले, अपने रक्त से सभ्यता के बाग़ को सींचने वाले शोषित वर्ग का महत्त्व काव्य में स्वीकार कर लिया गया, उसे क्रान्तिकारी वर्ग के रूप में देखा गया और पूँजीवादी समाज की निष्ठुरता देखकर, मध्यवर्गीय प्रगतिशील चेतना इस नूतन वर्ग को जाग्रत करने में जुट पड़ी क्योंकि समाजवादी विचारधारा ने स्पष्ट कर दिया था कि समाज का कल्याण उत्पादन के साधनों पर जनता के सर्वाधिकार सुरक्षित करने में है और यह कार्य साम्यवादी दल की देखरेख में ही सम्भव है अतः राजनीतिज्ञ और साहित्यकार कंधा से कंधा भिड़ा कर काम करने लगा।

परवर्ती छायावादी कवियों—अंचल, नरेन्द्र शर्मा, बच्चन आदि में जो "आत्ममूढ़" व्यक्तिवाद विकसित हुआ था, प्रगतिवाद की प्रेरणा ने इन कवियों को जैसे नवप्रकाश का दान किया अतः इन कवियों में केवल मांसलवाद, क्षयी रोमांसवाद, और हालावाद ही नहीं है, इनमें सामाजिक और स्वस्थ स्वर भी हैं। 'प्रेम' को सबसे अधिक बदनाम करने वाले कवि अंचल ने 'मधूलिका' और "अपर्णजता" के बाद "किरण बेला" लिखी जिसमें प्रगतिवाद से स्पष्ट ही प्रेरणा ली गई है। यद्यपि कवि 'क्षयीरोमांसवाद' को पूर्णतः छोड़ नहीं सका है। जो अंचल नारी को केवल "प्रणय की खिलाड़िन"[१] के रूप में ही चित्रित करता था, वह अब सामाजिक विषमता का चित्रण करने लगा—

---

१. **एक नारी सिर्फ़ नारी ही तुम्हें मैं मानता हूँ।**
तुम प्रणय की हो खिलाड़िन, मैं तुम्हें पहचानता हूं—लाल चूनर—
अंचल

इन खलिहानों में गूँज रहीं, किन अपमानों की लाचारी।
हिलती हड्डी के ढाँचों ने पिटती देखी घर की नारी।
युग युग के अत्याचारों की, आकृतियाँ जीवन के तल में।
घिर घिर कर पुंजीभूत हुईं, ज्यों रजनी के छाया छल में।

बालकृष्ण शर्मा नवीन ने 'सुन्दर' शीर्षक कविता लिखी जिसमें छायावाद के सौन्दर्यवाद' की संकीर्णता पर हमला किया गया ! मेरे पास कोई प्रमाण नहीं है जिसके बल पर यह कहा जा सके कि इस कविता पर मार्क्सवाद का प्रभाव है परन्तु 'नवीन' जी की राष्ट्रीय रचनाओं में प्रारम्भ से ही दुःखी दलित जनता के प्रति सद्भावना व्यक्त हुई थी और विषमता को दूर करने के लिए उग्र भावनाएँ भी उनकी रचनाओं में मिलती ही हैं अतः छायावाद के विरोध की पृष्ठ भूमि में प्रगतिवादी मानसिक स्थिति अवश्य है जिसका जन्म समाजवादी विचारों से हो रहा था—

ओ सौन्दर्य उपासक, तुमने सुन्दर का स्वरूप क्या जाना।
मधुरमंजु, सुकुमार, मृदुल ही को क्या तुमने सुंदर माना ?
क्यों देते हो चिर सुन्दर को, इतने छोटे सीमा-बन्धन ?
कठिन, कराल, ज्वलंत, प्रखर भी, है सौन्दर्य-प्रकेत चिरन्तन।
कल-कल, टल-मल, सर-सर, मर्मर, यही नहीं सुन्दर की वाणी।
इन्द्रवज्रध्वनि भी है उसकी, गहन गँभीर गिरा कल्याणी।
क्या सुन्दर बोला है तुमसे, अब तक केवल विहँस विहँस कर ?
क्या तुमने न लखा है अब तक, सुन्दर का विकराल स्वयंवर ?
है जीवन के एक हाथ में, मधुर जीवनामृत का प्याला,
और दूसरे कर में उसके, है कटु मरण-हलाहल-हाला।
एक आँख से निकल रही है, सर्व दहन की वह्नि अपारा।
और दूसरी के बहती है, नित्य करुण जल कलकल-धारा।
चिर सुन्दर से किस स्वरूप का, कहो, करोगे, तुम अभिनन्दन ?
सदा रहेगा क्या सीमित ही, तब पूजन, अर्चन अभिवन्दन ?

ऐसा नहीं है कि 'छायावाद' में केवल सर्वत्र कोमल ही हो, परन्तु समग्रतः छायावाद का सौन्दर्यबोध कोमल ही रहा, उग्र और उदात्त का वर्णन उसमें कम ही हुआ अतः प्रगतिवाद में इस कमी की पूर्त्ति हुई।

प्रगतिवाद के पूर्व भारतीय चिंतन यह नहीं समझ पाया था कि समाज का विकास कुछ वैज्ञानिक नियमों पर आधारित है और उन नियमों का पता

लग सकता है। उन नियमों का पता चल जाने पर हम समाज को अभीप्सित मोड़ दे सकते हैं। हज़ारों वर्षों से भारतीय कवि और साहित्यकार आदर्शवादी ही रहा आया है, वह मानवीय राग-विराग, आशा-आकांक्षा, आदि के चित्रण में अपनी समर्थ कला का प्रदर्शन कर चुका है परन्तु मनुष्य के प्रति अपनी समग्र सहानुभूति के साथ-साथ वह समाज के वैज्ञानिक विश्लेषण से परिचित नहीं था। नवीन विज्ञान की उपलब्धियों, और नृतत्त्वशास्त्र तथा समाजशास्त्र के विकास से परिचित होने पर कला और जीवन के प्रति दृष्टिकोण ही बदल गया अतः प्रगतिवाद का हिन्दी में अवतरण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी। जिस प्रकार पाश्चात्य विज्ञान को हमने 'विदेशी' समझ कर उसे छोड़ा नहीं, अपनाया, उसी प्रकार समाजशास्त्र को, इतिहास की नूतन व्याख्याओं को भी हमने अपनाया। यह सम्भव नहीं था कि प्राकृतिक-विज्ञान (Natural Sciences) को अपना लिया जाता और उसी के ऊपर आधारित 'समाज विज्ञान' को विदेशी कहकर छोड़ दिया जाता। इसी 'समाज-विज्ञान' को अपनाकर रूस में जनक्रान्ति सफल हुई थी अतः पराधीन भारत के चिंतक भी जनक्रान्ति के लिए इसकी ओर आकर्षित हुए। यह 'कुण्ठा' नही थी, प्राचीन काल से ही प्रचलित "सर्वे भवन्ति सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः" अथवा 'विश्ववंधुत्व' को कार्य रूप में परिणत करने के लिए व्यावहारिक विचारधारा की स्वीकृति थी जो 'कल्पना' और सदिच्छा मात्र पर आधारित न होकर ठोस सामाजिक, विज्ञान पर आधारित थी। 'वर्गसंघर्ष' को इतिहास की एक हक़ीक़त के रूप में स्वीकार किया गया न कि किसी 'कुंठा' के कारण। वैज्ञानिक दृष्टि का तकाज़ा यह है कि जो तथ्यों से प्रमाणित हो, उसे स्वीकार किया जाय। 'वर्गसंघर्ष' अथवा समाज के द्वन्द्वात्मक विकास को इसीलिए स्वीकार किया गया और इसीलिए प्रत्येक प्रकार के आदर्शवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद और भारतीयता के नाम पर चलने वाले 'अन्धविश्वास' और कल्पित ज्ञान को अस्वीकार किया गया।

यह प्रमाणित किया गया कि भारतवर्ष कोई ऐसा विचित्र देश नहीं है, जिसमें अन्य समाजों पर लागू होने वाले समाजशास्त्रीय सिद्धान्त यहाँ के समाज-विकास पर लागू न होते हों। यहाँ भी आदिमसाम्यवाद, सामंतवाद और पूँजीवाद के स्पष्ट सोपान दिखाई पड़ते हैं अतः पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पन्न साहित्यकार ने यह अनुभव किया, कि 'सर्वहारा' को कला और साहित्य द्वारा संगठित करना एक ऐतिहासिक दायित्व है। यह केवल मनोरंजन, धर्मप्रचार, अध्यात्मसाधना और केवल उच्चवर्गों के चित्रण के लिए नहीं होता,

उसका दायित्व महान होता है। समग्र विश्व-जनता की आर्थिक, सांस्कृतिक शोषण से मुक्ति ही उसका लक्ष्य हो सकता है अतः वर्गसंघर्ष, पूँजीवाद का विरोध, सामंतवाद का विरोध और पूँजीवादी-सामंतवादी विश्वासों और मान्यताओं का विरोध, मुक्ति के साधन के रूप में स्वीकृत हुआ और साहित्य में वर्गसंघर्ष का चित्रण प्रचलित हुआ। यह कतिपय व्यक्तियों की 'कुण्ठा' अथवा केवल भावुकता नहीं थी, यह समाज, इतिहास और प्रकृति की नवीन शोधों का प्रतिफल था जो भावना और सौन्दर्य-बोध को नया रूप दे रहा था। यह सर्वथा दूसरी चीज है कि हिन्दी के कवि और साहित्यकार इस कार्य में कितने सफल हुए। किन्तु 'प्रगतिवाद' के आगमन और उसकी वैज्ञानिकता पर आक्षेप तभी सफल हो सकते हैं जब समाज-विकास के मूलभूत सिद्धान्तों के स्थान पर प्रयोगवादी, अस्तित्ववादी, फासिस्टवादी, अध्यात्मवादी तथा दूसरे जनवादविरोधी विचारक ऐसे नए सिद्धान्तों को प्रस्तुत कर सकें जो बुद्धि को तथ्यों के आधार पर संतुष्ट कर दें। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक कवियों और साहित्यकारों की कलागत असफलता की चर्चा होने पर भी, प्रगतिवाद को अपदस्थ नहीं किया जा सकता और 'मानवता की विजय' के प्रति आश्वस्त प्रगतिवादी कवि और साहित्यकार की मान्यताओं में परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता और मान्यताओं के रहने पर मानसिक स्थिति में परिवर्त्तन असम्भव है।

हिन्दी में प्रगतिवाद के विरोधियों ने प्रगतिवादी काव्यप्रवाह की आलोचना में तरह-तरह की कमज़ोरियाँ दिखाकर (और कमज़ोरियाँ कम नहीं हैं) भी, एक भी पुस्तक में प्रगतिवाद के मूलाधारों पर समग्रतः विचार नहीं कियां। यह कार्य कठिन है क्योंकि इसके लिए न केवल मार्क्स, एंगिल्स लेनिन आदि को ही समझना होगा अपितु इनके पूर्व के सम्पूर्ण चिन्तन से वाकिफ़ होना पड़ेगा। यही नहीं 'मार्क्सवाद' जिस प्राकृतिक विज्ञान पर आधारित है उस भूततत्व (Matter) की नवीतम शोधों से भी परिचित होना पड़ेगा। इसके साथ सम्पूर्ण नृतत्त्व शास्त्र (Anthropology) को मिथ्या ठहराए बिना, साम्यवाद का खण्डन असम्भव है। हिन्दी में ही नहीं, अन्य भाषाओं में भी एक भी कवि और साहित्यकार ऐसा नहीं है, जो प्रगतिवाद के विरोध के लिए इतना विराट श्रम करके प्रगतिवाद के मूलाधारों को मिथ्या प्रमाणित कर देता। विरोधियों ने केवल पाश्चात्य विचारकों—इलियट, सात्र, आदि कतिपय प्रगतिविरोधी विचारकों की धारणाओं का हिन्दी में अनुवाद कर दिया और पाश्चात्य प्रगतिवादी-विरोधी प्रवृत्तियों से

हिन्दी-पाठक को परिचित करा दिया परन्तु इससे प्रगतिवाद पुष्ट ही हुआ क्योंकि सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियाँ साम्यवादी विचारकों के विश्लेषण के अनुसार ही आज के मनुष्य के सम्मुख प्रस्तुत हो रही हैं। जिस 'वर्गसंघर्ष' को कल्पना कहा जा रहा है, उसे प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक जीवन से महसूस कर रहा है। जिस 'पूँजीवाद' को 'स्वतन्त्रता का रक्षक कहा जा रहा है, उसकी वृद्धि इसी "पुण्यभूमि" में हमारे नेत्रों के सम्मुख हो रही है। बेकारी, भूख, दबाव, नेताओं के झूठे वादे आदि तत्त्व मनुष्य को अध्यात्मवाद की ओर नहीं लिए जा रहे हैं, बल्कि उसे सोचने के लिए बाध्य कर रहे हैं। मनुष्य निराशा, कुण्ठा और अवसाद में सिर छुपा कर संतुष्ट नहीं रह सकता अपितु वह इन सबके कारणों पर विचार कर रहा है और विश्लेषण की प्रवृत्ति उसे उस सामाजिक व्याख्या की ओर ही उन्मुख कर रही है, जो मानवीय समस्याओं का वैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत करती है अतः रूस और चीन की उपलब्धियों के प्रति वह प्रशंसात्मक रुख अपनाएगा ही। किन्तु साथ ही इन देशों में प्रतिष्ठित सामाजिक व्यवस्था के निर्णायकों की ग़लतियों के प्रति भी वह असावधान नहीं रह सकता। भारतवर्ष में अपने देश और काल का विचार कर वह समाजवादी व्यवस्था की प्रतिष्ठा करना चाहता है। 'अंधअनुकरण' की निन्दा तो स्वयं लेनिन ने की है। "सत्य सदा स्पष्ट और यथार्थ होता है" (truth is always concrete) यह वाणी लेनिन की है अतः समाजवादी देशों की आलोचना करने का यह अर्थ नहीं है कि इस देश से 'जनवाद' समाप्त हो जाएगा या हो रहा है, विरोधी इस आलोचना के समय अभावात्मक रुख अपना लेते हैं किन्तु समाजविज्ञान से परिचित लोग जानते हैं कि प्रगतिवादी समाजव्यवस्था को प्रतिष्ठित करते समय अनेक भूलें हो जाती हैं। कभी-कभी पूँजीवादी घेरे और दबाव के कारण अन्तर्विरोधात्मक पथ अपनाना पड़ता है अतः परिस्थिति को न देखकर जनवाद के विरोधियों ने 'प्रयोगवाद' और "अध्यात्मवाद" के नाम पर जो उलझनें खड़ी कीं हैं, वह चल नहीं सकतीं। बीसवीं शती की जागरूक जनता को न तो 'रहस्यवाद' में मग्न किया जा सकता हैं और न व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों में ही भुलाया जा सकता है।

प्रगतिवाद का वैज्ञानिक दर्शन क्या है ?

हम यहाँ अत्यधिक संक्षेप में ही विचार कर सकते हैं क्योंकि हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियों का विश्लेषण ही इस पुस्तक का मुख्य विषय है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद :—प्राचीन काल से ही इस विश्व को समझने

का प्रयत्न हो रहा है। प्राचीन और मध्यकाल में आदर्शवादी और भौतिकवादी—इन दो दृष्टियों से जगत् और समाज को समझने का प्रयत्न किया गया था। आदर्शवादी (सभी प्रकार के) वह विचारक था जो विश्व के मूल में, सर्वप्रथम किसी 'चेतनसत्ता' को मानता था। भौतिकवादी वह विचारक था, जो विश्व के मूल में भूततत्त्व (Matter) को मानता था। वेदों में प्रकृति के पदार्थों में एक-एक 'शक्ति' को आरोपित किया गया और बाद में उपनिषद्-युग में विश्व के मूल में चेतनसत्ता या ब्रह्म को स्वीकार कर लिया गया। यह 'आदर्शवाद' (Idealism) तत्पश्चात् षड्दर्शनों मेंविकसित हुआ। इनमें वेदान्त (वादरायण) सबसे अधिक आदर्शवादी थे। योगदर्शन में शरीरशास्त्र (Phisiology) का अंश भौतिकवादी था किन्तु योग का 'ईश्वरवाद' आदर्शवादी था। सांख्य में प्रकृतिदर्शन (Philosophy of Nature) भौतिकवादी और 'आत्मा' का सिद्धान्त (पुरुष-सिद्धान्त) आदर्शवादी था। इसी प्रकार 'न्याय' का ईश्वरवाद, मुक्ति का सिद्धान्त आदि आदर्शवादी और 'अणुवाद' भौतिकवादी था। सबसे अधिक भौतिकवाद 'वैशेषिक दर्शन' में मिलता है जो जगत् के विकास में 'अणु' सिद्धान्त को मानता है अर्थात् जड़ जगत् के मूल में 'अणु' हैं जिनके मिलन से जगत् का विकास हुआ है। किन्तु वैशेषिक-दर्शन में भी 'ईश्वर' की सत्ता स्वीकृत है क्योंकि ईश्वर के बिना 'अणु' स्वतः गतिमान नहीं हो सकते, ऐसा वैशेषिक दार्शनिक को विश्वास था। मीमांसा-दर्शन 'ईश्वर' को नहीं मानता किन्तु वेदों को अपौरुषेय मानता है और कर्मकाण्ड को ही सर्वस्व मानता है अतः उसका अनीश्वरवाद भौतिकवाद का प्रतीक होकर भी समग्रतः वह आदर्शवादी ही है। 'तन्त्रदर्शन' भी मूलतः भौतिकवादी होकर भी बाद में आदर्शवादी बन गया।

बौद्धों में प्रारम्भिक बुद्ध-दर्शन अनात्मवादी है अतः भौतिकवादी है किन्तु बाद में महायान के विकास में शून्यवाद और विज्ञानवाद में आदर्शवाद की उसमें अमित वृद्धि हुई। जैनमत में भी 'ईश्वर' को किसी न किसी रूप में स्वीकार कर लिया गया।

शुद्ध भौतिकवाद की दृष्टि से 'चार्वाक' ही प्रसिद्ध हैं जिसे आदर्शवादियों ने बहुत बदनाम कर दिया है। वस्तुतः भारतीय दर्शन में एक प्रबल प्रवृत्ति भौतिकवाद की प्रारम्भ से ही रही है जो बाद में आदर्शवादी दर्शनों में काई के नीचे जल की तरह साफ़ दिखाई पड़ती है। अभी तक भारतीय-दर्शन में इस महान भौतिकवादी प्रवृत्ति को अलग नहीं किया जा सका

है[1] अतः ऐसा समझा जाता है कि भारत में भौतिकवादी केवल 'चार्वाकम' ही था, यह एक ग़लत धारणा है। समग्रतः आदर्शवादी विचारधाराएँ भी समाज के विकास के दौरान में पूर्णतः भौतिकवाद का निषेध नहीं कर पाईं। वेदान्त तक में 'व्यावहारिक सत्य' और पारमार्थिक सत्य को अलग-अलग स्पष्ट स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार समग्रतः भारतीय दर्शन आदर्शवादी और भौतिकवादी इन दो धाराओं में बाँटा जा सकता है। और इनमें भेदक तत्त्व यह है कि आदर्शवादी दर्शन विश्व के मूल में किसी 'चेतनसत्ता' को मानते हैं जबकि चार्वाकमत विश्व के मूल में भूततत्त्व (Matter) को मानते हैं।

यही स्थिति योरोप में दिखाई पड़ती है। योरोप में भी आदर्शवाद किसी अलौकिक सत्ता के विश्वास पर आधारित है जब कि भौतिकवाद भूततत्त्व को ही मानता है और चेतना को उसी का विकास मानता है।

इन दोनों विचारधाराओं के अन्तर को इन शब्दों में स्पष्टतः समझा जा सकता है—"भौतिकवाद, आदर्शवाद का विरोधी है क्योंकि जहाँ आदर्शवाद मानता है कि भूततत्त्व के पूर्व चेतना (spritual or ideal) की सत्ता है, वहाँ भौतिकवाद यह मानता है कि चेतना (Consciousness) के पूर्व भूततत्त्व की सत्ता है। इस भेद के कारण प्रत्येक प्रश्न की व्याख्या में अन्तर पड़ जाता है। आदर्शवाद अपने मूल में किसी अलौकिक सत्ता के विश्वास पर आधारित है। यह आदर्शवाद दो लोकों में विश्वास करता है—पारलौकिक अर्थात् कल्पित लोक और यह यथार्थ जगत्! आदर्शवाद इस पारलौकिक जगत् को यथार्थ जगत् से अधिक महत्त्व देता है।"[2]

इस प्रकार आदर्शवाद और भौतिकवाद प्रत्येक प्रश्न पर अलग ढँग से सोचता है। 'बिजली' को चमकता देखकर या बादल को गरजता देखकर आदर्शवादी कहेगा कि यह देवता का क्रोध है जब कि भौतिकवादी 'विद्युत' की उत्पत्ति के लिए प्राकृतिक कारण की खोज करेगा। यह पुराने आदर्शवादियों

---

१. द्रष्टव्य—(अ) हिन्दी की दार्शनिक पृष्ठभूमि
(ब) 'लोकायत'—डी० चट्टोपाध्याय—
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

2. Dialectical Materialism, —Maurice Cornforth.

की बात हुई। वैज्ञानिक होने पर भी आदर्शवाद पीछा नहीं छोड़ता। 'मैटर' के विश्लेषण से आज आदर्शवादी और भौतिकवादी दोनों परिचित हैं। आदर्शवादी कहेगा कि 'शक्ति' के रूप में परिणत हो जाने वाला 'मैटर' वस्तुतः कोई रहस्यमय 'शक्ति' है जबकि भौतिकवादी यह कहेगा कि 'मैटर और मोशन'—भूततत्त्व और उसमें निहित शक्ति (वेग, विद्युतप्रवाह) अभिन्नतापूर्वक स्थित हैं, इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। विश्लेषण करते हुए जहाँ-जहाँ हम आज पहुँचे हैं, उससे और भी हम आगे बढ़ेंगे किन्तु विश्लेषण में मिलेगा हमें, 'मैटर' का ही कोई रूप। अतः जगत् के मूल में 'मैटर' है, भूततत्त्व है, चेतना नहीं है—चेतना भूततत्त्व का विकास है—गुणात्मक परिवर्त्तन। जिस प्रकार जिस प्रकार $\frac{2}{3}$ हायट्रोजन और $\frac{1}{3}$ आक्सीजन को मिला देने पर 'जल' नामक एक नए 'गुण' की उत्पत्ति हो जाती है, उसी प्रकार भूततत्त्व का गुणात्मक परिवर्त्तन ही—मानवीय चेतना है। 'मैटर' शाश्वत है, उसका कभी विनाश नहीं होता, वह सदा परिवर्त्तनशील है, उसके भीतर क्रिया और प्रतिक्रिया सदा चलती रहती है, इसी से 'आंतरिक द्वन्द्व' के कारण नाना पदार्थों का निर्माण होता रहता है।

'मार्क्स' के पूर्व का भौतिकवाद 'यांत्रिक भौतिकवाद' था—उससे मार्क्सवाद को अलग करने के लिए 'द्वन्द्वात्मक' शब्द भौतिकवाद के पूर्व जोड़ा जाता है, "यांत्रिक भौतिकवाद" क्या है ?

जगत् में सर्वत्र परिवर्त्तन दिखाई पड़ता है। दिन, रात का आवागमन, ऋतुओं का परिवर्त्तन, विभिन्न मानव समाजों का उत्थान, पतन पदार्थों का निर्माण और नाश, सभी में सतत् परिवर्त्तन दिखाई पड़ता है। आदर्शवादी इस क्षण-क्षण-परिवर्त्तन को देखकर एक स्थिर, स्थायी सत्ता की कल्पना करते हैं और उस 'शाश्वत', 'अनश्वर' सत्ता को इस परिवर्त्तन का कारण ठहराते हैं, जब कि भौतिकवाद इस परिवर्त्तन के लिए भौतिक कारणों की खोज करता है और यह मानता है कि भूततत्त्व ही आन्तरिक द्वन्द्व के कारण नाना रूपों में परिवर्त्तित हो रहा है, वह भूततत्त्व अविनाशी है परन्तु 'आत्मा या ब्रह्म' की तरह तटस्थ या स्थिर सत्ता नहीं है, वह क्षण-क्षण परिवर्त्तनशील है।

पुराने भौतिकवादी परिवर्त्तनशील जगत् के मूल में अविनाशी "अणुओं" (Atoms) को मानते थे। परिवत्तन इन्हीं 'अणुओं' के कारण होता है परन्तु 'अणु' स्वयं अपने में परिवर्तन से परे माने जाते थे। रोमन कवि ल्यूक्रिटियस ने On the nature of things नामक कविता में इसी 'अणुवाद' को वाणी

दी थी। उसके पूर्व ग्रीक दार्शनिक 'एपीक्यूरस' ने 'अणुवाद' को प्रवर्तित किया था, जिसमें बिना किसी ईश्वर की सहायता के अपरिवर्त्तनशील अणुओं के परस्पर मिलन और प्रभाव से पदार्थों के रूप-परिवर्त्तन की व्याख्या की गई थी।

यांत्रिक भौतिकवाद—१६वीं और १७वीं शताब्दी में ईसाइयों के धर्म-दर्शन (Theology) के विरुद्ध वैज्ञानिकों और अन्य विचारकों ने उक्त ग्रीक 'अणुवाद' को स्वीकार किया। इसने मध्यकालीन 'अन्धविश्वासों के विरुद्ध यांत्रिक भौतिकवाद' को प्रतिष्ठित किया। यह 'वाद' पूँजीवाद के अभ्युदय के साथ—तकनीकी उन्नति, नए देशों की शोध, व्यापार की उन्नति आदि के साथ विकसित हुआ।

यांत्रिक भौतिकवाद के अनुसार जगत् के मूल में भूततत्त्व के 'अणु' (Particles of Matter) स्थित हैं जो एक दूसरे को प्रभावित करते हैं (Inter Action)। प्रत्येक 'अणु' दूसरे से अलग और विशिष्ट (Separate and distinct) सत्ता रखता है। और अपनी सामूहिकता में वे जगत् का निर्माण करते हैं। इस प्रकार जगत् एक प्रकार की संकुल मशीन या यंत्र है!

प्रश्न होगा कि इस 'यंत्र' का जो कि विभिन्न अणुओं (पूर्ज़ों) से बना है, कार्य कौन करता है?

न्यूटन ने सौर-व्यवस्था (Solar-System) की व्याख्या की। 'एप्यीक्यूरस' की तरह 'न्यूटन' भी यह मानता था कि सौरमंडल अणुओं से बना है। सूर्य कोई देवता नहीं है। अणुओं का समूह मात्र है! परन्तु एप्यीक्यूरस भारतीय वैशेषिकों की तरह पूरी प्रक्रिया नहीं बताता जबकि 'न्यूटन' ने 'सौरमंडल' का विवरण प्रस्तुत किया। किस प्रकार सौरमण्डल कार्य करता है, यांत्रिकभौतिकवादियों ने यह भी बताया अतः प्राचीनों से 'न्यूटन' का दर्शन अधिक आगे था।

किन्तु जिस प्रकार 'एप्यीक्यूरस' और 'कणादि' अणुवाद के आगे किसी पदार्थ की पूर्ण प्रक्रिया नहीं बताते, उसी प्रकार 'न्यूटन' जैसे यांत्रिक भौतिकवादी यह नहीं बताते कि 'पदार्थ' का जन्म और विकास कैसे हुआ? जगत् को विभिन्न पुर्ज़ों (अणुओं) से बना हुआ यंत्र मानकर यांत्रिक भौतिकवादी न्यूटन 'सौरमण्डल' की प्रक्रिया को समझाने लगता है। इसी प्रकार हार्वे (Harvey) रक्त संचरण की प्रक्रिया को समझाता है।

(१) यांत्रिक भौतिकवाद शाश्वत अणुओं की सत्ता मानता है।

(२) "अणुओं के परस्पर-मिलन या प्रभाव के लिए एक प्रेरक शक्ति (ईश्वर) में विश्वास करता है। जिस प्रकार एक मशीनरी इंजीनियर एक बार चला देता है उसी प्रकार ईश्वर इस विश्वरूपी यंत्र का चालक है ! एक बार चल पड़ने पर, जिस प्रकार मशीन के नियमों और प्रक्रिया को हम समझ सकते हैं, उसी प्रकार जगत् रूपी यंत्र की प्रक्रियाएँ निश्चित नियमों पर आधारित हैं, उन्हे समझा जा सकता है।"

यांत्रिक भौतिकवादियों में से कुछ मनुष्य शरीर को भी एक मशीन के ही रूप में मानते थे। लैमेट्री (Lamettrie) नामक विचारक ने १८वीं शताब्दी में यही विचार प्रकट किया था।

यह यांत्रिक भौतिकवाद अनेक प्रश्नों के उत्तर नहीं दे सकता। यदि जगत् यंत्र है तो उसे किसने बनाया ? यांत्रिक भौतिकवादियों ने इस प्रश्न के उत्तर के लिए 'ईश्वर' को स्वीकार किया। किन्तु ईश्वर ने इसे क्यों बनाया ? इसका उत्तर कोई कभी नहीं दे सका। हमारे यहाँ भी इस प्रश्न को टाला गया। किसी ने 'लीला' के लिए, किसी ने 'स्वानुभूति' के लिए और किसी ने किसी अन्य 'उद्देश्य' के लिए जगत् का निर्माण ईश्वर द्वारा बताया। किसी ने कहा कि ईश्वर 'सर्वकाम' है, किसी ने कहा कि वह "सृष्टि की इच्छा करता है" (सोऽकामयत्) किन्तु ये उत्तर बच्चों को ही बहला सकते हैं। इन्हीं विपत्तियों से बचने के लिए जैनियों और बौद्धों ने 'अनीश्वरवाद' को स्वीकार किया था परन्तु वे बाद में पुनः उसी चक्र में फँस गए।

दूसरा दोष यांत्रिक भौतिकवाद में यह था कि इसके अनुसार कोई सर्वथा नवीन वस्तु उत्पन्न ही नहीं हो सकती। यह केवल परिवर्त्तन देखती है, 'सर्वथा नवीन' की सृष्टि की व्याख्या नहीं कर सकती।[1] रसायनिक तत्त्वों के परस्पर मिलन से सर्वथा नए पदार्थ का उदय होता है, इस तथ्य की व्याख्या यांत्रिक भौतिकवाद नहीं कर पाता। यांत्रिक भौतिकवाद की दृष्टि से ऊष्मा (Heat) केवल अणुस्थित 'गति' (motsion) की मात्रा में वृद्धि मात्र है परन्तु रसायन शास्त्र में 'ऊष्मा' को गुणात्मक परिवर्त्तन के रूप में भी समझा जा सकता है।

---

1. Chemical interactions differ from mechanical interactions in as much as the changes which takc plac as a result of chemical interactions involve a change of quality.

इसी तरह प्रकृति में यांत्रिक पुनरावृत्ति नहीं मिलती है अपितु प्रकृति में स्पष्टतः विकास और प्रगति दिखाई पड़ती है, यह "प्रगति और विकास" यांत्रिक भौतिकवाद द्वारा नहीं समझा जा सकता।

इसी प्रकार यांत्रिक भौतिकवाद समाज के विकास को नही समझा सकता।

यांत्रिक भौतिकवादियों से सहमति प्रकट करने वाले मार्क्स के पूर्व के "यूटोपियन समाजवादी" भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी नही थे। उन्होंने समाज में मनुष्य को अणु की तरह मानकर एक "कल्पित समाज' को प्रस्तुत किया, उन्होंने 'समाजवाद' को पूँजीवाद के अन्तर्विरोधों से उत्पन्न एक अनिवार्यता के रूप में नहीं माना। उनके अनुसार यदि मनुष्य समाजवाद से परिचित होता तो वह किसी भी समय में और कहीं समाजवादी समाज की स्थापना कर सकता था परन्तु समाजवाद समाज के एक विशेष सोपान में ही 'उदित' हो सकता है। सामंतवादी व्यवस्था में चाहने पर भी समाजवाद प्रतिष्ठित नहीं हो सकता था।

चीन में पूँजीवाद के विकास के चरम सीमा पर पहुँचने के पूर्व ही जो समाजवाद की स्थापना हो सकी, उसका कारण यह है कि विश्वपूँजीवाद के अध्ययन द्वारा 'रूस' में पहले समाजवाद की स्थापना हो चुकी थी अतः आज किसी भी देश में जागरूक जनता सम्पत्ति पर जनता का एकाधिकार स्थापित करके, समाजवाद की स्थापना कर सकती है किन्तु रूस में समाजवाद की स्थापना तभी सम्भव हो सकी थी जब पश्चिमी देशों में औद्योगिक उन्नति हो चुकी थी। सर्वहारावर्ग 'उदित' और संगठित हो चुका था तथा रूस में भी पूँजीवाद का भी काफी विकास हो चुका था और लेनिन को 'सर्वहारावर्ग' प्राप्त था।

आज 'समाजवाद' एक यथार्थ लक्ष्य है और उससे प्रेरणा लेकर, सर्वहारावर्ग के अभाव में, कृषक और कृषि मज़दूर भी समाजवाद स्थापित कर सकते हैं, बशर्ते कि प्रबल मध्यवर्ग हो और छोटे किसान और भूमिहीन मज़दूर संगठित हो जाएँ।

हिन्दी में प्रारम्भ में पन्त जी 'यूटोपियन समाजवाद' से ही प्रभावित थे अतः समाजवाद के लिए कष्टकर पद्धति—जनसंगठन—वर्गसंघर्ष आदि से बचते रहे और शीघ्र ही समाजवादी शिविर की 'निष्ठुरता' देखकर उनका 'स्वप्न भंग' हो गया जैसे इतिहास का निर्माण केवल "कोमल कोमल" ही हो !

द्वन्द्वात्मक विकास—यांत्रिकभौतिकवाद के विरुद्ध द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद यह मानता है कि जगत् स्वतन्त्र तत्त्वों या अणुओं का संघात नहीं है, अपितु 'भूततत्त्व' की विकासात्क प्रक्रिया में नाना पदार्थ 'उदित' होते हैं। भूततत्व (मैटर) तथा गति (मोशन) अभिन्न रूप से अवस्थित हैं यानी मैटर को मोशन से अलग नहीं किया जा सकता। भूततत्त्व की गति से अनन्त रूप वाले पदार्थ उत्पन्न होते जाते हैं। ये पदार्थ एक दूसरे से उत्पन्न होते हैं और एक दूसरे में समा जाते हैं अतः तत्त्व निरपेक्ष्य रूप से स्थित न होकर परस्पर सम्बन्धित हैं।

आज परमाणु का भी विश्लेषण हो चुका है, जो विद्युत कणों (Electrons, protons and neutons) के रूप में माने जाते हैं किन्तु ये भी "मूल अणु" नहीं हैं, ये 'शाश्वत' और अविनाशी नहीं हैं, ये विद्युतकरण या विद्युत प्रवाह भी 'उदित' होते हैं, और नष्ट हो जाते हैं तथा अनेक प्रक्रियाओं में से गुज़रते हैं।

अतः मूलभूत वस्तु 'अणु' नहीं है, अपितु प्रकृति की अनादि प्रक्रिया (Unending process of nature) ही शाश्वत है जिसमें विभिन्न पदार्थ या वस्तुएँ उदित होती हैं, ये कुछ समय तक विद्यमान रहती है और नष्ट हो जाती हैं। प्रकृति की यह प्रक्रिया अनादि है। "एलैक्ट्रन" अणु के रूप में असमाप्त तत्त्व है, उसका भी विश्लेषण सम्भव है।

इसी प्रकार समाज में कुछ संस्थाओं या मनुष्य समूह शाश्वत नहीं हैं, न वे स्थिर हैं अपितु समाज के विराट विकास में वे एक विशिष्ट सोपान में उदित होते हैं, विद्यमान रहते हैं और उत्पादन के साधन बदलने पर अर्थात् अपने आंतरिक विरोधों से विवश होकर नई संस्थाओं और व्यवस्थाओं में परिवर्त्तिति हो जाते हैं।

इस प्रकार जो विचारक प्रकृति और समाज को एक ही द्वन्द्वात्मक दृष्टि से नहीं देखता वह आदर्शवादी है।

यांत्रिक भौतिकवाद मानता है कि बाह्य प्रभाव के बिना 'अणु' गति नहीं पकड़ते किन्तु द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद 'मैटर' में 'मोशन' को अनादि काल से ही मानता है अतः 'गति' वस्तु के भीतर स्वयं स्थित है। वस्तु को गति देने के लिए किसी 'ईश्वर' की आवश्यकता नहीं है—मैटर (मोशन सहित) का 'स्वभाव' ही यह है कि वह गतिमान है। यह स्मरणीय है कि चार्वाक मतावलम्बियों में एक दल एक प्रकार के "स्वभाववाद" को मानता था।

जगत् में परिवर्त्तन किसी ईश्वर की इच्छा का परिणाम नहीं है, अपितु परिवर्त्तन अर्थात् गति भूततत्त्व का 'स्वभाव' है। चार्वाकमत विज्ञान के अभाव में इस 'स्वभाव' के सिद्धान्त के विकास को स्पष्ट नही कर सका था। यह कार्य द्वन्द्वात्मक भौतिकवादियों ने किया।

यांत्रिक भौतिकवाद तथा पुराना भौतिकवाद भूततत्त्व को 'गति' से अलग मानता है। 'मैटर' जड़ तत्त्व है और 'गति' उससे अलग है। यह द्वैतवाद' द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में नही मिलता यहाँ भूततत्त्व और गति एक और अभिन्न हैं तभी 'विकास' स्वयं भूततत्त्व में अन्तरस्थित है। बाह्यप्रेरणा या ईश्वरेच्छा की उसे आवश्यकता नहीं। अतः 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' जड़वाद नहीं है, साम्यवादी को जड़वादी नहीं कह सकते, वह 'प्रगतिवादी' कहला सकता है।

प्राकृतिक विज्ञान द्वारा प्रमाणित भूततत्त्व के उक्त रूप को यदि हम स्मरण रखें तो यह स्पष्ट है कि ईश्वरवाद एक कल्पना ही है। जब भूततत्त्व अनादि है तब उसके कर्त्ता का प्रश्न ही नहीं उठता। जब 'गति' उसका 'स्वरूप' ही है तब विकास क्यों हुआ, यह प्रश्न असम्बद्ध है। जब किसी 'वस्तु' का निर्माण भूततत्त्व के अन्तरस्थित 'संघर्ष' द्वारा ही होता है तब विकास में सामञ्जस्य की कल्पना ग़लत है। इसी प्रकार समाज का विकास उसके भीतर स्थित अन्तर्विरोधों से होताहै, आन्तरिक संघर्ष को नज़रन्दाज़ करना आदर्शवाद है। हमें 'पदार्थ' और समाज में जो 'स्थिरता' की प्रतीत होती है, वह भ्रामक है।

आदर्शवादी कहते हैं कि गतिसंयुक्त भूततत्त्व अंततः तो जड़ ही है, जड़ से चेतना कैसे विकसित हुई। अतः चेतना का बाहर से आगमन मानना होगा। अथवा चेतना से ही भूततत्त्व का विकास मानना होगा अथवा भूततत्त्व को 'मिथ्या' मानना होगा जैसा कि वेदान्ती कहते हैं।

किन्तु गतिसंयुक्त भूततत्त्व के विकास के दौरान में "प्राण या चेतना" का उदय मानने में क्या बाधा है ? प्राण या चेतना (life) चेतनाहीन गतिसंयुक्त-भूततत्त्व के एक निश्चित सोपान में ही विकसित होती है अतः बाहर से चेतना का अवतरण नहीं माना जा सकता। चेतना रहस्यमय नहीं है, वह भूततत्त्व का ही गुणात्मक परिवर्त्तन है।

इसी प्रकार समाज मे चेतना का विकास धीरे-धीरे हुआ है और वह सभी युगों में भौतिक परिस्थितियों के अनुरूप ही दिखाई पड़ती है तभी कहा गया है कि चेतना परिस्थिति की नियामिका नहीं है, परिस्थिति चेतना की

अंतर्विरोधों से लड़ना होगा, किन्तु जो मनुष्य 'मुख्य' अंतर्विरोध को समाप्त कर सकता है वह अन्य अंतर्विरोधों की पहचान कर उन्हें समाप्त करने का प्रयत्न क्यों न करेगा ? अत: द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद राज्य, पुलिस, सैन्य-रहित समाज की रचना में विश्वास दृढ़ करता है, यह 'कुण्ठा' नहीं है, यह समाज के अध्ययन का फल है। अत: समाजवाद की स्थापना ही अंतिम पग नहीं है अपितु स्थापना के बाद भी बुराइयों से संघर्ष करना होगा। साम्यवादी देशों में पूंजीवाद के ध्वंसावशेषों से लड़ने की पुकार इसीलिए उठती है। मनुष्य ने वर्गगत समाज में रहकर जिस लोभ, दम्भ, युयुत्सा आदि दुर्गुणों की धरोहर को प्राप्त किया है, उससे एकदम तो मुक्ति मिल नहीं सकती। अभी-अभी चीन के साम्यवादियों के द्वारा भारत पर 'आक्रमण' और तिब्बत पर जनता के न चाहने पर भी 'सुधार' थोपने की याद ताज़ी ही है, रूसी साम्यवादी भी चीन के साम्यवादियों की 'जल्दबाजी' और अदूरदर्शिता की निन्दा कर रहे हैं। अत: 'विकास' सचिक्कण नहीं होता, उसके लिए अत्यधिक जागरूकता और दूरदर्शिता की आवश्यकता होती है। किन्तु दूसरों की ग़लतियाँ देखकर निराश हो जाने से वर्गगत समाज के शोषण और दमन को हम छूट देते हैं, प्रयोगवादी यही कर रहे हैं !

अत: विकास में 'द्वन्द्व' का विस्मरण ग़लत होगा। यह द्वन्द्व विद्युत में धनात्मक और ऋणात्मक रूप में, गणित में धन और ऋण के रूप में तथा वर्गगत समाज में शोषक और शोषित वर्ग के रूप में अवस्थित है अत: जिस प्रकार पदार्थ के भीतर दो परस्पर विरोधी शक्तियाँ काम करती रहती हैं और उनके संघर्ष से नवीन पदार्थ का जन्म होता है, उसी प्रकार समाज में भी यह 'संघर्ष' चल रहा है। इसकी उपेक्षा करने से इस संघर्ष की अवधि और बढ़ेगी। इसे पहचान कर, इस संघर्ष को 'नवीन' के विकास की दिशा में मोड़ देने से मानव समाज की समस्या का समाधान हो सकता है। यही "आधुनिकतम" सिद्धान्त है। प्रयोगवादी और आदर्शवादी जिसे "आधुनिक" कहते हैं, वह प्राचीन अंधविश्वासों का प्रत्यूह मात्र है।

किन्तु प्रत्येक पदार्थ और वर्गगत समाज के इस 'द्वन्द्व' में—परस्पर विरोधी दो 'तत्त्व' सदा एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। ये दोनों सर्वदा 'साथ' दिखाई पड़ते है, एक के बिना दूसरे की सत्ता नहीं रह सकती। चुम्बक में दोनों ध्रुवों की सत्ता साथ-साथ रहती है। चुम्बक की छड़ को तोड़ देने पर पुन: दो ध्रुव बन जाते हैं अत: पदार्थ और समाज के प्रत्येकप्रश्न पर विचार करते समय 'द्वन्द्व' को स्वीकार करना एक हक़ीक़त को स्वीकार करना है। प्रत्येक पदार्थ

ओर समाज परस्पर विरोधों का सामञ्जस्य होता है। इस 'सामञ्जस्य' या विरोधों की 'एकता' को 'शाश्वत' नहीं माना जा सकता क्योंकि यह 'एकता' अस्थायी होती है—सामंतवाद में परस्पर विरोधी वर्ग थे, किन्तु औद्योगीकरण के पश्चात् सामंतवाद में परस्पर विरोधी शक्तियों की 'एकता' भंग हो गई और पूँजीवाद' स्थापित हुआ। उसकी 'एकता' भी आंतरिक विरोधों—शोषक और शोषित के संघर्ष के कारण भंग हो रही है और जहाँ अवशेष है, वहाँ भग होगी। अभी है, इसका अर्थ है कि संघर्ष उस विन्दु तक नहीं पहुँचा है जो 'एकता' को भग कर दे। अतः द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद विकास को 'वृद्धि' (groath) मात्र नही मानता किन्तु 'मात्रा' से गुणात्मक परिवर्त्तन मानता है, जो 'सहसा' 'उछाल' के रूप में घटित होता है, जो निम्न से उच्चतर दिशा की ओर प्रभावित है और जो 'साधारण' से 'संकुल' की ओर गतिमान है।

'तत्त्व' की सापेक्ष्यता—चीजें सापेक्ष्य हैं, एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की मान्यता है। हिन्दी साहित्य से उदाहरण लीजिए—लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार 'नयी कविता' मे परम्परागत मूल्यों और 'मतवाद' की निन्दा होनी चाहिए। यह निरपेक्ष दृष्टिकोण है। मानवमूल्य किसी विशिष्ट सामाजिक परिस्थिति में निर्धारित हो सकते है। परम्परागत मूल्यों के बहुत से तत्त्व 'आधुनिक' युग मे भी स्वीकृति होंगे। सम्पूर्ण परम्पराएँ कहती हैं कि मनुष्य को 'सदाचारी' बनना चाहिए, यह सत्य आज भी स्वीकृत है। परम्परा कहती है कि जनकल्याण के लिए स्वार्थ का बलिदान करना चाहिए, इसे प्रत्येक मतवादी मानता है अतः परम्परा का समूल नाश नहीं हो सकता, केवल आज की परिस्थिति में अवांछनीय तत्त्वों का विरोध उचित है। उदाहरणतः 'परम्परा' में अंधविश्वास भी है, उसका विरोध करना होगा। पूँजीवाद के नाश का अर्थ यह नहीं है कि मशीनों का भी नाश कर दिया जाय अतः पूँजीवाद के नाश का अर्थ है—एकाधिकार का समाप्त, अर्थात् 'कतिपय' के स्थान पर "जनता" का स्वामित्व। इसी तरह प्राचीन मानवमूल्यों में बहुत से तत्त्व आज भी अपनाने होंगे। पुराना साहित्य महान मानवीय गुणों—धीरता, वीरता, त्याग, प्रेम, सहिष्णुता, मानवप्रेम आदि से भरा पड़ा है। इस साहित्य की आकर्षक अभिव्यक्ति और इन मानवमूल्यों के कारण सदैव प्रतिष्ठा रहेगी किन्तु प्राचीन साहित्य के साम्प्रदायिकता, अंध-विश्वास, राजा महाराजाओं की स्तुति, बहुविवाह, अंधराष्ट्रवाद, अश्लीलता आदि तत्त्वों का विरोध भी होगा अथवा उन्हें तात्कालिक 'सीमाएँ' कहकर उनकी उपेक्षा करनी होगी। नवीन व्याख्या की भित्ति प्राचीन मानव मूल्यों पर

ही खड़ी हो सकती है और भारत जैसे देश के पुराने साहित्य में नवीन समाजवादी व्यवस्था के लिए महान मानव मूल्यों का अभाव नहीं है, समता, विश्वबंधुत्व अथवा समदर्शिता की पवित्र वाणी सर्वत्र सुनाई पड़ती है।

इसी प्रकार प्रत्येक 'मत' बुरा हैं, यह 'निरपेक्षतावाद है। 'मत' जीवन और जगत् के प्रति दृष्टिकोण का नाम है, कौन सा दृष्टिकोण वैज्ञानिक है, मानव का कल्याणकारक है, यही 'मत' के परीक्षण का आधार है अतः द्वन्द्वात्मकभौतिकवाद को अपनाना होगा और अध्यात्मवाद तथा निराशावाद का विरोध करना होगा।

लक्ष्मीकान्त वर्मा कहते हैं कि वह 'वर्जन' के विरोधी हैं। 'वर्जन' बुरी चीज है किन्तु बहुत सी बातों के लिए समाज को रोकना भी पड़ता है। जब तक मनुष्य का इतना विकास नहीं हो जाता कि वह स्वतः समाज विरोधी कार्यों से घृणा करने लगे। तब तक समझाना भी पड़ेगा और न मानने पर 'वर्जन' भी आवश्यक होगा अतः लक्ष्मीकान्त वर्मा (नई कविता के प्रतिमान) तथा अज्ञेय के अन्य शिष्यों के 'प्रतिमान' निरपेक्ष हैं। लक्ष्मीकान्त कहते हैं कि "आज की समस्या यह है कि हम कुण्ठाग्रस्त महानता से निस्पन्द लघुता को अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं" अर्थात् महानता कुण्ठाग्रस्त होती है और 'लघता' यथार्थ है! वर्मा जी ने अन्यत्र यह बताया है कि छायावाद 'महान' का चित्रण करता रहा और प्रगतिवाद भी 'महान' के चक्र में ही फँस गया। प्रयोगवाद ने मनुष्य की 'लघुता' का चित्रण किया। किन्तु 'महानता' और 'लघुता' के नारे निरपेक्ष हैं। क्या 'लघुताप्रियता' का अर्थ यह है कि महानता के लिए किए गए प्रयत्न व्यर्थ हुए? अथवा क्या यह कया जा सकता है कि संगठित होकर मनुष्य के महान भविष्य की तैयारी करना ग़लत है? कठिनाई यह हैं कि 'मूल्यों' का प्रश्न 'रुचि' के साथ उलझाया गया है। 'यथार्थ' परिस्थिति का विश्लेषण ही 'मूल्य' के प्रश्न को सुलझा सकता है? आधुनिक होने का अर्थ यह नहीं है कि अब तक के विकास का निषेध किया जाए। आधुनिक होने का अर्थ है मनुष्य की अब तक की प्रगति का सही मूल्यांकन करना और शताब्दियों से स्वप्नद्रष्टा कवियों के देखे हुए स्वप्नों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए कटिबद्ध जनता को गुमराह न करना। 'लघुता' का अर्थ है, अपनी कमजोरियों को पहचानना, शक्ति की सीमा को पहचानना, तथा समाज का अविरोधी बनकर अपने 'अंश' का "भोग" करना किन्तु नयी कविता के प्रतिमान का लेखक ऐसे चिंतन को वाणी देता है कि जो यह नहीं जानता कि

वस्तुएँ परस्पर सम्बद्ध हैं, लघुता और महानता भी सम्बद्ध है प्रत्येक व्यक्ति में 'लघुता' और महानता का संघर्ष चलता रहता है तब एक पक्ष की ही स्वीकृति क्यों ? "महानता" का भाव "अविश्वास" से उत्पन्न नहीं होता—कुछ कर दिखाने की इच्छा से उत्पन्न होता है। हाँ 'लघुता' पर ही बल देने से अवश्य आत्मविश्वास की कमी का बोध होता है।

वस्तु और गतिः गति में उनका उदय और अस्त—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रत्येक वस्तु, पदार्थ और समाज को उनकी 'गति' में—प्रवाह में देखता है, उस 'प्रवाह' में उनका कैसे उदय होता है, कैसे अस्त होता है और किस प्रकार वस्तुओं का यह प्रवाह सर्वथा चलता रहता है।

वैज्ञानिकों के प्रयोगों से स्पष्ट हुआ है कि किसी शरीरी (Organism) की शरीर-वृद्धि के एक विशिष्ट सोपान में उसे परिवर्त्तित किया जा सकता है, उसकी वंशपरम्परा (Heredity) को बदला जा सकता है किन्तु पूँजीवादी वैज्ञानिक कहते है कि वंशपरम्परा को कभी भी बदला नहीं जा सकता। प्रगतिवादी वैज्ञानिक प्रमाणित करता है, जब 'नवीन' तत्त्व का जन्म हो रहा हो उस समय Organsim में परिवर्त्तन किया जा सकता है। इसी प्रकार भारत में आज जो 'प्रगतिशील' शक्तियों का उदय हो गया है, उन्हें स्वीकार कर उनका पक्ष समर्थन कर, भारतीय समाज को नवीन दिशा की ओर मोड़ा जा सकता है। इसके विरुद्ध सामंतवादी और पूँजीवादी दलों और मान्यताओं का समर्थन कर समाज को गतिहीन बनाया जा सकता है। साहित्य में 'प्रगतिवाद' का समर्थन करके यथार्थवादी सौन्दर्यबोध और समाजवादी मूल्यों का समर्थन किया जा सकता है, इसके विरुद्ध अज्ञेय-भारती और लक्ष्मीकांत वर्मा आदि के भ्रामक प्रचार का समर्थन कर जनता की प्रगति में बाधा डाली जा सकती है। भारतीय समाज की प्रारम्भ से अंत तक—विभिन्न स्थितियों को देखना और उसकी अब तक की प्रगति का अध्ययन करना तथा यह देखना कि आज देश में निर्णायक वर्ग कौन है ? इस निर्णायक वर्ग की उत्पत्ति इसी शताब्दी की चीज़ है, इस निर्णायक वर्ग को संगठित करने के लिए साहित्य लिखना और विरोधियों का पर्दाफाश करना वस्तु को उसकी गतिमान स्थिति में देखना है।

सत्य की स्पष्टता—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मानता है कि सत्य निरपेक्ष या रहस्यमय नहीं होता, स्पष्ट और सापेक्ष होता है। हिन्दी साहित्य में कुछ विचारक समझते हैं कि प्रगतिवादी पूर्वनिश्चित सिद्धान्तों को साहित्य पर आरोपित करते हैं। ये चाहते हैं कि सिद्धान्तों की घोषणा ही साहित्य है।

यह एक बेबुनियाद बात है। द्वन्द्वात्मकभौतिकवाद कोई पूर्वनिश्चित धारणा नहीं है, वास्तविक परिस्थिति के विश्लेषण से प्राप्त 'विचार' का नाम ही, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। यह एक तथ्य है कि प्रारम्भ में प्रगतिवादी विचारकों ने कुछ भूलें की थीं। भारतीय साहित्य और समाज की व्याख्या में यहाँ की परिस्थिति के अध्ययन में भी ग़लतियाँ हुई हैं—साम्यवादी दल ने भी वास्तविक परिस्थिति का ठीक अंदाज़ा न पाकर, पूर्वनिश्चित सिद्धान्तों के आधार पर निर्णय किए हैं परन्तु साथ ही उनकी उपलब्धियाँ भी महान हैं। आज जो मध्यवर्ग और निम्न जनता का दबाव बढ़ रहा है और अपने वर्गवादी स्वरूप को छिपाने के लिए सरकार को अनेक समाजवादी आवरण ओढ़ने पड़ रहे हैं, उसका एक यही कारण है कि साहित्य जनता को अधिकारों के प्रति जागरूक कर रहा है अतः जिस प्रकार 'प्रगतिवादियों' से देश को समझने में भूलें हुई हैं उसी प्रकार 'प्रगतिवाद' को समझने में भी हम प्रायः भूल कर जाते हैं और 'नई कविता' के पुरोहित तो यही समझते हैं कि 'प्रगतिवाद' स्वतन्त्रता का शत्रु और षड्यन्त्रों का पुलिन्दा है। अध्यात्मवादी 'प्रगतिवाद' को रूस और चीन का अनुगामी मात्र समझते हैं जब कि वे स्वयं रूस और चीन की बहुत सी अच्छी बातों का चुपचाप अनुकरण कर रहे हैं।

सत्य किसी 'एब्सट्रैक्ट' फार्मूला में नहीं है, सत्य परिस्थिति के गंभीर विश्लेषण में है। रूस में मैनशेविक कहते थे कि समाजवाद के पूर्व पूँजीवाद का विकास करना चाहिए अतः उन्होंने उदारपंथियों का समर्थन किया। इसके विपरीत लेनिन ने देखा कि रूस में श्रमिकों और किसानों के संगठन से, बिना पूँजीवाद के पूर्ण विकास के ही, समाजवाद की स्थापना सम्भव है। लेनिन का विश्लेषण सही था, यह क्रान्ति ने प्रमाणित कर दिया। इसके विपरीत तेलंगाना में भारतीय साम्यवादीदल परिस्थिति का सही विश्लेषण न कर सका और केन्द्र में दृढ़ सरकार रहने तथा अन्य प्रान्तों में पार्टी के कमजोर होने पर भी 'क्रांति' छेड़ दी गई फलतः जनआन्दोलन को भारी आघात पहुँचा। इस ग़लती की १९०५ की रूसी क्रान्ति सेतुलना करना ग़लत है। अन्ततः अमृतसर के जनतंत्रवादी सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ा जो सही विश्लेषण का फल है अतः 'सत्य' किसी फार्मूले में नहीं है, फार्मूला दृष्टि देता है किन्तु उसका सही उपयोग हमारे ऊपर निर्भर है। इसी प्रकार 'प्रगतिशील लेखक संघ' को व्यापक संगठन न रखकर उसे संकीर्ण बनाया गया फिर 'प्रगतिवाद' के साथ सहानुभूति रखने वाले सुमित्रानन्दन पन्त आदि की कटु आलोचा की गई। इसके सिवा आपस में ही संग्राम छिड़ गया। प्रगतिविरोधियों के सिद्धान्तों और भारतीय

साहित्य, संस्कृति की पुनर्व्याख्या के स्थान पर व्यर्थ के विवादों में ही शक्ति का अपव्यय होने लगा। आलोचना में तात्त्विक चर्चा के स्थान पर "अख़बारनवीसी" शुरू हो गई। यह सब इस लिए हुआ कि परिस्थिति के अध्ययन में ही दोष था। आज हालत यह है कि प्रगतिवाद के स्तम्भों को जहाँ परिस्थितियों ने खड़ा कर दिया है, वहीं वे केवल अपने कार्य के छप्पर को ही उठाए हुएहैं। उनमें आज भी इतनी सहिष्णुता और दूरदर्शिता नहीं आ पाई कि वे एक साथ मिलकर, अपने व्यक्तिगत मतभेदों के बावजूद, बिखरे हुए संगठन को व्यापक रूप देकर पुनरुज्जीवित करें। इस फूट का लाभ, स्वभावतः तरह-तरह के आरोप लगाकर प्रतिक्रियावादी उठा रहे हैं। किन्तु इससे यह समझना भूल होगी कि प्रगतिवाद समाप्त हो गया—यह भी परिस्थिति को न समझना होगा। जनवादियों में फूट होने पर भी, प्रत्येक जनवादी कार्यरत है—आज हिन्दी में अधिक सशक्त कथाकार, कवि और आलोचक आदि हैं। 'पूर्णतः समाजवादी" लेखक चाहे कम हों परन्तु 'प्रगतिशील' लेखकों की ही हिन्दी में अधिकता है! यह इसलिए है कि प्रगतिवादी बिखर गए किन्तु पथभ्रष्ट नहीं हुए। अध्यात्मवादियों में भी अधिकतर लेखक सम्प्रदायवाद, जातिवाद, व्यक्तिवाद आदि के विरोधी हैं। इसका प्रमाण यह है कि प्रयोगवादी "मान्यताओं" का हिन्दी में अध्यात्मवादियों ने कम विरोध नहीं किया है अतः 'फार्मूला' बना कर उन सबकी निन्दा करना जो "पूर्णतः समाजवादी" नहीं है, ग़लत होगा! क्रान्ति सर्वदा केन्द्रस्थ दल के आस पास जमा होने वाले प्रगतिशील जन संगठन द्वारा होती है!

परिप्रेक्षण—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पदार्थ और वस्तु के अन्तर्निहित संघर्ष को पहचान कर, नवीन समाज रचना के लिए संघर्ष करता है। उसके सम्मुख छायावादियों जैसा आरोपित "विज़न" नही है, वह स्वप्नद्रष्टा नहीं है अपितु समाज के शरीर का वह वैद्य है, कायाकल्प करने के लिए वह शरीर की परीक्षा करता है और नाड़ी और रक्त तथा शक्ति के अनुसार आचरण करता है। वर्गहीनराज्य एक अनिवार्यता है, स्वप्न मात्र नहीं। 'आवश्यकता को स्वतन्त्रता में परिणित कर सकना कोई ख्यालीपुलाव नहीं है और इस कार्य के गंभीर "दायित्व" को मार्क्सवादी स्वीकार करता है क्योंकि मनुष्य की मुक्ति ही महत्तम मानवमूल्य है! अतः उसका 'परिप्रेक्षण' व्यक्तिगत नहीं, वैज्ञानिक है, ऐतिहासिक है। लक्ष्मीकान्त बर्मा कहते हैं—"मार्क्सवाद मनुष्य की चेतना-शक्ति को केवल ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करके उसकी सक्रियता को स्वतः कोई शक्ति मानता ही नहीं बिना इस मानव विशिष्टिता को स्वीकार किये उसका दायित्व निभ नहीं सकता है·····मार्क्सवाद यथार्थ स्वीकार करते

हुए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को अन्तिम कसौटी मान लेता है। अर्थात् यदि ईश्वर-वाद मनुष्य से बड़ा ईश्वर को मानता है तो मार्क्सवाद मनुष्य से बड़ा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को मान लेता है यदि उसके लिए वेद अन्तिम शब्द कह चुके हैं तो दूसरे के लिए मार्क्स का अन्तिम शब्द वेद बन गया है। इस प्रकार दोनों ही यथार्थ की वास्तविकता और इसी सक्रिय आन्दोलन-शक्ति की अवहेलना तो करते ही हैं, साथ ही वे मानव विशिष्टता की भी हत्या करते हैं और उनको सामान्य परिधि की अपेक्षा अपनी परिधि में "पंगु और जर्जर बना देते हैं" (नई कविता के प्रतिमान, पृष्ठ १०६)

आदर्शवाद के विषय में वर्माजी का आरोप सही हो सकता है, यद्यपि आदर्शवादी वेद की व्याख्या युगानुरूप करते आए हैं परन्तु मार्क्सवाद मानव-विशिष्टता को स्वीकार नहीं करता, यह ग़लत है। यदि किसी देश में मार्क्स-वादी ने मानव विशिष्टता को स्वीकार नहीं किया तो यह दोष मार्क्सवाद का नहीं, उस मार्क्सवादी का है। मार्क्स ने स्वप्नवादी समाजवादियों का खंडन करते हुए लिखा है कि जो भौतिकवादी यह कहते हैं कि मनुष्य परिस्थिति की उपज है और परिवर्त्तित मनुष्य, परिवर्त्तित परिस्थितियों की उपज है, वे यह भूल जाते हैं कि मनुष्य ही परिस्थिति को बदलता है, तथा वे यह भी भूलते है कि स्वयं इस प्रकार की शिक्षा देने वाले को सही शिक्षा लेनी चाहिए।"[1]

अत: मार्क्सवाद को वेद मानने के आरोप का उत्तर यह है कि मार्क्स-वाद अधिक वैज्ञानिक प्रतीत हुआ, इसलिए इस पुण्यभूमि के मार्क्सवादियों ने भी 'वेद' को छोड़कर 'मार्क्सवाद' को अपनाया। 'मार्क्सवाद' का शब्दत: अनुकरण, व्यवहार में, सम्भव भी नहीं हो सका। 'सहअस्तित्त्व' और 'युद्ध' के विषय में आज भी रूस और चीन में विवाद है और इस देश के मार्क्सवादी रूस द्वारा की गई लेनिन की व्याख्या से सहमत हैं क्योंकि "सत्य सापेक्ष होता है" यह भी लेनिन ने ही कहा था अत: परिस्थिति का विश्लेषण ही मुख्य है। 'मार्क्सवाद' अस्त्र है, उससे शत्रु को पछाड़ा जा सकता है और अपना गला भी काटा जा सकता है अत: 'मार्क्सवादी' को "मार्क्सवादी" वेद नहीं, विकसित

---

1. The Materialist doctrine that men are products of circumstances, and upbringing and that, therefore, changed men are produced by changed circumstances and changed upbringing, forgets that circumstances are changed precisely by men and that the educator must himself be educated.

दर्शन मानते हैं ! लक्ष्मीकान्त वर्मा समझते हैं कि इन आरोपों से वास्तविक परिस्थिति में अंतर पड़ जाएगा। हाँ, द्विविधा की सृष्टि अवश्य हो सकती है और हो रही है किन्तु जिस 'इतिहास' से वर्माजी को भय है, वही यह बताता है कि समाजवाद की स्थापना में बहुत से बहके हुए लोग बाधक बनेंगे अतः लक्ष्मीकान्त की "चहचहाहट" केवल मनोरंजन का विषय बनकर रह जाती है। वर्माजी का 'परिप्रेक्षण' व्यक्तिगत अतः अवैज्ञानिक है, अन्य तथ्यों से उसका समर्थन नहीं होता। "नई कविता के प्रतिमान" में एक स्थान पर भी यह उल्लेख नहीं मिलता कि लेखक समाज में परिवर्त्तन चाहता है जबकि मार्क्स ने स्पष्ट कहा था कि दार्शनिकों ने जगत् की व्याख्या की है परन्तु प्रश्न उसे बदलने का है। अतः मार्क्सवादी 'यथार्थ' समाज को बदलने के लिए "यथावत् चित्रण" करते समय, समाज के विकास को ध्यान में रखता है जबकि प्रयोगवादी 'यथार्थ' में "स्थितिशीलता' की ही व्यंजना हो रही है। यह एक भटकाव है। प्रगतिशील भी भटक जाते हैं। यशपाल और राजेन्द्रयादव वर्ग-संघर्ष का अच्छा चित्रण करते हैं किन्तु 'सैक्स' के सम्बन्ध में इन लेखकों की दृष्टि निरपेक्षतावादी है। इसी प्रकार "उखड़े हुए लोग" में राजेन्द्रजी भारतीय पूँजीवाद का सही चित्रण नहीं कर सके।

ऐतिहासिक भौतिकवाद—लक्ष्मीकान्त वर्मा का सबसे अधिक रोष मार्क्सवाद द्वारा स्वीकृत इतिहास की व्याख्या पर है क्योंकि उनके अनुसार इससे "मानवविशिष्टता" के सिद्धान्त को आघात पहुँचता है। अतः द्वन्द्वात्मकभौतिकवाद के इस पक्ष पर भी संक्षेपतः विचार करना चाहिए। सर्व प्रथम यह कहना आवश्यक है कि गंभीर समाजवादी भी यह कहते सुनाई पड़ते हैं कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पदार्थ-विज्ञान पर आधारित है। 'मैटर' से चेतना के गुणात्मक परिवर्तन को वह समझाकर, पुराने दार्शनिक सम्प्रदायों को समाप्त अवश्य कर देता है परन्तु पदार्थ-विज्ञान के नियमों को चेतनसमाज पर लागू करने से अनेक प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं। मनुष्य की चेतना बहुत विकसित है, उसमें स्वज्ञान (self-consciousness) भी रहती है जो अन्य जीवों में उतनी नहीं होती।

अतः लक्ष्मीकान्त वर्मा और कतिपय गंभीर समाजवादियों का प्रश्न एक ही है, यद्यपि वर्मा जी के प्रश्न की पृष्ठभूमि में गंभीर दृष्टि नहीं है, जबकि द्वितीय आरोपकर्त्ता ऐतिहासिक प्रक्रिया से भली भाँति परिचित होकर ही, यह प्रश्न कर रहा है।

दोनों प्रश्नों का उत्तर एक ही होगा। 'मनुष्य' को मार्क्सवाद प्रकृति का अंग मान कर ही चला है और व्यवहार से मनुष्य प्रमाणित भी यही करता है कि वह 'प्रकृति' का ही एक अंग है—भोजन, निद्रा, मैथुन और भय की दृष्टि से उसे आदर्शवादी भी 'पशु' मानते ही हैं। उसकी विशिष्टता है—'स्वचेतना' (self consciousness)। यदि यह 'स्वचेतना' परिस्थिति से इतनी स्वतन्त्र होती तो ऐतिहासिक विकास में, युग विशेष में, सर्वज्ञ दार्शनिकों या पहुँचे हुए साधकों आदि के रहते हुए 'उत्पादन के साधन' उनके "चेतना प्रवाह" को सीमित नहीं कर देते। सर्वज्ञ 'ऋषि और मुनि', मर्मी गौतम बुद्ध, और "महावीर" भी यह नही सोच सके कि मनुष्य की मुक्ति का वास्तविक उपाय क्या है ? नैतिक जीवन पर प्रबल आग्रह होने पर भी उनकी 'नैतिकता,' उत्पादन के साधन न बदलने पर किस प्रकार 'व्यक्तिगत' ही रह गई, यह इतिहास ही बताता है। अतः मनुष्य की 'स्वचेतना' मार्क्स ने 'असीमित' और 'अनन्त' न मानकर उसे युगविशेष की अन्य सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप ही पाया था। और भारत का इतिहास भी साक्षी है कि मनुष्य की 'चेतना' का क्रमशः विकास हुआ है, साथ ही 'आर्थिक उत्पादन के साधन' यहाँ भी निर्णायक रहे हैं अतः आधारभूत मान्यता की दृष्टि से इतिहास की आर्थिक व्याख्या सही है।

किन्तु एंगिल्स ने मार्क्स के बाद लिखा था कि केवल आर्थिक पक्ष पर ही बल देना ग़लत है, जीवन और समाज का विकास एक संकुल-विकास है अतः अन्य तत्त्वों को भी देखना चाहिए। इस सिद्धान्त में मनुष्य जीवन की विशिष्टता और उसकी सीमा स्पष्टतः स्वीकृत है। वह दूसरी बात है कि मार्क्सवादी अपने विश्लेषण में केवल आर्थिक पक्ष पर ही बल दे जाते हों। किन्तु लक्ष्मीकान्त वर्मा ने ऐसे यांत्रिक मार्क्सवादियों की आलोचना न करके, मार्क्सवाद में ही यह कमी बताई है कि वह मानव-विशिष्टता को नहीं मानता।

'गंभीर समाजवादी' जब तक यह सिद्ध नही करता कि युग-विशेष में संस्कृति—कला, दर्शन, धर्म, आचार, विचार आदि आर्थिक शक्तियों के अनुरूप न होकर, 'स्वच्छन्द' होतें हैं, तब तक पदार्थ-विज्ञान-क्षेत्र के नियमों का समाज पर लागू करने का औचित्य अखंडित ही रहेगा। एंगिल्स ने जब यह कहा था कि केवल आर्थिक-पक्ष पर बल देना ग़लत है, तब उनका यह भी मतलब नहीं था कि मार्क्स और एंगिल्स ने अब तक आर्थिक-पक्ष पर अधिक बल दे दिया है, अब आगे उसकी चर्चा व्यर्थ है ! "उत्पादन के साधनों के अनुरूप ही

संस्कृति (super structure) होती है", इसे भुला देने से भौतिकवाद ही समाप्त हो जाता है ! किन्तु संस्कृति के उत्पादन के साधनों के अनुरूप होने पर भी, उसमें बहुत से तत्त्व परम्परा से आए हुए हो सकते हैं जिन्हें 'लेनिन' ने 'आदिम मूर्खता" (Primitive nonesense) कहा है अतः सामन्तवाद में गुरु-शिष्य परम्परा से दासप्रथा की विकसित शैलियों का अनुकरण होता रहता है। किन्तु यदि आज 'कवित्त' के प्रयोग को देख कर कोई कहे कि आजकल भी रीतिकालीन अर्थ-व्यवस्था है, तो यह ग़लत होगा। यह बार-बार कहा गया है कि संस्कृति, दर्शन, धर्म, कला आदि में परिवर्त्तन आकस्मिक रूप से नहीं होता। क्रान्ति के बाद भी मानवीय चेतना एकदम नहीं बदल पाती अतः मार्क्सवाद मानव-विशिष्टता का विरोधी नहीं है। 'कला' के वैविध्य के जो विरोधी हैं, वे यह मान लेते हैं कि जीवन सपाट है, संकुल नहीं है और यह ग़लत है।

'किन्तु 'विशिष्टता' के नाम पर, क्षण-क्षण में कौंधते अनुभव-अणुओं की पकड़ के प्रयत्न के नाम पर अथवा पूँजीवादी घेरे के कारण रूस और चीन में निरपेक्ष स्वतन्त्रता न देने के कारण तथा समाज-विरोधी कार्यों की "वर्जना" के कारण सामूहिक हित, सामूहिक भाव और सामूहिक मुक्ति का विरोध करना ग़लत है जैसाकि प्रयोगवाद कर रहा है। किसी तथाकथित प्रयोगवादी ने यह नहीं कहा कि रूस ने जो ग़लतियाँ की हैं, उन्हें हम न करेंगे और जनतांत्रिक तरीके से, हम यहाँ समाजवाद की स्थापना करेंगे। इसके विपरीत ये लोग नाना प्रतिक्रियावादी विचारों को वाणी देकर, मानव विशिष्टता के नाम पर उनकी स्वीकृति चाहते हैं, इसीलिए इनका विरोध आवश्यक है।

समाजवाद का उद्देश्य तानाशाही की स्थापना नहीं है, अपितु 'सर्वहारा की तानशाही' को रूस में अनिवार्य आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया गया था। आज समाजवादी शिविर प्रबल है, और जनता समाजवाद से परिचित हो रही है अतः जन-तांत्रिक तरीके से भी समाजवाद की स्थापना हो सकती है, अतः 'आज़ादी के नाश' का नारा भारतीय परिस्थिति में तो और भी ग़लत है क्योंकि यहाँ सभी दल जनतांत्रिक तरीकों को ही मान चुके हैं। 'आलोचना' (मासिक) में जो लेखकों की 'स्वतन्त्रता' पर लेख छपे, वे भारतीय परिस्थिति में असम्बद्ध थे। किन्तु लगता है कि भारती-साही-लक्ष्मीकान्त वर्मा आदि को समाजवादी देशों से नफरत है अतः उनके विरुद्ध प्रचार करना वे अपनी कला का लक्ष्य और अपनी 'विशिष्टता' समझते हैं।

मार्क्सवाद समाज के विकास के अध्ययन में समाज के अन्तर्विरोधों का अध्ययन करता है। नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार मार्क्सवाद 'वर्गसंघर्ष' को स्वीकर कर 'साहित्य' को वर्गसंघर्ष का अस्त्र बना देता है, यह मार्क्सवाद का अपराध है। हम देख चुके हैं कि 'वर्गसघर्ष' का सिद्धान्त पदार्थ-विज्ञान से सम्बन्धित है और समाज में वर्गसंघर्ष स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। पूँजीवाद के पूर्व यह तीव्र और मुखर रही हो पाता अतः पुराने साहित्य मे वर्गसंघर्ष को आवृत करने वाले तत्त्व धर्म, दर्शन आदि रहे है। अर्थात् इनके माध्यम से जान और अनजान में वर्ग सघर्ष को स्पष्ट या प्रच्छन रूप मे वाणी मिलती रही है। सिद्ध, नाथ और संत साहित्य उच्च वर्गों की संस्कृति और कला के प्रति स्पष्ट विद्रोह था। इसके विपरीत भक्त कवि मानवतावादी थे अर्थात् निम्न जातियों को सुविधाएँ देकर भी, पुरानी वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रचारक थे। तुलसीदास में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक है। आचार्य शुक्ल वर्णाश्रम धर्म के समर्थक थे अतः वे सन्त कवियों के कृतित्व को पसन्द नहीं कर सके। उनके शिष्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की भी वही दृष्टि है। नन्ददुलारे वाजपेयी का भी यही दृष्टिकोण है। हजारी प्रसाद द्विवेदी समाजवाद से प्रभावित हैं, अतः उनके विश्लेषण में 'अध्यात्मवाद' के ध्वंसावशेष रहने पर भी, संतकवियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वर्गगत आधार उनके विश्लेषण में स्पष्टतः स्वीकृत है। डा० रामविलास शर्मा स्पष्टतः वर्गसंघर्ष की भूमिका को स्वीकार करते हैं किन्तु सन्तों और भक्तों का अन्तर न मानकर वे दोनों के "समान तत्त्वों" पर बल देते हैं किन्तु इन दोनों में क्या अन्तर है, यह स्पष्ट नहीं करते। तुलसीदास की वर्णाश्रमव्यवस्था सम्बन्धी मान्यताओं का विरोध करने पर वे ऐसी चौपाइयों को प्रक्षिप्त कह देते हैं। वह प्राचीनतर साहित्य और धर्म में वर्णाश्रम विरोधी प्रवृत्तियों और वर्ण-समर्थक प्रवृत्तियों को अलग नहीं करते फलतः उलझन उत्पन्न होती है और नन्ददुलारे वाजपेयी और डा० रामविलास शर्मा में इस दृष्टि से अन्तर लुप्त होने लगता है !

यह स्पष्ट है कि भारतीय समाज में वर्णाश्रम विरोधी प्रवृत्तियों में वर्ग-संघर्ष सबसे अधिक स्पष्टता के साथ मुखरित हुआ है। भक्ति-आन्दोलन मूलतः इसी भूमिका में परखा जाना चाहिए। बाद में 'भक्ति' के दो स्वरूप हुए, प्रथम वर्ण-विरोधी शैवों, शाक्तों-और सन्तों की भक्ति और दूसरी वैष्णवों की भक्ति। इन दोनों में समान तत्त्व भी हैं, पर मौलिक भेद भी हैं।

अतः 'वर्गसंघर्ष' के सिद्धान्त को स्वीकार किए बिना, साहित्य, दर्शन और कला के रूप में जिस 'सौन्दर्य की व्यंजना हुई है, उसकी पृष्ठिभूमि में

स्थित "यथार्थ या सत्य, का अन्दाज़ लग नहीं सकता। न साहित्य के विकास को समाज के सामान्य विकास के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है। हाँ, यदि कोई 'साहित्य' को समाज के विकास से निरपेक्ष मानता हो तो बात ही दूसरी है। समाज के विकास को आदर्शवादी भी मानते हैं किन्तु उनका "विकास" कल्पित है क्योंकि विकास अन्तरस्थित द्वन्द्व के कारण होता है अतः 'गति' को देखना किन्तु 'गति' के अंतस् की उपेक्षा करना आदर्शवाद है। मज़ा यह है कि विकास से सम्बन्धित अपने अज्ञान को छिपाने के लिए आदर्शवादी सर्वदा "भारतीय सस्कृति" या 'भारतीयता' का नारा लगाता है। जैसे 'भारतीय संस्कृति' का विकास भारतीय समाज के द्वन्द्वात्मक विकास से असम्बद्ध है!

समाज के विकास में 'वर्गसंघर्ष' की भूमिका डा० रांगेय राघव भी स्वीकार करते हैं। उन्होंने प्राचीन "भारतीय परम्परा और इतिहास" नामक ग्रन्थ में भारतीय संस्कृति-प्रवाह और साहित्य को इसी दृष्टि से देखा है। डांगे की प्राचीन भारत पर पुस्तक, डा० कोशाम्बी की पुस्तक (भारतीय इतिहास का परिचय—अँगरेज़ी में), 'लोकायत' (डी० चट्टोपाध्याय) उक्त 'भारतीय परम्परा और इतिहास' तथा डा० रामविलास शर्मा की "मानव-सभ्यता का विकास"—इन कतिपय पुस्तकों से भारतीय इतिहास सम्बन्धी धारणा पर कुछ प्रकाश पड़ता है। अभी तक भारतीय इतिहास के विभिन्न युगों पर गंभीरतम और पूर्ण कार्य नहीं हो सका है अतः साहित्य के विद्यार्थी को उलझन हो रही है। फिर भी उक्त कृतियों से यह स्पष्ट है कि भारतीय इतिहास का विकास भी आदिम साम्यवाद, सामंतवाद और पूँजीवाद—इन्हीं मार्क्सवादी कोटियों में हुआ है। डा० रांगेय राघव महाभारत के युग तक 'दासप्रथा' को भी निर्णायक व्यवस्था के रूप में मानते हैं परन्तु तथ्यों से दासप्रथा भारत में निर्णायक व्यवस्था के रूप में प्रमाणित नहीं होती। प्रतिक्रियावादी जब तक भारतीय इतिहास के इस विकास का खण्डन नही करते, तब तक 'इतिहास-वाद' की वृद्धि ही होगी और असलियत तो यह है कि अभी इतिहास को द्वन्द्वात्मक दृष्टि से परखने की ओर हम उन्मुख ही हुए हैं अतः इस क्षेत्र में अभी बहुत कार्य शेष है। साहित्य की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या में सबसे बड़ी कठिनाई केवल इतिहास के प्रति आदर्शवादी धारणा ही नहीं है अपितु द्वन्द्वात्मक दृष्टि का विश्वासी विद्वत्वर्ग भारतीय इतिहास को पूर्ण वैज्ञानिक रूप में अभी तक प्रस्तुत नहीं कर पाया। यही कारण है कि शोधग्रन्थों में साहित्य का अनुशीलक प्रतिक्रियावादी इतिहासों से कुछ पृष्ठ नकल करके अपने कर्त्तव्य से मुक्त हो जाता है। ऐसी शोधों में इतिहास अलग दिखाई पड़ता है,

धर्म अलग और साहित्य अलग। 'रीतिकाल की भूमिका,' (नगेन्द्र) राधावल्लभ सम्प्रदाय (विजयेन्द्र स्नातक) 'रामभक्ति में रसिक साधना' (भगवतीसिंह) आदि शोधों में यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। 'काव्यशास्त्र' को तो इतिहास से परे माना जाता है अतः भरत के समय की परिस्थितियों और जयदेव और पंडितराज के समय की सामाजिक व्यवस्था में महान अन्तर होने पर भी, इनकी धारणाओं को तात्कालिक व्यवस्था से सम्बद्ध नहीं किया जाता। हिन्दी में "सुपर स्ट्रक्चर" का अनुशीलन ही अधिक हुआ है किन्तु उसका मूलभूत आर्थिक व्यवस्था तथा अन्य सामाजिक सम्बन्धों से क्या सम्बन्ध रहा है, इस ओर कार्य बहुत कम हुआ है। सामाजिक चिंतन की भ्रान्ति के कारण साहित्यिक अनुशीलन भी कल्पनाओं पर अधिक आश्रित है।

इतिहास के प्रति भौतिकवादी धारणा इन तथ्यों से स्पष्ट होती है—

(१) समाज का विकास यथार्थ (Objective) नियमों पर आधारित है, जिनकी शोध सम्भव है।

(२) राजनैतिक संस्थाओं, धार्मिक सम्प्रदाय, दर्शन, काव्य, कला, विधि, आदि का विकास समाज के भौतिक जीवन के विकास के अनुरूप होता है।

(३) उक्त संस्थाएँ और सम्प्रदाय, दर्शन, काव्य, कला आदि, युग-विशेष में तत्कालिक भौतिक जीवन के अनुरूप विकसित होकर भी, भौतिक जीवन (Material life) को प्रभावित करते हैं।

प्रथम भौतिकवादी धारणा को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण लें। यदि 'हिन्दू धर्म' के उदय और विकास को समझना है तो इसके लिए इसके उदय के समय की भौतिक परिस्थिति को समझना होगा। हिन्दू धर्म का विकास समाज के सामान्य विकास को प्रतिबिम्बित करता है। इसी प्रकार बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव धर्मों आदि का अध्ययन वैज्ञानिक हो सकता है। इसी प्रकार षड्दर्शन का विकास, आस्तिकतावाद, बुद्धिवाद, नास्तिकतावाद, भक्तिवाद आदि 'दर्शनों' के विकास के लिए भी भौतिक परिस्थितियों ही उत्तरदायी हैं। इन भौतिक परिस्थितियाँ में उत्पादन के साधन तथा उनके अनुसार निश्चित मानवीय सम्बन्धों का अध्ययन करने से दर्शन, धर्म, काव्य आदि का 'स्वरूप' स्पष्ट होता है। 'विकास' को समझते समय अंतर्निहित 'द्वन्द्वों' को समझना होगा, जो नहीं हो रहा है।

द्वितीय भौतिकवादी धारणा के अनुसार समाज के विकास में निर्णायक

तत्त्व सर्वदा 'आर्थिक' होते हैं। यह बात "अध्यात्मवादी" विचारक को पसंद नहीं आती किन्तु यह कोई सर्वथा अदभुत बात नहीं है—'अर्थ' को मूलाधार रूप में बहुत से भारतीय विचारकों ने भी माना है। पुरुषार्थ चतुष्ट्य में 'अर्थ' ही मूल माना गया है। मार्क्स ने सिर्फ इस सिद्धान्त को पूर्णता दी है अतः काव्य, दर्शन, धर्म आदि को समझने के लिए भी इस मूलाधार—यानी उत्पादन के साधनों का युग विशेष में विकास, उत्पादन का स्वरूप, उसकी वितरण-व्यवस्था, वर्गों का जन्म, उनके आपस में सम्बन्ध और वर्गसंघर्ष—इस मूलाधार को समझे बिना काव्य में भी व्यक्त धारणाओं भावनाओं और उनके 'सौन्दर्य' का स्वरूप नहीं समझाया जा सकता।

इस मूलाधार को समझ लेने पर कवि के 'उद्देश्य' और भाव का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इतिहास के विकास में विभिन्न दल, वर्ग आदि भाग लेते हैं। भौतिक परिस्थितियों के कारण उनके उद्देश्य, रुचि, भाव आदि भिन्न-भिन्न होते हैं। इस भिन्नता को 'मूलाधार' की व्याख्या के बिना समझाया ही नहीं जा सकता। उदाहरण के लिए 'प्रगतिवाद' शोषितों की हिमायत करता है, यथार्थवाद को अपनाता है, क्यों ? क्योंकि वह अधिकतर शोषितों और उनसे वास्तविक सहानुभूति रखने वालों का साहित्य है। इसके विपरीत प्रयोगवादी साहित्यस्रष्टाओं में मध्यवर्ग के ऐसे बहके हुए युवक हैं, जिनके सम्मुख समाज का स्वरूप स्पष्ट नहीं है। वे "ईमानदारी" से अपनी व्यक्तिगत विशिष्टता को वाणी देते हैं, परन्तु उनकी भावनाएँ प्रायः प्रगति के प्रति जागरूक जनता के विरोध में जाती है और इस प्रकार वे प्रतिक्रियावादी बन जाते हैं ! आज की सामाजिक व्यवस्था को बिना समझे हुए प्रगतिवाद और प्रयोगवाद को नहीं समझा जा सकता। साहित्य इस 'मूलाधार' से सर्वथा स्वतन्त्र 'सौन्दर्य' की सृष्टि करता है, वह वर्ग से परे सामान्य मानव को अपील करता है, यदि यह कहा जाय तो इसका उत्तर यह है कि सामान्य मानव के लिए जो साहित्य लिखा गया है या लिखा जाता है, उसमें भी 'मूलाधार' की अप्रत्यक्षरूप से व्यंजना होती है। 'प्रेम' को शाश्वत वृत्ति माना जाता है परन्तु वह बराबर बदलता आया है। वात्सल्यवर्णन वर्ग से परे प्रत्येक को अपील करता है, किन्तु इसमें 'मानवीय-सम्बन्ध' और सौन्दर्य की ही व्यंजना होती है—कादम्बरी के वात्सल्यवर्णन और सूरसागर के वात्सल्य वर्णन में अन्तर है। 'बाण' का वात्सल्य वर्णन दरबारी है, सूर का जनवादी, क्योंकि सूर दरबारी कवि नहीं थे, अतः सूर का सामाजिक सम्बन्ध बाण के सामाजिक सम्बन्ध से भिन्न था अतः उनके वात्सल्य-वर्णन में भी अंतर है। तुलसी के वात्सल्य-वर्णन में जो

सहजता नहीं है उसका कारण तुलसीदास द्वारा परम्परा का पालन है, फिर भी 'बाण' से वह जनता के अधिक निकट है।

अतः प्रेम, वात्सल्य, भूख जैसी स्थायी वृत्तियाँ प्राकृतिक हैं, ये हमेशा रहेंगी परन्तु इसका स्वरूप-निर्धारण समाज के विकास के अध्ययन द्वारा ही हो सकता है। अतः वर्ग से परे साहित्य नहीं है—कालिदास, तुलसी, सूर, प्रसाद और अज्ञेय के प्रेमचित्रण में इनका अपना-अपना युग बोलता है और "युग के इस बोलने" में मूलाधार की प्रतिध्वनि भी साफ़ सुनाई पड़ती है।

सूर ने वात्सल्यचित्रण किया। उन्हें क्या पता था कि आगे कारख़ानों में, आफ़िसों में और बाज़ारों में "बालगोविन्द" की क्या दशा होगी। जो पूँजीपति सूरसागर को पढ़कर विह्वल हो उठता है, वही "जसोदा के लालों" पर दया नहीं दिखाता। वर्गसंघर्ष जब तीव्र नहीं था तब इधर ध्यान नहीं गया किन्तु आधुनिक साहित्य में इधर अधिक ध्यान गया फलतः शोषकों पर आक्रोश और शोषित बालगोविन्दों के प्रति करुणा का वर्णन हुआ, यह वाल्मीकि की ही परम्परा है परन्तु इसे 'वर्गगत' मानकर यह कहना कि वास्तविक साहित्य, वर्ग से परे है, शुद्ध शोषकों का समर्थन है, यह स्पष्ट बात कटु है, पर है सही।

शृंगार पढ़कर पूँजीपति, मज़दूर सभी को आनन्द आता है इस तथ्य की पृष्ठभूमि में भी समाज है। सच्चाई यह है कि उज्जवल या उदात्त शृंगार की जो दोनों वर्ग प्रशंसा करते हैं, उसका कारण यह है कि उसका एक नैतिक प्रभाव शुभकर लगता है जैसे रामचरितमानस में सीता-राम के प्रेमवर्णन में। राधा-कृष्ण के स्वच्छन्द प्रेम वर्णन में इसलिए आनन्द आता है कि 'प्रेम' के मार्ग में दम्भियों ने नाना व्यवधान उपस्थित कर दिए हैं, साथ ही समाज के विकास में हम यह उचित और आवश्यक समझते हैं कि एक व्यक्ति एक से ही प्रेम करे अतः एक के प्रति समर्पण हमें इतना प्रिय है। हमारे मन के भीतर इस समर्पित प्रेम के वर्णन से यह संस्कार संतुष्ट होता है कि ऐसा प्रेम ही कल्याणकारक है किन्तु इतिहास गवाह है कि प्रेम के अन्य रूप भी प्रचलित थे और उनका कविगण उत्साह से वर्णन करते थे। रसवादियों ने भी यही माना है कि युगधर्म के अनुसार जो मान्यताएँ हों, उनके औचित्य की रक्षा होनी चाहिए।

इस प्रकार साहित्य का इतिहास समाज के सामान्य इतिहास से ही सम्बद्ध होता है। साहित्य की किसी भी समस्या को निरपेक्ष रूप में नहीं देखा जा सकता। 'रसवादी' साहित्व के समय कवि समाज के प्रति इतना जागरूक नहीं

था, जितना आज है, तब वर्गसंघर्ष तीव्र नहीं था अतः आज रसवादी साहित्य की ही सृष्टि हो, मनुष्य ने जिस 'सत्य' को पहचाना है, उसे उपेक्षित किया जाय, यह ग़लत है। यदि नवीन 'सत्य' की वर्णना आकर्षक नहीं है, उसमें 'ईमानदारी' का अभाव है तो वह 'प्रचार' हो जाएगा और साहित्य में उसकी गणना न होगी। यह हमारी असमर्थता होगी न कि उस 'सत्य' की, जो पुकार-पुकार कर आज के कवि से कह रहा है कि समाज के वास्तविक रूप को समझो और उसे वाणी दो। निश्चित रूप से शोषकों का दल उसे 'प्रचार' कहेगा परन्तु शेष जनता उसका अभिनन्दन करेगी। शोषकों के जान-अनजान में समर्थक भी उसे प्रचार कहेंगे किन्तु उनकी चिन्ता भी व्यर्थ है। वे बहके हुए लोग हैं, राह पर आजाएँगे, उनके विरोध से डर कर उन्ही के स्वर में स्वर मिलाकर बोलने लगना तो नूतन सत्य के प्रति विश्वासघात होगा। समाज की अब तक की प्रगति को परख कर जो दायित्व हमें पुकार रहा है, उसके प्रति हमारी ग़द्दारी होगी। सन् ३५-३६ के बाद इसी नवीन सामाजिक सत्य की व्यंजना कथा, काव्य, आदि में हो रही है और दिन पर दिन समाजवादी मानसिक स्थिति पुष्टतर हो रही है। इसके दबाव को स्वयं सरकार महसूस कर रही है। अतः साहित्य को इस प्रवृत्ति से वंचित कर देना गलत होगा।

प्रगतिवादी धारणा यह है कि विचार और संस्थाओं का स्वरूप-निर्धारण, अंतिम विश्लेषण में भौतिक जीवन द्वारा ही होता है। काव्य के स्वरूप निर्धारण के विषय में भी यही सत्य स्वीकृत है और उक्त व्याख्या से प्रमाणित भी होता है। अतः निम्न मध्यवर्ग और मध्यवर्ग का एक वर्ग प्रगतिवाद के साथ है और एक प्रयोगवाद का एक आदर्शवाद का भी हिमायती है। आदर्शवादी और प्रयोगवादी कहता है कि वह वर्ग-चेतना से परे है परन्तु इतिहास के अध्ययन में व्यक्ति या दल की 'कथनी' के पीछे पूरी ईमानदारी होने पर भी देखा यह जाता है कि जो 'प्रेरणा' वह 'कथनी' उत्पन्न करती है, वह सामान्य जनता का हित करती है या अहित। साहित्य में आकर्षक शैली ही सब कुछ नही है, 'संवेदना' का स्वरूप भी महत्त्वपूर्ण है अतः प्रतिक्रियावादी जिस 'सवेदना', प्रेरणा या भावना को जन्म देता है, उसका विरोध आवश्यक है।

मध्ययुग में योरोप में प्रोटैस्टैण्ट मत के लिए लोग लड़े। साहित्य और व्यवहार दोनों क्षेत्रों में विराट संघर्ष हुआ। किन्तु क्या यह युद्ध केवल विचारों का ही संघर्ष था। धार्मिक युद्धों ने नए राज्यों को जन्म दिया और पूँजीवाद की नींव पड़ी। प्रोटैस्टेण्ट मतावलम्बी विचारों का जन्म नए वर्ग और उत्पादन के नवीन सम्बन्धों के कारण हुआ था। इसी प्रकार हिन्दी काव्य में प्रगतिवादी साहित्य

के विरोधी जो नए-नए तर्क प्रस्तुत कर रहे हैं, और सैद्धान्तिक संघर्ष चल रहा है, उसकी पृष्ठभूमि में आधुनिक समाज के पूँजी-सम्बन्धों की ही अभिव्यक्ति है। प्रगतिवादी चाहते हैं, विषमता मिटे, प्रतिक्रियावादी चाहते हैं, विषमता की रक्षा हो ! एक 'आज़ादी' को "आवश्यक" मानता है, दूसरा निरपेक्ष 'आज़ादी' की मांग करता है । एक मानव-मूल्यों का मर्म यह मानता है कि मानव द्वारा मानव का शोषण और दमन बन्द हो, दूसरा कहता है कि शोषण चाहे समाप्त न हो परन्तु हमारी 'आज़ादी' और 'विशिष्टता' की रक्षा हो ! अतः प्रगतिवादी कहता है कि तुम जनद्रोही हो, प्रयोगवाद कहता है कि तुम्हारा 'जनवाद' कुंठा है !

किन्तु यह समझना ग़लत होगा कि काव्यगत आन्दोलनों में, प्रत्येक 'भाव', प्रत्येक मानसिक स्थिति, प्रत्येक संवेदन सीधा 'मूलाधार' से सम्बन्धित है। मानव-जीवन संकुल जीवन है अतः समाज की यथार्थ दशा के वर्णन में 'वर्ग संघर्ष' स्पष्ट सुनाई पड़ता है किन्तु प्रकृति या प्रेम-वर्णन में सार्वभौमिक पार्श्वों का चित्रण मिलता है। प्रयोगवाद में भी सर्वत्र प्रतिक्रियावाद नहीं है, विशेषकर प्रकृति-चित्रण में प्रयागवाद में आकर्षक छवियों को पकड़ने की बहुत जगह प्रवृत्ति मिलती है। उसका नवीन शैली और नई उपमाओं के प्रति भी आग्रह है। सब जगह आरोपित अवसाद और कुण्ठा भी नही है अतः विकास को 'सीधा' न समझ कर उसे समग्र रूप में, गहराई के साथ देखना होगा।

समाजवाद समाजवादी विचारधारा, समाजवादी भावना और समाजवादी सौन्दर्य-बोध के बिना स्थापित नहीं हो सकता, प्रगतिवादी आन्दोलन का यह मर्म है। बिना विचार के जन आंदोलन संगठित नही हो सकता, बिना साहित्य के समाजवादी राष्ट्र के जीवन के विविध पक्षों का स्वरूप-निर्धारण नहीं हो सकता अतः मार्क्सवाद कला और विचार को सोद्देश्य मानता है।

प्रगतिवादी काव्यधारा—हिन्दी में प्रगतिवादी आन्दोलन का उद्देश्य स्पष्ट था—पूँजीवाद और सामंतवाद के विरुद्ध संघर्ष और भारतवर्ष में समाजवाद की स्थापना। छायावाद के कवि ने इन्हीं समाजवादी विचारों के प्रति आकर्षित होकर कहा था—

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार।
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ?

काव्य-प्रक्रिया की दृष्टि से देखा जाय तो यह एक भूल भी थी क्योंकि काव्य केवल विचारों की घोषणा नहीं है। यह सही है कि कभी 'सत्य' की

घोषणा ही काव्यमय लगती है। कबीर सीधे-सीधे विचारों की घोषणा कर जाते हैं परन्तु विचार की ऊष्मा कितनी प्रिय लगती है ! फिर भी काव्य मूलत: घोषणा नहीं, व्यंजना है। विचारों, भावों और कल्पनाओं का मूर्त्तीकरण करना पड़ता है अत: छायावाद के अत्यधिक अलंकृत काव्य के बाद कुछ समय तक विचारों के वमन में ही आनन्द आता रहा परन्तु शीघ्र ही उस पर 'प्रचार' का आरोप लगा जो अंशत: सही था किन्तु यह आरोप अंशत: ग़लत भी था क्योंकि प्रगतिवाद मे काव्य का 'अंश भी कम नहीं है।

'पुण्यप्रसू' कविता में पन्तजी ने कवि की "गगन ताकने" और "मृत्यु नीलिमा गहन गगन" में मग्न रहने की प्रवृत्ति को ललकारा। इस कविता में केवल प्रचार है, ऐसा कौन कह सकता है ?

देखो भू को, जविप्रसू को
हरित भरित, पल्लवित, मर्मरित कुजित गुंजित भू को।
कल कल छल छल, जल, जल निर्मल
कुसुम खचित, मारुत सुरभित, खगकुल कूजित
प्रियपशु मुखरित जिस पर अंकित, सुरमुनि वन्दित
मानव पदतल !

पुण्यप्रसू १९३८ की रचना है। इसी वर्ष की रचना 'चींटी' में भी विचारों का वमन नहीं है, प्रेरणा की गूँज है। इसी वर्ष की रचना 'झंझा में नीम" रचना में प्रकृति-प्रेम का नवीन सहज रूप है, रूपलिप्सा मात्र यहाँ नहीं है। १९३९ की रचना 'भारतमाता' में भारत की जो मूर्त्ति पन्त जी ने अंकित की है, वह आजतक बेजोड़ है—

दैन्य जड़िम अपलक नत चितवन
अधरों में चिर नीरव रोदन
युग युग के तम से विषण्ण मन
वह अपने घर में प्रवासिनी !

छायावादी छन्द में पन्त जी ने नवीन भावनाओ को वाणी दी—

कहाँ खोजने जाते हो, सुन्दरता औ आनन्द अपार।
इस मांसलता से है मूर्त्तित, अखिल भावनाओं का सार।

'चिदम्बरा' में पन्त जी ने कहा है कि "युगान्त तक मेरी भावना में नवीन के प्रति एक आग्रह उत्पन्न हो चुका था"। उन्होंने "द्रुतझरो जगत् के जीर्णपत्र" और "गा कोकिल बरसा पावक कण" को उद्धृत भी किया है।

"ग्राम्या, के भावपक्ष में—जिसे मैंने कोरी भावुकता से बचाकर, सहानुभूतिपूर्वक, मान्यताओं के प्रकाश में सँवारा है–लोक जीवन के कलुष पंक को धोने के लिए, नए मानव की अंतर-पुकार है।" अर्थात् ग्राम्या में 'प्रचार' नहीं है। किन्तु 'युगवाणी' में अवश्य पन्त जी ने 'प्रचार' को स्वीकार किया है। पन्त जी ने बताया है कि मार्क्सवाद का जटिल पक्ष उनके भाई स्वर्गीय देवीदत्त पन्त से उन्होंने समझा और पूरनचन्द जोशी और देवीदत्त के प्रभाव से उन्होंने अपनी ढीठ कल्पना के सहारे" मार्क्सवाद के गहन कान्तार को पार किया। पन्त जी ने लिखा है कि "तब हिन्दी में सम्भवतः इस प्रकार की कविता का जन्म भी नहीं हुआ था जो पीछे प्रगतिशील कहलाई।" युगवाणी की रचनाएँ ३७-३८ में लिखी गईं, ग्राम्या की रचनाएँ ३९-४० की हैं। इस प्रकार पन्त जी का प्रगतिवाद को योगदान स्पष्ट है।

निराला के अन्धभक्तों ने पन्त जी द्वारा प्रगतिशील आन्दोलन को जो उनकी देन थी, उसे कम करके आँका है। इस पर खीझते हुए पन्त जी ने ठीक ही लिखा है "छायावाद त्रयी या चतुष्टय में, केवल मैं ही अप्रगतिशील लगता हूँ और वे सब प्रगतिशील लगते हैं सम्भवतः तब युगदायित्व के प्रति पूर्णतः प्रबुद्ध भी न थे, तो मैं उनका प्रतिवाद नहीं करता।"

'कुत्सित समाजशास्त्र' पर पन्त जी का यह प्रहार सही है।

यह भी उल्लेखनीय है कि पन्त जी प्रगतिवाद को छायावाद का ही विकसित रूप मानते हैं। छायावाद की मानववादी धारा ही आगे चल कर प्रगतिवाद का रूप धारण करने लगी और छायावाद की शिल्पप्रियता प्रयोगवाद में। इसका अर्थ यही लेना चाहिए कि 'प्रगतिवाद' की विचारधारा नवीन थी परन्तु उसके लिए आधार प्रस्तुत हो चुका था ! ("रश्मिबन्ध" की भूमिका)

पन्त जी की युगवाणी, युगान्त और ग्राम्या में संकलित रचनाओं में प्रगतिवाद के विचार प्रधान तथा चित्रणात्मक दोनों रूप मिलते हैं। विचार प्रधान कविताओं में आवेश कम, विश्लेषभ अधिक है जैसे 'मार्क्स के प्रति, गान्धी जी के प्रति तथा 'ग्रामदेवता' आदि रचनाओं में विश्लेषण की प्रवृत्ति अधिक है। शैली अभिधा प्रधान है परन्तु विचारों की नवीनता के कारण रचनाकाल में ये रचनाएँ जनप्रिय हुईं। "ताज" जैसी रचनाओं को दृष्टिकोण की नवीनता और किंचित आवेश के कारण अच्छा सम्मान मिला, आज भी वह प्रभावित करती हैं। 'ग्राम जीवन' के चित्रण में पन्तजी ने अपनी सौंदर्यवादी दृष्टि का प्रयोग किया है अतः लोक जीवन के आकर्षक पक्ष प्रस्तुत किए गए जिनमे

प्रचार हरगिज़ नहीं है, लोकश्री की मार्मिक झाँकियाँ हैं। 'घननाद' जैसी रचना में "मार्चगीत" की ध्वनि है। प्रकृति को देखकर मानवीय जीवन के प्रति करुणात्मक भावनाओं को भी वाणी दी गई है—

प्राप्त नही मानव जग को यह मर्मोज्वल उल्लास।
जो कि तुम्हारी डाल डाल पर करता सहज विलास!

यह दुःख का विषय है कि पन्तजी अपने प्रारम्भिक संस्कारवश पुनः अध्यात्मवाद की ओर लौट पड़े और पुनः "मृत्यु नीलिमा गहन गगन" की ओर ताकने लगे। पुनः पैग़म्बरी मुद्रा धारण करने वाली परिस्थिति सन् ४० के बाद थी नहीं अतः उनका अरविन्दवाद जो विदेशी साम्राज्यवाद के समय 'देशी संस्कृति' के प्रचार के रूप में प्रगतिशील बन सकता था, अपनी शक्ति खो बैठा, वह केवल रहस्यवाद-प्रिय पाठकों तक ही सीमित रह गया।

पन्त जी की उक्त तीन कृतियों के विषय में प्रगतिवादी आलोचकों में मतभेद रहा है। शिवदानसिंह चौहान ने लिखा था "आधुनिक हिन्दी काव्य-साहित्य में यह विकास बेजोड़ है"[1] शिवदानसिंह चौहान भगवतीचरण वर्मा, दिनकर और 'नवीन' के काव्य के 'ध्वंसवाद' की निन्दा करते हुए पन्त जी के उक्त क्रान्ति की आकांक्षा से युक्त काव्य की अधिक प्रशंसा करते हैं। किन्तु डा० रामविलास शर्मा पन्त जी के इस काव्य को उतना महत्त्व नहीं देते। पन्त जी ने 'रश्मिबन्ध' की भूमिका में प्रगतिवांद की सीमाओं पर अच्छा लिखा है—"काव्य की दृष्टि से उसका (प्रगतिवाद का) सौन्दर्यबोध पूँजीवादी तथा मध्यवर्गीय भावना की प्रतिक्रियाओं से पीड़ित रहा। उसका भावोद्वेग किसी जनवादी यथार्थ तथा **जीवन सौन्दर्य** को वाणी देने के बदते केवल धनपतियों तथा मध्यवृत्ति वालों के प्रति विद्वेष और विक्षोभ उगलता रहा।"

वस्तुतः इस प्रगतिवाद में वीर रस और करुण रस तथा रौद्ररस से सम्बन्धित वाणी ही प्रारम्भ में अधिक दिखाई पड़ी और इसे केवल 'विक्षोभ' कह कर उपेक्षित नहीं किया जा सकता किन्तु पन्त जी के कथन में इतना सत्य अवश्य है कि प्रगतिवाद ने 'जीवन के सौन्दर्य' का चित्रण, प्रारम्भ में कम किया किन्तु प्रगतिवादी कविताओं में आगे चल कर जीवन-सौंदर्य का भी चित्रण हुआ है, जैसा कि हम देखेंगे।

---

१. **सुमित्रानन्दन पन्त—युगवाणी और ग्राम्या–साहित्यानुशीलन, पृष्ठ १८१।**

बहरहाल, दिनकर, अंचल, नरेन्द्र, नवीन आदि के रुद्र-स्वर के साथ-साथ पन्त जी की जीवन-सौन्दर्यात्मक वाणी भी सुनाई पड़ी। 'जीवप्रसू, भारत-माता' में वस्तुतः यही दृष्टि मिलती है। यही दृष्टि 'ग्राम्या' की अधिकतर रचनाओं से मिलती है। आगे चलकर प्रगतिवादी सौन्दर्य-बोध का इसी परम्परा में विकास हुआ। कहना न होगा कि इन दोनों दृष्टियों की आवश्यकता थी, स्वयं पन्त जी में "गा कोकिल बरसा पावक कण" की परम्परा और 'ग्रामश्री' अंकित करने की परम्परा—साथ-साथ चली है। अतः 'ध्वंस' और 'निर्माण', अभावात्मक और भावात्मक—दोनों स्वर प्रारम्भ में भी सुनाई पड़े परन्तु प्रारम्भ में समग्रतः रौद्रता और 'उत्साह' अधिक था।

पन्तजी स्वप्नदर्शी कवि हैं अतः 'ग्राम्या' की प्रथम कविता में ही वर्ग-हीन राज्य का स्वरूप अंकित है। यह स्वप्न ऐतिहासिक दृष्टि से 'सम्भव' होने के कारण 'ज्योत्स्ना' के स्वर्ग से बहुत अधिक प्रगतिशील है। पन्त जी ने ग्राम-जीवन की दुर्दशा का चित्रण अभिधावादी शैली में "ग्रामचित्र" में किया है—

झाड़ फूँस के विवर—यही क्या जीवन शिल्पी के घर ?
कीड़ों से रेंगते कौन ये ? बुद्धि प्राण, नारी, नर !

किन्तु 'ग्रामयुवती' में उन्होंने रोमानी दृष्टि से 'ग्रामीण सौन्दर्य' को देखा है जिस पर महादेवी ने व्यंग्य किया था कि प्रगतिवादी कवि ज़ायका बदलने के लिए ग्रामीण तारुण्य का वर्णन करते हैं—

खींचती उबहनी वह, बरबस
चोली से उभर-उभर कसमस
खिंचते सँग युग रस भरे कलश
जल छलकाती, रस बरसाती
बलखाती वह घर को जाती !

फिर भी छायावाद से इस मादक चित्रण में अन्तर यह है कि इस कविता के अन्त में कवि दुःखों के कारण इस सौन्दर्य के नष्ट हो जाने का भी वर्णन करता है—

"रे दो दिन का उसका यौवन !"
सपना छिन का, रहता न स्मरण !
दुःखों से पिस, दुर्दिन में घिस
जर्जर हो जाता उसका तन !

'ग्राम नारी' में भी कवि ने नारी को "वह शोभा पात्र नहीं कुसमादपि मृदुल गात्र, वह नैसर्गिक जीवन संस्कारों से चालित" कहा है अतः 'ग्राम्या' में छायावादी रोमनी भावना का अवशेष रहने पर भी कवि का दृष्टिकोण यथार्थ को स्वीकृति देता है। यह दृष्टि 'ग्रामवधू' में अधिक स्पष्ट है, जिसमें ग्रामीणा की बिदा का दृश्य अंकित है। "आधुनिका" में कवि ने आधुनिक तितलियों पर कठोर व्यंग्य किया है।

'ग्राम्या' ग्राम-जीवन की दुर्दशा और उसकी छवियों का दर्पण है।

'ग्राम्या' में भी कवि पूर्णतः मार्क्सवाद को स्वीकार नहीं कर सका, वह गान्धी के आदर्श और भारतीय अध्यात्मवाद और मार्क्सवाद के समन्वय पर भी बल देता है[1]—"अर्थ साम्य भी मिटा न सकता मानव जीवन के दुःख" में यही ध्वनि है। किन्तु समग्रतः 'ग्राम्या' प्रगतिवादी काव्य का उज्जवल स्तम्भ है।

पन्तजी के नवीन काव्य में लक्षणात्मक भाषा के स्थान पर 'अभिधा' का प्रयोग अधिक हुआ है। संस्कृत की तत्सम शब्दावली की मात्रा कम हुई है और उपमान विधान-विश्लिष्ट और सरल है। 'रेखाचित्रात्मक' काव्य-प्रवृत्ति ग्राम्या की विशेषता है। जो प्रगतिवाद को 'प्रचार' कहते हैं, उन्हें 'ग्राम्या' का शान्ति से अध्ययन करना चाहिए।

निराला गोर्की से प्रभावित हुए थे, यह हम कह चुके हैं। निराला ने प्रसाद की तरह यथार्थवादी परम्परा को अपनाया था और काव्य के क्षेत्र में अणिमा, बेला, नए पत्ते और 'कुकुरमुत्ता' जैसी रचनाएँ प्रस्तुत कीं जिनमें नए प्रयोगों में प्रगतिवादी भावनाओं को वाणी मिली है। निराला ने 'परिमल,' तुलसीदास और 'राम की शक्ति पूजा' की संश्लिष्ट पदावली के स्थान पर इन उक्त रचनाओं में सरल, वार्तालापात्मक व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया है। कल्पनाएँ जहाँ 'प्रतीकात्मक हैं, यथा कुकुरमुत्ता' में, वहाँ भी सरलता है। 'रूपविधान' परिवर्त्तित कर देने पर भी निराला ने वर्ण्यतत्त्व की प्रगतिशीलता को अक्षुण्ण रखा है। काश! यह प्रवृत्ति ही आगे विकसित हुई होती। यह विचित्र तथ्य है कि 'अज्ञेय' की प्रारम्भिक कविताओं में भी रूपतत्त्व प्रयोगात्मक और वर्ण्यतत्त्व प्रगतिशील है अर्थात् निराला, अज्ञेय, पन्त, नवीन, भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, अंचल, नरेन्द्र, रामविलास शर्मा, दिनकर आदि समान भूमि पर

---

१. द्रष्टव्य—पन्त जी का नूतन काव्य और दर्शन—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

स्थित दिखाई पड़ते हैं किन्तु आगे चल कर अज्ञेय ने 'प्रयोगवाद' के रूप में वर्ण वस्तु—विचार या दृष्टिकोण बदल दिया और जनवादी भावों के स्थान पर आत्मकेन्द्रित तत्त्वों को वाणी मिलने लगी, इसी से तथाकथित प्रयोगवाद, "प्रगतिवादी प्रयोगवाद" से अलग हो गया। इस 'प्रगतिवादी प्रयोगवाद' के सर्व प्रथम दर्शन निराला के काव्य में होते हैं! इस प्रकार प्रगतिवाद और प्रयोग-वाद में जिस 'व्यंग्यकाव्य' का विकास हुआ है, उसका पिछला छोर 'कुकुरमुत्ता' के साथ जुड़ा हुआ है। कुकरमुत्ता की भाषा भी बोलचाल की भाषा है। 'गुलाब से जब अकड़कर कुकुरमुत्ता बोलता है तो लगता है, नया युग पुराने युग को ललकार रहा हो।

अबे सुन बे, गुलाब
भूल मत जो पाई खुशबू, रंगो आब,
खून चूसा स्वाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतराता है कैपीटलिस्ट,
बहुतों का बनाया है तूने गुलाम
माली कर रक्खा, खिलाया जाड़ा-घाम !

× × × × ×

देख मुझको, मैं बढ़ा
डेढ़ बालिश्त और ऊँचे पर चढ़ा
और अपने से उगा मैं, नहीं दाना पर चुगा मैं !

'कुकुरमुत्ता' अपने युग पर कठोर व्यंग्य है। व्यंजना का चमत्कार इस काव्य की विशेषता है। अभिधावादी शैली प्रगतिवाद में सर्वत्र नहीं है, निराला का काव्य इसका प्रमाण है।

'बेला' में भी निराला ने पूँजीवाद के विरुद्ध आक्रोश प्रकट किया है—"देश को मिल जाय जो, पूँजी तुम्हारें मिल में है।"

"नए पत्ते" में कवि ने समाज के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि अपनाई है। पन्त जी में जनजीवन की छवियाँ, परवर्ती छायावादियों में 'हुंकार' और निराला में प्राप्त 'व्यंग्य' से प्रगतिवाद के तीन पक्ष स्पष्टतः सम्मुख आते हैं। चौथा स्वरूप प्रकृतिचित्रण से सम्बंधित है जो इन सभी कवियों में मिलता है।

"नये पत्ते" की "रानी और कानी" में कृषक जीवन का वास्तविक चित्रण मिलता है। 'ग्राम्या' में पन्त जी के यथार्थवाद में रोमानी दृष्टि सम्प्रक्त

है किन्तु निराला को ग्राम्य जीवन का वास्तविक ज्ञान है अतः कृषक-जीवन की स्थिति उनमें अत्यधिक स्पष्ट है—

लोग बैठे लेते हैं जमुहाई, ठंडी,ठंडी चलती है पुरवाई।
खरीफ़ निराई जा चुकी है, नहीं करने को रहा काम कहीं।
सावन में भतीजा होने को हुआ, पहले से बुला लाई गई बुआ !

ऐसी रचनाओं में छायावाद के बाद एक 'ताज़गी' अवश्य दिखाई पड़ती है !

"मास्को डायलॉग" में एक समाजवादी नेता के दम्भ का पर्दाफाश किया गया है। निराला ने पन्तजी की तरह ऐतिहासिक दृष्टि से भी समाज को देखा है जैसा कि पन्त जी के 'ग्राम देवता' में—

वेदों के बाद जाति चार भागों में बँटी, यही रामराज है।
वाल्मीकि ने पहले वेदों की लीक छोड़ी।
छन्दों में गीत रचे, मंत्रों को छोड़कर।
मानव को मान लिया, धरती की प्यारी लड़की
सीता के गाने गाये।

× × × ×

जनता पर जादू चला, राजे के समाज का।
लोक नारियों के लिए, रानियाँ आदर्श हुईं।
धर्म का बढ़ावा रहा, धोखे से भरा हुआ।
लोहा बजा धर्म पर, सभ्यता के नाम पर
खून की नदी बही !

'ग्राम देवता' में तथा अन्यत्र भी पन्तजी ने 'ग्राम्या' में युगान्त और युगवाणी की तरह सैद्धान्तिक भाषा का अधिक प्रयोग किया है। यह सिद्धान्तवादी शब्दावली प्रारम्भिक प्रगतिवाद में बहुत मिलती है। इसके विपरीत निराला सहज ढंग से विश्लेषण करते हैं।

निराला ने ग्राम-जीवन के 'प्रेमसम्बन्धों पर भी लिखा है और मुक्त होकर ग्राम्यप्रेम को वाणी दी है—

बाम्हन का लड़का मैं उसको प्यार करता हूँ।
जात की कहारिन वह, मेरे घर की पनिहारिन वह।
आते ही तड़का, उसके पीछे मैं मरता हूँ।

फिर भी यह मानना होगा कि प्रगतिवाद में ग्रामीण जीवन के अन्य अनेक मानवीय सम्बन्धों को वाणी नहीं मिली जैसा कि उपन्यास-क्षेत्र में सम्भव हो सका।

निराला ने ग्रामीण जीवन के अंकन को "कुण्ठा-नाशक" बताया है। प्रकृति-वर्णन करते समय एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—

नव पल्लवित बसन्त, धरा पर आया सुखकर।
फूटी तुम नवकिसलय, दल से वृन्त-वृन्त पर।
कूजित पिक उर मधुर कण्ठ, कुण्ठा सब टूटी।

निराला ने सन् ४६ में शहीद छात्रों की मृत्यु पर एक 'करुण' कविता लिखी है। खेद है कि सन् ४२ की जनक्रान्ति पर बहुत कम रचनाएँ प्रस्तुत हुईं। कवियों की इस उपेक्षा का कारण अस्पष्ट है।

"महँगू मँहगा रहा" में निराला ने "नेहरू जवाहरलाल" पर मार्मिक व्यंग्य किया है—'वर्ग संघर्ष' को निराला जी खूब समझते हैं—नेहरू जी जनता के भी मित्र हैं और ज़मींदार और सेठों के भी—पूँजीवादी नेतृत्व की इस प्रवृत्ति पर निराला ने कशाघात किया है—

लेंड़ी ज़मीन्दारों को आँखों तले रखे हुए।
मिलों के मुनाफ़ा खाने वालों के अभिन्न मित्र!
देश के किसानों, मज़दूरों के भी अपने सगे।
विलायती राष्ट्र से समझौता करने के लिए!
गले का चढ़ाव बोर्ज़ुआजी का नहीं गया!

नेहरू जी पर बहुत सी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं किन्तु निराला द्वारा उनका विश्लेषण आकर्षक है। यह खेद का विषय है कि आज के प्रगतिवादी काव्य में 'राजनैतिक चेतना' को वाणी देने की प्रवृत्ति कम होती जा रही है। प्रयोगवाद और अध्यात्मवाद के प्रचार का ही यह फल है—राजनीति साहित्य में न आ जाए, इसके लिए इधर बहुत प्रयत्न हो रहे है किन्तु साहित्य मनुष्य का समग्र चित्रण है, यह मानते हुए भी और साथ ही स्वयं गांधीवादी और अमेरिकावादी राजनीति अपनाकर भी और उसके लिए साहित्यिक और सांस्कृतिक मंचों की स्थापना करके भी, प्रगतिवादियों को इस प्रकार के प्रयत्नों से अलग रहने का 'प्रचार' किया जा रहा है!

भावुकता, उग्रता और अतिक्रान्तिवाद—भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसागाड़ी' को लोग प्रायः विशिष्ट प्रगतिवादी रचना मानते है। इस कविता

में वर्ग संघर्ष अत्यधिक तीव्रता के साथ व्यक्त हुआ था परन्तु उसमें परिस्थिति का सश्लिष्ट चित्रण नही था। सपाट-चित्रण वर्माजी की प्रगतिवादी कविताओं की विशेषता है—

देखो वैभव से लदी हुई, विस्तृत विशाल बाज़ार यहाँ।
देखो मरघट पर पड़े हुए, भिखमंगों के बाज़ार यहाँ।

"ट्राम" शीर्षक कविता में भी 'भैंसागाड़ी' की तरह ही सपाट चित्रण हैं—

फिर चौराहे पर ट्राम रुकी, अब चढ़ी एक बुढ़िया जर्जर।
थी शिथिल पिड़लियाँ काँप रहीं, थी हाँप रही, था उसको ज्वर।
वे सभ्य और मनचले लोग, चुप बैठे थे बनकर पत्थर!

वस्तुतः काव्य में 'रेखाचित्र' प्रस्तुत करने में ही वर्मा जी अधिक सफल हुए हैं। मानस की गहराइयों में उतरकर उन्होंने जनता का चित्रण नहीं किया किन्तु उनके काव्यमय रेखाचित्र प्रचलित अधिक हुए।

प्रगतिवादी कवियों में भाव-ज्वार दिनकर, अंचल और नरेन्द्र में अधिक दिखाई पड़ा। छायावाद के अंतिम रूप को इन कवियों में अंतिम दो ने अपने 'अहवाद' से ही पुष्ट किया था किन्तु इन कवियों पर भी प्रगतिवाद का प्रभाव पड़ा अतः उनका 'अहंवाद' उग्रक्रान्तिवाद के रूप में परिणित हो गया। प्रेमावेश ने क्रान्ति के आवेश का स्थान ले लिया। अंचल में भाव-ज्वार की मात्रा बहुत अधिक है—

माता बनी दूध भर आया, किन्तु न भरता पापी पेट।
जननी बन कर भी पशुओं के आगे नग्न सकेंगी लेट?

तथा

क्रान्ति का तूफान जब विश्व को हिलायेगा
ये बाज़ार की असंस्कृता निर्लज्जा नारियाँ
जो कि न योनिमात्र रहकर बनेंगी प्रदीप्त
उगलेंगी ज्वालामुखी। (किरण बेला)

बालकृष्ण शर्मा नवीन के "कुमकुम" काव्यसंग्रह में यही 'अंति-उग्रवाद' मिलता है; समाज के विरुद्ध भीषण असंतोष ही, "कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए" में व्यक्त हुआ है। 'दिनकर' में भी यही 'अतिक्रान्तिवाद' है, पौरुष की व्यंजना उनकी विशेषता है। किन्तु

वह प्रायः दिशाहीन होता है अर्थात् सिद्धान्ततः दिनकर के काव्य में कमियाँ हैं परन्तु उसमें आंधी जैसा रोष है, जिसका हिन्दी में एक स्कूल ही चल पड़ा है। 'हुंकार' में इस प्रकार की अनेक रचनाएँ है। 'हाहाकार' कविता में विषमता का करुण चित्रण है—

हटी व्योम के मेघपन्थ से स्वर्ग लूटने हम जाते हैं।
दूध-दूध ओ वत्स ! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।

आवेश और उग्रता का तुमुल कोलाहल हीं उस काल में प्रगतिवादी कविका का चिन्ह बन गया—

नवीन जी की तरह दिनकर ने "हाहाकार" में छायावादी सौन्दर्यवादिता की मोहकता को स्वीकार करके भी, उसके खोखलेपन पर प्रहार किया है—

जनारण्य से दूर स्वप्न में मैं भी निज संसार बसाऊँ।
जग का आर्त्तनाद सुन अपना, हृदय फाड़ने से बच जाऊँ ?
पर नभ में न कुटी बन पाती मैने कितनी शक्ति लगाई।
जेठ हो कि हो पूस, हमारे कृषकों को आराम नहीं है।
छुटे बैल से सग कभी, जीवन में ऐसा काम नहीं है।
मुख में जीभ, शक्ति भुज में, जीवन में सुख का नाम नहीं है।
वसन कहाँ, सूखी रोटी भी मिलती दोनों शाम नहीं है।

ऐसी कविताओं को प्रारम्भ में अत्यधिक सम्मान मिला क्योकि छायावाद के कुहासे से इन सरल रचनाओं में कोटि-कोटि जनों की वास्तविक भावनाओं का इनमें वर्णन रहता था। अभिधावाद के कारण इन्हे समझने मे सुविधा होती थी और यह हकीक़त है कि काव्य की दृष्टि से इनमें भावुकता की प्रधानता होने पर भी, जनआन्दोलन के लिए ऐसी रचनाओं का महत्त्व अधिक था। कवि-सम्मेलनों और जनता के विराट समूहों में भी ऐसी रचनाएँ अधिक कारगर होती थीं और ताली की गड़गड़ाहट से जनता अपना अनुमोदन भी व्यक्त करती थी। किन्तु जिस प्रकार इनमें "स्टाक शब्दावली" चल पड़ी और पिष्टपेषण से वह नीरस लगने लगी, उसी तरह इस प्रकार की रचनाएँ प्रारम्भ में 'ओज' उत्पन्न करने में समर्थ होकर धीरे-धीरे अपनी प्राणवत्ता खोने लगीं क्योकि इनमें कला का अभाव था अर्थात् आवेग आवश्यकता से अधिक था। भावों के वर्णन के लिए 'ताटस्थ्य' की भी एक अंश में आवश्यकता होती है, वह इन कवियों में न था अतः "हल्की है", "प्रोपेगेण्डा है" इस प्रकार की प्रतिक्रिया श्रोताओं मे भी उत्पन्न होने लगी। किन्तु जैसा कि कहा जा चुका

है, इस देश में आज भी करोड़ों जन ऐसे हैं जिन्हें ये रचनाएँ आज भी प्रभावित करती हैं। श्रोताओं के स्तर अनेक हैं। कम शिक्षित जनता जब सफेदपोशों के मुख से अपने हृदय की बात सुनती है तो वह प्रभावित हो जाती है, जिस प्रकार छायावाद के बाद शिक्षित जनता इन कविताओं को पढ़कर और सुन कर प्रभावित होती थी। अतः काल की दृष्टि से इन रचनाओं का कम महत्त्व नहीं है। दूसरे इन रचनाओं ने छायावाद के समानान्तर अपना प्रभाव-क्षेत्र बनाया और जनता से अपना सम्पर्क कवि-समाजों के द्वारा बनाए रखा। इसी जनता के बल पर ये कवि प्रौढ़ काव्य के स्रष्टाओं को कलावादी कहते रहे।

ओ प्रकाश के पिंड ! कारवाँ अन्धकार का बढ़ता।
अपनी बाती आप जला कर तुम न मिटो एकाकी।
कोटि कोटि मिट्टी के ये कोरे पुतले हैं बाकी।
किन्तु तुम्हारी लौ. युग युग के दलित वर्ग की वाणी।
जिसकी हुंकृति में तनते चिर शोषित शापित प्राणी।

—अंचल

वर्ग-चेतना—इस जीर्ण जगत पतझर में, अभिशप्त तुम्हारा कवि जीवन !
तुम मध्य वर्ग के पोषित शिशु, अपने सपने में खड़े रहे !
युग बढ़ा, दिये दो डग आगे, काँपी धरणी, सिहरा अम्बर !
उगले हिमगिरि ने अंगारे, उन्नत प्रासाद हुए खंडहर,
तुम भी वातायन से झाँके, बोले कोरी भौतिकता है !
अपनी कायरतावश, कल्पित, स्वप्नों में लीन हुए सत्वर !
ऊपर पूँजीवादी समाज, नीचे शोषित जनता का स्वर।
तुम आँखें ऊपर कर चलते, मिट्टी जाती है खिसक इधर।
इस तरह प्रतिक्रिया और क्रान्ति दोनों के बीच त्रिशंकु बने।
तुम बना मिटाया करते हो, अपनी आशाओं के खँडहर !

यहाँ मध्यवर्ग का शुद्ध वैज्ञानिक विश्लेषण है किन्तु तथ्यकथन या निबन्ध की प्रतिक्रिया को कविता में उतार देना कविता नहीं है अतः कला की दृष्टि से यह कृति साधारण है परन्तु जैसा कहा गया है कि पहली बार सही विश्लेषण का प्रभाव जनता पर विद्युत जैसा हुआ था अतः निबन्ध-प्रक्रिया होने पर भी यह काव्य व्यापक क्षेत्र में जनप्रिय हुआ है।

नरेन्द्र शर्मा को भी पूँजीवाद समाज का अच्छा ज्ञान है। अतः उनमें भी 'वर्गचेतना' अत्यधिक मात्रा में मुखर हुई है।—

सदियों के अंगार विषैले, बुझते बुझते भड़केंगे !
बहुत शोर होगा क़ैदी के कठिन हथकड़े तड़केंगे।
देश देश के जन जागेंगे, वर्गस्वार्थ असि चमकेगी !
दोनों ओर अहम्मद, गुम्मद, जल बुल्लों से टूटेंगे।

नरेन्द्र ने भी "दिगदिगन्त की वेदी पर महाकाल की चिर ज्वाला द्वारा माननीय इतिहास यज्ञ में विचारों की आहुति" दी है।

आशावाद—भविष्य के प्रति आशा प्रगतिवाद की विशेषता है। सभी कवियों ने भविष्य के चित्र खीचे हैं—

धरा यह सुखदा बनेगी, स्वर्ग भी लुट जाय जिस पर।
देव बलि बलि जायें जिन पर, मनुज वह मानव बनेंगे !
बुद्धि के कारण जहाँ से मनुज निष्कासित हुआ था।
खोज लेंगे लोक वह, फिर हाथ से जाने न देंगे।

सन् ४६ में लिखी हुई नरेन्द्र शर्मा की "कायर मत बन" कविता मानो आज के "निराशावाद" के प्रति व्यंग्य है।—

कायर मत बन।
ठोकर मार, पटक मत माथा तेरी राह रोकते पाहन !
ले देकर जीना, क्या जीना ? कब तक ग़म के आँसू पीना ?
मानवता ने सींचा तुझको, बहा युगों तक खून-पसीना।
कुछ न करेगा ? जिया करेगा रे मनुष्य बस कातर क्रुन्दन ?
कायर मत बन !

आंचलिकता—प्रगतिवादी काव्य के इतिहास में 'रूपाभ' का प्रकाशन (सन् १९३८ ई०) एक घटना के रूप में स्मरण किया जाता है। 'रूपाभ' के सम्पादक सुमित्रानन्दन पन्त को निराला जी का भी सहयोग मिला। निराला आदि की रचनाओं पर चौबे बनारसीदास जी ने 'घासलेटी' 'साहित्य' का आरोप लगाया था जिसका उत्तर 'रूपाभ' ने दिया था। डा० रामविलास शर्मा निराला जी पर आक्षेप होते देखकर ही "आलोचक" बने।

'रूपाभ' में निराला, पन्त जी के अतिरिक्त रामविलास शर्मा की भी कविताएँ प्रकाशित हुई थीं। आप की रचनाओं में आंचलिकता अथवा स्थानीयता बहुत अधिक मिलती है जो काव्य में एक ताज़गी ला देती है। छायावाद

के बाद यह प्रवृत्ति 'वास्तविक जनछवि' की ओर पाठकों को प्रवृत्त करती थी। कल्पना के झिलमिल सौन्दर्य के स्थान पर इन रचनाओं में वर्ण्य पदार्थ या दृश्य के 'अपने' सौन्दर्य की प्रतिष्ठा का प्रयत्न अधिक है। अलंकृति से बचकर ग्रामीण दृश्यों का यथावत् चित्रण डा० शर्मा की कविताओं की विशिपता है। ग्रामीण छविअंकन के साथ साथ कवि यत्र-तत्र समाज की दुर्दशा की ओर भी ध्यान आकर्षित करता चलता है, इससे 'चित्रण' प्रायः करुणा के स्पर्श से मार्मिक बनता चलता है किन्तु कहीं-कहीं वह या तो विवरणात्मक ही हो गया है या प्रचारात्मक परन्तु समग्रतः ऐसी रचनाएँ हिन्दी काव्य में एक नवीन क्षेत्र की सूचना देती हैं और भारतवर्ष में यह क्षेत्र ७ लाख गाँवों में फैला हुआ है।

द्विवेदीयुग से ही कवियों ने ग्रामीण जीवन का चित्रण किया है। 'ग्राम्या' की तरह 'गोपालशरणसिंह' ने 'ग्रामिका' लिखी (१९५१ ई०) जिसमें ग्रामीण जीवन का विस्तृत चित्रण है किन्तु प्रगतिवादी दृष्टि से लिखी गई डा० शर्मा की रचनाओं में एक विशिष्ट क्रान्ति की आहट सुनाई पड़ती है। जनता के मन की पीड़ा के साथ कवि अपने मन को एक करता हुआ चला है अतः 'ग्राम्या' में कवि और जनता के मन में जो दूरी दिखाई पड़ती है, वह इन रचनाओं में नहीं दिखाई पड़ती। परन्तु यह साफ़ लगता है कि 'ग्राम्या' का कवि अधिक परिष्कृत और अभ्यस्त है जब कि डा० शर्मा में अनगढ़ता प्रायः मिलती है यद्यपि यह अनगढ़ता ग्रामीण दृष्यों के अंकन में अधिक खटकती नहीं है।

प्रत्यूप के पूर्व (१९३८) कतकी (१९३८) सिलहार (१९३८) कुहरे के बादल (१९३७) बैसवाड़ा (१९४७) डलमऊ में गंगा (१९४७) आदि रचनाओं में उक्त प्रवृत्ति स्पष्टतः देखी जा सकती है।[1] प्रकृति वर्णन के बीच-बीच मानव समाज के शोषण की स्मृति दिला कर कवि चित्र के सौन्दर्य को अधिक मानवीय बना देता है—

आया बसन्त
शिव के तप की पावन धरती पर पग रखता।
सौरभ से पुलकित करता दिग्दिगन्त
आया मन्मथ भी संग संग, पूनों की शशि का छत्र लगाये।

---

१. 'रूपतरंग' में संकलिक कविताएँ।

किंशुक की धनुही खींचे
यह कुसुम-पात्र में पीता है, निज भृंगी के संग मधुद्विरेफ
उस अर्धनिमीलित नयनों वाली हरिणी को
सहलाता है सींगों से प्रेमी कृष्णसार
फूले कमलों से भरा ताल
चकवा चकई दोनों सँग खाते हैं मृणाल।
इस बेलाभी भाई का ही जो खून पिये
क्या होगा ऐसा भी दानव?

अंतिम दो पंक्तियों में प्रकृति सौन्दर्य में मग्न 'पाठक' को सहसा 'यथार्थ' की ओर उन्मुख कर देने से दो परस्पर विरोधी मानसिक स्थितियों की टकराहट से मार्मिकता बढ़ जाती है। इसी तरह "कतकी" में अंकित पंक्तियों में यही विधि अपनाई गई है—

गला गला कर हाँफ रही गुफना लिए।
दाने चुगती हुई गलरियों को खड़ी
सोने से भी निखरा जिसका रंग है।
भरी जवानी जिसकी पक कर झुक गई।

'विवरण'-प्रधानता होने पर भी छायावाद के बाद जीवन के "आयाम" की नवीनता के कारण डा० शर्मा की रचनाएँ प्रिय लगती हैं—

पूरी हुई कटाई अब खलिहान में
पीपल के नीचे है राशि सुची हुई।
दानों भरी पकी बालों वाले बड़े
फूलों पर फूलों के लगे अरंभ हैं।
बिगही बरहे दीख पड़े अब खेत में
छोटे-छोटे ढूंठ ढूंठ ही रह गए।
अभी दुपहरी में पर, जब आकाश को
चाँदी का सा पात किये है तप रहा।

कवि नें 'किसान-जीवन' को वाल्माकि के नेत्रों से देखा है अत: "अन्न के दाने उसे वज्र-हड्डियों से बने दिखाई पड़ते हैं", वह मनुष्य के हृदय को 'ईस्पात' नहीं मानता और 'मन के कम्पन' को स्वाभाविक मानता है परन्तु निराश नहीं होना चाहता। अखिलव्यापी शोषण से जीवन की कातरता

पर कवि की करुण दृष्टि जहाँ पड़ती है वहीं वह रोने को मचल उठती है परन्तु वह कृतसंकल्प है कि वह रुदन को छिपाएगा—

जीवन की इस मरण व्यथा को सहना होगा।
अंतर में यह व्यथा छिपाये रहना होगा ।

यह आश्चर्य का विषय है कि प्रथम तार-सप्तक में डा० शर्मा की कविताओं को लोग 'प्रयोगवादी' मानते हैं। हम कह चुके हैं कि प्रगतिवाद के प्रारम्भ में ही अर्थात् सन् ३७, ३८ में ही नए-नए रूप और कथन विधियों को अपनाया जाने लगा था किन्तु "वर्ण्य तत्त्व" प्रगतिशील रहता था अतः 'प्रगतिवादी प्रयोगवाद' छायावाद के ही अंचल से फूटता हुआ दिखाई पड़ता है। डा० शर्मा में व्यक्तिवाद या 'अहंवाद नहीं मिलता जो प्रयोगवाद के लिए आवश्यक है।

अकाल—द्वितीय-युद्धकाल में हिन्दी कविता यथार्थ के पथ पर ही प्रधावित रही क्योंकि युद्ध ने कवियों को सोचने, समझने के लिए विवश किया था। "बंगाल के अकाल" ने तो महादेवी और बच्चन तक को आत्मकेन्द्रित स्थिति से बाहर निकाला। 'रांगेयराघव' ने अकाल पर रिपोर्ताज़ लिखे। 'रूपतरंग' में भी एक कविता बंगाल के अकाल पर है जिसमें प्रचार न होकर मर्मस्पर्शी करुणा है। 'बच्चन ने करुण स्वर में कोकिला से पूछा था—

कोकिले ! पर यह तेरा राग
हमारे नग्न बुभुक्षित देश के लिए लाया क्या संदेश ?
साथ प्रकृति के बदलेगा इस दीन देश का भाग ?

क्या यह प्रचार मात्र है ? यह सही है कि अकाल पर लिखी गई बच्चन की रचना में आवेश की अधिकता है और इससे भावनाओं की निविड़ता के स्थान पर चित्रण सपाट हो गया है परन्तु आवेश में एक अद्भुत शक्ति और प्रवाह भी है जो प्रगतिवाद के अतिरिक्त अन्यत्र कम मिलता है। 'प्रवाह' में भी एक अपना 'सौन्दर्य' होता है। इसके सिवा आवेश कभी-कभी अप्रत्याशित भावखण्डों को उसी तरह खींच लाता है जिस तरह वायु के साथ मेघखण्ड स्वतः घिसटते चले आते हैं। यह गुण प्रगतिवादी आवेग प्रधान काव्य में कई स्थानों पर मिलता है। 'मंथन' से ही जैसे दूध नवनीत को-छोड़ता है वैसे ही मन के आवेग से अप्रत्याशित भावखण्ड, चित्र-समूह ही नहीं, नवीन शब्द तक चेतना में नवनीत की तरह ऊपर उभर आते हैं।

बंगाल के अकाल को देखकर 'बच्चन' का मन कभी तो 'पेरिस' की क्रांति को सम्मुख लाता है तो कभी उन "लंठ सन्तों" की ओर भागता है, जिन्होंने बंगाल को शान्ति और सन्तोष का पाठ पढ़ाया था। कभी कवि बंगाल के महापुरुषों का स्मरण करता है—

"जननी श्री गोविंद गीत के, तन्मय गायक, रसिक विनायक"
कवि नृप श्री जयदेव भक्त की।
बँगला बाणी, जीवन दानी।
कवि-कुल-कोकिल चंडिदास की
औ, पद्मापति पद अनुरागी

श्री चैतन्यदेव की जिनकी भक्ति-ज्वाल में विगलित होकर
हृदय बंग का कभी ढला था!

अतः केवल अकाल के बीभत्स-चित्र ही यहाँ अंकित नही है अपितु बंगाल की जनता में ओज भरने का भी प्रयत्न है। वीर-रस की परम्परा में ये अंश स्मरणीय रहेंगे, 'यों' अकाल के विनाश का भी वर्णन सर्वथा प्रचार नहीं है—

वंगभूमि अब शस्त्रहीन है
भरणी आज हो गई हरणी।
जल दे फल दे और अन्न दे
जो करती थी जीवन दान।
मरघट मा अब रूप बनाकर
अजगर मा अब मुँह फैलाकर
खा लेती अपनी सन्तान!

गांधीवादी कवियों में यद्यपि वह वैज्ञानिक दृष्टि नही है जो प्रगतिवादी कवियों में मिलती है परन्तु गांधीवाद में मनुष्य के प्रति प्यार बहुत अधिक मिलता है, इतना अधिक कि वह शोषक वर्गों तक की हानि नहीं करना चाहता, उनके हृदय-परिवर्त्तन पर ही बल देता है। समाज के विकास की वह वर्गसंघर्षात्मक भूमिका नहीं मानता। गांधीवादी कवियों ने ग्रामीण जीवन के प्रति अत्यधिक सहानुभूति प्रदर्शित की है। स्वयं गान्धी जी सर्वप्रथम गावों की जनता को व्यापक स्तर पर संगठित करने की ओर बड़े उत्साह से उन्मुख हुए थे अतः सोहनलाल द्विवेदी, नवीन, गुप्त बन्धुओं आदि ने ग्रामीण जीवन की दुरावस्था का मार्मिक वर्णन किया है। काव्य के इस रूप में

प्रगतिवाद और गांधीवाद एक हो जाता है क्योंकि दोनों में मानवता की मुक्ति की प्यास है। प्रगतिवाद क्रान्ति का मार्ग अपना कर चला है और गांधीवाद हृदय परिवर्त्तन का !

सोहनलाल द्विवेदी की कविताएँ—"है अपना हिन्दुस्तान कहाँ, वह बसा हमारे गाँवों मे" "महलों को भूलो प्यारे अब झोंपड़ियों की ओर चलो" आदि रचनाएँ प्रचलित है और जनप्रिय हुईं। इनमे परिस्थिति का सपाट चित्रण ही मिलता है परन्तु छायावाद की अत्यधिक सश्लिष्ट शैली के बाद, इन रचनाओ को अधिक महत्त्व मिला—

ये नभ चुम्बी प्रासाद, भवन
जिनमें मण्डित, मोहक कंचन
ये चित्रकला-कौशल दर्शन
ये सिंहपौर, तोरन, वन्दन
गृह टकराते जिनमें विमान
गृह जिसका सब आतंक मान
सिर झुका समझते धन्य प्राण
ये आन बान, ये सभी शान
वह तेरी दौलत पर किसान !
वह तेरी मेहनत पर किसान !
वह तेरी हिम्मत पर किसान !
वह तेरी ताक़त पर किसान !

ग्राम्य जीवन की दुरावस्था के ये सीधे, सादे चित्रण, जिनमे किसानों के आजीवन श्रम, आजीवन शोषण और आजीवन आँसूओं का वर्णन है, प्रगतिवादी काव्य के महत्त्वपूर्ण अध्याय है, यह स्मरणीय है।

नूतन मानवतावाद—प्रगतिवाद ने हमे वास्तविक मानवतावाद दिया जो विषमता के नाश और समता पर आधारित है। यह मानवतावाद अध्यात्मवादी मानवतावाद नहीं है, जिसमें विश्वबधुत्व की पुकार होने पर भी, प्रत्येक प्रकार प्रकार की वर्ण, वर्ग, जाति व सम्प्रदायगत विषमता का पोषण होता है। छायावाद के बाद यह "नयामानवमूल्य" था, जिसकी अभिव्यंजना प्रगतिवाद में हुई है। इसे "सर्वहारा-मानववाद" भी कहा जाता है। यह नवीनर्माण के लिए 'वर्ग-संघर्ष' को स्वीकार करता है, साधन रूप में, साध्य तो मानवता का हित है जो कतिपय वर्गों को अपदस्थ करने पर ही स्थापित हो सकता है। फलतः

रांगेयराघव "पिघलते पत्थर" नामक काव्य संग्रह में युगों से चले आते हुए अपमान से व्याकुल मानव के अंतस् को वाणी देते हैं। 'रांगेयराघव' में उद्‌गार नहीं, उमस भी है, कल्पना भी है और उपयुक्त शब्द भी। मानवता के अतीत वर्तमान और भविष्य को स्पष्टतः देखने की दृष्टि (Vision) भी है अतः 'पिघलते पत्थर' की रचनाओं में आवेग भी है और कल्पना द्वारा आनीत चित्र भी।

है भटक रहा यह कौन आज, सम्राटों का गजराज भीम !
क्यों धूलि पटकता है सिर पर, अपने ही, खोकर आज लाज !
इसको रे दुःख कैसा असीम ?

छायवादी छन्द में नूतन भावना कितनी सफलता से व्यक्त हुई है, यह द्रष्टव्य है ! कवि इसे "प्रचार" नहीं मानता और विरोधियों को उत्तर देता है—

यह सड़ा गला निर्बल समाज
कहता यदि हम करते प्रचार !
तो यह प्रचार ही सही सतत
यदि इसमें जीवन की पुकार
मुखरित होती है बार बार !

यानी प्रगतिवादी 'प्रचार काव्य यदि 'प्रचार' है तो उसमें 'जीवन' अवश्य है जब कि विरोधियों का प्रचार जीवनहीन है !

यदि अंधकार पर नखत बने
जड़ते हैं हम निज शब्द दीप्त
यह रनिवासों के दीप नहीं
सह सकते यह तूफान घोर
तो कहो कि प्रहरी का स्वर सुन
कब ठहर सके हैं क्लीब चोर ?

प्रगतिवादी कवि "प्रशंसा का भिक्षुक" और "दीन दास" नहीं होता। वह "रक्त-शोषकों" को अपनी "कला ज्योति" समर्पित नहीं करता—यही स्वाभिमान उसे जीवित रखता है। वह उस महानता से दूर रहता है जिसका आधार छल होता है—

हम महानता से सुदूर, जिसमें छल भी आधार एक।

डा० रांगेयराघव ने 'साम्राज्यवाद' के प्रति एक लम्बी कविता लिखी है जिसमें साम्राज्यवाद युगों के विलास-वैभव और विजय का रोमांचक वर्णन है—

आर्य्यों का भीषण रौद्रनाद
शक हूणों का वह सिंहनाद
यूनानी जीतों की पुकार
मुग़लों के मद का अहंकार
रुस्तुम पृथ्वी दहलाता था
वह कर्ण फेंकता रथ महान !

छायावाद में जो भक्तिपरक 'स्तवन' मिलते हैं उनके स्थानों पर नई प्रार्थनाएँ देखिए—

जो नोंक बन हल की सतत, चट्टान को भी तोड़ दें।
जो दासता के शीश को, इतिहास में ही गोड़ दें।
आओ जगाने सुप्त को, मुझसे हृदय के गीत लो।

प्रगतिवाद पर रूस के स्तवन का आरोप प्रायः लगाया जाता है किन्तु 'रूस को नूतन जनवादी शक्ति के प्रतीक रूप में ही अपनाया गया था। 'विश्वभर के श्रमिक एक हो', यह महान संदेश ही इन कवियों को प्रेरित करता था—

महादेशों से विभाजित, सिन्धु फिर भी सम्मिलित है।
अगन लहरें ज्योति की यह
खिलखिला कर मिल उठेंगीं
और ऐसी ज्योति होगी
मनुज की संसृति सुहागिन
चिर समान दुलार देती
हँस उठेगी ।

कवि केवल समाज से ही नहीं, प्रकृति का चित्रण कर उससे भी प्रेरणा लेता है—

एक गिरि उन्नत दीर्घाकार
सामने तू उसके चुपचाप
सोचता है क्या यह जलधार
गिर रही जो विभक्त हो आज

नहीं हो सकती मिल कर एक ?
मेघ के झरने पर क्या दुःख
कि झर जायेगी ऊमस ताप
और पृथ्वी पर गिर कर वारि
खंड हो जायेगा लाचार ?

इसी प्रकार कवि ने "पुल" को मानव के अगाध श्रम का माध्यम माना है।

रांगेय राघव इतिहास से प्रेरणा अधिक लेते हैं, और आधुनिक प्रश्नों के कवित्व पूर्ण उत्तर देते हैं—

तू समझता है कि हम पशुमात्र ?
नहीं हम में प्यार की अनुभूति
भूख से व्याकुल पड़ी किस सुन्दरी को
आसकी आभूषणों की याद ?
जब उदित उस पूर्णिमा के चन्द्र को तू
हो रहा अवलोक कर था मस्त
खींचते थे हम तभी गाड़ी झुके तेरी दया के पात्र
और कहता था कि इनके है नहीं
दो आँख ?
चाँद औ रोटी इन्हें है एक !

उच्चवर्गीय विलास की अमानवीयता पा कितना सार्थक यंग्य है !

रांगेयराघव की रचनाओं में "वक्तव्यता" (Oratory) अधिक आ जाती है परन्तु वह सर्वत्र नहीं है। प्रगतिवादी सिद्धान्त और जीवन—दोनों के विषय में दृष्टि निर्भ्रान्त होने से उनकी रचनाएँ शुद्ध प्रगतिवाद का प्रतिनिधित्व करती हैं।

अज्ञेय और प्रगतिवाद :—इत्यलम् में संग्रहीत रचनाओं से स्पष्ट है कि अज्ञेय "भग्नदूत" (१९३३ ई०) की रचनाओं में छायावाद से प्रभावित थे। 'इत्यलम्' में "भग्नदूत की चुनी हुई रचनाएँ प्रकाशित हैं किन्तु अज्ञेय की अभिव्यक्ति कुछ अटपटी है। संगीतात्मक भाषा का प्रयोग न कर कवि ने 'छन्द' अपना कर भी व्यावहारिक भाषा का प्रयोग अधिक किया है। अज्ञेय की विशेषता यह रही है कि वह अपने युग के मुख्य प्रवाह से अलग रह कर अपना मार्ग अलग बनाते हैं अतः सबसे अलग" दिखाई पड़ने का गुण उनकी 'भग्नदूत'

नवीन मानवीकरण—छायावाद में प्रकृति का नारीकरण अधिक हुआ था। इस पद्धति से प्रगतिवादी कवि भी लाभ उठाता है किन्तु उसका रूप 'वास्तविक' अधिक है' मादक कम—

बज रहे ठंडी सुबह के आठ
दिन भी चढ़ गया है
उतरती आती छतों से
सर्दियों की धूप
धुले मुख सी धूप यह गृहिणी सरीखी
मंद पग धर आगई है
चाय की लघु टेबिलों पर
कभी बनती केतली की
प्यालियों की भाप मीठी
कभी बनती स्वयं ही, रसधार ताजे दूध की !

यहाँ नवीन शैली का उतना आनन्द नहीं, जितना 'वर्ण्य वस्तु' के अपने सौन्दर्य का आनन्द है। प्रगतिवाद जीवन और प्रकृति को सौन्दर्य का स्रोत मानता है, मात्र शैली, कुछ नहीं कर सकती।

प्रेम—गिरिजाकुमार माथुर की एक रचना है, "प्रौढ़ रोमांस" जो प्रगतिवादी प्रेमभावना को बहुत स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करती है। यह प्रेमभाव, "ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक, धीरे-धीरे" वाली मादकता और पलायन से परे है। प्रेम में भी वास्तविकता का अविस्मरण इसकी विशेषता है—

मेरे विरही युवा मित्रवर, तुम जिस दुःख से परेशान हो
वह सचमुच है दुःख नहीं कोई जीवन में
असली दुःख हैं और बहुत से
तुम जिसको हो समझ रहे भारी पहाड़ सा
वह तो काग़ज़ सा हलका है।
यह रह रह कर निकल रहीं ज्यों ठंडी सांसें
यह हवाइयाँ मुँह के ऊपर
खोई खोई चाल !
तुम इस जीवन का निचोड़ जिसको कहते हो
यह सारा वेदान्त फ़लसफ़ा

काव्यकला की मधुर कल्पना
केवल शारीरिक है !
जब दैनिक जीवन की भट्टी में
गल जाएँगे सिक्के सारे मन के
तब जानोगे इन आदर्शों की सच्चाई।

यहाँ 'प्रेम' में 'वास्तविकता' को स्मरण रखने पर बल दिया गया है। उधर गीतकारनुमा कवि 'प्रेम' के संयोग और वियोग पक्ष के सारे आकर्षणों का वर्णन करते हुए भी और इस दृष्टि से छायावाद की परम्परा में ही विकसित होते हुए भी 'प्रेम' को प्रेरणास्रोत भी बनाते हैं और 'व्यक्तित्व' के विकास के लिए 'प्रेम' को अनिवार्य मानते हैं अतः 'प्रेम और सौन्दर्य' प्रगतिवाद में वायवी या अतीन्द्रिय नहीं दिखाई पड़ता, उसका रूप 'भौतिक' है, उसके आकर्षण का कारण भौतिक है, प्रेमपात्र का दैवीकरण, उसके भौतिक सौन्दर्य का सूक्ष्मीकरण प्रगतिवाद में नहीं आपाया, हाँ छायावादी प्रेम की पावनता और शिवत्व की भावना अवश्य आगे बढ़ी है परन्तु वह भौतिक आधार पर ही विकसित हुई है, यहाँ शिवत्व 'ब्रह्म' का पर्याय नहीं है, जीवन की उन्नति—भौतिक और मानसिक उन्नति से ही सम्बन्धित है—

कुछ बात दिल की कह सकूँ, उपहास जग का सह सकूँ।
सुख दुःख में सम रह सकूँ, इतना मुझे अधिकार दो
मुझको न सुख संसार दो ![1]

प्रेम का यह रूप नए गीतकारों में बराबर पल्लवित हुआ है। उनमें एक ओर तो "क्यों काँप उठे प्रासाद धवल, भिखमंगों की हुँकारों से, क्या निकले ज्वालामुखी फूट, कंकालों से अम्बारों से" जैसे भैरवगान हैं तो दूसरी ओर मधुर लय में प्रेम का सुहाना चित्रण, जिसे जीवन और समाज के आधार के रूप में स्वीकार किया गया है, उसे डूब मरने का साधन नहीं बनाया गया। यह प्रथम रूप इधर के प्रगतिवादी कवियों में अशान्त त्रिपाठी और महेन्द्र भटनागर की रचनाओं में अधिक मिलता है और दूसरा रूप नीरज, वीरेन्द्र मिश्र रामावातार त्यागी आदि गतिकारों में अधिक मिलता है।

प्रभंजनात्मक काव्य—प्रारम्भिक प्रगतिवाद में क्रान्ति का जो विकट घोष मिलता है, वह नवीनतम कविता में भी मिलता है। महेन्द्र भटनागर की

---

१. **हिल्लोल—शिवमंगलसिंह 'सुमन'**

'हुँकार' जो "टूटती शृंखलाएँ" में संकलित है तथा "अभियान" (१९५४) आदि रचनाओं में तथा अशान्त त्रिपाठी के "चेतना के गीत" (१९५६) तथा अन्य प्रगतिवादी कवियों की 'स्फुट' रचनाओं में 'क्रान्तिवाद' अधिक मिलता है। इन रचनाओं में 'भाव' को सूक्ष्म प्रणाली पर व्यंजित करने की प्रवृत्ति कम और उद्‌गारात्मक प्रवृत्ति अधिक मिलती है—

(१) आज तो हुंकार का स्वर, जोर से ललकार का स्वर
जागरण-वीणा बजा, उन्मुक्त भैरव-राग से,
मैं गीत गाना चाहता हूँ।

(२) मैं शिव बन कर सारी जर्जर, सृष्टि भस्म करने को आया
धधक उठी लपटें धू-धू कर, मेरे एक मात्र इंगित से।
जब मिट जाएगी दुनिया से, शोषक वर्गों की छल:छाया
नष्टभ्रष्ट कर सारे बन्धन, लाया नवजीवन ज्वाला हूँ।

(३) आ रहा तूफान है, जीत का वरदान है
शक्ति का ही गान है, स्वत्व का संग्राम है
आज कब विश्राम है, युद्ध जब प्रतियाम है ?[१]

(४) शैतान के साम्राज्य में तूफान आया है
जो जिन्दगी को मुक्ति का पैग़ाम लाया है
इंसान की तकदीर को बदलो, भयभीत हर
तसवीर को बदलो
हमारे संगठित बल की यही ललकार है ![२]

यह नही है कि भटनागर जी के काव्य में केवल यही प्रवृत्ति है, उन्होंने प्रकृति और प्रेम पर भी जनवादी दृष्टिकोण से लिखा है, यथा 'मधुरिमा' की रचनाएँ कवि के कोमल रूप को व्यक्त करती हैं। अशान्त त्रिपाठी के स्वर में भी वक्तव्यता अधिक है परन्तु उसमें ईमानदारी है अतः उसकी अभिवादी सरल शैली में एक प्रकार का प्रवाह और आक्रामक ध्वनि उत्पन्न हो जाती है।

(१) प्रलय के चिर निदानों की कहीं झंकार सुनता हूँ।

---

१. **अभियान।**
२. **नई चेतना।**

(२) तड़प कर बोल पड़ती हैं, किसी मजदूर की आहें।
धरा पर जन्म लेते ही उसे वरदान मिलता
भभक कर क्षार बनने का उसे बलिदान मिलता !

(३) भभक रही है अग्नि अवनि पर, वायु तीव्र गति से चलती !

"अशान्त" कहते हैं, "झोंपड़ी में, साधना के द्वार पर बैठा हुआ हूँ, नवल युग की चेतना के गीत गाये जा रहा हूँ।" स्पष्टतः इस प्रकार का काव्य कला की दृष्टि से अत्यधिक उत्कृष्ट न होकर भी आज के असंतुष्ट समाज की प्रतिक्रिया को उग्रभाषा में अवश्य प्रकट करता है, उसमें बाढ़ में बिफरे महानद जैसा 'वेग' अवश्य मिलता है और उसकी ललकार जनता के दुश्मनों के कानों तक टकरा-टकरा कर व्यर्थ होकर लौट ही नहीं अपितु वह तीव्र लहरों की तरह उन्हें काटती भी है जैसे लहरें तट को काटती हैं ! इस प्रकार की रचनाऐं हिन्दी में बहुत हैं, और हिन्दी के 'जनप्रिय' काव्य का रूप इनमें सुरक्षित है, किसी भी कवि सम्मेलन में प्रायः प्रेम, हास्य अथवा प्रभंजनात्मक कविताऐं ही अधिक सुनने को मिलती हैं ! घनश्याम अस्थाना की 'काश्मीर' शीर्षक कविता, डा० कमलेश की "मुक्त हुआ है हिन्द" तथा इन पंक्तियों के लेखक की 'हमने देखा'[1] आदि रचनाऐं इसी परम्परा की रचनाऐं हैं। उर्दू में भी ऐसी रचनाएँ अनेक हैं, जिन्हें हम यथा स्थान देखेंगे। इनमें 'कला' कम और भावोच्छ्वास इतना अधिक है कि लगता है कि इस देश का

---

१. हमने देखा बनते जाते प्रासाद बड़े,
घोंसले घास के किन्तु बिखरते जाते हैं।
कुछ लुढ़काते शरबत, शराब, फेंकते दूध,
कुछ कीचड़ का पानी पीकर रह जाते हैं।
झोली कितनों मुँह फाड़ देखती रह जातीं,
झुकते न रक्त पर ये जीवित रहने वाले।
हैं मौन देश के नेता जो सारे धन को,
खद्दर के खौंचों में भर भर ढोने वाले।
देखी हमने होलियां उदर में जलती हैं,
पर दीप जलें समझौता और सुधारों पर
गिर रही बर्छियों के बदले लो ऊपर से,
मालाएँ फूलों की पापी, हत्यारों पर।

हृदय सामाजिक विषमता को देखकर तिलमिला उठा हो, उसकी 'चुनौती' इन कविताओं के माध्यम से सुनाई पड़ रही हो ! किसी भी देश में इस प्रकार के काव्य के बिना सामाजिक क्रांति सम्भव नहीं, क्योंकि पाप के प्रति उग्रता और घृणा जब तक अनन्त आवेग के साथ प्रकट नहीं होती, तब तक सामान्य जनता उससे प्रभावित नहीं होती अतः इनकी 'प्रचारात्मकता' भी प्रशंसनीय है। जो इनमें महान काव्य खोजते हैं, वे भूल करते हैं और उनसे भी अधिक वे भूल करते हैं जो इन्हें 'मात्र प्रचारात्मक' कहते हैं।

प्रस्तुत युग की इस 'चित्तवृत्ति' को और भी कलात्मकरूप में व्यक्त करने की आवश्यकता है। नवीन युग 'ध्वंस' और 'निर्माण' दोनों पहियों पर ही चलता है। हमारी पुरानी 'वीरचेतना' इसी काव्य में सुरक्षित रह सकती है। 'स्वाधीन-भारत" के 'अन्तर्विरोधों पर जयनाथ नलिन की एक प्रभंजनात्मक रचना द्रष्टव्य है—

स्वाधीन वतन—रैयत की कमरें झुकी, हुजूर सलाम वही
स्वाधीन वतन—पोलिस के मुँह पर पर 'साले, नमकहराम वही।
पी तिरस्कार मैं तो हूँ आज गुलाम वही
स्वाधीन वतन—पंजर पर सूखी खाल, और है काम वही।
स्वाधीन वतन—काले मुँह, काले धन वाले स्वाधीन बने
स्वाधीन वतन, फुटपाथों पर, बिखरी नारी की लाज आज !
बन गया तुम्हारा राम-राज्य, अहें आँसू बेबसी आज।
बोल बोल रे अबल अहिंसा के निर्बल अवतार।
अरे बता क्या, रामराज्य का यह सपना साकार ?
आज ब्यालीस की कुर्बानीं पूछ रही,
जलने वालों की करवट ले—
राख दिवानी पूछ रही,
पूछ रही सूनी माँगें। क्या सचमुच हम आज़ाद ?[१]

क्या इन भावनाओं को 'कुंठा' कहा जा सकता है, क्या इनमें करोड़ों हृदयों की प्रतिध्वनि नहीं सुनाई पड़ती है। यदि इनमें सामूहिक भाव को आवेगमय शैली में व्यक्त किया गया है, तो इन रचनाओं का उचित मूल्यांकन होना चाहिए।

---

१. धरती के बोल—(१९५८ ई०)

नये प्रगतिवादी कवि केवल 'सिंहनाद' ही नहीं करते, मनुष्य के व्यक्तित्व के चतुर्मुखी विकास के लिए, हृदय के कोमल अंश को भी वाणी देते हैं। वैविध्य इनकी विशेषता है। सामूहिक भावनाएँ और निजी राग, विराग की अभिव्यक्ति में ये कोई विरोध मानकर नहीं चलते अतः "धरती के बोल" में जयनाथ नलिन, अपने 'सौन्दर्य-बोध' का भी परिचय देते हैं। उन्होंने बिना किसी संकोच के छायावादी सौन्दर्य-प्रियता को स्वीकार किया है अतः रूप, रस, सुगंधि आदि ऐन्द्रिक संवेदनों को भी वाणी देते हैं, क्योंकि काव्य मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण शोधन है, वह किसी एक पथ का उदात्तीकरण करके नहीं रह जाता। प्रगतिवाद को इसीलिए केवल 'राजनैतिक चेतना' तक सीमित कर देना ग़लत है अतः "नलिन" जैसे कवि मनुष्य के कोमल पक्ष को भी वाणी देते हैं। किन्तु इसमें न तो छायावाद की तरह आध्यात्मिकता भरते हैं और न पलायन के स्वर ही छेड़ते है। 'सौन्दर्य', प्रकृति के वरदान के रूप में और 'प्रेम' को सामाजिक 'भाव' के रूप में वे ग्रहण करते है। 'सौन्दर्य' का आकर्षण इसी भौतिक जीवन का आकर्षण है, उसका वर्णन पाप नहीं किन्तु इस 'सौन्दर्य' में ही जीवन को सीमित न कर वे जीवन के अन्य पक्षों का भी चित्रण करते हैं।

सुमित्रानन्दन पन्त का नूतन काव्य और प्रगतिवाद—युगवाणी, युगान्त और ग्राम्या के बाद पन्तजी अरविन्द-दर्शन से प्रभावित हुए हैं। पन्तजी की प्रगतिवादी रचनाओं में भी मार्क्सवाद को पूर्णतः स्वीकार नहीं किया गया था क्योंकि पन्तजी के अध्यात्मवादी संस्कार उसमें बाधक थे अतः वह मार्क्सवाद अर्थात् भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के समन्वय की चर्चा करते रहे। अरविन्द-दर्शन में उन्हें इस 'समन्वय' का एक रूप बना बनाया मिल गया, अतः उन्हें लगा कि जैसे अरविन्द ने उनकी सारी शंकाओं को ध्वस्त कर दिया है और वह अध्यात्मवाद और भौतिकवाद के समन्वय पर लिखने लगे। इधर की कविताओं में इसी 'समन्वय' पर उन्होंने बल दिया है और वह मार्क्सवाद तथा मध्यकालीन अध्यात्मवाद की सीमाओं की अपने काव्य में आलोचना कर रहे हैं। मैंने "पन्तजी के नूतन काव्य और दर्शन"[१] में विस्तार से पन्तजी के काव्य में व्यक्त अरविन्द दर्शन और मार्क्सवाद पर विचार किया है और साथ ही उनके नूतनकाव्य का अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। मेरी उक्त पुस्तक में स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, युगान्तर, उत्तरा, शिल्पी, रजतशिखर, अतिमा तथा काव्यरूपकों का विश्लेषण है, इधर 'सौवर्ण', "कला और बूढ़ा चाँद" आदि

---

१. साहित्यरत्न भंडार, आगरा, (१९५६)

कृतियाँ और प्रकाशित हुई हैं किन्तु ये रचनाएँ भी 'स्वर्णकाव्य' की ही परम्परा में हैं।

आधुनिक काव्य में विचारपक्ष अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। मध्यकाल में भी वह महत्त्वपूर्ण था परन्तु उतना नहीं कि जितना आज है। तब कवि स्थायी भावों की व्यंजना पर अधिक बल देते थे। इधर यह तथ्य महत्त्वपूर्ण हो गया है कि कवि समाज के विषय में क्या सोचता है। समाजशास्त्र, इतिहास और विज्ञान ने मनुष्य के दृष्टिकोण को दो भागों में बाँट दिया है—एक पूँजीवादी तथा मध्यकालीन सामंतवादी दृष्टिकोण है और दूसरा शुद्ध वैज्ञानिक समाजवादी अथवा मार्क्सवादी दृष्टिकोण। प्रथम किसी न किसी रूप में किसी अलक्षित सत्ता का हस्तक्षेप मानवीय समाज के विकास तथा जगत् के विकास में आवश्यक मानता है और दूसरा चेतना को भूततत्त्व का गुणात्मक परिवर्त्तन मानता है जैसाकि पीछे हम दिखा चुके हैं। चाहे अरविन्द हों या पन्त या अन्य कोई विचारक यदि वह जगत् और मानवीय समाज के विकास में 'समन्वय' के नाम पर किसी 'अचिन्त्यसत्ता' को अकारण ही प्रविष्ट कर देता है तो तत्त्वदर्शन की दृष्टि से उसका विरोध अनिवार्य है। इसलिए नहीं कि हम अपने देश के महान विचारक अरविन्द या महाकवि पन्त का अनादर करते हैं या "उनके मुँह लगकर बचकाना हरकत" करना चाहते हैं अपितु इसलिए कि हमारा 'सत्य' के प्रति आग्रह है। 'सत्य' के निर्णय में अन्य बातों का विचार नहीं होता। हमारे यहाँ परम्परा यह रही है कि गुरुजन भी ग़लती करें तो नम्रतापूर्वक उनका विरोध करना चाहिए क्योंकि 'सत्य' से ही समाज की स्थिति सम्भव है!

अरविन्द एक साधक थे और उन पर शक्तिवाद का प्रभाव था। शक्तिदर्शन भूततत्त्व को चेतना का ही रूपान्तरण मानता है। वह शांकर वेदान्त की तरह जगत् को मिथ्या नहीं मानता। किन्तु सभी अध्यात्मवादी-दर्शनों की तरह शैव-शाक्त दर्शन भी चेतना को 'प्रथम' तत्त्व मानता है, भूततत्त्व तो उसी का रूपान्तरण मात्र है। अतः अरविन्द ने शांकर वेदान्त का विरोध कर शाक्ताद्वैतवाद के आधार पर चेतना को प्रथम तत्त्वमानकर, भूततत्त्व को "सर्वम् खलु इदम् ब्रह्म" की सहायता से उसी पूर्वस्थित चेतनतत्त्व का अभिव्यक्त रूप माना है। यह शक्ति-दर्शन का आधुनिक रूप है। चूंकि मार्क्सवाद का भौतिकवाद पूर्णतः पन्तजी को प्रिय नहीं लगा, क्योंकि पन्तजी भूततत्त्व से चेतना के विकास के सिद्धान्त को गले नहीं उतार सके, अतः पन्तजी ने अरविन्दवाद को स्वतः ही स्वीकार कर लिया।। भौतिकवाद को उन्होंने 'समतल' का विकास कहा और आध्यात्मिक

विकास को "ऊर्ध्व विकास"—दोनों का समन्वय उन्होंने आवश्यक माना। इस प्रकार भौतिक उन्नति की भी अवहेलना नहीं हुई और पन्तजी के प्रिय "रहस्यवाद" के लिए भी क्षेत्र खुल गया जिसमें 'बुद्धि' को नही, 'स्वयंप्रकाश्य-ज्ञान को ही महत्त्व दिया जाता है अतः यह आवश्यक है कि आज के वैज्ञानिक युग में इस 'नवीन रहस्यवाद' का विरोध किया जाय, मैंने अपनी पुस्तक में वही किया है किन्तु साथ ही उसमें जो, भौतिकवादी अंश था, उसको भी अलग करके उसकी प्रशंसा भी की है। काव्य में व्यक्त कवि की 'सदिच्छा', युद्ध का विरोध, मानवीय गुणों का विकास, कल्पना का लालित्य, शब्द-शिल्प आदि तत्त्वों की भी मैंने प्रशंसा की है यद्यपि यह भी सिद्ध किया है कि पन्तजी के नए काव्य में पूर्वकाव्य की तुलना में ह्रास दिखाई पड़ता है क्योंकि वे सिद्धान्तों की घोषणाएँ अधिक करने लगे हैं। मैंने पन्तजी की पूर्व और नवीन काव्य कला के प्रति निषेधवादी दृष्टिकोण रखकर आलोचना लिखने वालों में प्रमुखतम डा० रामविलास शर्मा के "दृष्टिकोण" पर भी विचार किया है क्योंकि यह दृष्टिकोण जो ग्रहणीय है, उसे भी छोड़ देता है। यदि कोई कवि पूर्णतः मार्क्सवादी नहीं है तो यह बताना भी आवश्यक है कि उसके विचार कहाँ तक किस प्रकार मार्क्सवाद के पक्ष या विपक्ष में पड़ते हैं और साथ ही यह बताना भी आवश्यक है कि बावजूद अपनी सीमाओं के, उस विचारक में कौन-कौन से तत्त्व ग्रहणीय हैं। यह दृष्टि पन्तजी के स्वर्णकाव्य पर लिखे हुए डा० शर्मा के निबन्ध में नहीं मिलती। यह निबन्ध शचीरानी गुर्टू द्वारा सम्पादित 'सुमित्रानन्दन पन्त' नामक पुस्तक मे संकलित है।

डा० शर्मा के उक्त निबन्ध में निश्चित रूप से संकीर्णता है किन्तु मार्क्सवाद को संकीर्ण बनाना एक बात है और उसे तात्त्विक चर्चा में, छोड़ बैठना सर्वथा दूसरी बात है। मैंने जब भाई शिवदानसिंह चौहान से "पन्त जी के नूतन काव्य और दर्शन" की भूमिका लिखने के लिए अनुरोध किया था तब मेरे सम्मुख उनकी पूर्व रचनाएँ थीं। उनमें संकीर्णतावाद के विरुद्ध विरोध मिला था किन्तु यह नहीं मिला कि वह मार्क्सवाद को "पूर्णतः सत्य" न मानकर उसे अनेक 'वादों में से एक 'वाद' मात्र मानते हैं किन्तु जब श्री चौहान की भूमिका मेरे पास आई तो मुझे अत्यधिक दुःख हुआ और हिन्दी में प्रगतिवाद के एक प्रमुख विचारक की सिद्धान्तअस्थिरता को देखकर मैं चकित रह गया। मैंने भूमिका को अपनी पुस्तक के साथ प्रकाशित करना इसलिए उचित नहीं समझा कि भूमिका लेखक के साथ मेरा सैद्धान्तिक मतभेद है। यदि भाई चौहान केवल यह लिखते कि उपाध्याय की पुस्तक में संकीर्णता का विरोध

करते पर पर भी 'संकीर्णता' या कुत्सित समाजशास्त्र अवशिष्ट है, तब मुझे कोई आपत्ति न होती किन्तु उन्होंने तो स्वयं 'मार्क्सवाद' पर ही प्रहार किया अतः मैंने चिंतन के मूलाधार के प्रति असहमति देखकर श्री चौहान की भूमिका वापस कर दी। उन्होंने कृपा कर 'युग चेतना' में उसे प्रकाशित कर दिया और अब उनके निबन्ध-सकलन "आलोचना के मान" में वह निबन्ध "पन्त-काव्य का मूल्यांकन" शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। श्री चौहान लिखते हैं ?

"प्रश्न उठता है कि क्या मार्क्सवाद को वैज्ञानिक या वस्तुवादी मानते ही अन्य सभी सिद्धान्तों को अबुद्धिवादी, अवैज्ञानिक तथा अन्ततः प्रतिक्रियावादी घोषित कर देना अनिवार्य हो जाता है" ?

इसका सीधा उत्तर यह है कि मार्क्सवाद को वैज्ञानिक मानने पर अन्य चिंतन-पद्धतियों को अवैज्ञानिक मानना ही होगा। वैज्ञानिक दृष्टिकोण और रहस्यवाद में 'समन्वय' सम्भव ही नहीं है, दोनों में से एक को चुनना होगा।

श्री चौहान का दूसरा प्रश्न है "क्या मार्क्सवादी दृष्टिकोण मन पर ऐसे असहिष्णु तथा एकाधिकारी प्रभाव डालता है कि मानव-चेतना की अब तक की सभी महान सांस्कृतिक तथा कलात्मक उपलब्धियाँ एक क्षण में ही तुच्छ, नगण्य और वर्गस्वार्थ प्रेरित नजर आने लगती हैं ?"

मार्क्सवाद असहिष्णु नहीं है, यदि वह ऐसा होता तो युगविशेष में विकसित विचार और कला की प्रगतिशीलता और प्रतिक्रियावादिता को कैसे निश्चित कर पाता ? षट्दर्शन अपने युग में महान थे, विकास की दृष्टि से मानवीय चेतना की उन्नति में उनका महान योग है परन्तु क्या आज उन्हें सहिष्णुता के नाम पर 'पूर्णतः' स्वीकार किया जाएगा ? कौन कहता है कि षड्दर्शन नगण्य हैं, तुच्छ हैं ? कहना यह है उनमें जो भौतिकवादी तत्त्व हैं, वे ही सही हैं, उनका आदर्शवाद सही नहीं है क्योंकि आज के विज्ञान से उनका खंडन हो जाता है। वैशेषिक का 'अणुवाद' अपने युग में 'महान' था, आज वह "आदिम" प्रमाणित होता है, क्या किया जाय, विवशता है। 'सहिष्णुता का तात्पर्य यह नहीं है कि मिथ्या को सत्य कहा जाय।

श्री चौहान लिखते हैं "क्या मन में यह संस्कार जड़ पकड़ लेता है कि जो "हमसे" (तत्कालीन मार्क्सवादी प्रवक्ताओं से) अक्षरशः सहमत नहीं हैं, वे व्यक्ति या विचारधाराएँ लाज़मी तौर पर प्रतिक्रियावादी और जन-विरोधी हैं" ?

इसका उत्तर यह है कि सहमति या असहमति का प्रश्न 'सत्य' से सम्बन्धित है, हमसे और आपसे सम्बन्धित नहीं है। 'सत्य' क्या है, प्रश्न यह है। यदि भौतिकवाद सत्य है तो आदर्शवाद या अन्य कोई भी मत हो उसे 'सत्य' कैसे कहा जाएगा ? यदि कहें कि अन्य मतों में आंशिक सत्य हो सकता है, तो मैने "पन्त जी के नूतन काव्य और दर्शन" में पन्त और अरविन्द के चिन्तन के भौतिकवादी अंश को स्वीकार किया है और उसकी अनेक स्थानों पर प्रशंसा की है। 'चिन्तन' में 'समन्वयवाद' से असहमत होते हुए भी, चिंतन के पीछे पन्तजी की "सदिच्छा" की प्रशंसा की है। इसलिए नहीं कि पन्तजी की स्तुति करनी चाहिए बल्कि इसलिए कि यह एक तथ्य है अतः जो मार्क्सवादी नहीं है, उसे मार्क्सवादी वैज्ञानिक दृष्टि रखने वाला पूर्णतः कैसे स्वीकार करेगा ? अरविन्ददर्शन आज के वैज्ञानिक युग में अंशतः प्रतिक्रियावादी नहीं तो और क्या है ?

श्री चौहान पुनः प्रश्न करते हैं--क्या अध्यात्मवाद और भौतिकवाद की दार्शनिक विचारधाराओं के ऐतिहासिक संघर्ष का अंतिम फैसला हो गया है अर्थात् क्या जीवन जगत् सम्बन्धी अंतिम और निरपेक्ष सत्य मनुष्य ने पा लिया है कि हम अध्यात्मवादी दर्शनों को बर्बर (अबुद्धिवादी और अवैज्ञानिक) युग की निशानी के रूप में उठाकर म्यूज़ियम के तहखानों में बन्द कर दें और यदि कोई आज भी उनमें थोड़ी सी आस्था प्रकट करे तो उसे समाज-द्रोही घोषित करके समाज के रचनात्मक-जीवन से बहिष्कृत कर दें ?"

पदार्थ-वैज्ञानिकों तथा मार्क्स, ऐंगिल्स, पावलव एवम् अन्य विचारकों के बाद अन्तिम फैसला, इतिहास और पदार्थ-विज्ञान के विषय में तो हमारे सम्मुख ही है। रही बात चेतना और भूततत्त्व में कौन प्रथम है, यह फैसला बुद्धि के आधार पर तो हो चुका है क्योंकि यदि हम चेतना को भूततत्त्व से पहले मानते हैं, तो वही पुराने प्रश्न उठते हैं कि अंततः चैतन्य क्यों यह सृष्टि करता है, क्यों वह भूततत्त्व में विकसित होता है? और पुराना दर्शन इन प्रश्नों का उत्तर कभी नहीं देता। कांट को भी मानना पड़ा था कि बुद्धि से ईश्वर सिद्ध नहीं होता, विश्वास से होता है ! इसके सिवा अन्तिम फैसले के लिए यदि पदार्थ-विज्ञान और मनोविज्ञान (पावलव) यदि अभी तक सभी प्रश्नों के उत्तर नहीं दे पाते तो इसका अर्थ यह नहीं कि "वैज्ञानिक पद्धति" छोड़कर 'स्वयंप्रकाश्यज्ञान' को शोध का आधार मान लिया जाय। चूंकि अरविन्द और पन्त जी इसी 'स्वयंप्रकाश्यज्ञान' को आधार मानकर चले हैं अतः इसे

अबुद्धिवादी' कहना ही पड़ेगा हाँ 'बर्बर' शब्द का प्रयोग मैंने अपनी पुस्तक में नहीं किया। एंगिल्स ने एक स्थान पर अवश्य लिखा है कि 'सामाजिक व्यवस्था, बदल जाती है किन्तु पुराने विश्वास चलते रहते हैं किन्तु उन्होंने 'बर्बर की जगह उस पुराने विश्वास को 'आदिम मूर्खता (Primitive Nonsense) कहा है ![1] अध्यात्मवादियों को 'समाजद्रोही' कह कर निकाल दिया जाय यह कोई नहीं कहता क्योंकि अध्यात्मवाद में केवल 'तत्वचर्चा' ही नहीं है, उसमें मानवता के प्रति प्रेम भी है, उसमें परसेवा, त्याग, तितिक्षा, शांति और कर्त्तव्यप्रियता की भी क्रियाएँ हैं। ये गुण पन्त जी के काव्य में भी हैं। पन्त जी को इसीलिए मैंने 'मानवतावादी' माना है, और 'मानवतावादी' आदरणीय होता है किन्तु जब वह 'मानवतावादी' अपने तत्त्वज्ञान को समाज के सम्मुख प्रस्तुत करता है तब उसकी भ्रान्तियों पर अपना दृष्टिकोण रख देना क्या चौहान साहब अपराध समझते हैं ?

श्री चौहान कहते हैं—"आज बुद्धि जीवियों में मार्क्सवाद के प्रति जो शंकाएँ पेदा हो गई हैं, वे इस कारण नहीं कि कुत्सित समाज शास्त्रियों ने मार्क्सवाद को संकीर्ण बना दिया है, बल्कि इसलिए कि जो अपने को कुत्सित समाज शास्त्रियों का विरोधी कहते हैं, वे भी व्यवहारतः इन संकीर्णताओं से मुक्त नहीं हैं।"

यानी सारा अपराध "पन्त जी नूतन काव्य और दर्शन" तथा उसके लेखक का है। असलियत यह है कि मार्क्सवाद को जितनी संकीर्णतावाद से हानि हुई है, उतनी ही चौहान साहब के इस दृष्टिकोण से भी हुई है कि 'मार्क्सवाद' एकांगी है। मैं चौहान साहब का आभारी हूँ कि उन्होंने स्पष्ट शब्दों में मार्क्सवाद की एकांगिता स्वीकार कर यह सिद्ध कर दिया है कि वह पूर्णतः 'मार्क्सवादी' नहीं हैं, यानी 'प्रगतिवादी' नहीं हैं, प्रगतिशील अवश्य हैं—

"फिर भी इतना कहना जरूरी है कि भौतिकवाद (मार्क्सवाद) जो भूत (मैटर) की सत्ता को प्रमुख मानता है और अध्यात्मवाद जो मन या चेतन सत्ता की सत्ता को प्रमुख मानता है—ये दोनों ही एकांगी हैं"

---

1. Selected works, Vol.II, Page 449.

विनोद का विषय यह है कि श्री चौहान मार्क्सवाद की—इस एकांगिता को मान कर भी, मार्क्सवाद के ही 'विरोधी तत्त्वों की अन्विति' (यूनिटी आफ अपोजिट्स) के सिद्धान्त का ग़लत प्रयोग करते हैं। हम देख चुके है कि मार्क्सवाद भूततत्त्व के ही भीतर विरोधी तत्त्वों के संघर्ष से पदार्थों और चेतना का विकास मानता है। भूततत्त्व के अलावा उसके बाहर किसी चेतना को नहीं मानता किन्तु फिर भी चौहान साहब 'विरोधों की अन्विति' के सिद्धान्त का प्रयोग कर रहे हैं और साफ़ कहते हैं कि—"हमें दोनों (यानी चेतना और मैटर की अलग-अलग) की सत्ता को स्वीकार करना होगा" किन्तु इससे वही उलझनें खड़ी होंगी जो चैतन्य को पूर्ववर्ती मान लेने पर हुई थीं। 'सांख्य का इसीलिए भयंकर विरोध हुआ था कि वह दोनों को एक साथ मानता था।

भाई शिवदानसिंह जी ने प्रयाग से प्रकाशित 'आस्था-अंक' में जो लेख लिखा था, वह भी "आलोचना के मान" में संकलित है। इसमें भी स्पष्टतः आपने अपनी 'आस्था' के विषय में कहा है—

"इस लम्बी यात्रा में गांधीवाद के दायरे में से निकलते ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से मेरा साक्षात् हुआ। मुझे लगा कि शायद सत्य की कुंजी यही है और मैं मार्क्सवादी बन गया। मार्क्सवादी मैं आज भी हूँ, क्योंकि द्वन्द्वात्मकता का सिद्धान्त प्रकृति और जीवन की विकास-प्रक्रिया का भौतिक-ज्ञान की सीमा तक सच्चा आइनादार है। लेकिन किसी 'वाद' का वादी होने से दृष्टि के आगे जो सीमा रेखा अनिवार्यतः खिंच जाती है, उससे अपिरिचित नहीं हूँ। इसलिए सोचने में द्वन्द्वात्मक प्रणाली को अपनाते हुए भी मैं मार्क्सवादी सीमाओं में ही चक्कर काट कर पुनः आद्यबिन्दु पर लौट आने का आदी नहीं हूँ। सत्य, वास्तविकता या जीवन किसी भी वाद में बड़े हैं, असंख्य रूपा हैं और इनके रहसद्वार **तक पहुँचने के अनेक मार्ग हो सकते** हैं—इस यात्रा में कम से कम इतनी उपलब्धि तो हो ही चुकी है।" (पृष्ठ ५७)

यह उपलब्धि अभिनन्दनीय है किन्तु सृष्टि के पूर्व चेतना और मैटर को अलग-अलग मान लेने पर "द्वन्द्वात्मक-सिद्धान्तो की प्रामाणिकता भी समाप्त हो जाएगी। मार्क्सवाद 'अद्वैतवाद' के बिना चल नहीं सकता। आदर्शवादियों में भी 'चेतनाद्वयवाद' ही सफल हो सका। द्वैतवाद को न भारत में, और न योरोप में महत्त्व मिल सका। अरविन्द और पन्त जी भी 'अद्वैतवादी' हैं, द्वैतवादी नहीं किन्तु भाई चौहान जी 'द्वैतवाद' का समर्थन कर रहे हैं, आश्चर्य है!

जब चेतना, मैटर से स्वतंत्र रूप में पूर्व से ही विद्यमान थी तब भूततत्त्व के साथ उसका संयोग क्यों हुआ ? द्वन्द्व क्यों शुरू हुआ ? सामञ्जस्य क्यों नहीं मान लिया जाता ? चेतना जब स्वतंत्र है, तब परिस्थितियों का उस पर थोड़ा बहुत प्रभाव तो आदर्शवादी भी मानते हैं, तब आप स्पष्टतः क्यों नहीं घोषित करते कि मैं 'मार्क्सवाद' को तिलांजलि देता हूँ ?

वास्तविकता यह है कि मानवता की मुक्ति के लिए पूर्ण सदिच्छा व्यक्त करके भी पन्तजी के नूतनकाव्य में "नूतन रहस्यवाद" की ही अभिव्यक्ति हुई है और विचार की दृष्टि से इसका विरोध अनिवार्य है। इस 'रहस्यवाद' के कारण कवि पन्त का काव्य अत्यधिक कल्पनाशील और भाव-ऊष्मा से रहित हो गया है स्वयं अरविन्द अपने काव्य को 'स्वयंप्रकाश्यात्मक' कहते और भाव के स्तर पर लिखे गए काव्य को मध्यम कोटि का मानते थे।[1] 'कला' अरविन्द के अनुसार भावात्मक या बौद्धिक नहीं, स्वयंप्रकाश्यात्मक अथवा "इन्ट्यूटिव" ही हो सकती है जिसका कार्य 'ईश्वर' का साक्षात्कार करना है अथवा आंतरिक प्रकाश का दर्शन ही कला है ! पन्त जी के नवीन काव्य में इसी ऊपर से छन-छन कर आने वाले 'प्रकाश' का मुग्ध हो होकर वर्णन किया गया है, अतः विचारतः यह 'रहस्यवाद' है, प्रगतिवाद नहीं। 'अतिमा' के बाद 'सौवर्ण' और "कला और बूढ़ा चाँद" में भी यही प्रवृत्ति है।

यह आश्चर्य का विषय है कि नूतन काव्य में 'सदिच्छा के' बावजूद में मार्क्सवाद का भयंकर विरोध करने पर भी श्री चौहान जी ने कुछ भी नहीं कहा। यानी डा० शर्मा ने पन्त जी का विरोध किया, उस पर तो वह रुद्ररूप धारण करते हैं किन्तु पन्तजी द्वारा 'प्रगतिवाद' के स्थान पर 'रहस्यवाद' की प्रतिष्ठा के विरुद्ध वह कुछ नहीं कहना चाहते। यह भी सुना गया है कि पन्तजी अरविन्दवाद की 'अनुकृति' को अस्वीकार करते हैं किन्तु कोई भी तटस्थ दृष्टि से अरविन्द और पन्तजी की विचारधारा में साम्य देख सकता है। मैंने पूर्वाग्रहों के आधार पर नहीं, दोनों विचारकों की रचनाओं के विश्लेषण के आधार पर यह तथ्य प्रमाणित किया है कि पन्तजी अरविन्द से केवल प्रेरणा नहीं लेते, वे अरविन्द के विचारों के हिन्दी में अक्षरशः प्रचारक हैं और अरविन्दवाद प्रगतिवाद-विरोधी दर्शन है, जो स्पष्ट घोषण करता है कि 'बुद्धि' पर आधारित होने के कारण भौतिकवाद का पतन निश्चित है क्योंकि 'बुद्धि' विभाजन करती है, जब कि 'सत्य' को केवल 'आत्मा' के द्वारा ही देखा जा सकता है !

---

१. द्रष्टव्य—Future Poetry.

"चिदम्बरा" में पन्त जी ने विस्तार से यथार्थवादियों की भर्त्सना की है और अपने 'रहस्यवाद' को स्वीकृति दिलाने के लिए महान श्रम किया है। इधर 'दर्शन' और कला के क्षेत्र में अध्यात्मवाद और रहस्यवाद को भी 'यथार्थ' कहने की प्रवृत्ति चल पड़ी है। पन्तजी समतल (भौतिक उन्नति) और ऊर्ध्व तल (अध्यात्म) का 'समन्वय' चाहते हैं और उसे ही 'यथार्थ' मानते हैं किन्तु इस 'ऊर्ध्वतल' के चक्र में न तो समतल की उन्नति होगी और न 'ऊर्ध्वतल' की साधना का ही पन्त जी की भावी पीढ़ी को अवसर मिल सकेगा। पन्तजी पृथ्वी पर स्वर्गिक शिखरों का वैभव लुटा रहे हैं। कला की दृष्टि से मधुर स्वप्नों और सदिच्छाओं का भी सीमित महत्त्व है परन्तु आज यह सब 'दम्भ' लगता है। कोटि-कोटि जनता के सम्मुख जीवन और मरण का प्रश्न है, उसे 'स्वर्गिक वैभव' न देकर, उसके मन की वास्तविक भावनाओं और जीवन-दशाओं को चित्रण करने की आवश्यकता है, न कि ऊर्ध्वस्तरों से उतरने वाले किसी अज्ञात रहस्य की। यह स्मरणीय है कि पन्त जी के 'समन्वय' के नारे ने बहुत अधिक भ्रम फैलाया है।

विचार की दृष्टि से पन्तजी का चिन्तन रहस्यवादी होने पर भी प्रत्येक रहस्यवादी की तरह पन्त जी मानव कल्याण के समर्थक हैं। उनके काव्य में शांति, सहानुभूति, आशा और आस्था के स्वर प्रबल हैं। विश्व-युद्ध का पन्त जी ने दृढ़ शब्दों में विरोध किया है। प्रयोगवाद के द्वारा प्रचारित हिन्दी में अनास्था, कुंठा, पस्तहिम्मती तथा अवसाद के स्वरों के विरुद्ध पन्तजी भावी मानवता के विजय के गायक हैं। वह कुरूपता के स्थान पर 'सौन्दर्य' और 'स्वप्नों' के चितेरे हैं। वह मनुष्य की निम्न वृत्तियों के निन्दक और सात्त्विक वृत्तियों को कला में मूर्त्तित करने वाले कवि हैं। वह निर्माण के प्रबल समर्थक और उसके प्रति अशावान् हैं। पन्त जी के काव्य में प्रगति के ये स्वर अभिनन्दनीय हैं। यह स्मरणीय है कि पन्त जी के इस पक्ष की मैंने "पन्त जी के नूतन काव्य और दर्शन" में बार-बार प्रशंसा की है और प्रयोगवाद से उनके काव्य को समग्रतः अधिक प्रगतिशील सिद्ध किया है किन्तु भाई शिवदानसिंह ने इस तथ्य की भी उपेक्षा की है। अस्तु।

पन्तजी के नूतन काव्य में प्रगतिशील स्वर :—

विश्व-युद्ध का विरोध—दौड़ रहे शत प्रलय धरा का वक्ष चीरते।
रौंद रही लपटें पावक के भूधर पगधर।
टूट पड़े शत नरक, बरसते रुंड मुंड हत,

छूट गए रौरव के भूत पिशाच प्रेत हों।
कड़ कड़ करते क्रुद्ध वज्र, फट फट पड़ते सिर,
रक्त मांस मज्जा उड़ते क्षण धूम भाप बन।
फूट गया पृथ्वी के भीषण पापों का घट।
लुंज पुंज मांसल तन पल में होते ओझल।
चटक अस्थि पंजर क्षण में मिटते भूरज में।
तंतु जाल सी त्वचा सिहरती झुलस ताप से।
छिन्न पसलियाँ छितर टहनियों सी पतझर की।
चरमर जल उठतीं पल में शत होम शिखा सी।

'ध्वंसशेष' में युद्ध का भीषण वर्णन करके पन्तजी ने युद्ध का विरोध किया है। ऐसे स्थलों पर कवि का स्वर अत्यधिक मानव-प्रेमी हो उठता है। कला की दृष्टि से कामायनी के प्रलय-वर्णन जैसी सशक्त काव्यकला के दर्शन यहाँ होते हैं। क्योंकि यहाँ कवि 'यथार्थ' की भूमि पर है।

मध्ययुगीन अध्यात्मवाद की तुलना में प्रगतिशील अध्यात्मवाद— पन्तजी ने 'चिदम्बरा' की भूमिका में कहा है, कि यह काव्य नूतन अध्यात्मवाद है, जिसमें मध्यकालीन अध्यात्मवाद की तरह धरती के जीवन की उपेक्षा नहीं है। शांकर वेदान्त, संसार को मिथ्या मानता है, अरविन्दवाद जगत् को सत्य मानता है। वेदान्त 'व्यक्ति' पर ही विचार करता है। अरविन्दवाद जगत् की भी उपेक्षा नहीं करता। पन्त जी इसीलिए आध्यात्मिक प्रकाश के साथ-साथ 'धरती' की भी उपेक्षा नहीं करते। धरती के प्रति प्यार उनकी नयी कविता में सबसे अधिक कलात्मक ढंग से "यह धरती कितना देती है" शीर्षक कविता में व्यक्त हुआ है। कवि मिट्टी में पैसे बोता है किन्तु वे फलते-फूलते नहीं। फिर वह 'सेम' के बीज बोता है तो वे फलते-फूलते हैं, नए पौधों का कितना सुन्दर वर्णन है—

देखा, आँगन में कोने में कई नवागत
छोटी छोटी छाता ताने खड़े हुए हैं।
या हथेलियाँ खोले थे वे नन्हीं प्यारी
पंख मार कर उड़ने को उत्सुक लगते थे
डिम्ब तोड़ कर निकले चिड़ियों केबच्चों से!
अनगिनती पत्तों से लद, भर गई झाड़ियाँ
हरे भरे टँग गए कई मखमली चँदौवे!

हरे हरे सौ झरने फूट पड़े ऊपर को—
मैं अवाक् रह गया वंश कैसे बढ़ता है !

जहाँ-जहाँ कवि ने इस तरह जीवन को देखा है, उसकी कला में दम-घोट ऊर्ध्वता कम हो गई है। उनकी प्रतीकात्मक कविताएँ, भू-प्रेमी, चन्द्रोदय द्वासुपर्णा, हरीतिमा, आदि से उक्त रचना अधिक प्रभावित करती है। अत्यधिक आंतरिकता के कारण रहस्यवादी काव्य तथा अत्यधिक सैद्धान्तिक घोषणाओं के कारण पन्त जी का उपदेशपरक काव्य नीरस हो गया है परन्तु जहाँ-जहाँ उसका सम्बन्ध वास्तविक जीवन परिस्थितियों से है, वहाँ काव्य मार्मिक हो गया है।

प्रकृति-चित्रण—प्रकृति-चित्रण में पन्त जी पूर्वकाव्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। प्रगतिवाद के इस युग में यद्यपि पन्त जी के नूतन काव्य में प्रकृति रहस्यवेष्टित होकर ही कवि के सम्मुख उपस्थित होती है, वह चेतना के ऊर्ध्वस्तरों पर बैठकर ही प्रकृति का निरीक्षण करता है परन्तु लक्ष्य करने योग्य तथ्य है कि प्रकृति की सुषमा को चित्रित करने की प्रवृत्ति नूतन-काव्य में भी है। कुरूपता की ओर तो कवि दृष्टिपात करता ही नहीं। वह "कौवे" में भी सौन्दर्य खोजता है ! छायावाद की मानवीकरण पद्धति इस नए काव्य में बराबर प्रयुक्त हुई है :—

ओ रँभाती नदियो, बेसुध कहाँ भागी हो ?
वंशीरव तुम्हारे ही भीतर है !
ओ फेन गुच्छ लहरों की पूँछ उठाए
दौड़ती नदियो, इस पार उस पार भी देखो—
जहाँ फूलों के फूल
सुनहले धान के खेत हैं
कल-कल छल-छल अपनी ही विरह-कथा
प्रीति कथा कहते, मत चली जाओ !
ओ दूध धार टपकाती शुभ्र प्रेरणा धेनुओं !

अथवा

शरद् आ गई !
श्वेत कृष्ण बलाकों की, मन्दिर चितवन लिए
स्वच्छ जल नील नभ उसी का कक्ष है

काँसों की दूध फेन सेज पर चंदिरा सोई है !
गौर पद्म सरोवर, उठता, गिरता, उसी का वक्ष है ![1]

पन्तजी के नवीन काव्य में भारतवर्ष की स्वर्गिक सुषमा का चित्रण सौम्यता और सुघराई से अंकित है। हिन्दी के नवीनतम काव्य में इस काव्य में मानवीय मन को सुरुचिपूर्ण बनाने की शक्ति अवश्य है, अधिकतर प्रकृति-वर्णनों में कवि आध्यात्मिक रहस्य का स्पर्श भर देता है तथापि उसमें बहुत सा अंश ऐसा भी है जो स्वतंत्र रूप से भी प्रभावित करता है।

मानवता के प्रति सदिच्छा—कवि के चिन्तन से पूर्णत: सहमत न होने पर भी कवि की सदिच्छा पन्त जी के नूतन काव्य में सभी को प्रभावित करती है। पूर्ण ईमानदारी से वह विश्वास करता है कि नूतन मानवता का युग आ रहा है। मनुष्य की दुरावस्था देखकर कवि का मन विह्वल हो उठता है, उसका समाधान चाहे विचारत: ग़लत हो किन्तु उसकी नवयुगनिर्माण की इच्छा प्रशंसनीय है। 'चिदम्बरा' की भूमिका में कवि ने 'कला' और मानवमंगल की एकता स्थापित की है। प्रयोगवादी कहते हैं कि ये उड़ी-बड़ी बातें हैं किन्तु इतिहास गवाह है कि मनुष्य की बड़ी-बड़ी बातों अर्थात् महान संकल्प ने ही जातियों की इच्छा-शक्ति दृढ़ की है।

आज जीवनोदधि के तट पर, खड़ा अवांछित, क्षुब्ध, उपेक्षित
देख रहा मैं क्षुद्र अहम् की, शिखर लहरियों का रण कुत्सित !
सोच रहा किसके गौरव से, मेरा यह अंतर जग निर्मित !
लगता, तब हे प्रिय हिमाद्रि, तुम मेरे शिक्षक रहे अपरिचित !

आशा—क्यों मानव यौवन वसंत सा, हो न लोक जीवन में कुसुमित
मधुर प्रीति हो सामाजिक सुख, प्राणभावना, आत्मसंयमित !
भावी संतति को दे मानव, पुण्य चेतना की छवि दीपित।
हो मौलिक संस्कार वधू का, जागृत, कृत्रिमता से कुंठित !

पुरुषार्थ—कभी न पीछे हटने वाले ही पाते जय !
बहिरंतर के ऐश्वर्यों का करते संचय !

आकांक्षा—खोलो मा, फिर बादल सी निज कबरी श्यामल।
जन मन के शिखरों पर चमकें विद्युत के पल !

---

१. कला और बूढ़ा चांद।

हृदय हार सुरधुनी तुम्हारी जीवन चंचल।
स्वर्ण-श्रेणि पर शीश धरे सोया विन्ध्याचल।
तुम अनंत यौवना धरा हो, स्वर्गाकांक्षित
जन को जीवन शोभा दो, भू हो मनुजोचित।

जागरण—आओ, जन स्वतन्त्र भारत को, जीवन उर्बर भूमि बनाएँ।
उसके अंत: स्थित आनन से, तम का गुंठन भार उठाएँ !
अह, इस सोने की धरती के, खुले आज सदियों के बंधन !
मुक्त हुई चेतना धरा की, युक्त बनें अब भू के जनगण !

व्यापक-करुणा—गरज रहा उर व्यथाभार से, गीत बन रहा रोदन !
आज तुम्हारी करुणा के हित, कातर धरती का मन !
श्रांत रक्त से लतपथ जनमन
नवप्रभात का यह स्वार्णिम क्षण !

पन्त जी के नूतन काव्य के ये स्वर जनवादी स्वर हैं। उनके चिन्तन में भ्रान्तियाँ हैं किन्तु उनके हृदय में मानव-प्रेम का अभाव नहीं है और वह उनके काव्य का सबसे सशक्त स्वर है। 'सौन्दर्य' की सृष्टि की दृष्टि से उनका नूतन काव्य पूर्वकाव्य की तुलना में ह्रासोन्मुख होकर भी समकालीन काव्य में अपना विशिष्ट महत्त्व लिए हुए है।

पन्त जी के नूतन काव्य में काव्यकला का ह्रास दिखाई पड़ता है। इस सम्बन्ध में श्री शिवदानसिंह चौहान के परस्पर विरोधी मत उल्लेखनीय हैं—

"किन्तु लगता है कि पन्तजी के आलोचकों का भय ही ठीक निकला, क्योंकि 'ग्राम्या' के बाद की कविताओं में मनुष्य के भावीविकास की आदर्श-कल्पनाएँ, जीवन के व्यापक सत्य की उद्भावनाएँ और बाह्य और अन्तर्जीवन के समन्वय की दार्शनिक विचारणाएँ बौद्धिक चिन्तन के अतिशय आरोप के कारण निरी अमूर्त्त (एब्सट्रैक्ट) हो गई हैं। 'ग्राम्या' के बाद का पन्त काव्य छायावादी कविता शैली में रचा पन्त-दर्शन बनता जा रहा है। स्वर की उदात्तता, भावनाओं की मानवीयता और भाषा की सुकुमारता के कारण इन रचनाओं को कविता चाहे कह ले किन्तु वास्तव में ये दार्शनिक रचनाएं हैं। कल्पना और काव्याभरण तो केवल पन्त के दार्शनिक चिन्तन को अभिव्यक्त देने के उपकरण मात्र हैं" (हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, पृष्ठ ८६-८७)

"अरविन्द-दर्शन अपनाने के बाद से उनके काव्य का स्तर गिरा हो, सो बात नहीं है। यह बात जरूर हुई है कि कुछ कविताओं में दार्शनिक

विचारों का इतना अधिक बाहुल्य है कि भाषा काफी नीरस और सांकेतिक बन गई है। लेकिन इन कविताओं में निबद्ध दार्शनिक वक्तव्य इतने चुस्त और गम्भीर हैं कि केवल पन्त की क्षमता का महाकवि ही उन्हें इतना स्पष्ट और संक्षिप्त अभिव्यक्ति दे सकता था। फिर भी उनकी किसी भी दार्शनिक कविता में मुझे रागात्मकता का सर्वथा अभाव नही दीखता।,, (आलोचना के मान, पृष्ठ १२५)

इन दोनों व्यक्तव्यों में किसे सही माना जाय, पन्त जी के नूतन काव्य का अनुशीलन ही इसका उत्तर दे सकेगा। धारणा बदल देना अपराध नहीं है, अनुभव और अनुशीलन के बाद धारणाएँ बदलती ही हैं किन्तु भाई चौहान को हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष' से 'आलोचना के मान तक' आते-आते चार वर्ष हो गए किन्तु उन्होंने यह स्पष्टतः नहीं कहा कि पन्त के नूतनकाव्य के सम्बन्ध में उनकी धारणा वह नहीं रही जो सन् १९५४ में "हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष" में थी !

मैं भाई शिवदानसिंह जी की पूर्व धारणा का समर्थक हूँ। "कला और बूढ़ा चाँद" के बाद भी यह नहीं कहा जा सकता कि पन्त का नूतन-काव्य 'एब्सट्रैक्ट' नहीं है। उसमें चिन्तन की घोषणा की अधिकता और "जीवनगत मांसलता" का अभाव है। 'कल्पना' का चमत्कार और मानव कल्याण कामना तथा शब्दशिल्प के कारण उसमें अंशतः आकर्षण भी है परन्तु यह साफ़ झलकता है कि अब कवि दार्शनिक हो गया है और सिद्धान्तविषयक अमूर्त्त धारणाओं को जीवन के अनुभवों से वह अधिक महत्त्व देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रगतिवादियों की सिद्धान्तवादिता की आलोचना करते-करते प्रगतिवादियों के उस दोष को स्वयं पन्त जी ने अपने ऊपर आरोपित कर लिया हो !

\+ + + +

नवीन शैली—आज का प्रगतिवादी काव्य अभिव्यक्ति को परिष्कृत करने और उसे अधिकाधिक मार्मिक बनाने का प्रयत्न कर रहा है। यह मानना होगा कि कई प्रगतिवादी कवि प्रयोगवाद से प्रभावित हैं। किन्तु प्रयोगवादी शैली में वह वस्तुतः प्रगतिवादी चेतना की ही व्यंजना करते हैं। यह प्रवृत्ति प्रशंसनीय है। हम पीछे देख चुके हैं कि अब अत्यधिक उत्तेजनात्मक, प्रतिशोधात्मक, क्षोभ-गर्जन-तर्जन युक्त प्रगतिवादी कविताएँ 'शिष्ट समाज' में आदृत नहीं होतीं, शिक्षित समाज व्यंजना की सूक्ष्मता चाहता है अतः अब अपने

दृष्टिकोण को कि[illegible] झलकाने का अधिक व्यक्त करते हैं। "सिद्धान्तवमनवाद", जो प्रारम्भिक प्रगतिवादी कविता का लक्षण हो गया है, अब नहीं मिलता। प्रकृति-चित्रण में भी यही प्रवृत्ति है। हम गिरजाकुमार माथुर द्वारा प्रयुक्त नवीन शैली के उदाहरण दे चुके हैं। जिस शैली में प्रगतिविरोधी कवि अनास्था, अवसाद और कुंठा को अभिव्यक्ति दे रहे हैं, उसी शैली में प्रगतिशील कवि आशा, उत्साह, विश्वशांति, वर्गसंघर्ष, प्रेम और जागरण सम्बन्धी कविताएँ लिखता है। इसके अतिरिक्त पुराने काव्यरूप भी चल रहे हैं।

कोहनी टिकाए थकी मेज पर
शीश झुकाए हाथों पर
क्यों अपनी पलकों में डूब रहा ?
कुछ सपने टूटे शायद,
रंगीन काँच के टुकड़ों से।
खिड़की के बाहर फेंक उन्हें।
स्मृतियों के बच्चे आकर उनको चुन लेंगे।
हैं स्वप्न टूटते, उन्हें टूटता जाने दे।
तू बना रहा, तो कितने स्वप्न बना लेगा।[1]

लगता है कि यह काव्य 'प्रयोगवादी' है परन्तु यह कविता शुद्ध जनवादी है। यहाँ 'टूटते हुए आदमी' को प्रेरणा दी गई है कि उसे टूटना नहीं चाहिए, व्यक्तित्व को विशृंखल होने से बचाना चाहिए। सिद्धनाथकुमार का "टूटा हुआ आदमी" प्रगतिवादी प्रयोगवाद का श्रेष्ठ उदाहरण है। 'अनन्त' के "पंछी, जाल और अहेरी" में भी यही विशेषता है।

पत्थर पर पानी की बूँद करे टिप्, टिप्
जल पर करे 'जल, जल'
कानों का दोष या मन ही अयाना
कैसा है पानी का छल !
बिनवर से बदरा का त्यागा कुहासा
जँगले-झरोखे से आए
तुमको भी, मुझको भी, रेशम के परदों को
अपने हिया भर भिगाए।

---

१. 'टूटा हुआ आदमी'—सिद्धनाथकुमार

तन की उदासी औ मन की बिरसता
पानी के सँग सँग धुली। (अनन्त)
झुके मेघमुख, शिखरों, शिखरों
टूटे पहाड़ रिसते चीड़ों
पर इस बन्ध्या से झरने न झरे।
पगवट लिपटीं, हरी द्रौणियाँ
नदियाँ, चाँदी की कमरखियाँ
सबने गति को वरा, किन्तु हम सौ बार मरे।[1]

अन्तिम पंक्ति में कवि किस प्रकार प्रगति विरोधियों पर व्यंग्य करता है, यह द्रष्टव्य है।

वर्गसंघर्ष—सुविधाओं के अद्वितीय चश्मों से मुझे देखने वाले नागरिको !
मुझे ध्यान से देखो !
जेबी झिल्लियाँ सब उतार मुझे, पहचानो
कुबड़े, बूढ़े, कोढ़ी दैत्य सा तुम्हारे
हालों, शेल्फों, ड्राअर या ड्रेसिंग टेबिल में
छिपने वाला प्राणी मैं कौन हूँ
पहचानो मुझे पहचानो
मेरे इस कूबड़ को जरा पास से देखो।
हाँ, यह तुम्हारे ही घृणित घाव की
बूढ़ी गठरी है।
मेरी गिलगिली बाहें, अपने
दास्तानों से परे, अँगुलियों से महसूस करो।
पका और गला और दागीला, यह किसका चेहरा है
ये किसकी अंधकार-जीवी गीजड़प्रसवा आँखें हैं
जोंक और साँप भरे तालाब के सदृश
यह किसका माथा है ?
अपमानित नगरों के सम्मानित नागरिको
मुझको पहचानो ![2]

---

१. **नरेश मेहता—'समवेत'।**

२. **श्रीकान्त वर्मा—समवेत**

विषमताग्रस्त समाज पर नई कविता का कितना कठोर व्यंग्य है। कवि की 'कटुता' की कैसी आकर्षक व्यंजना है। इसमें व्यंजित 'उत्तेजना' वही है जिसका दर्शन हम प्रारम्भिक प्रगतिवाद में कर चुके हैं किन्तु अब उसका रूप अधिक संश्लिष्ट और कलापूर्ण हो गया है।

जीवन के प्रति प्यार—बाँह दे दो मुझे अपनी

जहाँ छोटी लगी पत्ती की तरह हिलगा रहूँ मैं।
और जीवित बाँह में हिलता रहूँ मैं।
हर हवा के हौसलें में, होश में जीवा रहूँ मैं।
धूप-सूरज की गरम से भी गरम पीता रहूँ मैं।
जुगुनुओं की आग, अपने ओठ से छूता रहूँ मैं।
और मछली की तरह छवि सिन्धु में डूबा रहूँ मैं।[1]

केदारनाथ अग्रवाल में छायावादी कवि की सौन्दर्य ग्राहिका शक्ति विद्यमान है किन्तु शैली नवीन है। केदार प्रारम्भिक प्रगतिवाद से अब तक एक दीर्घ अवधि पार कर चुके हैं अतः उनमें वर्ण्यतत्त्व सर्वत्र प्रगतिवादी होने पर भी शैली के विविध रूप हैं, राग के विविध स्वर है और यह प्रशंसनीय प्रवृत्ति है।

प्रगतिवादी काव्य में निराला और नागार्जुन का व्यंग्य प्रसिद्ध है। व्यंग्य काव्य का प्रगतिवादी प्रयोगवाद में और भी अधिक विकास हुआ है। प्रयोगवाद का विवेचन करते समय हम इसे विस्तार से देखेंगे। नागार्जुन का व्यंग्य अनगढ़ अधिक होता है, उसमें प्रायः 'अशिष्टता' भी रहती है, यह प्रायः आरोप किया जाता है किन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं है—

होती बस आँखें ही आँखें।
थकी-पकी तनी घनी भौंहें, नीली नसों वाले ढलके पपोटे।
सयत्न विस्फारित कोए, कोरों जमा हुआ कीचड़
कुछ नहीं होता, कुछ नहीं होता।
होती बस आँखें ही आँखें।
बेतरतीब बालों का जंगल
झुर्रियों भरा कुंचित ललाट

---

१. केदारनाथ अग्रवाल।

खिचड़ी दाड़ी का उजाड़ घोंसला
कुछ नहीं होता, होतीं बस आंखें ही आँखें।

नागार्जुन ने ग्राम श्री का वर्णन भी अच्छा किया है। ग्रामीण जीवन के प्रति कवि की आसक्ति दर्शनीय है—

बहुत दिनों के बाद, अबकी मैंने जी भर देखी
पकी सुनहली फसलों की मुस्कान !
अबकी मैंने जी भर सुन पाया
धान कूटती किशोरियों की कोकिल कंठी तान !
अबकी मैं जी भर छू पाया
अपनी गँवई पगडण्डी की
चन्दनवर्णी धूल !
बहुत दिनों के बाद !

ग्राम श्री के प्रति केदारनाथ अग्रवाल में भी यही दृष्टिकोण मिलता है—

आर पार चौड़े खेतों में, लाखों की अगणित संख्या में
ऊँचा गेहूँ डटा खड़ा है।
ताकत से मुट्ठी बाँधे है, नौकीले भाले ताने है।

ज्वार खड़ी खेतों में ऊँचे लहराती है।
कहती है मेरे यौवन को बढ़ने देना
मेरी इच्छा है जीने की, जीने देना
जी भर मुझको दूध रुपहली पीने देना !

लोकसाहित्य से प्रेरणा—नागार्जुन और केदार की रचनाओं में लोक-काव्य के स्वर प्रायः सुनाई पड़ते हैं। यह वास्तविकता है कि अभी तक लोक-काव्य से जितनी प्रेरणा ग्रहण की जानी चाहिए, उतनी प्रेरणा ग्रहण नहीं की जा सकी है फिर भी छायावाद के बाद लोककाव्य का अध्ययन और लोककाव्य पर आधारित या प्रेरित काव्य पर्याप्त मात्रा में लिखा गया है। कोई महाकवि ही लोककाव्य के मिठास, स्पष्टता, भावुकता और प्रत्यक्षपद्धति को अपनाकर, लोककाव्य की अनगढ़ता को छोड़कर, सूरदास की तरह खड़ीबोली में वास्तविक 'नई कविता' की सृष्टि कर सकता है, अभी तक इस दिशा में अनेक प्रयोग हुए हैं—

उनये उनमे भादरे
बरखा की जल चादरे
फूल दीप से चले कि झुरती पुरवैया सी याद रे
मन कूएं के कोहरे सा रवि डूबे के बाद रे।[1]

अथवा

निमिया की छाँह तले, निदिया न आये।
दूर कहीं चंता के गीत लहराये।
झुर झुर बतास चले पात-पात सिहरें
जैसे पतंग अगिन आसमान विहरें
सुधियों की डोर कहीं दूर कहीं खींचे।
मन मेरा बंस का मौन हुआ जाये।[2]

अथवा

गोरी नवेली के साजन भी आगए
भूरी सी कबरी सी, गऊएँ रम्भाएँ।
सानी चलाने को जैसे बुलाएँ।
नीले चँदौवे में, टूटी सी टिकिया सा
चाँद डगा, जामुनी के नीचे से
बाँसों के पीछे, वाँसों के पीछे।
धरती के मुखड़े पर दूध गिरा।[3]

नेमिचन्द जैन की "मोरा कहीं बोला" जैसी रचनाऐं, तथा त्रिलोचन शांस्त्री का "परदेशी के नाम पत्र" तथा ठाकुर प्रसादसिंह के 'संथाली चित्र'[4] आदि रचनाओं में लोक जीवन के प्रति आसक्ति 'ग्राम्या' की परम्परा में पुनः वेग से बढ़ रही है। घुटन, उमस, निराशा, कुंठा आदि को समाप्त करने का एक मात्र तरीका यह है कि कवि को भारतवर्ष का यह अंश देखना चाहिए जहाँ जीवन में कठोर संघर्ष, मुक्त वायु और अविभाजित, अकृत्रिम चेतना है। जब तक इस ग्रामीण—चेतना का बहुमत है, निराशा

---

१. नामवरसिंह—कविताएँ १९५७।
२. अधीर—वही।
३. अनन्त।
४. १९५७ की रचनाएँ।

के क्षणों में कोई भी नवयुवक उत्साह, सहनशक्ति, मस्ती, जिजीविषा आदि महान मानवीय 'मूल्यों' के अक्षय कोष ग्रामों से प्रेरणा ले सकता है। अवसाद और कुंठा का ज्वार बढ़ने पर कवियों और दार्शनिकों को ग्राम्य-जीवन बिताने को कहा जाय, मैं समझता हूँ कि रुग्ण मानसिक स्थिति वाले कवियों के लिए यह सबसे अच्छा इलाज है। वहाँ वे यह देखेंगे कि मनुष्य में कितनी जीवट है, कितनी कठिनाइयाँ सहते हुए भी आनन्द में मग्न हो जाने की क्षमता है, जीवन के प्रति कितना प्रेम है। कविता में आदमी नकाब उतार कर आता है किन्तु आज जो काव्य में नकाबी चेहरे अधिक दिखाई पड़ रहे हैं, उसका कारण लोक-जीवन से हमारा असम्पृक्त रहना है। प्रगतिवादी कवियों में लोक-जीवन के प्रति झुकाव पहले से ही रहा है, इधर ग्रामीण जीवन को प्रतीकों के रूप में भी चित्रित किया जा रहा है। गीतकारों ने भी लोक-जीवन को अपनाया है अतः यह प्रवृत्ति बढ़ रही है, यहाँ तक कि प्रयोगवादियों ने भी लोक काव्य लिखा है और अच्छा लिखा है। बात यह है कि सौन्दर्य में इतना अधिक आकर्षण होता है कि सौन्दर्य-दर्शन के समय मिथ्या धारणाएँ स्वयं समाप्त हो जाती हैं। लोक-जीवन को मुग्ध होकर देखते समय प्रयोग-वादी भी बदला हुआ दिखाई पड़ता है।

अभी तक लोक जीवन के चुने हुए पक्षों का ही चित्रण हुआ है। खेत, खलिहान, बहू, बेटी की विदा, पनघट, चाँदनी रात, लोकप्रेम, नृत्य, उत्सव कतिपय वृक्ष, पशु, पक्षी, पुष्प आदि और कतिपय प्राकृतिक दृश्य। लोग 'मन के विश्लेषण' पर इधर बहुत बल देते हैं किन्तु 'लोक-जीवन के न जाने कितने पक्ष, अभी अछूते पड़े हैं आप उनका चित्रण करें और साथ-साथ अपने मनको भी समझते चलें किन्तु यदि हमें आपके मन की चोर-फाड़ पसन्द न भी आई तो भी आकर्षक दृश्य-चित्रण के माध्यम से पाठक आपके मन की स्थिति के सिवा वे उन दृश्यों का आनन्द तो लेंगे ही अतः "सत्य बाहर नहीं, भीतर है अतः पिण्ड में देखो" यह प्रवृत्ति अतिवाद तक नहीं पहुँचनी चाहिए। जब जब आंतरिक अनुसंधान काव्य में अधिक बढ़ा है, तब-तब संतुलन लाने के लिए 'लोकजीवन के अनन्त रूपों को सम्मुख लाया गया है। प्रसन्नता का विषय है कि कवि इस ओर प्रवृत्त हो रहे हैं।

उर्दू और प्रगतिवादी काव्य—हमने द्विवेदी युग के अन्तर्गत उर्दू के काव्य पर संक्षिप्त विचार किया है। छायावादी हिन्दी कवि जिस प्रकार पूँजीवाद के अभ्युदय-काल में योरोप के रोमानी कवियों से प्रभावित हुए

उस प्रकार उर्दू के कवि प्रभावित नहीं हुए किन्तु फिर भी उर्दू के दो युद्धों के मध्य के काव्य में मध्ययुगीन चेतना के विरुद्ध उर्दू काव्य में स्पष्ट विद्रोह मिलता है। उर्दू काव्य में नवीन युग हाली, इकबाल और ब्रजनरायण चकबस्त में बोलता है। इसके विरुद्ध पुरानी इश्किया शायरी जो रीतिकाल से सादृश्य रखती है, लखनऊ स्कूल के कतिपय शायरों और दाग स्कूल के शायरों में में दिखाई पड़ती है। यह परम्परा अब तक चल रही है, उसी प्रकार जिस प्रकार हिन्दी में रीति कालीन कवि आज भी हैं।

१९ वीं शताब्दी के अन्त में दाग़ स्कूल का अत्यधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। दाग़ [1] राज्य क्रांन्ति के बाद रामपुरा और हैदराबाद (सन् १८८८ में आगमन) के नबाबों के दरबारों में रौनक बढ़ाते रहे। यहाँ उन्हें पुराने ढंग के कलाम को माँजने में अधिक सुविधा रही और उनके शिष्यों में से अधिकतर इसी "बाज़ारू प्रेम" के गीत गाते रहे। मानसिक, गम्भीर, मर्यादामय प्रेम का इस स्कूल में जैसे स्थान ही नहीं था। नारी का ऐसा असम्मान अन्यत्र कहाँ मिलेगा ?

किन्तु दाग़ के कई शिष्य नूतन युग के गायक भी बने। इक़बाल जोश और सीमाब अकबराबादी ऐसे ही शायरों में थे। सीमाब (१८८०—१९५१ ई०) ने आगरा से "शायर" नामक पत्र प्रकाशित किया और जीवन भर छायावादियों की तरह असाम्प्रदायिक काव्य लिखते रहे। सीमाब स्पष्टत: पवित्र प्रेम के गायक कवि थे। उनकी चेतना छायावाद से मिलती है। व्यक्ति-वाद भी इसमें मिलता है :—

इसी रफ़्तारे आवारा से भटकेगा यहाँ कब तक ?
अमीरे-कारवाँ बन जा, गुबारे-कारवाँ कब तक ?

देशभक्ति द्विवेदी युग और छायावाद युग की विशेषता है। सीमाब देशभक्ति के पैगम्बर थे—

इसको क्या हक़ है कि वह ख़ाके वतन में दफ़्न न हो।
जिसके दिल में अज़मते ख़ाके वतन कुछ भी नहो।

सीमाब काबा और बुतख़ाना (मन्दिर) को परदा और धोका कहा करते थे, वह हिन्दू-मुस्लिम एकता के गीत गाते हैं।

किन्तु सीमाब में छायावादी वेदना नहीं मिलती। वह पुरुषार्थ-प्रिय कवि थे—

---

१. सन् १८३१—१९०५ ई०।

ख़ामोश ऐ असीरे क़फ़स ! यह फ़ुगां, यह शोर ।
तौहीन कर रहा है, निशाने बहार की !

छायावादी 'सर्ववाद' उर्दू काव्य में भी मिलता है। यह 'सर्ववाद' मध्यकालीन सम्प्रदायवाद से मनुष्य को ऊपर उठाता था। इक़बाल में भी यह सर्ववाद खूब मिलता है और सीमाब में भी—

बुत में भी देखता हूँ उसी ख़ुदनुमा को मैं ।
अब सजदा बिरहमन को करूँ या ख़ुदा को मैं । (सीमाब)

मैं हूँ कलामे हिन्द, हिमालय है मेरा तूर ।
है इन्तजारे-दावते-जलबागरी मुझे ।

सीमाब के "शेरे इन्क़िलाब" तथा "आलमे-आशोब" काव्य संग्रहों में जनवादी दृष्टि प्रत्येक पंक्ति में अंकित है। उर्दू का कवि ग़रीबी की तबाही और सरमाएदारी के ख़िलाफ़ लड़ना जानता है। हिन्दी में यह फिज़ा अपेक्षाकृत कोमल रूप में प्रकट हुई है, उर्दू में पूर्ण उग्रता और स्पष्टता के साथ-साथ ही उर्दू की रचनाओं में कला-पक्ष कभी उपेक्षित नहीं हुआ। और उसका कारण यह है कि उर्दू का कवि कहने का ढंग जानता है। जब 'इश्कोमुहब्बत' के पिष्टपेष्टित विषय पर उर्दू कवि कथन के न जाने कितने ढंग अपनाकर चला है, तब नए विषय मिल जाने पर तो वह मुक्त पक्षी की तरह उड़ान भरता है। इसके अलावा उर्दू का कवि चन्द प्रतीकों द्वारा सांकेतिक पद्धति पर अपनी बात कहने की परम्परा में पला है अतः उसकी कथन-पद्धति और भी आकर्षक लगती है। उर्दू की परम्परा भी पुरानी है।

दाग़ की परम्परा में सीमाब, इक़बाल और जोश के अतिरिक्त पुरानी लीक ही पिटती रही परन्तु यह स्मरणीय है कि ग़ज़लगो शायरों ने भी 'ग़रीबी', प्रकृति वर्णन, देशभक्ति आदि अन्य विषयों पर भी बराबर लिखा है। दाग़ के शिष्यों में जोश मलसियानी, नातिक़, साइल, आग़ा, बेख़ुद, नूह, नसीम, अहसान, तैश, फ़ीरोज़ आदि कवियों में केवल दाग़ का ही अनुकरण नहीं है। उनके प्रेम का वर्णन भी नवीन है और "तरज़े अदा" में भी फ़र्क़ है। फिर भी प्रगतिशील काव्य के लिए हाली, इकबाल और चकबाल-परम्परा को ही देखना चाहिए। चकबस्त (१८८२-१९२६) द्विवेदीयुगीन कवि थे। 'हाली' के बाद का क़दम 'चकबस्त' मे दिखाई पड़ता है। किन्तु 'चकबस्त' में द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक प्रवृत्ति नहीं है। वह परिष्कृत शायर हैं—कहने की कला देखिए—

बाग़बाँ ने यह अनोखा सितम ईजाद किया।
आशियाँ फूँक के पानी को बहुत याद किया।
दरे ज़िन्दा पै लिखा है किसी दीवाने ने,
वही आज़ाद है जिसने इसे आबाद किया।

इक़बाल बहक गए किन्तु उर्दू को उस साम्प्रदायिकता के कलंक से बचा कर और पूँजीवादीयुग की प्रारम्भिक चेतना की प्रगतिशील 'लौ' को 'चकबस्त' आगे ले चले।

जोश मलीहावादी (जन्म सन् १८९६ ई०) ने चकबस्त की तरह 'देशभक्ति' की परम्परा को आगे बढ़ाया। जोश वीररस के अवतार हैं—

इन बुज़दिलों के हुस्न पै शैदा किया है क्यों ?
नामर्द कौम में मुझे पैदा किया है क्यों ?
इक हर्फ़गर्म सुनते ही लौ दे उठा दिमाग़
दिकोस्तान में वह शरारत कहाँ है 'जोश'।

दारिद्रय का चित्रण :—खेलने में तिफ्लके गुलफ़ाम था डूबा हुआ।
आई इतने में गली से आमवाले की सज़ा
देखकर माँ भी उदासी हो गई पामाल यास
अँखड़ियों में आम की सुर्ख़ी तख़ैयुल में मिठास।
होंठ काँपे ख़ुद ब ख़ुद औ रह गए फिर काँप के।
दिल में फिर चुभने लगे अगली ज़िदों के तजरुबे।
आह ! ऐ हिन्दोस्ताँ ! ऐ मुफ़लिसों की सरज़मीं
इस क़ुरे पर कोई तेरा पूछने वाला नहीं
ताकुजा यह ख़्वाब ? ऐ हिन्दोस्ताँ आ होश में।
आज भी हैं सैकड़ों अर्जुन तेरे आग़ोश में !

प्रगतिवाद के शत्रु कहते हैं कि सामाजिक विषयों पर श्रेष्ठ काव्य नहीं लिखा जा सकता। हिन्दी में 'अंकाल' (हड़ताल) और "रूस की प्रशंसा" में लिखी हुई रचनाओं को वे इस तथ्य के प्रमाण में पेश करते हैं किन्तु 'जोश' ने सन् ३० में पुलिसद्वारा जनता पर जो लखनऊ में गोली चलाई थी, उस पर तथा गणेशशंकर विद्यार्थी की दंगे में मृत्यु पर अत्यधिक मार्मिक लिखा है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सामयिक और शाश्वत का द्वन्द्व कवियों की अपनी कमजोरी का चिन्ह है।

'किसान' शीर्षक रचना देखिए—

दौड़ती है रात को जिसकी नज़र अफ़लाक पर ।
दिन को जिसकी अँगुलियाँ रहती हैं नब्जे खाक पर ।
खून जिसका दौड़ता है, नब्ज़े इस्तकबाल में ।
लोच भर देता है जो शहजादियों की चाल में ।
सोचता जाता है "किन आँखों से देखा जायगा
बेरिदा बीबी का सर, बच्चों का मुँह उतरा हुआ ।"

सोहनलाल द्विवेदी की 'किसान' कविता से 'जोश' का 'किसान' अधिक करुणा उत्पन्न करता है ।

परम्परा के प्रति विद्रोह—नौजवानो ! यह बड़े बूढ़े न मानेंगे कभी ।
सेहते अफ़कार से खाली है उनकी ज़िन्दगी ।
इनके शानों पर तो ऐसे सर हैं ऐ अहले निगाह ।
जिनका गूदा जल चुका है, जिनके खाने हैं सियाह ।
और वह खाने हैं जिन तक रोशनी जाती नहीं ।

पन्तजी के "द्रुतझरो जगत् के जीर्ण पत्र" की भावना कितने सशक्त ढंग से जोश ने व्यक्त की है !

ईश्वर को चुनौती—मज़ाके बन्दगीये असरे नौ की तुझको क़सम
नये मिज़ाज का परवरदिगार पैदा कर ।
बहार में तो ज़मीं से बहार उगलती है ।
जो मर्द है तो खिज़ाँ से बहार पैदा कर ।

'जोश' वस्तुतः सहानुभूतिवश शोषित वर्ग के प्रति उन्मुख हुए थे परन्तु "अहसान बिन दानिश" (जन्म १९१० ई०) ख़ुद मजदूर रहे हैं । दुर्भाग्यवश हिन्दी में ऐसे 'मजदूर कवि' बहुत कम हैं । यही कारण है कि मध्यवर्ग का कवि दूर से देखकर ग़रीबी का वर्णन करता है अथवा 'फैशन' के लिए वह वर्गसंघर्ष का चित्रण करदेता है और प्रेम के मादक गीतों में वह पूरी ईमानदारी प्रदर्शित करता है । एक अशिक्षित नारी का चित्रण देखिए और "ग्राम्या की युवती" से उसकी तुलना कीजिए--

शर्म से मामूर आँखें, बेकसी की नोहाख्वाँ ।
थरथराते लफ़्ज़, शरमाता बयाँ, रुकती ज़बाँ ।
यह तो हालत और जालिम सुस्तरो नामानिगार ।
लिखते लिखते रोकलेता है कलम को बार बार ।

ताकि चश्मे बद से वोह इस नेकख़ू को देख ले।
दीदये बेआबरू से आबरू को देख ले।

क्रान्ति का स्वर—अहसान पूर्णत: प्रगतिवादी कवि हैं, उनकी क्रान्ति 'प्रचार' नहीं बनती क्योंकि क्रान्ति के लिए वह चीख़ते, चिल्लाते नहीं, उस आदमी की तलाश करते हैं जो क्रान्ति के योग्य हो—

जिनको तूफ़ाने तबाही में नज़र आए चमन।
जिनकी फितरत हो तड़पती बिजलियों पर ख़न्दाजन।
जिनकी ठोकर से रहे पामाल मैदाने अजल।
मकबरे जिनको नज़र आते हों जन्नत के महल।
जिनके क़दमों के तले रुककर चले पत्थर की नब्ज़।

ऐसा लगता है कि बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ऐसी तान सुनाने की पुकार ही करते रहे, जिससे हिलोरें उत्पन्न हों। ऐसी 'ताने' जोश और 'अहसान' के काव्य में मिलती हैं।

एक मरते हुए मज़दूर के मन में क्या क्या भाव उत्पन्न होते हैं, इसे 'अहसान' ही समझते हैं—

मेरे बाद इन ख़रता जानों को परेशानी न हो।
यह न हो यह जाके फैलाएँ कहीं दस्तोसवाल।
यह न हो उतरे हुए चेहरे हों तसवीरेमलाल।
यह न हो ये फूल हमसायों की ढोकर में रहें।
यह न हो ये ज़ालिमों के जौरे बेपायाँ रहें।

नया इन्सान—सागर निज़ामी की सन् १९४४ की एक रचना है, 'संगतराश' का गीत'। इसमें सामंतवादी पूंजीवादी इंसान की जगह एक नए आदमी को मूर्तित करने का प्रयत्न है।

हर एक ज़र्रे के दिल में इक जहन्नुम सा दहकता है।
न जाने ख़ाक को कबसे ख़ुदा बनने का ज़ज़्बा है।
जो आँसू दिल के पर्दे में छिपे हैं, दिल का ग़म बनकर।
जो आँसू मेरे दामन पर गिरे हैं दिल का ग़म बनकर।
मैं उनसे जिन्दगी की इक नई दुनियाँ बसाऊँगा।
नया आदम बनाऊँगा, नई हव्वा बनाऊँगा!

उर्दू की कविता फ़ारसी उपमान-विधान को पीछे छोड़ चुकी है। बारीक बीनी, नज़ाकत, अतिशयोक्ति तथा गुलोबुलबुल के फ़साने अब भारतीय उपमान-विधान को जगह देकर पीछे हट रहे हैं। उसमें सच्चाई को समझाने और उसे स्वाभाविक ढंग से व्यक्त करने की चाह है। भाग्यवाद, उमरख़ैय्याम-वाद और परकीयावाद के स्थान पर इन्सान की इच्छाओं को समझने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। हिन्दू, मुसलमान, काबा-बुतख़ाना, राम और रहीम के भेद ग़ायब हो चुके हैं। पाकिस्तान बन जाने के बाद मज़हब के नाम पर जो ख़ूँरेज़ी हुई, उसका सबब भी शायर समझ चुका है, यह भी सरमायादारों, पुराने अंधविश्वासी पंडितों और मुल्लों की चाल थी—

बुलबुले नादाँ ज़रा रंगे चमन से होशियार
फूल की सूरत बनाये सैकड़ों सैयाद हैं।
आशियाँ वालों की अब गुलशन में गुंजायश नहीं
आज सहनेबाग़ में या सैद [illegible]या सैयाद हैं।[१]
बस एक नूर झलकता हुआ नज़र आया।
फिर उसके बाद न जाने चमन पै क्या गुज़री।[२]

ख़बसे बातिन ख़दापरस्तों से, मंज़रे-आम परअगर लाएँ।
वाक़िया है कि शर्मसारी से, मसजिदों के चिराग बुझ जाएँ।[३]

आज़ादी का वास्तविक स्वरूप—आज का प्रगतिशील कवि आज़ादी के आगमन पर ख़ुश है परन्तु आज़ादी के बाद शासकों की ग़द्दारी पर नाराज़ है। देश के बढ़ते हुए असंतोष को उर्दू का कवि एक तरफ़ रखकर, केवल अपने मन की गहराइयों में उतर कर डूब नहीं मरता, वह हक़ीक़त का सामना करता है किन्तु परिस्थिति का संश्लिष्ट और सांकेतिक चित्रण उसकी विशेषता है—

बहार में जानते थे साक़ी न बाबे-मैख़ाना बन्द होगा
यह क्या ख़बर थी कि मैकसों को, शराब तिश्ना लबी मिलेगी। (ज़ाबिर)
बड़ी उम्मीदे, बहुत थे अरमाँ कि होंगे सैरे-चमन से शादाँ।
बहार आदि तो क्या ख़बर थी कि हमको आशुफ़्तगी मिलेगी! (मुफ़्तू)

---

१. आनंद नरायण।
२. जगन्नाथ आज़ाद।
३. अदम।

शगुफ़्ता बर्गेहाय गुल की तह में नौके-खार है
खिज़ाँ कहेंगे फिर किसे अगर यही बहार है। (जोश)

फ़िज़ायें सोच रही हैं कि इब्ने-आदम ने
ख़िरद गवाँ के, जुनूँ आज़मा के क्या पाया ?
वही शिकस्ते-तमन्ना वही ग़मे-ऐय्याम
निगाहे-ज़ीस्त ने सब कुछ लुटा के क्या पाया ? (साहिर)

तुमने फ़रदौस के बदले में जहन्नुम देकर
कह दिया हमसे 'गुलिस्ताँ मैं बहार आई है" (जाफरी)

काँटे किसी के हक़ में, किसी को गुलो-समर
क्या खूब अहतमाये-गुलिस्ताँ है आजकल ! (जिगर)

क्या गुलिस्ताँ है कि गुंचे तो हैं लबतिश्नओ-सर्द।
ख़ार आसूद-ओ-शादाब नज़र आते हैं— (अख्तर)

बहार आई, जरूर आई, पर अपनी बस्ती से दूर आई।
वहाँ उगाये ज़मीन सब्ज़े, जहाँ कोई दीदावर नहीं है। (शफ़ीक)

यह जश्न, जश्ने-मशर्रत नहीं, तमाशा है ।
नये लबास में निकला है रहज़नी का जुलूस। (साहिर)

उर्दू काव्य में वास्तविक जनभावना को कवित्वपूर्ण पद्धति पर व्यक्त किया है। लक्ष्य करने योग्य तथ्य यह है कि पुराने उपमानों द्वारा नई भावना को कितनी सफाई और लावण्य से व्यक्त किया गया है। हिन्दी के तथा कथित प्रयोगवादी 'माध्यम' के प्रश्न पर उलझे हुएहैं जब कि उर्दू के कवि तथा हिन्दी के अन्य कवियों के सम्मुख कोई उलझन नहीं दिखाई पड़ती। दोस्त और दुश्मन में उन्हें पहचान है। देश के भविष्य का नक़शा उनके सम्मुख स्पष्ट है। मानवमूल्यों की खोज में प्रयोगवादी कवि के हाथ में 'मूल्य' रह जाता है और 'मानव' खो जाता है किन्तु इन उक्त कवियों के काव्य में 'मानव' के मन को समझने का प्रयत्न है अतः 'मूल्य' स्वतः आ जाता है। मानवीय समाज के सुख दुःख को न समझकर अपनी दिमाग़ी बहक को ही वाणी देते रहने का नतीजा यह है कि कविता में प्राण शक्ति समाप्त हो रही है, चमत्कार बढ़ रहा है।

उर्दू-कविता पर आक्षेप यह है कि इसमें इश्किया शायरी ही अधिक है और उसका आदर्श स्थिर होगया है। विशेषकर गज़ल पर यह आक्षेप

होता है किन्तु अस्लियत यह है कि पुराने और प्रसिद्ध उपमानों के माध्यम से नूतन प्रगतिशील भावनाओं को उर्दू कवि इस लहजे में कहता है कि ऊपर से देखने पर वह 'इंश्किया' शायरी दिखाई पड़ती है परन्तु एक क्षण पश्चात् ही इश्किया उपमान और प्रतीक केवल "माध्यम" मात्र रह जाते हैं और कवि का वास्तविक मंतव्य मधुर माध्यमों द्वारा सीधा हृदय पर प्रहार करता है। अतः नवीन से नवीन तथ्य और भाव को व्यक्त करने के लिए उर्दू ने 'माध्यम' के प्रश्न को सुलझा लिया है। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त को विना पढ़े हुए ही, उर्दू कवि प्रवृत्तितः यह मानता है कि काव्य का प्राण व्यंजना है और व्यंजना-व्यापार द्वारा किसी भाव को व्यंजित करना ही श्रेष्ठ काव्यकला है। वह 'अलंकारध्वनि' और 'वस्तुध्वनि' के क्षेत्र में चमत्कार दिखाता है, परन्तु 'भाव' को काव्य का प्राण मानता है। नए उपमानों और नए प्रतीकों का अनुसंधान न कर वह प्रचलित प्रतीकों द्वारा नूतन 'भाव' को प्रकट करता है। यही कारण है कि उर्दू काव्य के सम्मुख जनता और उच्चकोटि के शिक्षित वर्ग के लिए अलग अलग काव्य नहीं दिखाई पड़ता जैसा कि हिन्दी में "विश्व-विद्यालय काव्य (University poetry) तथा प्रचलित काव्य (Popular Poetry) अलग अलग विकसित हो रहा है। 'जिगर', जोश, हफीज, साहिर आदि की वाणी इसीलिए जनसामान्य से लेकर विद्वानों तक—सभी को प्रभावित करती है। अतः इन कवियों के सम्मुख 'साधारणी करण' का प्रश्न नहीं उपस्थित होता। इधर हिन्दी में अज्ञेय और उनके शिष्य विशिष्ट-वर्ग के लिए ही अपने काव्य के साधारणी करण को "साधारणी करण" कह रहे हैं यानी साधारणीकरण की परिभाषा हीबदल दी गई है !

उर्दू कवियों की सफलता का दूसरा कारण यह है कि जनता के मन की बात को पकने की ही वे अधिक कोशिश करते हैं। वे विशिष्ट और विचित्र मानसिक स्थितियों को वर्णिति करने का कार्य 'मनोविज्ञान' पर छोड़कर प्रायः उन्हीं भावनाओं और मानसिक स्थितियों का वर्णन करते हैं जो औरों के मन में भी उत्पन्न होती हों। यह नहीं है कि उर्दू में मानसिक स्थितियों का विस्तार नहीं हुआ है परन्तु उसमें हिन्दी जैसा वैचित्र्य नहीं आपाया। यह प्रसन्नता का विषय है कि हिन्दी का एक पक्ष तथाकथित "प्रयोगवाद" ही इस दोष के लिए दोषी है अन्य गीतकार और कवि वैचित्र्य से बचते हैं। उर्दू में सर्वत्र प्रगतिवादी अथवा "प्रगतिशील प्रयोगवाद" ही मिलता है, तथा कथित जनवाद-विरोधी प्रयोगवाद उर्दू में प्रभावहीन है।' उर्दू' में 'प्रगतिशील लेखक संघ'

आज भी संगठित रूप से काम रहा है जबकि हिन्दी में व्यक्तिगत प्रयत्न ही हो रहा है।

प्रतीक और व्यंजना—गज़ल इश्किया शायरी के कारण बदनाम होचुकी थी, किन्तु इसी पुराने माध्यम को अपना कर उर्दू के समर्थ कवियों ने नूतन जनवादी भावों को व्यक्त किया है और कमाल यह है कि सर्वत्र प्रतीक, आशिक, माशूक गुलिस्ताँ, गुलचीं, मीना, मयख़ाना, साग़िर आदि ही रहते हैं। 'प्रेम' को माध्यम बनाकर जनवाद की प्रतिष्ठा करना उर्दू की अभूतपूर्व उपलब्धि है।

श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय ने 'शेरो सखुन' के पाँचवें भाग में उक्त तथ्य की मनोरंजक व्याख्या की है। जिस बात के लिए कविता यानी नज़्म में कवि को विस्तार से कहना पड़ता है, नाना अलंकार भरने पड़ते हैं, उसी बात को गज़लगो शायर बड़े ही सांकेतिक ढग से, इतने सहज ढंग से कह जाता है कि जहाँ नज़्म आगे चल कर इतिहास की वस्तु बन जाती है, वहाँ 'गज़ल' 'स्थायी महत्त्व' की रचना बन जाती है उसे शताब्दियों तक मानवता गुन-गुनाती रहेगी। अनेक पार्श्वमयी परिस्थिति को एक दो शेरों में उर्दू का कवि इस प्रकार कहेगा कि पूरी परिस्थिति की कल्पना पाठक करता चलता है और जितना ही वह व्यंजित 'वर्ण्यविषय' पर मनन करता है, उतना ही शेर का जौहर खुलता चलता है।

वक्रोक्ति—उर्दू कवियों की सफलता का तीसरा कारण भी उनकी दृष्टि और रचना-प्रक्रिया में ही निहित है। भामह ने एक बड़े महत्त्व की बात यह कही थी कि काव्य में व्यावहारिक भाषा (ग्राम्य) का प्रयोग नहीं होता अर्थात् उसके कथन के ढंग में कुछ विलक्षणता, अवश्य रहती है। काव्य का यह 'मर्म' है। "हम जा रहे हैं", "पुस्तक का मूल्य अधिक है" ये व्यावहारिक प्रयोग हैं, इन्हें काव्य नहीं कहा जा सकता अतः उर्दू का कवि उक्ति की वक्रता पर सर्वत्र ध्यान रखता है। भावरहित वक्रोक्ति चमत्कारवाद में परिणत हो जाती है, परन्तु जहाँ भावशवलित चित्तवृत्ति में कथन की वक्रता का प्रयोग होता है, वहाँ श्रेष्ठ काव्य का जन्म होता है। अतः सार्मायक विषयों पर लिखी हुई हिन्दी, उर्दू की रचनाओं पर अनुसंधान हो तो प्रमाणित होगा कि उर्दू काव्य भी श्रेष्ठ है—

गांधी की मृत्यु पर 'साक़िब' की उक्ति देखिए—

कहने को मुश्ते-पर की असीरी तो थी मगर—
ख़ामोश हो गया है. चमन बोलता हुआ !

लाख चीत्कारात्मक काव्य लिखने पर 'साक़िब' की इन पंक्तियों का 'कमाल' उत्पन्न नहीं हो सकता !

क़ैद में पड़े हुए देश के नेताओं के पास गुप्त समाचार भेजना है, विदेशी-प्रहरी सावधान हैं, कवि कहता है—

किसी का रंज देखूँ यह नहीं होगा अनादिल से।
नज़र सैयाद की झपके तो कुछ कह दूँ अनादिल से।
(साक़िब)

स्वदेश में कष्ट ही कष्ट हैं फिर भी देशभक्त "जिगर" उसे प्यार करते हैं—

काँटों का भी हक़ है आख़िर !
कौन छुड़ाये अपना दामन !

आज के थोथे नव-निर्माण पर लाखों कविताएँ एक तरफ़ और 'असर' की यह शेर एक तरफ़—

यह सोचते ही रहे और बहार ख़त्म हुई
कहाँ चमन में नशेमन बने, कहाँ न बने !

'प्रतीक' पुराने हैं, 'माध्यम' पुराना है, परन्तु आज की स्थिति पर यह शेर कितना युक्तियुक्त लगता है !

हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बहुत लिखा गया है, किन्तु आनन्दनरायण 'मुल्ला' की काव्यकला देखिए—

कभी तेग़े क़लम से भी मिटे हैं तिफ़रके दिल के।
मिटाना है तो पहले रखके साग़र दरमियाँ समझो।

शासन में परिवर्त्तन करने के लिए उत्तेजनात्मक काव्य की कमी नहीं है, परन्तु 'व्यंजना' का उसमें अभाव है। 'अभिधा' में कही हुई बात शीघ्र ही असर खो बैठती है—

निज़ामे मैकदा साक़ी, बदलने की जरूरत है।
हज़ारों हैं सफें जिनमें, न मै आई, न जाम, आया !

इसे आज का "अप्रबुद्ध" परन्तु ग़रीबी और विषमता को पग पग पर महसूस करने वाला प्रत्येक श्रोता समझ लेगा और गुनगुनाता रहेगा।

साम्यवाद—उर्दू का कवि सिद्धान्तों की घोषणा नहीं करता, वह परिस्थिति के मार्मिक अंश को चुनता है—

बुसअते बज़्म जहाँ में हम न मानेंगे कभी।
एक ही साक़ी रहे और एक पैमाना रहे। (मुल्ला)

प्रगतिशील प्रेम—नयी उर्दू कविता में वासना-शोधन को ही प्रेम का आधार बनाया गया है। प्रायः यह प्रश्न उठता है कि 'प्रगतिवाद' का राजनैतिक, राष्ट्रीय या सामाजिक रचनाओं के विषय में तो दृष्टिकोण स्पष्ट है किन्तु 'प्रेम' और 'प्रकृति' के विषय में प्रगतिवाद के सिद्धान्त अस्पष्ट हैं, या अधूरे हैं। बात ऐसी नहीं है। "योरोपियन यथार्थवाद" नामक पुस्तक में 'जार्ज लुकाच' जो प्रसिद्ध यथार्थवादी विचारक हैं, लिखते हैं कि यथार्थवाद मनुष्य के सर्वाङ्गीण जीवन का चित्रण करता है। इसका अर्थ यह है कि प्रेम और प्रकृति भी उसमें शामिल हैं। प्रेमी, प्रेमपात्र की ओर 'प्रकृति' की प्रेरणा से आकर्षित होता है। यह आकर्षण तो प्राकृतिक है किन्तु इस आकर्षण का स्वरूप इस आकर्षण के पश्चात् मिलने के लिए 'प्रयत्न' का स्वरूप, बाधाओं, सफलता, बिफलता आदि प्रेम के अन्य पक्षों का रूप का समाज के द्वारा शासित होता है। यदि कवि इस आकर्षण' का वर्णन नहीं करता तो वह दम्भी होगा किन्तु यदि वह इस आकर्षण को अपनी अंतिम परिणति में 'सामाजिक' नहीं बनाता है तो समाज में 'पशुधर्म बढ़ेगा अतः 'प्रेम' के क्षेत्र में भी 'प्रगतिवाद' इस रूप में दिखाई पड़ सकता है कि कवि 'प्राकृतिक को 'सामाजिक' बना पाता है या नहीं। इसके सिवा 'सामाजिक' की कल्पना 'प्रगतिवाद' के अनुरूप होनी चाहिए क्योंकि वह इतिहास के गंभीर विश्लेषण पर आधारित है। अतः प्रेम के नाना पक्षों के चित्रण में वही कवि युग के साथ चल सकेगा जो यह स्पष्टतः समझता हो कि 'प्रेमसम्बन्ध' अन्य अनेक सामाजिक सम्बन्धों के साथ सम्बद्ध हैं तभी प्रायः 'प्रेम' के क्षेत्र में स्वतंत्रता (स्वेच्छाचार नहीं) की आवाज़ अपने में अन्य सामाजिक सम्बन्धों को बदलने की आवाज को भी साथ ले आती है।

'प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन हमारी रुचि का विस्तार करता है। व्यक्ति को 'सामाजिक' बनाने में प्रकृति-सौन्दर्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इससे हमारी सहानुभूति विस्तृत होती है, फिर प्रकृति के माध्यम से जीवन सत्यों को भी व्यक्त किया जाता है। प्रकृति के बिना मानवीय सत्य और

मानसिक स्थितियों की व्यंजना असम्भव है अतः समाज की वास्तविक स्थिति समझ कर, कवि अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं को प्रकृति की सहायता से व्यक्त करते हैं तो वे अधिक प्रेषणीय बनती हैं और समाज को अभीप्सित रूप देने में इस प्रकार प्रकृति मदद करती है। अतः 'प्रकृति' समाज से भिन्न नहीं हैं। समाज, प्रकृति और प्रेम को किसी भी रचना में अलग अलग नहीं किया जा सकता।

नया इश्क—वोह भी है, इक मुक़ामे-इश्क जहाँ
हर तमन्ना गुनाह होती है। (जिगर)
मजाके इश्क हो कामिल तो सूरते-शबनम
कनारे गुल में रहे और पाकबाज़ रहे। (असर)

समाज 'दम्पति' के प्रेम पर भी आधारित है। इसीलिये 'तलाक' का अधिकार होने पर भी 'तलाक' को विवशता में ही प्रयुक्त करना अन्य-देशों में 'भद्र' समझा जाता है तभी कवियों ने 'एकनिष्ठ' प्रेम की इतनी प्रशंसा की है—क्योंकि 'प्रेमी' में प्रेमी-प्रेमिका के अतिरिक्त एक अन्य पक्ष भी साथ चलता है--संतान। संतान के अतिरिक्त 'प्रेम में स्वेच्छाचार' को एक और चुनौती है—'शारीरिक शक्ति'। समय के साथ 'वासना' की ऊष्मा की समाप्ति होती जाती है। मनुष्य वैज्ञानिक तरीकों से संतान के भय से मुक्त हो सकता है। 'वात्सल्य' की प्राकृतिक भूख को भी सम्भवतः वह भोग के लिए दबा सकता है परन्तु "आयु के अनुरोध" को नहीं दबा सकता। यह सम्भव है कि विज्ञान किसी युग में मनुष्य को 'चिरयुवा' बना दे किन्तु प्रत्येक पदार्थ विनश्य है। विज्ञान मनुष्य को अमर नहीं बना सकता क्योंकि यह तो 'भूत-तत्त्व' की प्रकृति के ही विरुद्ध है। यही कारण है कि 'प्रेम' की 'एकनिष्ठता' अथवा 'वासना' पर अनुशासन' की प्रशंसा होती आयी है। "राम और सीता" के प्रेम की प्रशंसा का यही रहस्य है। अनुचित बंधनों के विरोध का अर्थ स्वेच्छाचार नहीं है। 'प्रेम' का अर्थ ही आत्म संयम है क्योंकि "हरजाई" होना प्रेमी का स्वभाव नहीं होता। हिन्दी में प्रेम की इस उज्जवल रूप की महान परम्परा है। उर्दू बदनाम होगई थी किन्तु प्रगतिवादी युग में कवि अब सावधान हैं। वे शिकवा, शिकायत वग़ैरह को प्रेम के अभाव का सूचक कहते हैं—

नियाज़े इश्क में ख़ामी कोई मालूम होती है।
तुम्हारी बरहमी क्यों बरहमी मालूम होती है।[1]

---

१. राज़ रामपुरी—श्री गोयलीय द्वारा संकलित 'शेरो शायरी' दर्शनीय।

पुराने दार्शनिक 'नश्वरता' के कारण मृत्यु की ओर से जीवन को देखते थे अतः उन्हें जीवन का तारुण्य भी भ्रम प्रतीत होता था। वह मृत्यु को ध्यान में रखकर 'नश्वरभोगों' से बचकर 'तपस्या' पर अधिक बल देते थे। इससे विषम जालों की सृष्टि होती थी। प्रगतिवादी कवि 'मृत्यु' से डर कर जीवन के आकर्षणों की निन्दा नहीं करता। जीवन को सामाजिक रूप में व्यतीत करने पर व्यक्ति का 'अपना' अंश नष्ट नहीं हो जाता, वह उसे मिलता है। अतः एक आदर्श समाज की स्थापना 'आदर्शप्रेम' के लिए अनिवार्य शर्त बन जाती है। राम का प्रेम व्यक्तिगत भी है क्योंकि वह 'सीता' को प्राप्त करना चाहते हैं और सामाजिक भी क्योंकि वह समाज-विरोधी शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करते हैं जिससे नाना सीताओं की रक्षा सम्भव है—

एक आलम को देखता हूँ मैं
यह तेरा ध्यान है मुजस्सिम क्या ? (फ़ानी)

इस तरह प्रेमी को समाज प्रेमिका के ध्यान का मूर्त्त रूप दिखाई पड़ने लगता है !

उर्दू काव्य में 'प्रेम' का पुराना स्वरूप ही बदल गया है।

इंसान—आज उर्दू काव्य का विषय समूची मानवता हैं। 'बिस्मिल सईदी' ने बदलते हुए दृष्टिकोण को स्पष्टतः कहा है—

इलाही दुनियाँ में और कुछ दिन अभी क़यामत न आने पाए।
तेरे बनाए हुए बशर को अभी मैं इन्साँ बना रहा हूँ !

अथवा

ख़ुदा के नाम से करता है इन्साँ बन्दगी अपनी।

ख़ुदा 'भक्तों' के और 'माशूक' मजनू-कवियों के विषय रहते आए थे किन्तु यगाना चंगेज़ी ने साफ़ कहा है कि अब ख़ुदा के लिए सजदा करना मुश्किल है—

बन्दे न होंगे जिनने ख़ुदा हैं ख़ुदाई में।
किस किस ख़ुदा के सामने सजदा करे कोई।[1]

साम्यवाद—

कुछ मेरे बाद और भी आएँगे काफ़िले
काँटे यह रास्ते से हटा लूँ तो चैन लूँ। (तसव्वुर)

---

१. **दुनियाँ के साथ दीन की बेगार अल अमाँ**
इन्सान आदमी न हुआ, जानवर हुआ। —यगाना

मगर वह है ख़ाक के ज़र्रे जो करते ज़रनिगार
ऊँची ऊँची चोटियों पर, नूर बरसाने से क्या (मुल्ला)

यह सितम ? क़ैदे क़फ़स में सैयाद
किसने पूछा था बहार आई है ? (ताजवर)

न दे तू तानये-उफ़्तादगी पाबन्दे-मुश्किल को।
यह उट्ठा तो उठेगा साथ लेकर तेरी महफ़िल को। (अलम)

नाख़ुदा को मैं ख़ुदा उस वक्त भी समझा किया।
जब मुझे खुद नाख़ुदा ने ज़ेरे-तूफाँ कर दिया।
और भी आसान होंगी, राह की दुश्वारियाँ
हर अमीरे-कारवाँ को राहज़न होने भी दे। (अलम)

चाँद तारे गुंचे-ओ गुल, सब यहीं होंगे मगर।
फिर भी करवट लेके दूनिया, क्या से क्या हो जायगी।
अब उस चमन में, बनाऐंगे आशियाँ अपना।
कि आस्मान जहाँ, बिजलियाँ गिरा न सके— (शफीक)

इस प्रकार हमारी उर्दू-कविता युग के साथ है। 'नज़्म' के क्षेत्र में तो वह पूर्णतः क्रांति कर चुकी है। सरदार जाफ़री की "एसिया जाग उठा" जैसी अनेक नज़्में उर्दू में लिखी जा रहीं हैं। 'गज़ल' में प्रयुक्त पुराने उपमानों द्वारा नूतन जनवादी चेतना को व्यक्त करने में उर्दू कविता प्रयोगों के लिए प्रयोगकर्त्ताओं को आज भी शिक्षा दे सकती है।

यह एक संयोग की बात नहीं है कि प्रेमचन्द पहले उर्दू के लेखक थे और बाद में वह हिन्दी में अवतरित हुए। असलियत यह है कि मुसलमानों को ग़रीबी की तलख़ी, हिन्दू मध्यवर्ग की तुलना में अधिक उठानी पड़ी है अतः वर्गसंघर्ष की ध्वनि आज भी उर्दू में अधिक तीव्र है और यह प्रसन्नता का विषय है कि उर्दू में जनवाद की अभिव्यक्ति में 'कला' का सदा ध्यान रखा गया है। हिन्दी में जिस तरह कविसम्मेलनों की कविता 'हलकी' और पाठ्य-काव्य की कविता अधिक गंभीर और कलापूर्ण मानी जाती है उस तरह उर्दू में नहीं हुआ। उर्दू के बड़े कवि मुशायरों के भी कवि हैं और 'अदब' के उच्च मयार क़ायम करने वालों में भी उन्हीं की गणना होती है। उर्दू में गुरु-शिष्य परम्परा के परम्परागत रूप ने शायरी की शिक्षा के लिए हिन्दी से कहीं अधिक अच्छा वातावरण बना रखा है। हिन्दी में हर कवि उस्ताद है और उसका अनुगमन करने वाला कोई नहीं है क्योंकि किसी की बात मानना

यहाँ मौलिकता का अभाव माना जाता है। इससे एक लाभ भी है कि काव्य के विविध रूप, विविध शैलियां और विविध उपमान विधान विकसित हुए हैं परन्तु हानि भी कम नहीं हुई है। जिसे शिक्षा और सुझाव की ज़रूरत है, वह भी सीखना नहीं चाहता फलतः कविता के नाम पर अनाप शनाप कूड़ा-करकट एकत्र हो रहा है अतः उर्दू की 'गुरु शिष्य परम्परा' का उपयोग हमें करना चाहिए हिन्दी में गुरु-शिष्य परम्परा के स्थान पर परस्पर प्रशंसकों के गुट अधिक हैं जो अपनी कविता के मूल्यांकन के लिए तरह तरह के षड़यन्त्र और उलझनें खड़ी करते हैं। परम्परावादियों में यह कमी कम मिलती है किन्तु प्रयोगवादियों में यह रोग से अधिक है और गीतकारों में भी यह ज्वर बुरी तरह बढ़ रहा है। अतः उर्दू काव्य की परम्पराओं से प्रेरणा लेकर हमें उसका सदुपयोग करना चाहिए। किन्तु नक़ल करना ग़लत होगा। दोनों शैलियों का स्वरूप अब भिन्न हो गया है, दोनों का अपना-अपना आकर्षण है अतः उर्दू की नक़ल करने की प्रवृत्ति जो कतिपय गीतकारों में दिखाई पड़ रही है, वह बुरी बात है।

समग्रतः नवीन उर्दू काव्य में प्रगतिवादी प्रवृत्ति प्रबल है। प्रगति-विरोधियों के लिए यह शायद अफ़सोस का विषय होगा !

ब्रजभाषा में प्रगतिशील चेतना—हम भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग में देख चुके हैं कि किस प्रकार ब्रजभाषा के आधुनिक काव्य में नूतन जागरण आया और विकसित हुआ। खड़ी बोली में यदि श्रीधर पाठक ने 'ऊजड़ग्राम' लिखा तो प्रेमधन ने ब्रजभाषा में ग्रामीण जीवन का यथावत् चित्रण किया और चूंकि ब्रजभाषा परिष्कृत और समर्थ भाषा थी अतः 'प्रेमधन' के ग्राम-चित्रण में अधिक काव्य-कला और सरसता मिलती है। द्विवेदीयुग में ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली काव्यभाषा स्वीकृत हुई किन्तु बाबू बालमुकुन्दगुप्त नाथूराम शंकर शर्मा, श्रीधर पाठक' जगन्नाथदास रत्नाकर, लाला भगवानदीन, पूर्ण जी, कन्हैयालाल पोद्दार, वचनेशजी, कृष्ण कवि, कविरत्न सत्यनारायण, डा० श्यामशंकर शुक्ल रसाल आदि कवियों ने ब्रजभाषा का अंचल नहीं छोड़ा हिन्दी काव्य के लिए उक्त कवियों की सेवा अत्यधिक महत्वपूर्ण है अन्यथा ब्रजकाव्य-परम्परा का लोप ही हो जाता।

आधुनिक युग में ब्रजभाषा काव्य की विशिष्ट प्रवृत्ति यह है कि उसमें पुरानी काव्य परम्परा की रक्षा का विशेष प्रयत्न किया गया है ! एक प्रेममयी संस्कृति का अस्तित्व पृष्ठभूमि में रहने के कारण ब्रजभाषा में

आज भी प्रेम के देवता राधा-कृष्ण से सम्बन्धित काव्य लिखा जा रहा है। विश्व-युद्ध के इस आशंका-काल में ब्रज का स्नेहशवलित काव्य मानवीय सम्बन्धों को 'प्रेम' पर आधारित करने के लिए जैसे आज भी प्रेरित कर रहा हो। जितनी ममता और अकृत्रिमता ब्रज-बोली में लिख गए काव्य में मिलती है वह आज भी खड़ी बोली में अलभ्य है। इधर मानव मूल्यों की बहुत पुकार मच रही है परन्तु सबसे बड़ा मानव मूल्य "प्रेम" है, इस तथ्य की व्यंजना बिना किसी दम्भ के, आज भी ब्रजकाव्य में मिलती है।

सिद्धान्तों की घोषणा को तो ब्रजभाषा उद्धव को पराजित कर देने के पश्चात् ही छोड़ चुकी थी। आज के बढ़ते हुए बौद्धिक-अभियान के विरुद्ध केवल कामायनीकार ने ही नहीं लिखा अपितु 'रत्नाकर' अनजान में ही उद्धवशतक में लिख गए और 'उद्धवशतक' की परम्परा आज भी चल रही है। अमृतलाल चतुर्वेदी ने भी ऐसा ही 'शतक' लिखा है जिसमें तर्क वितर्क के स्थान पर प्रेम और ममता द्वारा मानवता को एक सूत्रित करने का सकेत है।

ब्रजभाषा में 'छायावाद' नहीं चला, इसका कारण यह था कि ब्रजभाषा में रोमानी भावना कृष्ण के प्रेम सम्बन्धों की व्यंजना मे प्रारम्भ से ही मिलती रही थी जो सामाजिक जड़ता के विरुद्ध एक प्रकार का विरोध-प्रदर्शन था। रीतिकाल में इस स्वच्छ रोमानी भावना का पतन हुआ किन्तु इसे आधुनिक युग में रत्नाकर ने पुनरुज्जीवित किया। रत्नाकर और हरिऔध की ब्रजभाषा में 'सर्ववाद' परम्परा से ही मिला हुआ था अतः छायावाद में प्रकृति के भीतर चेतन सत्ता के आभास में कोई नवीनता प्रतीत नहीं हुई। रही बात 'मानवतावाद' की, सो प्रेममार्ग में "सम्प्रदाय' का आग्रह आधुनिक-युग में रह नहीं गया था। अतः नए युग में नायिकाओं का नवीन संस्करण प्रस्तुत किया गया जिनमें देश सेविका, जातिप्रेमिका, 'जैसी आधुनिक युग के अनुकूल नायिकाएँ थीं अतः हरिऔध का 'रसकलस' का ब्रजभाषा में वही महत्त्व है जो 'पल्लव' की भूमिका का। छायावादियों की नूतन शैली का प्रभाव भी ब्रजभाषा पर पड़ा। रत्नाकर उद्धव-शतक में यह प्रभाव यत्र तत्र देखा जा सकता है। फिर भी समग्रतः ब्रजभाषा ने काव्य की परखी हुई शैली को ही अपनाया, उनका ध्यान 'नए प्रयोगों पर कम किन्तु काव्य की मार्मिकता पर अधिक रहा।

इसके सिवा 'प्रकृति-वर्णन' के क्षेत्र में ब्रजभाषा में द्रुतगति से उन्नति हुई। श्रीधर पाठक का 'काश्मीर सुषमा' ब्रजभाषा में है और यदि उसे उन्होंने खड़ी बोली में लिखा होता तो यह सफलता हरिगज़ न मिलती। 'प्रसाद' जी

ने सर्वप्रथम 'छायावादी चेतना का प्रवेश ब्रजभाषा में ही किया। 'चित्राधार' की रचनाएँ प्रमाण हैं। कामायनी में जिस शैवागम दर्शन के आधार पर विश्व व्यापी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया, वह शैवदृष्टि चित्राधार की रचनाओं में मिलती है फिर भी प्रकृति-वर्णन के क्षेत्र में छायावादियों के सम्मुख ब्रजभाषा काव्य पिछड़ता प्रतीत होता है। कविरत्न सत्यनरायण के काव्य में आंचलिक स्पर्श अधिक रहा जिसका तब महत्व आंका नहीं जा सका। इधर आंचलिकता का महत्व बढ़ा है अतः सत्यनरायण जी की "धोए धोए पातन की अनुपम कमनाई" का महत्त्व भी बढ़ चला है।

फिर भी खड़ी बोली बँगला और अँगरेजी के अध्ययन से जिस नवीन दृष्टिकोण को व्यंजित कर रही थीं, बड़े-बड़े प्रश्नों पर विचार कर रही थी, हृदय की नाना गूढ़ स्थितियों की व्यंजना कर रही थी, कल्पना के बल पर एक नए युग का नक्शा खींच रही थी और मानवीय सत्यों का अनुसंधान कर रही थी, यह ब्रजभाषा में नहीं हो सका। ब्रजभाषा को 'प्रसाद' जैसा चिंतक, पन्त जैसा ललित कल्पनावान् और शब्दशिल्पी, निराला जैसा कलाकार और महादेवी जैसी साधिका नहीं मिली। 'रत्नाकर' और 'कविरत्न' इन छायावादी महाकवियों के समकक्ष नहीं प्रतीत होते क्योंकि ब्रजभाषा में नूतन चिंतन की बारीकियों, नूतन मानसिक स्थितियों और नवीन प्रयोगों के प्रति बहुत उत्साह नहीं रहा। 'रत्नाकर' 'कविरत्न', सनेही जी जैसे कवि प्रबुद्ध चिन्तक नहीं थे अतः नवशिक्षित समाज का तादात्म्य ब्रजभाषा से न हो सका। फिर भी यही समाज ब्रजभाषा के काव्य को मधुरता और ममता के लिए पढ़ता रहा और आज भी 'कामायनी' के साथ वह 'उद्धवशतक' का आनन्द ले रहा है। 'रत्नाकार' के बाद ब्रजभाषा में एक नए युग का सूत्रपात हुआ जिसे हम प्रगतिशील चेतना-युग कह सकते हैं।

ब्रजभाषा के नवीनतम काव्य में कवियों की राजनैतिक चेतना के अत्यधिक जागरूक होने पर भी 'युगप्रभाव' के परिणाम स्वरूप प्रगतिशीलता के दर्शन अवश्य होते हैं। यह प्रगतिशीलता अध्ययन का परिणाम नहीं है। कवियों में युग को सूँघने की शक्ति बड़ी तीव्र होती है। जो परम्परा से लिपटे हुए हैं उनमें यह शक्ति नहीं मिलती परन्तु सामान्यतः सभी कवियों में इधर यह शक्ति द्रुतगति से विकसित हुई है अतः जिस प्रकार पराधीनता के युग में ब्रजभाषा का कवि परम्परा की रक्षा के साथ-साथ तात्कालिक समस्याओं पर भी लिखता था, उसी प्रकार आज का कवि राधा-कृष्ण के प्रेम के कवित्त और सवैया लिख कर भी सामयिक विषयों पर भी लिख रहा है। काव्य के

'प्रगतिशील पक्ष पर लिखने वालों ने अबतक इस तथ्य की बराबर उपेक्षा की है। पददलित जनता के प्रति सहानुभूति खड़ी बोली में अध्ययन-प्रसूत सी प्रतीत होती है किन्तु ब्रजभाषा में दलितों के प्रति अपार करुणा जैसे कवियों को निसर्गतः मिली है ! इसी प्रकार खड़ी बोली में नवनिर्माण पर बार-बार प्रेरित करने पर भी कम लिखा गया है जबकि ब्रजभाषा में ऐसी रचनाएँ असंख्य हैं। 'सत्यनारायण' कविरत्न ने छायावाद युग में भारत की दुरावस्था का जैसा मार्मिक चित्रण 'भ्रमरगीत' में किया था, वीर रस के जैसे फड़कते हुए दोहे वियोगी हरि ने 'वीरसतसई' में लिखे थे, वे पाठकों को अब भी प्रभावित करते हैं। यदि खड़ीबोली में उपेक्षिता नारियों पर 'साकेत' और 'यशोधरा' में लिख गया है तो ब्रजभाषा में बालकृष्ण शर्मा नवीन ने 'उर्मिला' के विरह पर अनेक पद्य लिखे हैं।

नूतन काव्य विषय—ब्रजभाषा में इधर नूतनविषयों पर बहुत लिखा गया है। जगनसिंह सेंगर का कृषक-जीवन के प्रति प्रगतिशील दृष्टिकोण द्रष्टव्य है—

नीचे स्यामल-निरबला, ऊपर-नभ-नीलाभ।
परदुखकातर, तपनिरत, जयतु हली अमिताभ।
बिस्वम्भरा, बसुंधरा, रसा, उरबरा, भूमि।
बनति बिनीत किसान के, बार-बार पद चूमि।

उल्फतसिंह 'निर्भय' ने भी कृषक-जीवन को ही अपनी वाणी का विषय चुना है—

वह हर जगदाधार है, यह हर जगदाधार।
वहै अलख यह नित लखौ, जग कौ पालनहार।

'रामलला' ने नव-निर्माण पर अनेकों छन्द लिखे हैं। यद्यपि वह पुरानी शैली के कवि हैं परन्तु आधुनिक युग की आशा-आकांक्षाओं को वह अपनी तीव्रघ्राण-शक्ति से सूँघने में पटु हैं। 'ललितेश' ने आधुनिक विषयों पर लिखते समय नूतनकला का भी ध्यान रखा है। सैयांजी, चच्चन, गोपालदत्त, 'शेष', सुमनेष, कृष्णा, बरसाने लाल चतुर्वेदी, रामनारायण अग्रवाल आदि के काव्य में आधुनिक विषयों पर अनेक रचनाएँ मिलती हैं। मदनमोहन गोस्वामी ने पुरानी शैली में 'राष्ट्र' पर एक सतसई ही लिखडाली है। श्री हृषीकेष चतुर्वेदी की 'लालालीला' प्रसिद्ध है, यद्यपि वे पुरानी शैली नहीं छोड़ना चाहते

परन्तु नए विषय पुरानी शैली में भी सफलता के साथ व्यक्त कर सकते हैं। शत्रुघ्न दुबे ने ब्रजभाषा में नए ढंग के गीतों में नए विषयों को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। ब्रजभाषा में गीतों और मुक्तछन्द में काव्य के प्रचलन की बहुत अधिक आवश्यकता है। इन पंक्तियों के लेखक ने 'गांधी शतक' ब्रजभाषा में लिखा है। किन्तु मैंने यह अनुभव किया है कि नूतन भावों और विशेषकर नूतन विचारों के लिए जिस शब्दावली की आवश्यकता पड़ती है, उसका प्रयोग वस्तुतः पुराने छन्दों में फबता नहीं है।[1] रोला छन्द में अवश्य कुछ भी लिखा

---

१. मैंने ब्रजभाषा को गीतों में बाँधने का प्रयत्न किया है, जिनमें नूतन-भावनाएँ हैं—

धरती के सूखे अधरन में जो कहूँ
प्यास न होती तो पावस आतो नहीं।
तुम सजना हौ प्यारे हृयाँ हर सांस के।
बरसौ बरसौ बादर, सावन मास के।
राखी के हैं तार तिहारे हाथ में।
बीर ? सदा अइयो हमरी बरसात में।
प्रान न बँध जाते पहले जो नेह में।
मीत ! जनम भर कौं कर बँध पातो नहीं।

अथवा

तिनकनु सौं बंकुंठ बिहंगन कौ बन्यौं
तुमहूँ रच्यो कछु, दिन हैं नव-निर्मान के।
कहा कमी जिनकें दुय दुय दृढ़ हाथ हैं।
जुगति बतैबे कौं मति औ मन साथ है।
सोने की माटी है हमरे देस की
हीरन से दिन हैं, नीलम सी रात है।
श्रम हरिबे को हायाँ मोरन कौ नाच है—
साज सजे पपिहा कोयल के गान के।

अथवा

छवि चुराइ आए नभ में घनश्याम तुम—
नहिं जानत ब्रज कौं तुम्हारी पहचान है।
कहाँ कन्हैया नैननु कौ तारो हुतो,
कहाँ ब्रजपाती बदरा कौ बान है।

जा सकता है परन्तु वह 'मुक्तककाव्य' के अनुकूल नहीं पड़ता। पन्त जी के पल्लव में जिस तरह 'रोला' को तोड़कर काम में लाया गया हैं, उस तरह इसका प्रयोग हो सकता है। 'गीत' तो ब्रजभाषा में सफलता से लिखे जा सकते हैं क्योंकि जैसी लचक इस भाषा में है, वह खड़ी बोली में कभी आ नहीं सकती। मुक्तछन्द के लिए भी ब्रजभाषा उपयुक्त है वशर्ते कि 'लय' या 'प्रवाह' का ध्यान रखा जाय। इसके सिवा नए प्रयोगों के लिए कवित्तों की पंक्तियों को आवश्यकतानुसार घटा बढ़ा कर नए छन्द बनाए जा सकते हैं यथा—

जाग उठे बैलिन के कंठ बँधे नूपुर हू-
बजत सँगीत जन-जन के हुलास में; न देख्यो तुम !
कहुँ-कहुँ आरसी मजूर से नखत—दीखैं
फाँवरे की धार सो मयंक है आकास में; न हेरयो तुम ?
श्रम तपे पूतन की भाल सी उदित उषा
नींद सी गिरत ओस बूँद-बूँद प्यास में; सिदौसैं उठि देखियो।
कूजन किसान लागे गूँजन गरीब लागे
लागे कवि रीझन विकास के उजास में।[1]

कठिनाई यह है कि ब्रजभाषा में इधर के काव्य के प्रतिनिधि संकलन प्राप्त नहीं हैं अतः अनेक कवियों के मुख से नूतन प्रगतिशील चेतना से युक्त काव्य सुनने का सौभाग्य मिलने पर भी मैं यहाँ अधिक उदाहरण प्रस्तुत करने में असमर्थ हूँ किन्तु यह कार्य कोई और करेगा। यहाँ आवश्यकता इस तथ्य पर बल देने की ही है कि सम्पूर्ण उत्तर भारत में ब्रजभाषा के अनेक सुकवि विद्यमान हैं और वे प्रयत्न कर रहे हैं। प्रगतिवादी चेतना जनपदीय आंदोलन को बल देती रही है अतः हिन्दी काव्य का विश्लेषण ब्रज, अवधी, मैथली, भोजपुरी आदि जनपदीय भाषाओं के काव्य के विश्लेषण के बिना अधूरा रहेगा। यदि काव्य समाज का दर्पण है तो यह प्रवृत्ति आंचलिक काव्य में खड़ी बोल से कम नहीं है, यह निःसंकोच कहा जा सकता है। खड़ी बोली को अँगरेजी का स्थान देकर हम जनपदीयभाषाओं की उपेक्षा करते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार अँगरेजी के प्रभाव से कभी हम पहले खड़ी बोली की उपेक्षा करते थे। खड़ी बोली का साम्राज्यवाद चाहे अन्य भाषाओं पर न हो परन्तु अपनी बहिनों के ऊपर खड़ी बोली के कवियों का साम्राज्यवाद अवश्य बढ़ रहा है।

---

१. वि० ना० उपाध्याय।

सच्ची जनवादी दृष्टि यह नहीं है। कोटि कोटि जनता की भाषा, ब्रजभाषा अवधी आदि में काव्य की सृष्टि के विना 'जनक्रान्ति', जनशिक्षा, जनरुचि-विकास आदि कार्य असम्भव हैं क्योंकि कामायनी, "नयी कविता" और "राम की शक्ति पूजा" की भाषा को जनता न समझती है और न अभी पीढ़ियों तक समझ ही पाएगी क्योंकि नई पीढ़ी के सभी बालकों को अनिवार्य शिक्षा के अन्तर्गत नहीं लाया गया है, अतः नयी पीढ़ी "खड़ी बोली की पीढ़ी" नहीं होगी। केवल २० या ३० प्रतिशत खड़ी बोली भाषी शिक्षित जन वास्तविक जनता में एक अशमात्र हैं, केवल उनकी बोली का काव्य ही काव्य नहीं कहा जा सकता और न हिन्दी के इतिहास पर 'अल्पमत' का एकाधिकार रह सकेगा। इस सम्बन्ध में भाई शिवदानसिंह के मत से हम पूर्णतः सहमत हैं—

खड़ी बोली में लिखे गए प्रत्येक इश्तिहार, दस्तावेज़ या आज्ञापत्र तक का वे (लेखक) संग्रह कर डालते हैं·····लेकिन इस विशाल भू-भाग की अन्य भाषाओं और बोलियों में होने वाले साहित्यिक प्रयत्नों की वे नितान्त उपेक्षा कर जाते हैं·····इस विडम्बना का यहीं अन्त नहीं है। वे एक स्वेच्छाचारी तर्क-पद्धति से अथवा कहें अपने उच्छृंखलतासमात्र से ब्रजभाषा को सामंती दृष्टिकोण की प्रतिनिधि ठहराकर साहित्य रचना के लिए वर्जनीय घोषित-कर देते हैं और खड़ी बोली को, जिसमें सिद्धकाव्य, सन्तकाव्य, वीरकाव्य, भक्तिकाव्य या रीतिकाव्य आदि की कैसी भी प्राचीन परम्परा का नितान्त अभाव था और जिसमें अट्ठारवीं शताब्दी के अन्त तक या कहें उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक साहित्यिक दृष्टि से उल्लेखनीय, गद्य या पद्य की कोई मौलिक रचना नहीं मिलती, उसे आधुनिक चेतना की वाहक होने की एकान्त सामर्थ्य रखने वाली भाषा मान लेते हैं—इतिहास लेखन की यह परम्परा अनैतिहासिक और स्वेच्छाचारी है।"[1]

पिछड़ापन किसी भाषा में नहीं होता, इसके बोलने वालों में हो सकता है। ब्रजभाषा में रत्नाकर के बाद नाथूराम माहौर, फलक, रसाल, ब्रजनन्दन, 'नवीन', अम्बिकेश, जगनसिंह सेंगर, रामलला, व्याकुल, ललितेश, निर्भय, प्रेम, अनूप शर्मा, लाल, हितैषी, प्रणयेश, मुकंद, रामनाथ ज्योतिषी, सरस, ईश, राजेशदयालु, सेवकेन्द्र, गोविन्द चतुर्वेदी, गोविन्दशर्मा, द्विजेश, अलि, आदि अनेक सुकविहैं और इनमें से बहुतों ने प्रकृति, देशदशा, सामाजिक-संघर्ष, कृषक, मज़दूर,

---

१. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, प्रस्तावना।

ही नहीं, आजादी के बाद की स्थिति पर भी मार्मिक कविताएँ लिखी हैं। 'काका' का हास्यरस आज भी बेजोड़ दिखाई पड़ता है किन्तु कठिनाई यह है कि हम प्रगतिशील चेतना को केवल खड़ीबोली के कतिमय कवियों तक ही सीमित रखना चाहते हैं। 'जननाट्यसंघ' के एक प्रदर्शन के समय एक तथाकथित प्रगतिवादी अभिनेता ने प्रगतिवादी कवियों और लेखकों के नाम गिनाए तो उन्हें केवल वही नाम मिले जिनका साम्यवादी दल से सीधा सम्बन्ध था फलतः जनता क्रुद्ध हुई कि ये लोग केवल अपने दल का ही सर्वत्र प्रचार करते हैं। यही भावना प्रारम्भ में आलोचना में रही अतः प्रगतिवादी कवियों में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शील, सुमन जैसे दो चार कवियों का नाम ही लिया जाता था। इनमें सुमन शिवमंगलसिंह अब बहके हुए माने जाते हैं अतः तीन ही रह गए। इनमें 'शील' को 'प्रचारक' कवि माना जाता है अतः दो ही रह गए। इनमें भी नागार्जुन को कवि रूप में अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता अतः केवल 'केदार' ही रह गए। और चूँकि 'केदार' कभी कभी नई शैली आजमाने लगते हैं अतः उन्हें भी शंका की दृष्टि से देखा जाता है अतः इस तरह से 'प्रगतिवाद' मरा सा दिखाई पड़ेगा परन्तु हिन्दी में आज समग्रतः प्रगतिशील चेतना से युक्त कवि ही अधिक हैं। उर्दू और ब्रजभाषा में यह प्रवृत्ति और भी प्रबल है। ब्रजभाषा में प्रतिक्रियावाद का अस्तित्त्व ही नहीं है अतः इस दृष्टि से हिन्दी में सशक्ततम काव्यधारा प्रगतिवादी ही है, क्योंकि अधिकतर कवि विषमता, जातिवाद, सम्प्रदायवाद, कलावाद, अनुत्तरदायित्ववाद, युद्धवाद, अमेरिकावाद, कुंठावाद, आदि समाज-विरोधी तत्त्वों के विरुद्ध संघर्ष कर रहें हैं। केवल चन्द नवयुवक कवि प्रयोगवाद के माध्यम से प्रतिक्रियावाद का प्रचार कर रहे हैं। इसका सबसे उग्रविरोध उन्होंने किया है जो "विशुद्धतः" प्रगतिवादी नही हैं अतः हमें उर्दू और ब्रजभाषा काव्य के विषय में अपनी धारणा बदलनी होगी।

मूल्यांकन—उपर्युक्त विवेचन से 'प्रगतिवाद का रूप स्पष्ट हुआ होगा। प्रगतिवादी काव्य 'प्रचार है, कम्यूनिस्टपार्टी की दस्तावेजों का पद्यवद्ध रूप है, इस प्रकार के आरोप उक्त विवेचन को पढ़कर स्वयं मिथ्या प्रमाणित होते हैं। परम्परावादियों का मत है कि हिन्दी में 'प्रगतिवाद साहित्यक आन्दोलन नहीं था," प्रयोगवादियों का आरोप है कि प्रगतिवाद में 'प्रचार' मात्र है। अंशतः यह आरोप सही है कि प्रारम्भिक प्रगतिवाद में 'प्रचार' का स्वर प्रबल था। किन्तु प्रचार-युग में भी 'ग्रम्या' के चित्रण और निराला और नागार्जुन के व्यंग्यों को प्रचार नहीं कहा जा सकता। और इधर के प्रगतिवादी काव्य में

नई, पुरानी दोनों शैलियों को आजमाया गया है अत: इधर 'प्रचारवाद' का आरोप करने वालों ने अपने शब्द स्वयं वापस ले लिए हैं !

प्रगतिवादी काव्य 'लक्षणा' के स्थान पर 'अभिधा' और अलंकृत काव्य के स्थान पर 'स्वाभावोक्ति' को अपना कर चला। 'कल्पना' के अतिरेक के स्थान पर उसमें भावोच्छ्वास अधिक था अत: छायावाद के शृंगार रस के स्थान पर प्रगतिवाद में 'शोक, क्रोध, उत्साह आदि की व्यंजना' अधिक हुई। जब काव्य अत्यधिक अलंकृत, कल्पनाशील और संगीतमय हो जाता है तो उसके वाद यथावस्तुवर्णन, प्रत्यक्षकथनात्मक और उग्र भावों की व्यंजना से पूर्ण सरल अभिधावादी काव्य भी प्रियलगता है। गीतगोविन्द' और विद्यापति के बाद कबीरा का "खरी आलोचना" से युक्त काव्य किसे प्रिय नहीं लगता। संस्कृत में 'अन्यापदेसपरक' या 'अन्योक्तिपरक' काव्य की एक परम्परा थी जिसमें जीवन की आलोचना रहती थी। मनुष्य की महत्ता, उदारता, दुर्बलता नीचता आदि का वर्णन इस प्रकार के काव्य में किया जाता था। वी० राघवन ने ठीक ही लिखा है कि इस काव्य का अपना विशेष महत्त्व था—If poetry is a Criticism of life, An Tyapdesh is poetry above all other types in it, the poet paints out the flaws and failings of men, praises noblity, bitingly remarks obout men's meanness and makes fun of and satirises every aspect of human character.[1]

संस्कृत का इस 'प्रकार का काव्य सामान्य मानव-जीवन से सम्बन्धित है किन्तु प्रगतिवादी काव्य में शोषक-वर्गों की अनुदारता, नीचता, लोभवृत्ति आदि पर अधिक कहा गया है। निराला, नागार्जुन, केदार, रामविलास शर्मा रांगेयराघव, सुमन, शील आदि के काव्य का यह पक्ष हिन्दी में एक नवीन प्रकार के काव्य को जन्म देता है। यदि व्यंजना काव्य का प्राण है तो वह कुकुरमुत्ता में कम नहीं है। अत: प्रगतिवाद का 'कला' की दृष्टि से प्रथम योगदान आलोचनात्मक काव्य की सृष्टि है जिसमें व्यंजना को माध्यम बनाया गया है।

दूसरे प्रकार का काव्य शुद्ध 'रसवादी' काव्य है। छायावाद के बाद उग्ररसों का वर्णन प्रगतिवाद में हुआ। प्रगतिवादी विचारक 'रस' सिद्धान्त

---

1. Some Aspects of Alankar Sastra, Page 82.

का संशोधन चाहे प्रारम्भ से ही पेश करते रहे हों तथापि उनके काव्य में 'रस' पूर्णतः मिलता है। प्रगतिवादी काव्य में नवयुग-अवतरण के लिए 'उत्साह' की व्यंजना भी इस आंदोलन की विशेषता है। हिन्दी में वीर-रौद्र रस की परम्परा 'छायावाद' में "कुल मिलाकर" कमज़ोर हुई, यह एक तथ्य है अतः इस वीर परम्परा का पुनरुद्धार प्रगतिवादी कवियों द्वारा ही हुआ। यहाँ तक कि शोषित वर्गों के चित्रण में 'ग्लानि' की व्यंजना भी प्रगतिवादी काव्य की एक उपलब्धि ही कही जाएगी। पहले युद्ध में रक्त, चर्बी आदि का वर्णन होता था, और पुराने सहृदयों का उससे पूर्ण तादात्म्य होता था। प्रगतिवाद ने कृषकों मज़दूरों आदि के जीवन की तस्वीरें पूरी यथार्थता के साथ पेश कीं अतः यदि इन रचनाओं में 'बीभत्स' रस नहीं माना जाएगा तो यह पुराने शास्त्रकार का दोष नहीं, आज के उस 'सहृदय' का दोष है जो केवल सदैव वर्ण्य-विषयों की पुनरावृत्ति चाहता है। बहरहाल, क्रोध, उत्साह, घृणा, ग्लानि, हास यदि मानवीय भावनाएँ हैं तो इनके वर्णन से प्रगतिवाद सफल हुआ है। रसवादी काव्य को 'प्रचार' वही कह सकते हैं जो तुलसी, सूर ही नहीं, कालिदास और वाल्मीकि को भी 'प्रचारक' मानते हैं। रसवादी काव्य में विचार की बारीकी नहीं, भाव-निर्वाह या रसनिस्पत्ति देखी जाती है। प्रगतिवाद का आधार 'शोक' नामक भाव है। मानवीय संवेदना प्रबल होने के कारण दलित मानवता को देखकर उत्पन्न 'शोक' की व्यंजना प्रगतिवाद में सर्वत्र हुई है। एक ओर गोदान के किसानों की करुण तस्वीरें हैं तो दूसरी ओर 'ग्राम्या' के करुण चित्र भी हैं। प्रकृति-चित्रणों में जो कवियों के मन का भाव स्थान-स्थान पर फूट निकला है, वह भी इसी तथ्य को प्रमाणित करता है।

पुराने रसवादी कवि रस की सृष्टि के लिए 'विरोध' को बचाते थे क्योंकि विरोध' की स्थिति में 'आनन्द' की उद्भावना में बाधा पड़ती है। अतः वे पुराने प्रसिद्ध लोकसेवक पात्रों को चुनते थे और उनके राग, विराग आदि का वर्णन करते थे अतः उनके साथ धनी, ग़रीब, मूर्ख, सबका तादात्म्य हो जाता था। रससृष्टि करते समय कवि के सम्मुख 'नैतिक' और सांस्कृतिक दृष्टिकोण रहता ही था। क्योंकि पाप पर पुण्य की विजय का प्रदर्शन ही पुराने काव्य का उद्देश्य था। पुराने कवि यह भी मानते थे कि सांस्कृतिक दृष्टिकोण जिनमें लगभग समान हो, वही लोग 'रस' का अनुभव कर सकते हैं। उदाहरणातः 'रामायण' में हम 'रस' का अनुभव करेंगे किन्तु रावण की लंका में यदि वही काव्य सुनाया जाता, तो राक्षसों को उसमें 'रस' का अनुभव

नहीं हो सकता था। यह दूसरी बात है कि वे रामायणकार की 'कल्पना' और शब्द-शक्ति तथा अभिव्यक्तिकुशलता की प्रशंसा अवश्य करते। अतः 'रसवादी' काव्य का आनन्द लेने के लिए "समाज मानसिक भूमि" की आवश्वकता का अनुभव पुराने आचार्यों ने भी किया था। इसी प्रकार जो व्यक्ति वर्गों का अस्तित्त्व ही नहीं मानता, सम्भव है, वह प्रगतिकाव्य में प्राप्त 'रस' का आनन्द न ले सके अथवा स्वयं अपने विरुद्ध लिखे हुए काव्य में 'पूँजीपति' आनन्द न ले सके क्योंकि उसकी स्थिति अपने पक्षपात के कारण 'शीलद्रष्टा' की स्थिति रहेगी और वह 'मध्यम कोटि' की रसावस्था का ही आनन्द ले सकेगा। किन्तु अधिकतर संख्या ऐसे ही लोगों की अधिक है और अधिक होती जा रही है जो समाज में अत्याचारियों के विरोधी हैं, उन्हे पहचानते भी हैं अतः उनकी 'रसावस्था' में कोई बाधा नहीं होगी।

कतिपय रसवादियों का कथन है कि 'रस' सत्व के उद्रेक हो जाने पर ही प्रकाशित होता है अतः यह सम्भव है कि रामायण सुनते समय राक्षसों में भी प्रसुप्त सात्त्विकता जग जाए, जैसे पानी से मिट्टी की सुगंधि जग जाती है! इस दृष्टि से एक पूँजीपति अथवा उनका समर्थक अथवा 'वर्गवाद' का अविश्वासी भी सत्त्व का उद्रेक हो जाने से प्रगतिवादी काव्य में रसमग्न हो सकता है! कविसम्मेलनों और कविगोष्ठियों में प्रायः यह देखा जाता है कि सेठ जी और "सेठीय मानसिक स्थिति" वाले श्रोता भी सशक्त वर्ग-संघर्षात्मक काव्य का आनन्द लेते हैं। पुराने आचार्य मानते हैं कि यदि एक भी उदाहरण ऐसा मिल जाय तो उक्त सिद्धान्त प्रमाणित हो जाता है क्योंकि जिनमें 'सत्त्व' नहीं जगता, उनकी 'जड़ता' और पक्षपात-बुद्धि की निन्दा हम वैसे ही कर सकते हैं जैसे "वेदाभ्यासजड़" खुर्राट मीमांसकों, या तर्कवादियों को 'काठ का कुन्दा' कहकर पुराने आचार्यों ने उनकी निन्दा की है।

प्रश्न केवल यह है कि क्या समाज में उच्चवर्ग शोषक है? कहीं वर्गवाद कल्पित सिद्धान्त तो नहीं है? सर्वोदयी नेता कुछ भी कहें, कारख़ाने के मज़दूर, भूमिपतियों के सेवक, ऋणग्रस्त व्यक्ति आदि पग पग पर वर्गसंघर्ष का अनुभव करते हैं। सर्वोदयी नेता भी वस्तुतः वर्गों की सत्ता स्वीकार करते हैं परन्तु वर्ग-संघर्ष को इस डर से नहीं मानते कि इससे 'घृणा' बढ़ेगी और समाज को बदलने के लिए हिंसा स्वीकार करनी पड़ेगी। किन्तु यदि वर्गों की सत्ता है और उनसे उत्पन्न 'दुःख' वास्तविक है तो काव्य में करुणा, रौद्र या वीर रस की सृष्टि में बाधा कहाँ पड़ती है। जो कहते हैं कि 'वर्गसंघर्ष' का सिद्धान्त 'रसवाद' का विरोधी है, वे यह बताएँ कि राम और रावण, कृष्ण और कंस

अथवा कौरव और पांडव दो पक्ष थे या नहीं। व्यास ने यह नहीं सोचा कि कौरववादी महाभारत को पढ़कर रस' का आनन्द न लेसकेंगे। वाल्मीकि ने यह नहीं सोचा कि राम की प्रशंसा से रावणवादी काव्यानन्द से वंचित हो उठेंगे। सर्वत्र एक क्रौंच का पक्ष है, एक व्याध का पक्ष है। 'आदिश्लोक' को पढ़कर यदि एक व्याध सत्त्व के उद्रेक हो जाने पर (और मनुष्य के मन में कभी न कभी 'सत्त्व' का उद्रेक अवश्य होता है) उस "आदि श्लोक" का आनन्द ले सकता है तब पूँजीपतियों और साम्राज्यवादियों के विरुद्ध लिखे गए सफल काव्य को पढ़कर 'सत्त्व' के उद्रेक के समय उन्हें आनन्द क्यों न आएगा? और यदि नहीं आता अर्थात् सत्त्व का उद्रेक नहीं होता तो अधिकांश जनता को तो होता ही है। 'सहृदय' वही है जिसमें 'भावना' हो यानी पर-पीड़ा का अनुभव कर सकता हो, दूसरों के भावों का अनुमान कर सकता हो। अतः वर्गसंघर्ष युक्त काव्य 'रसवाद' के विरुद्ध नहीं है, शर्त्त यही है कि काव्य में मार्मिकता हो। डा० 'ज़िवागो' साम्यवाद के विरुद्ध लिखा गया है किन्तु कठोर साम्यवादी भी 'डा० ज़िवागो' की अनुभूति की सच्चाई और 'कला' से यत्किंचित् अवश्य प्रभावित होता है। इसी प्रकार 'गोर्की' की 'मदर' के प्रशंसकों में पूँजीवादी देशों के पूँजीवादी लेखक भी पीछे नहीं रहे! जादू वही है जो सिर पर चढ़ कर बोले!

पुनः प्रश्न होगा कि यदि मान भी लिया जाय कि प्रगतिवादी काव्य में करुणा, वीर और रौद्र की कुछ अच्छी निष्पत्ति हुई है फिर भी शृंगार में निर्लज्जता, नग्नता का समावेश प्रगतिवाद ने ही किया है। इसके सिवा मधुर-कोमल पक्षों के वर्णन से प्रगतिवाद कतराता है क्योंकि उसे वह 'बूर्ज्वाप्रेम' समझता है अतः प्रगतिवादी काव्य एकांगी है। मानव-जीवन की सभी अनुभूतियों का वर्णन वह नहीं करना चाहता अतः जीवन के अभाव जब तक हैं, यह काव्य प्रभावित करेगा किन्तु बाद में उसका महत्त्व ऐतिहासिक रह जाएगा।

यह सही है कि 'प्रगतिवाद' में कुछ 'नग्नता' आगई थी और उसका कारण यह था कि मानवीय-सम्बन्धों को 'सहज' बनाने का प्रयत्न किया जा रहा था, किन्तु इस भूल का सुधार हुआ। 'यदि कहें कि कोमलपक्ष का वर्णन प्रगतिवाद नहीं करता तो यह भी एक प्रारम्भिक भूल थी। मर्यादित शृंगार के वर्णन से वासना का शोधन होता है और सुरुचि का विकास होता है, नारी का भी उज्ज्वल-शृंगार से अपमान नहीं होता अतः 'उज्ज्वल शृंगार'

का वर्णन प्रगतिवादी से बाहर नहीं है। 'प्रेम' एक भाव है जो प्राकृतिक भूख है, प्रकृति अपना उद्देश्यपूर्ण करने के लिए यह भूख उत्पन्न करती है किन्तु सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप इस 'भूख' का कहीं संयमित, कहीं अमर्यादित और कहीं स्वच्छन्द रूप दिखाई पड़ता है अतः इस 'प्राकृतिक' प्रवृत्ति" का समाजीकरण प्रगतिवाद का एक महानकार्य है। मनुष्य 'पशु' से इसीलिए भिन्न है कि उसने प्राकृतिक-प्रवृत्तियों पर 'संयम' स्थापित किया है। 'प्रगतिवाद 'दमन' का विरोध करता है, 'संयम' का नहीं। अतः 'प्रेम' में यदि अनुत्तरदायित्व नहीं है, तो ऐसे प्रेम का वर्णन प्रगतिवाद ही है। इधर के काव्य में 'प्रेम' का ऐसा ही वर्णन हो रहा है। गीतकारों में यह प्रवृत्ति अधिक विकसित हुई अतः इसे हम यथास्थान देखेंगे। 'गोदान' की तरह काव्य के क्षेत्र में चूँकि 'एक' ऐसी कृति नहीं बताई जा सकती, जो सभी दृष्टियों से पूर्ण हो अतः स्फुट उदाहरणों में ही प्रेम' का उक्त स्वरूप मिल सकता है।

प्रगतिवाद की तीसरी उपलब्धि यह है कि उसमें अलंकृत-काव्य के स्थान पर 'स्वाभावोक्ति प्रधान' काव्य का अच्छा विकास हुआ है। पुराने बुजर्ग इस सम्बन्ध में आज के आलोचकों से अधिक स्पष्ट हैं। काव्य के तीन रूप बताए गए हैं। वक्रोक्तिप्रधान काव्य अथवा अलंकृत काव्य काव्य में भाव, वस्तु या विचार की अभिव्यक्ति के लिए ऐसी उक्तियों का प्रयोग होता है, जिसमें कोई वैचित्र्य, कोई आकर्षण या वक्रता हो। सादृश्यमूलक, विरोधमूलक तथा अन्य अर्थालंकारों से युक्त उक्तियाँ इसी परम्परा में आती हैं। दूसरा काव्य रसोक्तिप्रधान काव्य होता है, इसमें भावोच्छ्वास अधिक होता है और अलंकार रस का अंग बनकर आता है। कहीं कहीं अलंकार नहीं भी होता है अतः 'रसोक्ति' में भाव को सीधी अभिधावादी पद्धति पर भी व्यक्त किया जाता है। महान भावों की सरल अभिव्यक्ति भी आकर्षक होती है, क्योंकि ऐसे स्थानों पर सौन्दर्य का कारण भावों की उदात्तता या स्वाभाविकता रहती है यथा रामचरितमानस में लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप अनलंकृत शैली में है फिर भी वह हमें रुला देता हैं अतः 'रसोक्ति' अनलंकृत होकर भी प्रभावित करती है। कुशल कबि रसोक्ति में अलंकारों या उक्तिवैचित्र्य का प्रयोग रस के सहायक उपादान के रूप में करते हैं यथा तुलसीदास द्वारा सीताहरण के पश्चात् 'रूपकातिशयोक्ति' का प्रयोग। बिना रूपकातिशयोक्ति के राम को सीता के अंगों के नाम लेने पड़ते और इससे औचित्यभंग होता, क्योंकि लक्ष्मण साथ ही थे !

काव्य का तीसरा रूप 'स्वाभावोक्ति' है। वस्तु जैसी है, उसका उसी रूप में वर्णन स्वाभावोक्ति है किन्तु तब प्रत्येक 'तथ्यकथन' को काव्य मानना होगा अतः 'वार्ता' से स्वाभावोक्ति को भिन्न बताया गया है—

स्वाभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तु वर्णनम्—विद्यानाथ

अर्थात् वस्तु का यथावत् किन्तु सुन्दर वर्णन स्वाभावोक्ति है। बाण ने हर्ष-चरित में स्वाभावोक्ति को "अग्राम्य" कहा है।[1] अर्थात् तथ्यकथन के लिए प्रयुक्त व्यावहारिक भाषा से वह भिन्न होती है।

छायावाद में सूक्ष्मता का "अतिनिर्वाह" हुआ। अलंकृति और संगीत चरमसीमा पर जा पहुँचा अतः जिस प्रकार संस्कृत काव्य में वाल्मीकि की स्वाभावोक्ति के बाद दरबारी काव्य में अलंकृति और उक्तिवक्रता का अधिक आदर बढ़ा, उसी तरह द्विवेदीयुग की वार्तात्मक कविता के विरुद्ध वक्रोक्ति और अलंकृति का आदर छायावाद में बढ़ा। फलतः प्रगतिवादी काव्य में पुनः स्वाभावोक्ति की ओर कवि उन्मुख हुए किन्तु द्विवेदीयुग की वार्त्तात्मक प्रवृत्ति को प्रगतिवाद में नहीं अपनाया गया। प्रगतिवाद में, कृषकों, मज़दूरों, कारख़ानों, खेतों, खलिहानों के ही नहीं, प्रकृति चित्रण में भी 'स्वाभावोक्ति' का ही आनन्द मिलता है। स्वाभावोक्ति-लेखक वर्ण्यवस्तु में सौन्दर्य की इतनी मात्रा मानता है कि वह समझता है कि वस्तु के गुण, क्रिया, द्रव्य और जाति का वर्णन वस्तुस्थित सौन्दर्य द्वारा पाठकों का ध्यान आकर्षित कर लेगा। यही कारण है कि प्रगतिवाद ने 'छायावाद' के द्वारा चित्रित प्रकृति के कुछ निश्चित पदार्थों के स्थान पर नाना जीवन-पार्श्वों और प्रकृति के अछूते पक्षों की ओर भी देखा और उनका अलंकृत वर्णन न करके वस्तुस्थित सौन्दर्य की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित किया। यह नवीन सौन्दर्य दृष्टि थी, जो चाहती थी कि केवल अभिजात-मुख ही सुन्दर नहीं है, खेत निराती हुई, घास बीनती हुई खेत में पानी देती हुई, एक ग्रामीणा में भी अपना आकर्षण है। बेटी की बिदा में तपस्वी कण्व की तरह ग्रामीण वृद्ध की आँसुओं से भीगती दाड़ी में भी एक 'सौन्दर्य' है। अनंग, अप्सरा, लहरें, नक्षत्र और पल्लव ही सुन्दर नहीं हैं, मटमैले, गदबदे भोले कृषक-शिशुओं में भी आकर्षण हैं, क्लब, की मदिरा और भोज तथा नृत्य में ही सौन्दर्य नहीं है अपितु 'कहारों के नृत्य' व चमारों की 'भगत' में भी जीवन की मस्त उमंग दिखाई पड़ती हैं जो

---

१. "नवोऽर्थो जातिरग्राम्या"

प्राय: शिक्षितों को सुलभ नहीं होती। अत: जीवन और प्रकृति के अनलंकृत किन्तु फिर भी "चारु" यथावत्वर्णनों की प्रगतिवाद में कमी नहीं है। अत: जब कोई यह कहे कि 'प्रगतिवाद' में काव्य कम है, विवरण अधिक है तब समझना चाहिए कि ऐसा व्यक्ति 'स्वाभावोक्ति' को पसन्द नहीं करता, वह केवल अलंकृत या उक्तिवैचित्र्यमूलक काव्य को ही पसन्द करता है और काव्य के इतिहास में प्राय: ऐसा होता है कि सभी व्यक्ति एक ही प्रकार के काव्य को पसन्द नहीं कर पाते। रुचिवैचित्र्य रहता ही है किन्तु विचारक की समस्या भिन्न होती है। वह प्रत्येक प्रकार के काव्य को तटस्थ दृष्टि से देखता है और प्रत्येक में स्थित वास्तविक 'सौन्दर्य' की व्याख्या करता है। 'प्रगतिवाद' में 'रसोक्ति' और 'स्वाभावोक्ति' का सौन्दर्य बराबर मिलता है।

प्रगतिवाद की चतुर्थ उपलब्धि यह है कि उसमें 'रसोक्ति' और 'स्वाभावोक्ति' के सिवा 'वक्रोक्ति' का भी एक विशिष्ट रूप मिलता है। 'कथा-साहित्य' में यह रूप अधिक मिलता है किन्तु प्रगतिवादी काव्य अपने व्यंग्य (Satire) के लिए प्रसिद्ध है। जिस प्रकार भावोच्छ्वास के समय प्रगतिवाद कवि 'अभिधा' को अपनाता है, उसी प्रकार व्यंग्य की स्थिति में वह व्यंजना-विधि का प्रयोग करता है। 'कुकुरमुत्ता' "महँगू मँहगा रहा" (निराला) रक्तस्नात वह मेरा साक़ी (अज्ञेय) और इधर के प्रगतिवादी-प्रयोगवाद में व्यंजना या ध्वनि के कारण ही मार्मिकता की सृष्टि हुई है। उद्गारात्मक उक्तियों में सांकेतिकता का अभाव शीघ्र ही लोगों को खटकने लगा था अत: व्यंग्य का मार्ग स्वत: स्वीकृत हुआ। 'भावाकुल' स्थिति सर्वत्र न होने पर अनाकुलस्थिति में तटस्थ होकर व्यंजना के पथ पर कवि चल पड़े।

आज भी प्रगतिवाद में रसोक्ति, स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति का प्रयोग चल रहा है किन्तु इधर 'स्वाभावोक्ति' का महत्त्व कम हो गया है और 'रसोक्ति' के बिरुद्ध तो अभियान ही छिड़गया है। प्रारम्भिक प्रगतिवाद में सूक्ष्म के स्थान पर स्थूल, लक्षणा के स्थान पर अभिधा, और समासप्रधान शैली के स्थान पर 'सरल' विश्लिष्ट शैली का प्रचार था। अब पुन:, व्यंजना' का का मार्ग स्वीकार कर लिया गया है किन्तु व्यंजना 'अभिधामूला' नहीं है, वह 'लक्षणामूला' है। व्यंजना तो 'रस-व्यंजना' भी होती है परन्तु अब मानसिक स्थितियों को संकेतित करने का प्रयत्न अधिक हो रहा है, उन्हें अन्य सहायक मानसिक स्थितियों से पुष्ट करके उनमें पाठकों को 'रमाने' का प्रयत्न नहीं ही रहा। प्रगतिवाद के घोषणावादी, आकुलतायुक्त पक्ष से यह

विकास अधिक कलापूर्ण है किन्तु काव्य पूनः दुरूह हो रहा है, बौद्धिकता भी उसमें बढ़ रही है। किन्तु चिन्ता की बात नहीं, बहुत शीघ्र पुनः सरलता और सहृदयता की माँग बढ़ेगी। 'विचार भूमि' एक रहने पर भी प्रगतिवाद में जो 'उक्ति' के स्वरूप पर मतभेद दिखाई पड़ रहा है, उसका उद्देश्य यह है कि आज जिसे लोग पसन्द कर रहे हैं, उसी में तुम भी लिखो, कल जब ऊबकर लोग दूसरी माँग करेंगे, तब दूसरी तरह लिखना। मैं समझता हूँ, भावभूमि और विचार-भूमि में यदि कवि प्रगतिशील है तब उक्तियों के नाना स्वरूपों में जो जिसे चाहे, उसका प्रयोग करे। प्रश्न यही है कि क्या उसकी रचना प्रभावशालिनी है। प्रगतिवाद पुष्ट और प्रमाणिक जीवन-दर्शन पर आधारित है, अतः उसकी उपलब्धि भी विकास के मार्ग पर है। किन्तु प्रायः यह देखा गया हैकि प्रगतिवाद की कमियों से लोग अधिक वाकिफ़ हैं, उसके गुणों की उपेक्षा ही होती रही है। यह बेबुनियाद प्रचार है कि प्रगतिवाद 'प्रचार' के अलावा और कुछ नहीं है !

प्रगतिवाद ने हिन्दी काव्य में वर्ण्यवस्तु का विस्तार किया। परम्परागत जीवन-दर्शन के स्थान पर एक नवीन और वैज्ञानिक जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया। प्रगतिवाद ने भारतीयसमाज की दुर्बलताओं का निर्ममता से विश्लेषण किया और उन बुराइयों से लड़ने का मंत्र दिया। प्रगतिवाद ने 'सामान्य व्यक्ति' को साहित्य और अन्य कलाओं का केन्द्र बना दिया अतः समूचे सौन्दर्य-शास्त्र की धारणाओं में महान परिवर्त्तन हुआ। साहित्य और काव्य का उद्देश्य 'समाज में परिवर्त्तन करना है', यह 'नारा' ग़लत नहीं था। प्रथमवार शोषित जनता ने अपने दृष्टिकोण से हर चीज़, हर इंसानी रिश्ते और इंसानी संस्थाओं को देखना शुरू किया। वाल्मीकि ने जिस क्रौञ्च के प्रति ममता का वर्णन किया था, हिन्दी में कोटि कोटि क्रौञ्चों के व्यवस्थित वध की ओर प्रगतिवाद ने ही दृष्टि आकर्षित की। कवियों और लेखकों की यह कुंठा या दम्भ नहीं था, न इसमें कोई अनुचित उद्देश्य छिपा हुआ था। वस्तुतः प्राणी-मात्र के प्रति करुणा का संदेश नया न था, पुराना था अतः यह मूलभारतीय संस्कृति से विपरीत भी नहीं था। प्रगतिवाद ने केवल वह बताया कि दुःख का वास्तविक कारण क्या है। इस दुःख के दूरीकरण के लिए जो वास्तविक उपाय हैं, उनके लिए जनता को संगठित करना अपराध कैसे कहा जा सकता है ? अंतः संवेदनशील हृदय दुःख को देखकर दुःख का उपाय करने के लिए यदि सचेष्ट नहीं होता तो उस साहित्य से लाभ क्या हुआ ? साहित्य कोश मनोरंजन तो नहीं है। श्रेष्ठ मस्तिष्कों की श्रेष्ठतम उपलब्धि ही काव्य है,

अतः प्रगतिवाद मनुष्य के मन में उन मानव मूल्यों की सृष्टि करना चाहता है, जिसके कारण मनुष्य एक ऐसे समाज की सृष्टि कर सके जिसमें वह सुख और शांति से रह सके। इसी महान भावना पर, इसी 'मानवतावाद' पर, प्रगतिवाद की नींव टिकी हुई है। राजनीति, साहित्य, कला, दर्शन, समाजशास्त्र सब इसी 'इच्छा' के पूरक मात्र हैं। मनुष्य आदिकाल से ही एक ऐसे समाज की सृष्ठि के स्वप्न देखता रहा है। राजनीति इसके लिए क्रियात्मक रूप अपनाती है, समाजशास्त्र, दर्शन, इतिहास तथा विज्ञान इसी इच्छा की पूर्ति के लिए 'ज्ञान' का मार्ग अपनाते हैं, किन्तु काव्य और कला 'भावना' का मार्ग अपनाती हैं। लक्ष्य यही है कि मनुष्य अपनी दुर्बलताओं पर विजय पाए, विषय परिस्थितियों को अनुकूल बनाए, मार्ग के कंटकों को हटाए और अपने स्वप्न को पूरा करे। जब तक समाज की परिस्थितियाँ मनुष्य के अनुकूल नहीं होतीं, तब तक 'प्रगतिवाद' अजेय है। मार्ग सीधा नहीं है, प्रत्येक स्थान पर एक ही तरीक़ा भी नही अपनाया जा सकता किन्तु 'प्रगतिवाद' की पृष्ठभूमि में जो व्यक्ति इन महान मानवमूल्यों को नहीं देखता, वह 'प्रगतिवाद' को व्यर्थ ही कलंकित करता है। कम से कम अभी तक यह प्रमाणित नहीं हो सका कि प्रगतिवाद समाज, व्यक्ति और उसकी सांस्कृतिक उन्नति के लिए ख़तरनाक है। प्रगतिवाद की ग़लतियों से उसकी उपलब्धियां और सम्भावनाएँ अधिक महान हैं।

पंचम प्रवाह

नवगीत-प्रवाह

उक्त विभाजन 'विधा' को ध्यान में रख कर हिन्दी में चल पड़ा है। वस्तुत: गीतों की धारा को वर्ण्य-वस्तु के प्रति प्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण इसे प्रगतिवादी काव्य-प्रवाह की ही एक धारा मानना चाहिए क्योंकि गीतकारों में अधिकतर गीतकारों का दृष्टिकोण प्रगतिशील है। उनकीदृष्टि 'प्रेम' के प्रति वही नहीं है जो छायावादियों की थी। 'प्रेम' इधर 'रूपलिप्सा' की अभिव्यक्ति मात्र न रहकर 'जीवन' के प्रति गीतकारों की सामान्य प्रतिक्रियाओं को प्रकट करने का माध्यम बन गया है। जिस प्रकार छायावाद का माध्यम "मैं" था, इसी तरह का इधर के गीतकारों का माध्यम 'प्रेयसी' है। वह 'प्रिय' या प्रिया' को सम्बोधित करके अपनी मानसिक स्थितियों की व्यंजना करता है। युग के प्रति असंतोष को व्यक्त करने की यह वही शैली है जो उर्दू गज़ल में दिखाई पड़ती है, इससे असंतोष ,संदेश, प्रेरणा आदि की व्यंजना 'प्रेम' के प्रतीकों के माध्यम से होती है, उसमें अप्रत्यक्षता और मधुरता का समावेश हो जाता है। इसके सिवा गीत छायावाद की गेय पदावली की परम्परा में विकसित हो रहा है अत: संगीत के मध्यम से उसकी उक्ति गुनगुनाने और गाने के काम की वस्तु बन रही है।

गीत मनुष्य की एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक आवश्यकता की पूर्त्ति करता है। 'काव्य' एक सम्पृक्त कला है, हम कह चुके हैं। उसमें अन्य कलाओं का भी प्रयोग होता है। संगीत और चित्रकला ने काव्य की सहायता प्रारम्भ से ही की है। संगीत से प्रेम पशुओं और पक्षियों तक को है, प्रयोगवादियों के काव्य में संगीत के विरुद्ध आंदोलन भी है। वे 'पाठ्यकाव्य' ही लिखते पढ़ते हैं, श्रव्यकाव्य मुक्तछन्द में भी प्रिय लगता है किन्तु संगीतात्मकता काव्य के शब्दों को

एक 'गति' दे देती है। 'गति', प्रवाह, ध्वनि, आवर्त्त आदि शब्द सौन्दर्य-शास्त्र में सुन्दरता की सृष्टि के लिए अनिवार्य माने गए हैं। इधर बौद्धिक दुरूहता, संगीतात्मकता का अभाव, अपरिष्कृति आदि तत्त्व प्रयोगवाद में बहुत बढ़ रहे है। लोगों में इसकेविरुद्ध प्रतिक्रिया भी प्रारम्भ हो गई है। अंततः 'टैक्स्ट-बुक पोइट्री' को पढ़ते समय जिस प्रकार बुद्धि पर भार डालना पड़ता है, उसी प्रकार सामान्य पाठक और श्रोता अपने मन और बुद्धि पर क्यों व्यर्थ जोर डालना चाहेगा। बड़े बड़े विद्वान भी सहज काव्य की प्रशंसा करते हैं। अर्थ की अस्फुटता अथवा अर्थअनभिव्यक्ति, दुष्ट और धृष्ट पदावली का ही प्रयोग, गति, लय या गेयता का सर्वथा अभाव, अर्थातिशय भरने की आकुलता व काव्य में गद्यमयता आदि तत्त्वों के अतिनिर्वाह को अधिक समय तक सहन नहीं किया जा सकता। वैसे ही जीवन गद्यमय हो गया है, गद्य ही इधर अधिक लिखा गया है, तब कभी कभी पाठक उससे ऊबकर ऐसे काव्य को भी चाहता है, जिसमें काव्य के अर्थ का ही आनन्द न हो, अपितु कला के अन्य तत्त्वों का भी आनन्द मिले। काव्य मनुष्य की आह्लादक मनःस्थिति की भी अभिव्यक्ति है अतः उक्तिवैचित्र्य, अर्थ गौरव, कल्पना-ललित्य के साथ साथ वह संगीत की भी आकांक्षा करता है। सरोवर सुन्दर होता है, यहां तक कि उथले, गहरे पोखरे भी पसन्द आते हैं परन्तु सरिता का प्रवाह भी सुन्दर होता है अतः छोटी-बड़ी सरिता की तरह क्षिप्त, गंभीर गति से चलने वाला गेय काव्य मनुष्य की एक आकांक्षा की पूर्त्ति करता है।

अतएव गीतकाव्य के प्रति उपेक्षात्मक दृष्टिकोण मनुष्य के मन की एक स्वभाविक और अब तक के गीतकाव्य के द्वारा संस्कृत स्थिति के प्रति विद्रोह है। यदि गतिकांव्य में अर्थगौरव नहीं है यानी वह 'उथला' या 'हलका' लगता है तो उसे गंभीर बनाने की माँग जायज़ है किन्तु गीतमात्र को सर्वथा त्याज्य घोषित करने का अर्थ यही हो सकता है कि या तो आदमी इतना बदल गया है कि उसमें गति और लय का आनन्द लेने की शक्ति ही नष्ट हो गई है अथवा उसमें प्रतिभा का अभाव है, जिसके कारण वह केवल गद्यमय, मुक्तछन्द में ही अर्थगौरव भर सकता है। संगीतात्मक काव्य का विरोध यदि इस तर्क के द्वारा होता कि अन्य प्रकार का काव्य भी लिखा जाना चाहिए तो वैविध्य के आधार पर इस तर्क को स्वीकार किया जा सकता था किन्तु केवल गद्यमय काव्य ही काव्य है, यह तर्क हेत्वाभास से युक्त है।

गीतों की प्रगतिशीलता—पुराने गीतकार भी इधर सक्रिय रहे हैं। इनमें अंचल, नरेन्द्र, दिनकर और बच्चन के नाम उल्लेखनीय हैं। इन चारों

कवियों के नए गीतों का स्वर बदला हुआ प्रतीत होता है। अंचल में मांसल-वाद की जगह जनममतवाद और बच्चन में हालावाद की जगह धरती और जीवन के प्रति प्यार अब अधिक मिलता है। नरेन्द्र शर्मा तो प्रसिद्ध प्रगतिवादी विचारक हैं। दिनकर बावजूद अपने साम्यवाद-विरोध के काव्य के क्षेत्र में समग्रत: प्रगतिशील कवि हैं, उनके गीतों में नव-निर्माण, धरती के प्रति मोह और कुछ कर दिखाने की प्रेरणा ओतप्रोत है--

दिनकर प्रेरणा के लिए गगनविहार को व्यर्थ समझते हैं—

कभी की जा चुकीं नीचे यहाँ की वेदनाएँ
नये स्वर के लिए तू क्या गगन को छानता है !
धुआँ का देश है नादान ! यह छलना बड़ी है।
नई अनुभूतियों की खान, वह नीचे पड़ी है।
मुसीबत से बिंधी जो जिन्दगी, रोशन हुई वह,
किरण को ढूँढ़ता लेकिन नहीं पहचानता है ![1]

लेखक का दायित्व :—तुम क्यों लिखते हो ? क्या अपने अंतरतम को
औरों के अन्तरतम के साथ मिलाने को ?
अथवा शब्दों की तह पर तह पोशाक पहन
जग की आँखों से अपना रूप छिपाने को ?

दिनकर ने स्वतंत्रता के बाद नवनिर्माण की प्रेरणा से सम्बन्धित ओजस्वी गीत लिखे हैं, साफ़ लगता है कि यह आज़ाद भारत का गीतकार है—

नवनिर्माण—लोहे के पेड़ हरे होंगे, तू गान प्रेम के गाता चल।
ज्वालामुखियों के कंठों पर, कलकंठी का आसन होगा।
जलदों से लदा गगन होगा, फूलों से भरा भुवन होगा।
बेजान, यंत्र विरचित गूँगी, मूर्त्तियाँ एक दिन बोलेंगी,
मुँह खोल खोल सबके भीतर, शिल्पी तू जीभ बिठाता चल।

'नीलकुसुम' की रचनाओं में यद्यपि कवि अपने को 'रीति' की दृष्टि से प्रयोगवादियों का पिछलगुआ कहता है परन्तु चेतना की दृष्टि से वह प्रयोग-वादियों से आगे है ! .नई नई काव्यरीतियों का आविष्कार स्तुत्य प्रयत्न है किन्तु काव्य के कुछ स्थायी लक्षण होते हैं, केवल बुद्धि की अधिकता कविता

---

१. धूप और धुआं—दिनकर।

नहीं है, न केवल बारीकी ही कविता है, न केवल विशिष्ट क्षणों की पकड़ ही काव्य है। भामह के समय में गौड़ी और वैदर्भी रीतियाँ प्रचलित थीं। कुछ लोग गौड़ी के प्रशंसक थे, कुछ वैदर्भी के, उसी प्रकार जिस प्रकार कुछ प्रयोगवाद के प्रशंसक हैं, कुछ गीत-पद्धति के। किन्तु भामह ने कहा था कि रीति कोई भी हो, यदि उसमें अर्थ, न्यायत्व, अनाकुलता आदि का अभाव है तो कोई भी रीति हो, उसमें काव्य का अस्तित्व ही न होगा। बाण ने भी कहा है कि नवीन अर्थ, अग्राम्य यथावस्तुवर्णन, अक्लिष्टता और रसस्फुटता के विना काव्य नहीं होता, चाहे 'रीति' कोई भी हो। प्रसन्नता का विषय यह है कि दिनकर 'नीलकुसुम' में न तो प्रयोगवादी रीति का ही अनुकरण कर सके हैं और प्रयोगवाद की तरह उनमें अर्थातिशय भरने का चाव है, 'नीलकुसुम' का कवि न संगीत को छोड़ता है, न प्रगतिशील दृष्टिकोण को—

है कहाँ तिमिर, आगे भी ऐसा ही तम है
तुम नीलकुसुम के लिए कहाँ तक जाओगे ?
जो गया, आज तक नहीं कभी वह लौट सका
नादान मर्द ! क्यों अपनी जान गँवाओगे ?

प्रगतिशील प्रयोग—मैं न बोला, किन्तु मेरी रागिनी बोली
चाँद ! फिर से देख, मुझ को जानता है तू ?
स्वप्न मेरे बुलबुले हैं, है यही पानी ?
आग को भी क्या नहीं पहचानता है तू ?

दिनकर के काव्य में आज भी 'पौरुष' है, दीप्ति उनके काव्य में आज भी विद्यमान है। उसकी वाणी में जनता की सामूहिक भावनाओं को समझाने की आज भी शक्ति है। इस आंतरिक ऊष्मा के कारण कवि को अधिक अलंकृति की आवश्यकता नहीं पड़ती—

काँपती है वज्र की दीवार
नींव में से आ रहा है क्षीण हाहाकार !

ऐसा लगता है कि दिनकर यदि कभी अपने 'कैरियर' के लिए समझौता भी करना चाहें तो भी युग का प्रभाव उनकी पंक्तियों में वास्तविक क्रान्ति-स्वर भर देता है—

सदियों की ठंडी बुझी राख सुगबुगा उठी
मिट्टी सोने का ताज पहन इठलाती है !

दो राह, समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है !

यह कविता २६ जनवरी के "जनतंत्रदिवस" पर लिखी गई है किन्तु कवि कांग्रेस की चाटुकारिता नहीं करता अपितु जनता की विजय का गीत सुनाता है। लगता है, साम्राज्यवाद, पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष करने लिए वह अनजान में ही जनता का आवाहन कर रहा हो। दिनकर के काव्य का एक 'पैटर्न' बन गया है, उससे कवि दूर जाना चाहता है परन्तु अब कम्बल बाबा जी को शायद ही छोड़े, और यह अच्छा ही है। अपनी अभ्यस्त 'रीति' को ही अधिक सक्षम, और व्यंजक बनाने के स्थान पर नए मार्गों की खोज में कम से कम पुरानी कलमों के लिए ख़तरा अवश्य है। 'रीति' पर सबसे बड़े लेखक 'कुन्तक' का कथन था कि 'रीति' का सम्बन्ध कवि के 'स्वभाव' से है। दिनकर का 'स्वभाव' दीप्ति और दर्प से युक्त काव्य के ही उपयुक्त है और आज के निराशावाद के प्रचारकों के मध्य दीप्ति के दर्पस्वर भले लगते हैं। श्रम में लग्न देश के नवयुवकों के लिए उनका विशेष महत्त्व है। उत्साह के विना कोई क़ौम उठ नहीं सकती अत: दिनकर के गीत और कविताएँ आज की आकांक्षा को सशक्त 'रीति' में ही व्यक्त करें, तभी काव्य और समाज का कल्याण होगा। 'दिनकर' में विसंवादी स्वर भी हैं जो उनके प्रति जनवादियों को सशंक कर देते हैं परन्तु वे सौभाग्यवश इतने प्रबल नहीं हैं कि उनके काव्य को समग्रत: प्रगतिशील न रहने दे। जो यह कहते हैं कि दिनकर में अर्थगौरव व अलंकृति का अभाव है, वे भूलते हैं कि अभिधामूला व्यंजना का भी अपना आकर्षण है और रसवादी काव्य सर्वदा अभिधामूला व्यंजना पर ही आधारित रहता है ! एक एक अक्षर में ठूँस ठूँस कर अर्थ का भरना सभी कवियों के लिए आवश्यक नहीं है। सभी के लिए सम्भव भी नहीं है !

दिनकर में दृष्टिकोणगत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ किन्तु 'बच्चन' में महान परिवर्तन हुआ है। 'हालावाद' के बाद के 'बच्चन' सर्वथा भिन्न रूप में दिखाई पड़ते हैं। प्रयोगवाद के जनविरोधी दृष्टिकोण से 'सर्वथा' अप्रभावित रहकर अपनी 'विशिष्ट' और 'अभ्यस्त' रीति के अतिरिक्त 'बच्चन' ने अन्य प्रयोग भी किए हैं। अपनी अभ्यस्त शैली में भी लिखा है किन्तु प्राय: सर्वत्र पुराने 'व्यक्तिवादी' स्वरों के बावजूद समग्रत: बच्चन का इधर का काव्य जनवादी स्वरों से ओत प्रोत है। रीति की दृष्टि से बच्चन का स्पष्ट मत है—

"इस उस कोने से आपको लोगों के ऐसे भी स्वर सुनाई देंगे कि अब

गीतों का युग बीत गया है। आप अचरज मत कीजिएगा यदि ये लोग कल कहते सुने जाँय कि अब हँसने-रोने का, प्रेम करने का, संघर्षरत होने का युग बीत गया है !"[१]

बच्चन इधर "नए हिन्द की, नई ज़िन्दगी, नई जवानी की ताक़त, मस्ती-हस्ती", के गायक बन गए हैं। 'गजगरिमा' अपना कर भूँकते हुए श्वानों की चिन्ता न करके वह बढ़े जा रहे हैं !

आरती और अंगारें में वेदों की स्वर्गीय गिरा के गायक, तमसा तट के कवि, उज्जयिनी के वाक-जयी, कविराज जयदेव, पंडितराज जगन्नाथ, रासो-रचनाकर चन्दवरदायी, मिथिला के रसमय मधुवन के पिक विद्यापति, कबीर, जायस के एकनयन कवि जायसी, तुलसीदास, सूर, केशव, रहीम, भारतेन्दु, मैथिलीशरण, मीर, ग़ालिब, इक़बाल, यीटस, साँची और अजन्ता के कलाकार, आदि कृती जनों का बच्चन ने स्तवन किया है। इधर कवियों, प्रतिष्ठित नेताओं आदि पर "स्तवन काव्य" बहुत लिखा गया है। 'खादी के फूल' में बच्चन ने गाँधीजी पर बहुत लिखा है। 'निराला', गाँधी, जवाहर आदि पर सुन्दर गीत और कविताएँ लिखी गई हैं। परम्परा के अध-विरोधी प्रयोगवादियों के विरुद्ध यह स्तवन-काव्य परम्परा के उज्जवल अंश के प्रति अपना आभार प्रकट करता है, जैसे वह प्रयोगवादियों की कृतघ्नता पर व्यंग्य कर रहा हो !

इनमें बच्चन' के गीत 'स्तवनमात्र' नहीं हैं, उनमें एक निर्मल दृष्टि है, आज की परिस्थिति पर व्यंग्य है और प्रयोगवाद पर प्रहार है। ग़ालिब पर 'स्तवनगीत' की ये पंक्तियाँ देखिए—

शायर के दिल में इंक़लाब जब आता है
उसकी चर्चा कब होती छापेख़ानों में।
पर भावों का सैलाब उठा करता है जब,
महदूद नहीं वह रहता है दीवानों में।
उन सब कविताओं को मैं मरी समझता हूँ
एरिएल कान का जिनको नहीं पकड़ता है।
रेडियो जबाँ का जिन्हें नहीं फैलाता है
उनका हर अक्षर कृमि-कीटों का कौर बने।

---

१. आरती और अंगारे—बच्चन।

आज के 'पाठ्यकाव्य' या गद्यकाव्य पर कितना चुभता हुआ व्यंग्य है !

गीत में ही यह गुण है कि कानों के "एरियल" को फ़ौरन पकड़ता है और जीभ के रेडियो से शीघ्र ही फैल जाता है, बशर्ते 'भामह' के शब्दों में केवल "श्रुतिपेशलत्व" न हो, उसमें कोइ अनुभूति भी हो और कथन में आकर्षण हो ! 'बच्चन' की बहुत सी पंक्तियाँ जीभ के रेडियो से अवश्य फैलेंगीं, क्योंकि वह दूसरों के मन की बात कहते हैं और कितनी सादा ज़ुबान में—

दिल्ली आया हूँ, उठता आज सवाल नहीं
हम दिल्लीं में रहे, मगर खायेंगे क्या ?
नेहरू की दिल्ली का यह सबसे बड़ा प्रश्न
हम दिल्ली में तो रहें मगर गाएँगे क्या ?

जब कुछ नया कहने की होता है, तो उसे यथावत् गद्य में प्रकट कर देने से ही वह काव्य नहीं बनता अपितु उसे एक "कथनभंगिमा" देनी पड़ती है, इसीलिए काव्य को 'भणिति भंगिमा" कहा गया है, छन्द से यह भंगिमा अशरीरी, अनुशासनविहीन, इधर उधर यों ही फैली हुई सी न रहकर उसी प्रकार व्यक्तित्वमयी हो जाती है जैसे चेतना में सुन्दर शरीर में साकार होती है। अलंकार्य और अभिव्यक्ति के एकता-स्थापना में छन्द इसीलिए सहायक बताया गया है। मात्र 'अर्थ' अपने में 'लय' नहीं प्रकट कर सकता, अर्थ अपनी 'अभिव्यक्ति' और वास्तविकता से ही आकर्षित कर सकता है यदि 'अर्थ' अपने में काव्य होता तो पतंजलि का 'महाभाष्य' और आर्य-भट्ट के ग्रन्थों को भी काव्य मानना पड़ेगा। अर्थ का चमत्कार दार्शनिक पुस्तकों में भी कम नहीं है जिन्हें पढ़कर आज का बड़े से बड़ा बुद्धिवादी बौना दिखाई पड़ता है, किन्तु नागार्जुन की "मध्यमा प्रतिपदा" को किसी ने काव्य नहीं कहा अतः 'छन्द' नूतन अर्थ को कानों के एरियल तक पहुँचाने में अधिक सक्षम प्रमाणित होता है !

'प्रेम का नया रूप—बच्चन अब 'प्रेम' को जीवन का सम्बल मानते हैं। वस्तुतः यह दृष्टि अंशतः पहले भी मिलती है। प्रेम व्याधि नहीं है, जीवन का आकर्षण और गीत के लिए प्रेरणा भी प्रेम से मिल सकती है—

जीवन के पथ पर है कोई चलने वाला
बीते दिन की कुछ सुधियाँ जिसके साथ नहीं !
जो फिर फिर उठकर अंतर को मथती रहतीं
थिर जो रहने देतीं क्षण भर को माथ नहीं।

मिट्टी का चोला जो घर कर के आया है—
उसको मिट्टी का धर्म निभाना होगा ही
शीतल छाया में बैठ थके-माँदे पैरों
को सुस्ता लेने देना है अपराध नहीं ।

प्रेम यहाँ 'शीतल विश्राम' के रूप में अंकित है, जीवन का सम्बल ! हालावादी दृष्टि और इस दृष्टि में कितना अंतर है ?

गीतः धरती का शृंगार—केवल वर्ग संघर्ष को वाणी देना ही जनवाद नहीं है । जनवाद ध्वंस को विवशता में स्वीकार करता है, क्योंकि निर्माण ही उसका लक्ष्य है । धरती पर चतुर्दिक सौन्दर्य के दर्शन तब तक नहीं हो सकते, जब तक मनुष्य के द्वारा निर्मित इस कुण्ठगलित समाज का पुनर्निर्माण न हो, इसीलिए 'ध्वंस' में भी सौन्दर्य देखा जाता है । बच्चन ध्वंस के पक्ष पर कम लिखते हैं परन्तु निर्माण के पक्ष पर उनका लेखन जनवाद के पक्ष को प्रबल करता है—

एक गीत ऐसा मैं गाऊँ, भूमि लगे स्वर्गों से प्यारी !
रूपमती, रंजित, रसवंती, गंधमयी यह भूमि हमारी !
लेकिन फिर भी स्वर्ग प्रशंसित, स्वप्न कल्पना की बलिहारी !
आज दूर का ढोल, निकट ही वीन बजे दोनों झंकृत हों !
चली सदा से जो आई है, मानव की गर्बीली थाती ।
तरसा करती जिसको पाने को देवों की वन्ध्या छाती !
लेती है अवतार अमरता, जिसके अन्दर से धरती पर !
एक पीर ऐसी अपनाऊं, भूमि लगे स्वर्गों से प्यारी !

धरती के प्रति यह दृष्टि जनवादी दृष्टि है । उपमानों के यत्र तत्र ही प्रयोग होने पर भी मार्मिक काव्य की सृष्टि हो सकती है । 'माध्यम' से विना "जूझे" हुए भी वास्तविक काव्य बन सकता है । "इंस्पायर्ड कवि" को व्यर्थ के प्रयोगों के विना भी अपनी अभिव्यक्ति का जौहर दिखाने में सफलता मिल सकती है । 'गाढ़वन्ध' के अभाव में भी विश्लिष्ट पदावली अनुभूति का भार झेल सकती है, बच्चन का काव्य इसका प्रमाण है ।

बच्चन के गीतों में मनुष्य के लिए अद्भुत प्रेरणा मिलती है, "वन कोकिल का कंठ मुझे दो, कंधों को पर्वत के पर दो" "किन्तु मैं आह्वान करने जा रहा हूँ, एक मिट्टी के डले से", "गर्म लोहा पीट ठंडा पीटने को वक्त

बहुतेरा पड़ा है" "पीठ पर धर बोझ अपनी राह नापूँ या किसी कलिकुंज में रम गीत गाऊँ ?" "धार पैनी देख उस पर फेरने को हाथ में बेजार होता" आदि गीतों की पंक्तियों से ही स्पष्ट है कि प्रसादता और ऋजुता से युक्त इस नव-गीतलहरी में मनुष्य का कौन सा रूप चित्रित हो रहा है ?—

सख्त पंजा, नस-कसी चौड़ी कलाई
और बल्लेदार बाँहें ।
और आँखें लाल चिन्गारी सरीखी
चुस्त औ सीखी निगाहें
हाथ में घन और दो लोहे निहाई
पर धरे तो, देखता क्या ?
गर्म लोहा पीट, ठंडा पीटने को वक़्त बहुतेरा पड़ा है ।

व्यंजना का यह रूप कितना सरल है ! आज की परिस्थिति में 'निर्माण' की भावना को किस सीधी अदा के साथ व्यक्त किया गया है । 'सामूहिक भावों को पहचान कर उन्हें इस प्रकार व्यक्त करने में जो 'काव्य' नहीं मानते,' उनकी 'बुद्धि' और सहृदयता पर दया आती है ।

अज्ञेय के 'साक़ी' की तरह बच्चन के एक गीत में भी 'अकस्मात आघात' देने वाली एक व्यंजना है—"एक बावली नायिका घूमती फिरती थी, काकुलें उसके भाल पर छिटकी हुई थीं, चमचमाती उसकी आँख थीं, जगत् ने जिन कंकड़ों को कूड़ा समझकर फेंक दिया था, उन्हें वह चुनती जा रही थी । उसने लाल पानी का एक कटोरा निकाला, एक कंकड़ उस कटोरे में डाला, उसे निकाल कर जब हाथ पर रखा तो वह माणिक्य बन गया था, मैंने प्रश्न किया—

हो क्षमा मेरी ढिठाई
क्या बताओगी कि माणिक में समाई
कौन से द्रव की ललाई ?
कान में उसने बताया "इस कटोरे में भरा है सिर्फ़ कवि का रक्त" !
बावली सी घूमती थी वह, उसे मैं देखते ही हो गया आसक्त !!

प्रेम का बलिदान ही नहीं, बलिदान मात्र की महत्ता को यहाँ व्यंजित किया गया है और 'गीत' में भी यह व्यंजना सफल हुई है !

समाज की निष्ठुरता—प्रयोगवाद में क्षणविशेष के अनुभव को पकड़ने

की बड़ी ताक झाँक रहती है। मछवे की तरह विशिष्ट क्षण में प्राप्त अनुभूति रूपी मछलियों की शिकार में प्रयोगवादी कवि बुद्धिका काँटा लिए बैठा रहता है किन्तु गतिकार भी क्षण-विशिष्ट की अनुभूति को पकड़ता है और उसे अधिक कलापूर्ण ढंग से व्यक्त करता है जिसे पढ़कर ही संतोष न हो जाय, अपितु बाद में भी गुनगुनाया जा सकता है--

न तुम सो रही हो न मैं सो रहा हूँ
मगर यामिनी बीच में ढल रही है।
उधर तुम, इधर मैं, खड़ी बीच दुनिया
हरे राम, कितनी बड़ी बीच दुनिया
किये पार मैंने सहज ही मरुस्थल
सहज ही दिए चीर मैदान-जंगल
मगर माप में चार बीते वमुश्किल,
यही एक मंज़िल मुझे, रवल रही है !

इसी तरह "मैंने गीतों को रचकर ये भी देख लिया" में एक विशिष्ट मानसिक स्थिति की व्यंजना है परन्तु न उसकी घोषणा की गई है और न केवल उसे ही देखने की ज़िद की गई है। मानवीय जीवन के सुखद, दुःखद क्षणों में होने वाले अनुभवों को सरल भाषा में, वक्रता के विना भी व्यंजित कर सकने में बच्चन सफल कवि हैं। जिन्दगी पर ही कवि का ध्यान केन्द्रित रहता है ; वह पन्त जी की तरह पैगम्बरी मुद्रा नहीं बनाता, न वह दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुकूल मानसिक स्थिति गढ़ कर तब दुनियाँ को देखता है। जीवन स्वयं इतना विलक्षण है, प्रकृति इतनी विविधतापूर्ण और अद्भुत है कि उन पर किसी आरोपित जीवन-दर्शन का प्रकाश डालकर बच्चन उनके चित्रण को आवश्यक नहीं समझते। इसीलिए पन्तजी के नूतन काव्य की गहराई आरोपित साधना की 'गहराई' है, जिसकी विचार भूमि, जिस पर वह साधना कल्पित की गई है, संशय से युक्त है। हिन्दी काव्य में 'पिण्ड' के भीतर चमत्कार देखने वाले कवि मध्यकाल में भी हुए है, उनमें कवित्त्व भी है परन्तु बाह्य जीवन की उपेक्षा करना अथवा बाह्य जीवन और आंतरिक जीवन में तालमेल न बिठा सकना अथवा उस तालमेल के लिए कल्पित सिद्धान्तवाद को अपने ऊपर आरोपित कर लेने के कारण पन्तजी का नूतन काव्य या तो बहुत ऊँचे गगन पर उड़ने लगता है अथवा चेतना के कल्पित क्षितिजों को पार करता हुआ, मन की निगूढ़ कोठरियों की पड़ताल करता हुआ प्रतीत होता

है, बच्चन के काव्य में यह दोष नहीं है अतः वह जीवन के अधिक निकट प्रतीत होता है। उसकी अधिक जनप्रियता का भी यही कारण है। बच्चन पैग़म्बर की तरह अद्‌भुत और अनौखा नहीं दिखाते। जो बार बार बहुतों द्वारा अनुभव किया जा रहा है, उसे ही सम्मुख ला रखते हैं और पाठक मुग्ध होकर कह उठता है, "अरे ! यह तो मेरे ही मन की बात कही है"।

अंचल के नए गीतों में प्रेम का असामाजिक स्वर बहुत कम मिलता हैं, अब रूपलिप्सा की जगह रूप का आकर्षण मात्र वर्णित होता है और प्रेम-वृत्ति के चक्र की परिधि विस्तृत हो रही है, उस परिधि में जीवन के अन्य पक्षों के साथ प्रेमवृत्ति सम्पृक्त होकर वर्णित होती है। प्रकृति-वर्णन में कवि की चित्तवृत्ति निजी प्रेम का विस्तार अधिक करने लगी है—प्रेम विस्तृत होकर सारे ज़माने को अपनी परिधि में समेंट लेता है—

इक लफ्ज़ मुहब्बत का, बस ये ही फ़साना है।
सिमिटे तो मिले आशिक, फैले तो ज़माना है !

यह प्रवृत्ति अन्य गीतकारों में भी दिखाई पड़ रही है—

जा रहे आलोकपथ से मन्दगति, वर्षान्त के बादल
हैं सलिलि प्लावित नदी नद ताल पोखर
वेग विह्वल झर रहे गिरि स्रोत-निर्झर !
देखते अंकुरित, नूतन फुल्ल खेत !
छोड़ उत्सुक बन्धुओं के नेत्रों का प्यार !
छोड़ लघु पौधे व्यथातुर शस्य शालि अपार
खोह अंजन की कहाँ वहाँ गुरु-गहन
आगार वह विस्राम, मुग्ध विराम की
जारहे जिसमें चले ये थके वन्यपशु से।

इस 'मुक्त छन्द' में प्रयोगवादियों जैसी अनवस्था नहीं है, इसमें छायावादी मुक्त छन्द की लयात्मक गति है। चित्रण में बादल को 'वन्यपशु' बनाकर नया उपमान दिया गया है परन्तु 'भाव' की उपेक्षा नहीं है !

'अंचल' का 'प्रेमनिवेदन' इधर पहले के प्रेम से अधिक 'पवित्र' और स्वाभाविक दिखाई पड़ता है, शिष्टता और मधुरिमा से युक्त यह प्रेम अभिनन्दनीय है—

तृप्ति की मधु मोहिनी का एक कण दे दो न मुझको !
एक कण दे दो न मुझको !

तुम मुझे देखो न देखो प्रेम की तो बात ही क्या
साँझ की बदली न जब मुझ को मिलन की रात ही क्या
दान के तुम सिन्धु मुझ को हो भला यह ज्ञात ही क्या
दाह में बोले न जो उसको तुम्हें प्रणिपात ही क्या
छाँह की ममता भरी श्यामल शरण दे दो न मुझको !
एक कण दे दो न मुझको !

अंचल का प्रेम प्रारम्भ से ही 'लौकिक' रहा है किन्तु जहाँ छायावादियों का प्रेम अत्यधिक आलौकिकता से ग्रस्त हो जाता था, वहीं अंचल का प्रेम कुत्सित लौकिकता से ग्रस्त हो जाता था। 'अंचल' ने अब वास्तविक लौकिकता को पहचाना है।

नए गीतकारों में अनेक गीतकार हैं, हम अलग अलग इन पर विचार नहीं कर सकते अतः विचार तत्त्व, कल्पना, भाव और अभिव्यक्ति आदि कोटियों मे विभाजित कर इनका विहगावलोकन मात्र प्रस्तुत कर रहे हैं।

विवेक तत्त्व—गीतकारों के विषय में हमारी धारणा कुछ ऐसी बन गई है कि उसमें कोई जीवन-दर्शन नहीं होता। वह 'प्रेम' का गायक कवि होता है। अतः उसका भेदक लक्षण 'प्रेम' और 'गीत' मान लिया गया है। कवि सम्मेलनों और कवि-गोष्ठियों में इन गायक कवियों की चन्द्र गीतियों को ही बार बार सुन पाने से यह धारणा और भी बलवती हो गई है। इसके सिवा श्रोतागण ऐसे सम्मेलनों में आनन्द और प्रमोद के लिए अथवा 'हास्य' के लिए एकत्र होते हैं। वे कोई बहुत गम्भीर और उच्च कला नहीं चाहते अतः 'प्रेम' के गीतों को ही अथवा 'हास्यरस' की रचनाओं को ही अधिक पसन्द किया जाता है। इसलिए, यह धारणा बन गई है कि गीतकार एक सामान्य प्रेम या प्रकृति का गायक कवि है, वह व्यापक प्रश्नों पर नहीं सोचता, न उसका कोई विशिष्ट सिद्धान्त होता है।

किन्तु बात ऐसी नहीं है। दार्शनिक भाषा में इन्हें हम किसी एक जीवन दर्शन का अनुयायी भले ही न कह सकें किन्तु वस्तुतः इनमें एक दृष्टि अवश्य मिलती है। इसकी प्रथम विशेषता यह है कि ये प्रतिक्रियावाद के विरोधी हैं। भावात्मक रूप में ये जीवन को वर्ग, वर्ण, जाति और सम्प्रदाय से रहित देखना चाहते हैं। दूसरे 'शान्ति' के पक्ष में इनका स्वर प्रबल है। तीसरे समाज के पुराने जड़ बंधनों के ये विरोधी हैं। चौथे युद्ध आपाधापी, लूट खसोट, शोषण आदि का इन्होंने बार बार विरोध किया है। पाँचवें राष्ट्रभक्ति इनकी

वैयक्तिक भावनाओं का आधार है परन्तु उग्रराष्ट्रवाद और उग्रक्रान्तिवाद जो 'नवीन', और 'दिनकर' में मिलता था, वह इन कवियों में नहीं मिलता। एक शब्द में नए गीतकार मानवतावादी कवि हैं किन्तु यह 'मानवतावाद' आदर्शवादी मानवतावाद नहीं, जिसकी पृष्ठभूमि में कुछ अलौकिक तत्त्वों में विश्वास काम कर रहा था, यह मानवतावाद पूर्णतः प्रगतिवादी न होकर भी समग्रतः "प्रगतिशील-मानवतावाद" है। इसका मुख्य लक्षण 'मानवप्रेम' है और वह प्रगतिशील इसलिए है कि इसमें 'बाधक वर्गों' को वे पहचानते हैं, उनका विरोध करते हैं, पूर्णतः प्रगविवाद इसलिए नहीं है कि उनके गीतों में यत्र तत्र समझौते के स्वर हैं, कहीं पुराने आदर्शवादी सिद्धान्त भी चिपके हुए हैं, कहीं भटकाव भी है।

विकास के मार्ग पर गतिमान इन गायकों का स्वर कभी कभी विसंवादी स्वरों से आक्रान्त हो उठता है, यह स्वभाविक भी है। वैयक्तिक अहंकार और मिथ्या दम्भ भी कहीं वाधक बनता दीखता है जो उत्तरकालीन छायावाद की विशेषता थी। कहीं कहीं अपनी मानसिक स्थितियों को ही सत्य समझकर ये उनका साधारणी-करण (जनरला इजेशन) करते हुए नए सिद्धान्त-वादी बनते दिखाई पड़ते हैं। जीवन के प्रति इनकी दृष्टि, फिर भी, समग्रतः प्रगतिशील है क्योंकि सामाजिक परिवर्तन की प्यास इनमें उग्र होती जा रही है।

आशावाद—तू सिसकती शाम सा गमगीन है, आ तुझे खिलतीकिरन तक ले चलूँ।[1]

ओ प्राण अभागे रोता क्यों ?
झरना यदि फूलों का सच है, खिलना क्यों उनका सत्य नहीं।
विछुड़न यदि जीवन का सच है, मिलना क्यों जीवन सत्य नहीं !
('क्षेम')

इसमें रोते धोने की क्या बात है, हार-जीत तो दुनियाँ भर के साथ है।
(मुकट० सरोज०)

प्रेम से प्रेरणा-ग्रहण—जो जीने को ही जीते हैं, उनके लिए समस्या मैं हूँ।
जो विष पीने को जीते हैं, उनके लिए तपस्या में हूँ।

---

१. **लेखनी-बेला—वीरेन्द्र मिश्र।**

जो भ्रम में तटस्थ चुप रहते, उनकी दृष्टि अर्द्ध अंधी है।
गिरने लगूं बाँह दे देना, बुझने लगूं, स्नेह दे देना ![1]

जिस झकोरे को कहो दुश्मन बना लूँ, जिस अँगारे को कहो सीने लगा लूँ।
किन्तु मेरी शर्त है या ज़िद समझ लो, चाँद मेरे पास होना चाहिए।[2]

धूल जीवनकी चढ़ाकर माथ पर, जन्मदिन मैंने मनाया प्यार का
आदमी का मन बहुत करुणा भरा है, प्यार की प्यासी बहुत मेरी धरा है।
सूरज की अगवानी में संसार खड़ा है, मैं बुझते दीपक के सिरहाने बैठा हूँ।[3]

चलते चलते रुक जाता हूँ राह में, पर इसका मतलब यह नहीं,
तम के हाथों बेच दिया ईमान किसी के प्यार का।
एक तृण भी पा सके नव प्राण तो सावन सफल है।
एक मुख भी कर सके शृंगार तो दर्पण सफल है
मान पाया यदि नहीं कवि विश्व मुझको तो हुआ क्या
यह मुझे विश्वास, मेरे गीत तुमको भा रहे हैं।
प्यार हुआ क्या तुमसे मेरा, सारे जग से प्यार हो गया।
एक तुम्हारी छवि का दर्पण, यह सारा संसार हो गया।[4]

शोषितों के प्रति सहानुभूति—

उजड़ गई बस्तियाँ कि जिनकी, झुलस-झुलस भूख की चिता में।
निगाह रोई, रहे न आँसू, नयन मरुस्थल बने व्यथा में।
अधर पियासे रहे, अधूरी रही आरजू, लुटे श्रमों की।
मिट्टी से फसलों का सोना देने वाला देवता
नई अलावें जला रहा है, गाँवों की चौपाल में।

(वीरेन्द्र)

जितने गीत रचे हैं मैंने, इस लम्बी बीमार उमर में
उन सबको बेचूं तो शायद, आधा कफ़न मुझे मिल जाए

(त्यागी)

---

१. वही।
२. रामावतार त्यागी।
३. वही।
४. राही, बाल स्वरूप।

जाओ कह दो श्रीमानों से, भूपालों से हों सावधान !
युग-युग की भूखी ज्वाल लिए, आता है विध्वंसक किसान—
(प्रभुदयाल अग्निहोत्री)

बन्द दिन भर जो रहे सूम जी मुट्ठी की तरह
खुल गये मील के फाटक हैं वे काले काले
भरती जाती है सड़क स्याह स्याह चेहरों से,
शायद इनपै भी कभी चाँदनी नज़र डाले
(नीरज)

राष्ट्र-प्रेम—इसकी मिट्टी में है गर्मी काल की।
इसमें ताक़त है उठते भूचाल की।
श्यामघटा बिजली बरखा मनभावनी।
रिमझिम बूँद-फुहार चदनियाँ सावनी।
आल्हा की हुँकार, रमायन की कथा।[1]
मिट्टी वतन की पूछती वह कौन है, वह कौन है ?
इतिहास जिस पर मौन है।[2]

शान्ति के स्वर—लेकिन यह क्या होती है आवाज क्या
धुआँ, आग, चीत्कार, ध्वंस है राज़ क्या ?
देशों में होती है खींचातान क्यों
शीतयुद्ध से दुनियाँ है हैरान क्यों ?
मैने खीची लक्ष्मणरेखा कोई पाँव बढ़ाए ना। (वीरेन्द्र)
भावों के नभ में उड़ने वाले ओ पंछी
नीचे बहेलिया तरकस तीर सम्हाले है।
तेरे सपनों की दुनियाँ पर खूनी आँखें
उद्जन से तेरे नीड़ उजड़ने वाले है।
चाँदनी भिखारिन होने वाली है पल में
छिनने वाली चुम्बन मणिमाला चन्दा की (सुयोगी)

जिन्दगी सिर्फ है खूराक टैन्क तोपों की
औ यह इन्सान है इक कारतूस गोली का

१. वीरेन्द्र।
२. हंसकुमार तिवारी।

सभ्यता घूमती लाशों की इक नुमायश है
और है रंग नया खून नयी होली का।[1]

समाज के प्रति असंतोष—

गंगा मैया तेरे तट पर बस कर भी मैं रहा पिपासित
अपने प्यासे अधर दिखाकर सागर से यह बात कहूँगा !

(आठवाँस्वर, त्यागी)

जो समुन्दर की सतह पर तैरती है बाल खोले
अब उसी बाग़ी लहर के हाथ का कंगन बनूँगा।

(वही)

मेरे पीछे इसीलिए तो धोकर हाथ पड़ी है दुनिया
मैंने किसी नुमायश-घर में सजने से इन्कार कर दिया !

(वही)

व्यर्थ नहीं जाता है बोया हुआ पासीना, अलबत्ता उगने में देर भले ही होजाए।
एक न एक रोज सुनवाई होगी श्रम की, मौजूदा युग में अँधेर भले ही हो जाए।

अगर तुम्हारी फसल रही निर्दोष, बादलों का विरोध क्या ?
सागर खुद क्यारी-क्यारी भर देगा अपने आप एक दिन।

कानपुर ! तूने मुझे इतनी उमर तो दे दी
किन्तु रहने को तीन गज़ ज़मीन दे न सका।
पोंछ लूँ जिससे मैं अपने ये सुलगते आँसू
मेरे गीतों को एक आस्तीन दे न सका (नीरज)

नूतन समाज निर्माण—

अब होने ही वाला है पूरब लाल
पहरुए जगना थोड़ी देर और।
अब नहीं रजत की मूरत को श्रम शीश झुकाएगा
विश्वास करो, इंसान स्वर्ग धरती पर लाएगा

(मुकुट० सरोज)

जीवन की व्याख्या—जीवन एक है अभिशाप, पर वरदान भी तो है।
जिसका पंक में है मूल, उसका सरस कितना फूल

---

१. नीरज—'नील की बेटी' भी द्रष्टव्य है।

जीवन है उसी का नाम, कहते हैं जिसे हम भूल
कहते हैं जिसे दुःखराग, वह मधुगान भी तो है।
(शम्भुनाथ सिंह)

जीवन तो वह जो चलता है
जो कभी नहीं झुकता नीचे, जो कभी नहीं मुड़ता पीछे।
जो फलता निर्जन के तरु सा, आदर जतनों से बिन सींचे
सौ बातों की जो बात छोड़, आगे ही सदा निकलता है।

अंगारों का नीड़, बिजलियों की जमघट
हर सुबह शाम इक नई अदा से जमता है।
आवारा अलकें, कशिश भरी आवाज़ों में
चट्टानों के मस्जिद पर मेला जुड़ता है
अपनी क़िस्मत की हँसी उड़ाता हूँ जब मैं
तब, स्वाभिमान तिरछी नज़रों से तकता है।
नित नये रक्त का फूल उगलता चलता है
(सुयोगी)

इन कतिपय उद्धरणों से गीतकारों का समाज के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट है। अन्य बहुत से गीतकार हैं किन्तु अन्यों में भी कमोवेश यही नज़रिया मिलता है। इसीलिए मैं गीतकारों को 'प्रगतिवादी' कहता हूँ। कला की दृष्टि से ये छायावाद और उर्दू की गज़ल से प्रभावित प्रतीत होते हैं। किन्तु दृष्टिकोण इनका नवीन है। इनका प्यार, इनका दर्द, इनकी मनुहार, और इनकी हाहाकार "सर्वथा व्यक्तिगत" कहीं नहीं है। इनके प्यार में उत्तरदायित्व है, आध्यात्मिकता नहीं, इनके 'दर्द' में स्वाभाविकता है, साम्प्रदायिकता नहीं, इनकी दृष्टि में केवल प्रेयसी नहीं, सारा विश्व है और इनके हृदय में केवल अपनी ही नहीं, दूसरों की भी खोज-खबर है। 'प्रेम' इनके लिए वासना का शोधन और दो आत्माओं की परस्पर प्रीति का नाम है। न इनमें छायावादियों जैसी अदेखे के प्रति रति है, न हालावादियों जैसी घरफूँक मस्ती, न माँसल-वादियों जैसी केवल 'स्थूल रति' और न संभोग की मात्र लालसा। इनमें प्रयोग-वादियों जैसी ओषधिरहित अनास्था, अनावस्थाग्रस्त निराशा, व्यर्थ की शंकाओं के प्रति अनुचित लालसा, और आरोपित लघुता भी नहीं मिलती। सिद्धान्तवादियों जैसी जड़ घोषणाएँ भी इनमें नहीं हैं, न पैग़म्बरी मुद्रा बनाकर ये कोरे संदेश देते हैं, आज के समाज की विषमता, परम्पराग्रस्तता, बेकारी, भूख, रोग

और अनिश्चतता के ये नवयुवक स्वयं शिकार रहें हैं अतः इनमें कटुता है किन्तु हताश क्रन्दन नहीं है, इनमें तलख़ी और तिलमिलाहट है किन्तु टूट कर तार तार हो जाने की प्रवृत्ति नहीं है। इनमें शारीरिक, मानसिक, और प्राकृतिक सौन्दर्य तथा आकर्षणों के प्रति आसक्ति है, किन्तु उसमें आवश्यक तटस्थता भी है। ऐसा नही लगता कि ये कवि केवल 'रूप-लिप्सा' तक ही अपने को सीमित रखना चाहते हैं। कठोर वर्ग-संघर्ष को स्वीकार करते हुए भी, शोषित और शोषक की स्पष्ट पहचान होने पर भी, ये कवि जीवन के अन्य पक्षों का भी चित्रण करते हैं। प्रारम्भिक प्रगतिवादियों की तरह व्यक्तिगत प्रेम और सामाजिक दायित्व के बीच द्वन्द्व न मानकर ये इन्हें एक दूसरे का पूरक मानते हैं। इन्हें प्रयोगवादियों की तरह यह भय नहीं है कि वर्गरहित समाज की स्थापना असम्भव है या यह कि 'स्वातंत्र्य' की भावना निरपेक्ष 'मानवमूल्य' है। वर्गभुक्त भारतीय समाज में आजकल हमारी स्वतन्त्रता की भावना पर किस प्रकार पग पग पर प्रहार होता है, किस प्रकार ऊपर से 'स्वतन्त्रता' की प्रतीति होने पर भी व्यवहार में 'स्वतन्त्रता' बन्धन का पर्याय बन जाती है, इस हक़ीक़त से ये वाक़िफ़ हैं अतः मानवमूल्यों की दृष्टि से ये कवि समाज के मूलाधार को बदलना चाहते हैं और अधिकार-विहीन विराट जनसमूह के लिए संघर्ष करने के लिए निम्नमध्यवर्ग के ये प्रतिनिधि कटिबद्ध दिखाई पड़ते हैं अतः इनके गीतों में "महानकला" का में अभी अभाव होने पर भी जिस सन्दर्भ में इनका उदय हुआ हैं, उस सन्दर्भ की दृष्टि से इनका 'विवेक' और उससे प्रेरित 'कला' कम प्रशंसनीय नहीं है। इनकी दृष्टि स्वच्छ है अतः 'कला' अभी और भी विकसित होगी। सत्दृष्टि से सही मार्ग की खोज होती है, पुनः 'गति' में 'त्वरा', 'सौन्दर्य, आदि तत्त्व स्वतः आते हैं। छावावाद को दृष्टि की स्वच्छता और नवीनता ने ही महान-कला दी थी। 'कामायनी' के पीछे उदात्त जीवन-दृष्टि ही काम कर रही है; अतः मैं जब इन गीतों की अधिक प्रशंसा करता हूं तो सम्भावना की दृष्टि से भी ऐसा करता हूँ। किन्तु कुछ प्रगतिवाद-विशेषज्ञ कहते हैं कि यह 'प्रयोगवाद' से भी ख़तरनाक प्रवृत्ति है ! यानी स्वयं प्रयोगवाद से वे इसलिए क्रुद्ध हैं; क्योंकि प्रयोगवाद के "कण्टेण्ट"—'कथ्य' के प्रति वे सहमत नहीं हैं और जब वही 'कथ्य' गीतकारों में मिलता है, तो कलागत श्रेष्ठता की कुछ कमी होने पर भी उस 'कथ्य' की भी प्रशंसा नहीं करना चाहते ! यह दिग्भ्रम ही कहा जाएगा। सर्वश्रेष्ठ काव्य एक दिन में नहीं बनता, फिर गतिकारों में एक विशिष्टता है। यदि सभी गीतकारों के चुने हुए गीतों का एक संकलन

प्रस्तुत किया जाय तो नये गीतों में कलागत श्रेष्ठता भी मिल सकती है। प्रकाशित व्यक्तिगत संकलनों में अभी कला की दृष्टि से अच्छे, बुरे सभी प्रकार के गीत शामिल कर लिए गए हैं। गीतकारों की चुनी हुई रचनाओं में कलागत उपलब्धि उपेक्षणीय नहीं है, यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है। प्रसाद, पन्त,निराला जैसे महाकवियों का रूप अभी भविष्य के गर्भ में है !

विचार की दृष्टि से 'नीरज' में 'मृत्युवाद' की बहुत चर्चा हुई है। मृत्यु 'प्रकृति' का अनिवार्य धर्म है, यह दृष्टि वैज्ञानिक है किन्तु संवेदनशील कवि के लिए 'मृत्यु' एक चुनौती के रूप में प्रतीत होती है। मृत्यु से मनुष्य की आशा, आकांक्षा, स्वप्न, निर्माण आदि तत्त्व अवश्य 'कंडीशंड' होते हैं, 'प्रेम' में मृत्यु की अनुभूति 'प्रेम' को एक उपहास का रूप देती हैं, सौन्दर्य क्षणिक और भ्रम सा प्रतीत होने लगता है, "अन्य सामाजिक सम्बन्धों से मैं बिछुड़ जाऊँगा"--यह अनुभूति तीव्र होकर कहने के लिए विवश करती है, यह 'मृत्युवाद' नहीं है। मृत्युवाद वह है जो सर्वत्र मृत्यु के दर्शन करे और 'मुक्ति' का उपाय न दिखाई पड़े। 'आशा' मृत्यु पर विजय का दूसरा नाम है। इसके सिवा 'मृत्यु' जीवन का नाश नहीं करती, नवीन के जन्म की आवश्यक शक्ति भी बनती है। पिता-माता अपनी मृत्यु नए जीवन के लिए स्वीकार करते हैं, पुष्प फल के लिए अपना जीवन दान करता है अतः प्रकृति मृत्यु के बावजूद 'चिर नवीना' बनी रहती है, यह दृष्टिकोण यदि कवि में नहीं मिलता तो वह अवश्य मृत्युवादी है। नीरज में कतिपय स्थलों पर मृत्युवाद के स्वर अवश्य हैं परन्तु क्रमशः उसमें 'जीवनवाद' का विकास भी हुआ है। विज्ञान जब तक 'मृत्यु' पर विजय नहीं पा लेता, तब तक प्रियजनों की मृत्यु पर और अपनी मरणोन्मुख जीवन-गति देखकर उत्पन्न होने वाली अनुभूतियों का वर्णन अवश्यम्भावी है, क्योंकि यह अनुभूति आरोपित नहीं, वास्तविक है। इसी प्रकार विवेकशील कवि मृत्यु पर जीवन का जयनाद भी घोषित करते रहेंगे, नीरज में भी यह 'जयनाद' मिलता है।[1]

मुझे अन्य गीतिकारों में विसंवादी स्वर बहुत कम दिखाई पड़ते हैं और यह प्रसन्नता का विषय है।

---

१. मृत्युवाद—जन्म है यहाँ मरण त्यौहार,
दबा लकड़ियों के नीचे पुरुषार्थ पार्थ का सारा।
अरे कृष्ण पर क्षुद्र बधिक का तीर व्यंग्य सा करता।

भाव-प्रक्रिया—गीतकारों के गीत शुद्ध रसवादी परम्परा के काव्य में आते हैं। रसवाद का लक्षण यह है कि उसमें किसी एक स्थायी भाव को अन्य नाना भावनाओं से संपुष्ट करके चित्त को लय करने का प्रयत्न किया जाता है। कल्पना दुर्बल होने तथा शब्द-शक्ति पर अधिकार न होने से रसवादी काव्य भावुकता-आतिशय्य (Sentimentalism) में बदल जाता है। किन्तु रस-समाहित चित्तवृत्ति कल्पना और अभिव्यक्ति कुशलता से संपुष्ट होकर उच्च कोटि के काव्य की सृष्टि करती है।

गीतकारों पर भावुकताआतिशय्य, पुनरावृत्ति, बुद्धितत्व के अभाव और कल्पना की दुर्बलता का आरोप लगाया जाता है। यह सत्य है कि अनेक गीतकारों में छिछलापन मिलता है, चित्तवृत्ति का गांभीर्य सभी में सम्भव भी नहीं है। एक ही गीतकार के कई गीतों में यह दोष मिलत। है किन्तु बहुत से गीतों में सफल काव्य भी मिलता है। डा० देवराज ने 'धरती और स्वर्ग' नामक अपने काव्य संग्रह की भूमिका में लिखा है कि आज का काव्य मूल वासनाओं से दूर पड़ता जा रहा है। प्रयोगवाद के विषय में यह आपत्ति ठीक है किन्तु गीतों के विषय में यह आरोप सही नहीं है। गीत आज भी मूल-प्रवृत्ति से जुड़ा हुआ है, देखना यह है कि उसकी अभिव्यंजना में उपयुक्त कौशल है या नहीं अथवा भावमग्नता की स्थिति में कवि जीवन की अन्य दशाओं के साथ उस मूल प्रवृत्ति को सम्बद्ध कर पाता है या नहीं।

स्वयं डा० देवराज की "माँ को देखूँ मैं या शिशु को" में वात्सल्य-रति की व्यंजना मार्मिक हुई है, यद्यपि अभिव्यक्ति स्वाभावोक्तिपरक है।

हाय राम का शव सरयू में नंगा तैर रहा है।
सीता का सिन्दूर अवध में करता हाहाकार।
(विभावरी)

जीवनवाद—बन्द कूलों में समुन्दर का शरीर।
किन्तु सागर कूल का बन्धन नहीं है।

रुके न जब तक साँस न पथ पर रुकना थके बटोही।

मैं तूफानों में चलने का आदी हूँ,
तुम मत मेरी मंजिल आसान करो।

मैं अकम्पित दीप प्राणों का लिए,
यह तिमिर तूफान मेरा क्या करेगा।
(वही)

विश्व-शान्ति पर लिखी हुई गीतकारों द्वारा कविताओं में कहीं-कहीं वात्सल्य-रति का चित्रण मोहक हुआ है। कहीं-कहीं अप्रस्तुत-विधान के रूप में शिशुओं की सरलता और उनकी निश्छल मुस्कान का वर्णन है परन्तु गीतों का मुख्य रस 'शृङ्गार' ही है। कहीं वह माध्यम के रूप में है और कहीं साध्य के रूप में। गीतकार छायावाद की परम्परा में प्रेयसी के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन करता है अन्तर सिर्फ यह है कि वह किसी परोक्ष-सत्ता के साथ उस सौन्दर्य का सम्बन्ध नहीं जोड़ता। सौन्दर्य की मोहकता का वर्णन कहीं तटस्थता के साथ है, कहीं प्रेयसी के सौन्दर्य में प्रेमी की आसक्ति भी सम्पृक्त होकर चली है, कहीं-कहीं यह आसक्ति 'रमणेच्छा' अथवा 'रिरिसा' का रूप धारण कर लेती है जो अंचल के परवर्ती छायावाद की विशेषता थी। 'धर्मवीर भारती' की कतिपय रचानओं में यह 'रिरिसा' सबसे अधिक मिलती है। छायावाद के बाद इसे 'पतनोन्मुख' अथवा 'डिकेडेण्ट' भी कहा गया है—

तुम्हारे स्पर्श के ही ज़ुल्म से, संयम न टिक पाता !
इन फीरोज़ी होठों पर, बरबाद मेरी ज़िन्दगी !
तुम्हारे स्पर्श की बादल घुली कचनार नरमाई।
तुम्हारे वक्ष की जादूभरी मदहोश पुरवाई।
तुम्हें आदिम गुनाहों का अजब सा इन्द्रधनुषी स्वाद ?

"भारती" में सौन्दर्य रीतिकालीन उत्तेजक विलास का रूप धारण करता दिखाई पड़ता है।

इसके विपरीत जगनाथ नलिन के धरती वे बोल में तटस्थ दृष्टि से सौन्दर्य-अंकन किया जाता है—

आरही नर्तकी क्षिप्त-चरण गुंजरित विमल।
जड़ तुहिन-तिमिर विचलित प्रेरित,
आलात-चक्र सा घूम रहा व्याकुल अधीर।
झीनी सी पीली ज्योति अमर
छटपटा रही कृष-तन्वी सी तम-वक्ष चीर !

नवीन गीतकारों में "त्यागी" में सौन्दर्य-चित्रण का अभाव मिलता है, उनमें अपने मन की प्रतिक्रिया, ज़माने से शिकायत आदि का वर्णन अधिक है। 'राही' में यत्र तत्र चित्रण मिलता है परन्तु नवीन चित्रण संश्लिष्ट नहीं है, कवि जम कर चित्रण नहीं करता—

कुछ वैसे ही लोचन, लोचन का सूनापन,
झुकी-झुकी सी पलक, निगाहें उन्मन-उन्मन।

बिलकुल वैसी ही बिखरी-बिखरी सी अलकें,
बिल्कुल वैसा ही अधरों का मादन-कम्पन।

वीरेन्द्र मिश्र ने भी सौन्दर्य का चित्रण यत्र-तत्र ही किया है। नीरज में भी अपने मन की प्रतिक्रियाओं का वर्णन ही अधिक है। शम्भूनाथसिंह ने यत्र-तत्र मोहक चित्र खींचे हैं और उनमें तटस्थता भी है, सौन्दर्य की महत्ता पर भी ध्यान है—

कम्प सा तन, तुम शरद की धूप सी
प्रश्न सा मन, तुम विराट स्वरूप सी
लाजवन्ती आँख, तुम कर का परस
हिमशिला मैं, तुम लपट के स्तूप सी। (माध्यम मैं)

परन्तु ऐसे चित्रण यत्र-तत्र ही हैं। घनश्याम अस्थाना के "भोर के सपने" में कतिपय मोहक चित्र हैं। यह विचित्र तथ्य है कि 'प्रेम' में आकंठ निमग्न होने की घोषणा करने वाले कवि भी सौंदर्य का चित्रण नहीं करते। शिवमंगलसिंह 'सुमन' के काव्य संग्रह का शीर्षक है, "पर आँखें नहीं भरीं" परन्तु "शरद सी तुम कर रही होगी कही शृंगार" को छोड़कर सौन्दर्य का चित्रण कहीं नहीं है।

अतः नवीन गीतों में विप्रलम्भ का चित्रण अधिक हुआ है और यह भी कुछ नए ढंग का है। गीतकार उर्दू के कवियों की तरह इधर अपनी बीती का वर्णन अधिक करता है। अर्थात् गीतकार अपने मन की प्रतिक्रिया को, विरहानुभूति से कभी-कभी अधिक महत्त्व दे जाता है, इससे एक लाभ यह है कि प्रत्येक कवि की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ भिन्न-भिन्न उपालम्भ, भिन्न-भिन्न 'प्रेम' की परिभाषाएँ, और भिन्न-भिन्न जीवन सत्य मिलते हैं। जीवन के प्रति कवियों का दृष्टिकोण भी ऐसे ही स्थलों पर व्यक्त होता है अतः नवीन गीतों के 'विरह' में व्यक्तिगत तत्त्व अधिक मिलता है परन्तु वह इतना विचित्र नहीं होता कि सामान्य पाठक उसके साथ तालमेल न बिठा सके। जहाँ मन की प्रतिक्रियाओं को सामान्य जीवन सत्य बना बना कर कहने की प्रवृत्ति है, वहाँ काव्य-कौशल अधिक होने पर भी 'रस दशा' नहीं आपाती, त्यागी के गीतों में यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है और इसके विपरीत 'नीरज' में यत्र-तत्र किसी अनुभूति में पाठक को रमाने की प्रवृत्ति अधिक है, नीरज में भावोच्छ्वास अधिक है—

काँपता तम, थरथराती लौ रही
आज अपनी भी न जाती थी कही।

लग रहा था कल्प सा हर एक पल
बन गई थी सिसकियाँ साँसें निकल
पर न जाने क्यों उमर की डोर में,
प्राण बाँध तिल-तिल सदा गलता रहा।

यहाँ भाव में डूबने की प्रवृति है। इसी तरह 'त्यागी' के "जैसे कोई बनजारा लुट जाए, ऐसा खोया खोया है मन" में भी यही एक भाव में रमने की प्रवृत्ति है किन्तु अधिकांश गीतों में 'त्यागी' प्रेमिका या ज़माने की शिकायत अधिक करते हैं। "मेरे होठों को ताला पहना कर, तुमने पाँवों का बन्धन तोड़ दिया, मुझ पर इतना अहसान तुम्हारा है" अथवा "मैं उम्र पिलाकर भी तुमको तुमसे खुश हूँ, तुम ज़हर पिलाकर भी मुझ से नाराज़ मगर" अथवा "मुझे क्षमा कर दो जगवालो, अब न कभी मन बहलाऊँगा" अथवा 'स्वप्न सा बोलो अयाचक कौन होगा, मर गया माँगा न दुनिया से कफ़न भी' जैसी गीतियों में यही प्रवृत्ति है। अतः 'त्यागी' में एक अनुभूति विदग्धता के साथ व्यक्त होती है किन्तु वह एक हल्का सा आघात कर समाप्त हो जाती है। अनुभूति में निमग्न कर देना जैसे कवि को इष्ट नहीं है अतः 'रस' के स्थान पर 'भावाभिव्यक्ति' की प्रवृत्ति 'त्यागी', राही, रंग जैसे कवियों में अधिक दिखाई पड़ती है। वैदग्ध्य के अभाव होने पर परम्परागत अनुभूति छिछली हो जाती है किन्तु 'त्यागी' अन्य गतिकारों से अधिक इसीलिए होनहार दिखाई पड़ते हैं कि उनमें उक्ति को आकर्षक बनाने की कला अधिक है—

अतृप्ति—गंगा मैया तेरे तट पर बस कर भी मैं रहा पिपासित
अपने प्यासे अधर दिखाकर सागर से यह बात कहूँगा !

आंतरिक गुणों पर रीझ—मन की उजली किरनों से बाँध मुझे
काजल की डोरी पर विश्वास न कर !
शब्दों के इतने बाण नहीं साधो,
आँसू की हलकी चोट बहुत होगी।

फिर इस गुणप्रियता को आगे कवि व्यक्त नहीं करता, सामान्य सत्यों या परिभाषाओं में फँस जाता है—

जीवन सपने की कल्पित काया है
चेतनता केवल माटी का भ्रम है
पायल जिसको हँसकर दोहराती है
वह पग की मजबूरी का सरगम है !

राग या विराग में जब तक कवि मग्न होकर, मग्न बना नहीं रहता, उस मग्नता को अन्य अनुभूतियों से पुष्ट नहीं करता, तब तक तल्लीनता उत्पन्न नहीं हो सकती। उक्त सभी कवियों में अभी यह कमी है। हलकेपन का यह भी एक कारण है। अपेक्षाकृत 'नीरज' में निमग्नता अधिक है "अभी न जाओ प्राण-प्राण में प्यास शेष है" अथवा "आज मेरी गोद में शरमा रहा कोई, चाँद से कह दो नहीं वह मुस्कराए" अथवा "एक गीत गा रही है जिन्दगी" में एक ही धारणा अथवा अनुभव को दूर तक चित्रित करने की प्रवृत्ति है।

नाना गीतों में इतना आँसू और दरद का इज़हार होने पर भी "अपि ग्रावा रोदति" वाली गम्भीर संवेदना की कमी का कारण है कि गीतकार ठहर कर एक अनुभव को अन्य नाना अनुभवों से पुष्ट नही करना चाहते। कला की यह पुरानी किन्तु श्रेष्ठ पद्धति थी, इधर इसका ह्रास हो रहा है, फिर भी गीतकारों में 'भाव' को ही काव्य का प्राण माना जाता है, 'विचारणा' को उसका अंग माना गया है अतः वह सीधी रस-काव्य के मार्ग पर चलती दिखाई पड़ती है।

यदि हम कालिदास, पन्त, निराला आदि को ध्यान में रखकर न देखें तो इधर के गीतकारों में लघु भाव-खण्डों की आकर्षक अभिव्यक्ति हुई है। प्रयोगवादियों का यह आरोप मिथ्या है कि गीतकार प्रवृत्तियों से ऊपर उठना नहीं चाहते! प्रेम का जो रूप इधर वर्णित हुआ है, वह 'सामान्य' है, उसमें वैयक्तिकता व्यक्तिवैचित्र्य नहीं बन गई और न 'प्रेम' को 'व्याधि' के रूप में स्वीकार किया गया है। अन्य जो कुछ कवियों को कहना है, उर्दू वालों की तरह वे 'प्रेम' के माध्यम से कह गए हैं अतः उसमें उपदेशवाद नहीं आ पाया। इसके सिवा इन गीतकारों का प्रेम आरोपित नहीं लगता है। जीवन संघर्ष की कठोर धूप से प्रेम के वृक्ष को हरा भरा रखने का साहस इन कवियों में अवश्य है, वह 'प्रेम जीवन का एक अंग है, अंगी वह कहीं नहीं बन पाता, यह भी इधर के गीतों की विशेषता है।

कल्पना, प्रकृति और अभिव्यक्ति-प्रक्रिया :—बार-बार यह कहा जाता है कि गीतकार का स्तर गिर गया है, वह गायक अधिक है, कवि कम। अंशतः यह आरोप सही है। कविता को जन-प्रिय बनाने के लिए प्रौढ़ता में कमी अवश्य आई है। छायावादी स्तर अब नहीं दिखाई पड़ता है। संश्लिष्टता के स्थान पर विश्लिष्टता इधर बढ़ी है। प्रसाद गुण बढ़ा है परन्तु स्तर भी गिरा है परन्तु सर्वत्र सब गीतों में ऐसा नहीं है। तालियों का ध्यान रखकर गीत भी

लिखे गए हैं जो कवि के मुख से प्रिय लगते हैं किन्तु प्रकाशित होने के बाद पढ़ते समय वे 'हलके' लगते हैं किन्तु ऐसे गीत भी अनेक हैं जो सरल भी हैं और मार्मिक भी और पढ़ते समय भी आनन्द देते हैं।

कल्पना का कार्य चित्रण है। गीतों में भावसंवलित चित्रण अधिक हैं। प्रेयसी के शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण कम है परन्तु प्रकृति और अपनी भावनाओं को मूर्त्ति देने की प्रवृत्ति अधिक है। प्रगतिवाद की 'स्वाभावोक्ति' न अपनाकर गीतकार "समाधि गुण" अधिक अपनाकर चले हैं। 'समाधि गुण' वहाँ होता है, जहाँ एक वस्तु के धर्म से दूसरी वस्तु को युक्त कर दिया जाय। छायावाद इसीलिए सुन्दर था क्योंकि उसने 'समाधि गुण' से जड़ प्रकृति और अशरीरी भावनाओं पर चेतन जीव की चेष्टाओं का आरोप किया था अत: काव्य की वास्तविक भाषा का निर्माण हो सका। यह विधि गीतकार भी अपनाते हैं।

बिजलियों के चीर पहने थी दिशा
आँधियों के पर लगाये थी निशा
पर्वतों की बाँह पकड़े था पवन
सिन्धु को सर पर उठाये था गगन
नील सर में नींद की नीली लहर
खोजती है भोर का तट रात भर (नीरज)

बूँदों की तकदीर पी गईं, ये कैसी जल भरी घटाएँ।
कोकिल का संगीत डस लिया, कलियाँ हैं या विषकन्याएँ।
आँख में काजल लगाए चाँद जिसको
तारकों के गाँव घर घर खोजता है —(त्यागी)

यह प्रक्रिया जड़ को चेतना और अमूर्त्त को मूर्त्त करने की कल्पना-शक्ति पर आधारित हैं। छायावाद जैसी प्रौढ़ता अभी गीतकारों में नहीं है परन्तु उनमें 'शक्ति' है और उसका विकास हो रहा है। दूसरे नवीनता के नाम पर व्यर्थ आपाधापी गीतिकारों में नहीं है। वे अनुभूति पर अधिक बल देते हैं, सामान्य अनुभूति पर ! अप्रस्तुतों का नित नया अनुसंधान कल्पना के हाथों अपने को बेच देना है। इसका अर्थ यह नहीं कि उनमें परम्परागत उपमान ही हैं। परन्तु "नवीन" की उनकी अनुचित भरमार नहीं है।

"शब्दस्वर वाला दुराहा, सिसकती शाम सा गमगीन, अपूजितमूर्त्ति सा चुपचाप, फागुन की आँखों में सांवन, (वीरेन्द्र मिश्र), खारे सागर से यमुना की

भाँवर, चहकती ड्योढ़ी, जैसे कोई बनजारा लुट जाए, ऐसा खोया-खोया है मन, पतझर की सूखी अलकें, आवारा बादल, सभ्य सितारे, (त्यागी) कोयले की खान की मज़दूरिनी सी साँझ, परकीया सी सड़क, गीले ईंधन से सुलगते प्राण, (नलिन) बालविधवा सी बरसती आँख (सरोज)।

इस प्रकार के अनेक नए उपमान गीतों में मिलते हैं परन्तु नए उपमानों के लिए गीत नहीं लिखे जाते। कोरा अप्रस्तुत विधान चमत्कारवाद है। जहाँ अलंकार अनुभूति को व्यक्त करने के लिए सहायक नहीं बनता अथवा अनुभूति से ध्यान हटकर जहाँ अप्रस्तुतों की चकाचौंध में मन फँस जाता है, वहाँ उच्चकोटि का काव्य नहीं माना जा सकता। चित्रण-शक्ति का चमत्कार वस्तु-व्यंजना में स्वतंत्र रूप अवश्य धारणा कर लेता है किन्तु वहाँ भी वर्ण्यवस्तु के गुण, कर्म, द्रव्य आदि से ध्यान अधिक नहीं हटना चाहिए। अतः गीतकारों में कल्पना-वैभव कम मिलता है, भाव-वैभव अधिक है। 'कल्पना' भाव की सहायक रूप में ही गीतों में दिखाई पड़ती है।

प्रकृति कल्पना के नेत्रों से देखने पर ही 'सुन्दर' दिखाई पड़ती है अन्यथा वह जड़ और नीरस लगती है। कल्पना ही जीवन और प्रकृति की खाई को भरती है। गीतों में 'प्रकृति' न तो कवि के लिए शरणस्थली है, न प्रकृति पुरुष (ब्रह्म) के दर्शन का माध्यम है जैसा कि छायावाद में होता था। प्रकृति प्रेरणा का स्रोत, सौन्दर्य का आधार और प्रेम की परिधि के अंतिम छोर सी प्रतीत होती है। 'सुमन' ने प्रकृति का प्रिया पर सुन्दर आरोप किया हैं, काश ! ऐसी रचनाएं और अधिक होती—

शरद सी तुम कर रही होगी कहीं शृंगार।
कांस सी मेरी व्यथा बिखरी चतुर्दिक
बाढ़ सा उमड़ा हृदयगत प्यार।
आ रही होगी उड़ाती नील-अंचल
लोल लहरों का प्रशान्त-प्रसार
देखने को नयन-खंजन विकल चंचल
वक्ष की धड़कन उभार-उतार !
कब ढलेगी दूधिया-मुस्कान गंगातीर !
(पर आँखें नहीं भरीं)

प्रकृति में मन का प्रतिबिम्ब—

तुम-प्रतीची के पगों में, चू पड़ा निष्प्राण फल सा पीत दिनकर।
जड़ तुहिन-पुंजित सघन तंद्रिल कुहासा, रेंगता आता भयंकर

तारिकाएँ चकित, बीहड़ में भ्रमित मन, कल्पना का पंथ संकुल !
दबे कंठ कठोर तम की चुटकियों में, चीखता व्याकुल कराकुल !
छटपटाता मुक्ति का संघर्ष, पर बेकार !
उतर आयी साँझ, तम के मौन पंख पसार ! (नलिन)

नीरज ने प्रचलित प्रतीकों को ही प्रकृति से चुना है, दीपक, शलभ भ्रमर आदि। उर्दू का भी यह प्रभाव है। हम पीछे दिखा चुके हैं कि उर्दू का कवि कतिपय प्रतीकों द्वारा ही गहन अनुभूतियों को व्यक्त कर लेता है। अत: "काँपता तल थरथराती लौ रही" जैसी प्रचलित पंक्तियाँ ही नीरज में अधिक हैं, मानवीकरण से कुछ वैचित्र्य अवश्य उत्पन्न कर दिया गया है।

प्रकृति : अभिव्यक्ति का माध्यम—सूर्य पी रहा समुद्र की उमर
और चाँद बूँद-बूँद हो रहा।
बूँद गोद में लिए अँगार है।
ओठ पर अँगार के बहार है !
सूर्य उठाए हुए चाँद की अर्थी निज कन्धों पर।
और कली के सम्मुख उपवन का कंकाल पड़ा है !

नीरज में पिष्टपेषण अधिक मिलता है, मुरझाए हुए प्रकृति के उपकरणों का प्रयोग गीत को 'हलका' कर देता है—

अंगार अधर पर धर मैं मुस्कया हूँ।
मैं मरघट से ज़िन्दगी बुला लाया हूँ।
अथवा
बन्द मेरी पुतलियों में रात है।
हास बन बिखरा अधर पर प्रात है।
ज़िन्दगी का नाम ही बरसात है।

नीरज इसी 'नक़ल' से इधर कुछ अप्रिय होते जा रहे हैं, उनमें ताज़गी की जगह 'बासी' उक्तियों और "बासी-प्रकृति चित्रण" बहुत मिलते हैं।

'त्यागी' में भी प्रकृति का स्वतंत्र स्वरूप नहीं है, 'प्रेम' का वह माध्यम भर है, अपने मन को मूर्त्तित करने का सहारा मात्र—

जो समुन्दर की सतह पर तैरती है बाल खोले—
अब उसी बाग़ी लहर के हाथ का कंगन बनूँगा।
बिजलियों की बेरहम चेतावनी पर
मुस्करा भर दूँ, अगर, वे रो पड़ेंगी

है नियम इनका उजाले से लड़ेंगीं
जो अँधेरा हो, उसे सिर पर जड़ेंगी
जो अनल का पुत्र होकर जन्म देता है दिये को
मैं उसी तपसी अँगारे का दहकता तन बनूँगा।

ऐसी रचनाओं में 'मैं' का महत्व अधिक है, प्रकृति का नहीं।

प्रकृति को स्वतंत्र रूप से देखकर उसके चित्रण का प्रयत्न नए गीतकारों में अपेक्षाकृत कम दिखाई पड़ता है, यह दोष है, गुण नहीं। नवकवियों में जगतप्रकाश चतुर्वेदी, देवेन्द्र शर्मा इन्द्र और घनश्याम अस्थाना के कतिपय चित्र मोहक हैं। विशेषकर जगतप्रकाश ने लोकछवि पर कुछ अच्छे गीत लिखे हैं। डा० देवराज ने 'शशि' का कैसा सुन्दर वर्णन किया है। यथावस्तु-वर्णन भी आकर्षक हो सकता है, यदि कवि में प्रकृति के प्रति प्यार हो। सुन्दर और महान वस्तुओं के वर्णन में 'स्वाभावोक्ति' भी पर्याप्त सौन्दर्य की सृष्टि कर देती है—

छोटी सी शशि, काली, काली उसकी आँखें
भोला भोला उसका मुखड़ा
शुचि सरल दृष्टि, उल्लसित सरल
निर्मल कपोल, हँसना, उजला !
नन्हीं सी शशि, हलकी देहयष्टि
धीरे चलना, धीमें हिलना
कोमल किशलय से अधरों से
मधुमयी स्वर्ण-द्युति में खिलना !
शशि सुकुमारी, फूलों के कोमल कम्पन सा
उसके गृदु अंगों का स्पन्दन !
संचित परिमल सी मृदुल साँस,
स्वर बालखगी सा श्रुतिमोहन !

ऐसा प्रतीत होता है जैसे पुनः छायावाद जीवित होरहा हो ! मैं डा० देवराज से सहमत हूँ कि हिन्दी में काव्य में विचारों, धारणाओं और अप्रस्तुत-विधान की व्यर्थ आपाधापी से क्लान्त हो लेने के बाद पुनः 'स्वच्छन्दतावाद' का उदय होगा। वस्तुतः गीतकारों के कतिपय गीतों में उसकी झलक मिलने लगी है, लोकगीतों के आधार पर इसका विकास होगा, ऐसा प्रतीत होता है। सौन्दर्य जैसा है, जहाँ भी है, उसकी पकड़ होनी ही चाहिए

क्योंकि सौन्दर्य-दर्शन हमारी प्रवृत्तियों के परिष्कार की एकमात्र ओषधि है मानवता में जो अपरिपम्वता और पंकिलता रहती है, उसका शोधन सौन्दर्य ही करता है !

अभिव्यक्ति कुशलता पर प्रगतिवाद के बाद बहुत बल दिया गया है। प्रगतिवाद में सरलता की झौंक में काव्य, प्रकृति-वर्णन के क्षेत्र में वस्तुपरिगणन, भावों के वर्णन में छिछला भावोद्गार और विचारों के वमन में पद्यवद्ध समाचारपत्रीयत्व से संयुक्त होने लगा था अतः दोस्तों और दुश्मनों, दोनों ने प्रगतिवाद की इस कमी पर प्रहार किए। फलतः उक्ति को आकर्षक बनाने पर बल दिया जाने लगा। 'अश्क' के "चाँदनी रात और अजगर" में यह प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई पड़ती है कि कवि कथन-प्रणाली को आकर्षक बनाने में दत्तचित्त है। 'भाव' अपने में मनोविज्ञान का विषय है और 'विचार' शास्त्र का विषय है, किन्तु जब ये काव्य बनते हैं तब इन्हें आकर्षक उक्ति का माध्यम स्वीकार करना पड़ता है अन्यथा उनकी संज्ञा 'काव्य' न होकर मनोविज्ञान या दर्शन होगी। इसीलिए हमारे यहाँ "विशिष्ट उक्ति" को ही काव्य कहा गया था। प्रत्येक उक्ति यदि काव्य होगी तो" हे राजा ! घृतसूप समन्वित भोजन दो" इसे भी क्राव्य मान लिया गया होता !

गीतकारों का ध्यान इसीलिए इधर उक्तिकौशल पर अधिक दिखाई पड़ता है, सीधा भावोद्गार अब पसन्द नहीं किया जाता। 'प्रगल्भता' का इसी कारण 'त्यागी' में अधिक विकास दिखाई पड़ता है। 'नीरज' में प्रगल्भता' की मात्रा पर्याप्त है। 'नलिन' में 'रस' और व्यंग्य तो है परन्तु लाक्षणिक वैचित्र्य कम है अतः 'धरती के बोल' चर्चा का विषय नहीं बन सका। डा० कमलेश कविसम्मेलनों में खूब पढ़ते हैं परन्तु वह पीछे पड़ गए हैं क्योंकि उनमें विदग्धता का अभाव है। भावोद्गार मात्र को इधर कम महत्त्व मिल रहा है। 'अभिधा' 'आउट आफ़ डेट' होती जा रही है। द्विवेदीयुग के अनेक कवि अभी जीवित हैं, हरीशंकर शर्मा की कविताएँ अब क्यों पिछड़ी हुई मानी जाती हैं ? क्योंकि इनमें वैदग्ध्य नहीं है, नई कल्पना और नया अप्रस्तुत-विधान नहीं है। यह हर कवि जानता है कि साहित्य विक्री की वस्तु बन गया है किन्तु "गीत फ़रोश" शीर्षक कविता में भवानी० मिश्र ने जिस ढंग से व्यंग किया है, उस ढंग से अन्य कोई कवि प्रस्तुत नहीं कर सका अतः 'गीत फ़रोश' हिन्दी संसार में बहुत आदृत हुई, यदि इसमें सीधा उद्गार होता या कोरी हुंकार होती, तब यह प्रभाव न रह पाता !

कतिपय गीतकारों ने इसके लिए पुरानी व्यंजना न अपनाकर उर्दू की वक्रोक्ति अधिक अपनाई है। 'नीरज' पर इसका सबसे अधिक प्रभाव है, परन्तु 'त्यागी' और 'राही की जोड़ी पर भी इसका प्रभाव स्पष्ट है किन्तु हर जगह मौलिकता की रक्षा नहीं की जा सकी, न पिष्टपेषण से बचा जा सका है, यद्यपि बहुत स्थानों पर मौलिक विदग्धता भी है—

सम्भावना की विलक्षणता—

आने पर मेरे बिजली सी कौंधी सिर्फ तुम्हारे दृग में—
लगता है जाने पर मेरे सब से अधिक तुम्हीं रोओगे !
मैं आया तो चारण जैसा, गाने लगा तुम्हारे आँगन !
हँसता द्वार, चहकती ड्योढ़ी, तुम चुपचाप खड़े किस कारण !
मुझको द्वारे तक पहुंचाने सब तो आए, तुम्हीं न आए !
लगता है एकाकी पथ पर मेरे साथ तुम्हीं होओगे !

यहाँ उक्ति का चमत्कार 'विरोध' पर आधारित किया गया है। यह 'विरोध' त्यागी का अपना अस्त्र है।

सिन्धु को घर खींच लाओ, तृप्ति को दासी बनाओ !
किन्तु ये घर से नयन बिकते नहीं हैं।

यहाँ भी सिन्धु और बिन्दु में विरोध देखकर ही आँसुओं को समुद्र के सम्मुख खड़ा किया गया है।

इसी तरह कंचनकलश और खारे आँसू, यज्ञ और गीत, शोर मचाने वाली आँधी और मौन बने तूफ़ान, शूल और मुस्कान, उम्र और ज़हर, जीवन की धूल और जन्मदिन, सूरज की अगवानी में मग्न संसार और बुझते दीपक के सिरहाने बैठा कवि आदि परस्पर विरोधी वस्तुओं, तथ्यों, धारणाओं, प्रतीकों अथवा भावनाओं को सम्मुख लाकर कवि चमत्कृत करना चाहता है। अपनी संवेदना की सच्चाई के कारण वह अपने कार्य में सफल होता है।

'राही' में यह कौशल उस मात्रा में नहीं है अतः कहीं-कहीं वह "सनीमा" के स्तर पर उतरते प्रतीत होते हैं :—

गाऊँ जब तक गीत, मीत तुम जगते रहना !

इसके बाद 'अभिधा' में तथ्यों का कथन—

तुम मूँदोगे पलक तमिस्रा घिर आएगी।
गीतों के चन्दा पर बिजली घिर आएगी !

इस शैली से गीत शिथिल लगने लगता है। अतः 'राही' में अभी बचपना बना हुआ है। वीरेन्द्र में भी यही प्रवृत्ति है। वीरेन्द्र समग्रतः 'कंठकवि' हैं अतः उनके मुख से जो गीत प्रिय लगते हैं, वही पढ़ने में हलके लगते हैं। प्रेरणा भरने के लिए सीधा मार्ग उपदेशक का होता है, कवि का नहीं—

तू सिसकती शाम सा गमगीन है
आ तुझे खिलती किरन तक ले चलूँ
गीत के रूपम गगन तक ले चलूँ।
स्वप्न तेरे उड़ गए आकाश से
तू पुजा तो आँसुओं के हार से

एकदम पिष्टपेष्टित उक्ति है। इसी तरह "आज मुझसे कहा गीत ने, मन किसी रूप का जीतने मौज से हार जा" अथवा "तुम्हारे प्यार की देहली बुलाती है मुझे, इसी से मैं तुम्हारे द्वार आया करता हूँ" आदि पंक्तियाँ बेदम प्रतीत होती हैं। नीरज उर्दू वालों के पगचिन्हों पर चलते हैं और कभी कभी चुपचाप उर्दू कवियों का अनुकरण भी कर डालते हैं अतः वैलक्षण्य का निर्वाह उनमें अधिक है—

जी उठे शायद शलभ इस आस में, रात भर रो रो दिया जलता रहा !
रूप की इस काँपती लौ के तले, यह हमारा प्यार कितने दिन चलेगा !
मत करो प्रिय ! रूप का अभिमान, क़ब्र है धरती, कफ़न है आस्मान !

नीरज की लम्बी रचनाओं में, यथा नील की बेटी के नाम, कानपुर के नाम, पाकिस्तान के नाम आदि रचनाओं में भी मौलिकता और मार्मिकता दिखाई पड़ती है। नीरज की उर्दू की हमजोली हिन्दी को न पढ़कर उर्दू ही पढ़ लेंगे, ऐसी इच्छा बार-बार मन में उठती है। वस्तुतः दोनों शैलियों का अपना-अपना आनन्द है, अपनी-अपनी सुगंधि और कला। इसीलिए ही नीरज की रुबाइयाँ सफल नहीं हो सकीं और आचार्य कमलेश की रुबाइयाँ प्रभावित कम करती हैं, मनोरंजन अधिक करती हैं। "स्ट्राइकिंग" और अप्रत्याशित गिरान से युक्त अंतिम पंक्ति के बिना रुबाई कामयाब हो नहीं सकती।

नवकवियों की सूची विस्तृत है, यहाँ कतिपय गीतकारों पर ही विचार किया गया है किन्तु इससे गीतकारों की सामान्य उपलब्धि और कमियों का एक अन्दाज़ हो सकता है। नवीनतम गीतकारों में जगत्प्रकाश चतुर्वेदी, देवेन्द्रशर्मा इन्द्र, त्रिलोकीप्रसाद शर्मा, कुन्दन, बृजेन्द्र राकेश, सच्चिदानन्द

तिवारी, गोपेश, क्षेम, सुधा, रसाल, शांति, पद्मा सुधि, कैलाश बाजपेयी, पाषाण, सुरेश अवस्थी, कीर्ति चौधरी, रामकुमार चतुर्वेदी, शेष, सोम आदि गीतकार और कवि गीतों में भी नए-नए प्रयोग कर रहे हैं। पुराने गीतकारों में हंसकुमार तिबारी, माखनलाल चतुर्वेदी, जानकीवल्लभ शास्त्री, गंगाप्रसाद पांडेय, बलबीर सिंह रंग, सुमन आदि अब भी सक्रिय हैं। अंचल और बच्चन तो नवगीतकारों से भी अधिक कार्यरत दिखाई पड़ते हैं।

इस प्रकार गीतकारों की एक अच्छी टोली हिन्दी में कार्य कर रही है। आज काव्य जब एक वर्ग द्वारा अधिक गद्यमय और विचार-बोझिल बनाया जा रहा है तब गीतकारों द्वारा प्रसाद, माधुर्य, संगीत और छन्द की रक्षा करना एक महत्त्वपूर्ण कार्य लगता है। कवियों में विचार तत्त्व की दृष्टि से स्वच्छन्दतावाद और मानवतावाद के स्वर इतने अधिक प्रबल हैं कि 'प्रेम' के मधुर अनुभव-वर्णनों द्वारा ये कवि 'तुमुल कोलाहल' में हृदय की बात कहते प्रतीत होते हैं, और साथ ही समाज की विषमता के भी ये विकट विरोधी हैं अर्थात् क्रान्ति के जय-घोष और मधुर प्रेम के कोमल पक्ष के उद्‌घाटन द्वारा ये गीतकार हिन्दी की जनवादी परम्परा का भार सँभाले हुए हैं। भाषा सरल होने और दूसरों के मन की बात कहने के कारण ये गीत-कवि अधिक जनप्रिय हैं। इनका भयंकर विरोध केवल प्रयोगवादी कर रहे हैं क्योंकि इनकी जनप्रियता उन्हें खटकती है। कवि सम्मेलनों और कवि गोष्ठियों द्वारा गीतकारों ने हिन्दी के प्रचार में अत्यधिक योग दिया है। बहुत से केवल कण्ठ कवि ही हैं, वे सीख रहे हैं, बहुत से कवि सम्मेलनों के लिए 'पौप्युलर' गीत लिखकर प्रौढ़ गीत और कविताएँ भी लिखते हैं। कुछ गीतकार कवि सम्मेलनों के पेशेवर कवि नहीं बनना चाहते। उनके गीत केवल प्रकाशित ही होते हैं किन्तु इससे उन्हें अपना एक स्तर सुरक्षित रखने में सुविधा भी रही है। कवि सम्मेलनों में उर्दू की नक़ल बहुत होने लगी हैं, यहाँ तक कि कवि सम्मेलनों में 'मयख़ाना' और 'साक़ी' के बिना अब काम नहीं चलता दीखता। हिन्दी के नवयुवक कवियों की इस प्रवृत्ति से हिन्दी बदनाम होगी, वैसे ही चारों ओर से उस पर प्रहार हो रहे हैं अतः छायावादियों ने जैसे अपना स्तर क़ायम किया था, वैसे ही गीतकार को नैतिकता और साहित्यकता के स्तर से पतित नहीं होना चाहिए। इसके सिवा 'गीतिकार' का अध्ययन प्रायः पिछड़ा हुआ माना जाता है। यह धारणा कुछ ग़लत भी है परन्तु इस आरोप में सत्य का अंश भी है। स्वच्छन्दतावादी कवि शेली, बायरन, गेटे, प्रसाद, रवीन्द्रनाथ आदि कवियों का अध्ययन कितना गंभीर था। तभी वे मनुष्य की मूल समस्याओं

का समाधान अपने काव्य द्वारा कर सके। जो दृष्टि आपकी है, जो रुचि आपकी है, उसके अलावा भी बहुत सी दृष्टियाँ और रुचियाँ हैं, इन सबसे परिचय होने पर ही अपनी दृष्टि का विस्तार होगा और रुचि का परिष्कार।

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है समग्रतः हिन्दी का नया गीत-काव्य केवल प्रगति के पथ पर ही नहीं है, वह एक मंजिल पूरी भी कर चुका है। इन यात्रियों में अभी कोई 'प्रसाद', 'निराला' या 'रवीन्द्र' नहीं दिखाई पड़ता परन्तु परिमाण से ही गुण का विकास होता है, इन शत शत सहयात्रिओं में बहुत से 'प्रसाद' छिपे होंगे, ऐसी आशा प्रकट करने में कोई आत्मप्रवंचना नहीं प्रतीत होती !

षष्ठ प्रवाह

प्रयोगवाद

समाज को बदलने के लिए जिस प्रकार समाजवादी शक्तियाँ संगर्ष कर रही हैं, उसी प्रकार आज साहित्य में 'प्रगतिवाद' संघर्ष कर रहा है। समाजवादियों में अनेक भेद हैं, किन्तु इनमें 'वैज्ञानिक समाजवाद' केवल 'साम्यवाद' को माना जाता है। समाजवादी जनतन्त्र में विकास करते हैं, अनेक राजनैतिक दलों की आवश्यकता मानते हैं और 'संसद' व्यवस्था को अधिक आवश्यक मानते हैं। साम्यवादी देशों में एक ही राजनैतिक दल है और 'सर्वहारा' की तानाशाही वहाँ स्थापित है। समाजवादी दल, जैसे लोहियापार्टी व पी० एस० पी० इसे वैयक्तिक स्वतन्त्रता का हनन कहते हैं क्योंकि एक दल के द्वारा जनता की आवाज दब जाती है। साम्यवादी भी सामजिक क्रान्ति के लिए जनतान्त्रिक व्यवस्था को स्वीकार करते हैं। भारतीय साम्यवादी दल अब वैधानिक तरीकों से ही 'क्रान्ति' को सम्भव मानता है। 'यशपाल' के नवीनतम उपन्यास "झूठा और सच" में यही विचार "अब" व्यक्त हुआ है। किन्तु 'साधनों' के सम्बन्ध में मतभेद होनें पर भो सभी समाजवादी यह मानते हैं कि वर्ग-रहित समाज के निर्माण के लिए निजी पूँजी पर जनता का अधिकार होना चाहिए। प्रतियोगिता के स्थान पर 'सहयोग' के आधार पर उत्पादन-व्यवस्था आधारित होनी चाहिए। हमारी राष्ट्रीय सरकार ने भी लक्ष्य के रूप में 'समाजवादी' व्यस्था को ही ध्वीकार किया है। साधनों के सम्बध में मतभेद अवश्य है परन्तु 'लक्ष्य' के विषय में कोई मतभेद नहीं है।

इसके विरुद्ध राजनीति में पूँजीवादी चिन्तन भी चल रहा है जो 'प्रतियोगिता' को ही विकास का आधार मानते हैं। ऐसे लोग समाज में परिवर्त्तन के हामी न होकर "व्यक्तिगत आज़ादी" पर अधिक बल देते हैं।

ये समाज में एक राजनैतिक दल को स्वतन्त्रता का नाशक मानते हैं किन्तु पर कतिपय व्यक्तियों का 'आर्थिक सर्वाधिकार' का समर्थन करते हैं, यद्यपि उसे स्पष्ट कहते नहीं हैं। 'अमेरिका' का 'फ्रीइण्टर प्राइज़' या 'स्वच्छन्द उत्पादन' और 'उद्योग' का सिद्धान्त इन्हें अधिक पसन्द है फलतः रूस और चीन आदि साम्यवादी देशों की प्रत्येक बात से ये लोग घृणा करते हैं। साहित्य में यही प्रवृत्ति 'प्रयोगवाद' के रूप में प्रचलित हुई, जो प्रगतिवादी मान्यताओं के विरुद्ध "मान्यताओं और मानव-मूल्यों" का प्रचार कर रही है। जिस प्रकार प्रगतिवादियों में कुछ उग्रवामपंथी, कुछ जनतंत्रवादी, कुछ मध्यम मार्गमतावलम्बी हैं, उसी तरह प्रयोगवादियों में भी कुछ साम्यवाद और समाजवाद के चरम शत्रु हैं, कुछ नरम नीति अपनाते हैं और कुछ योरोप के उन कवियों और विचारकों के अनुगामी हैं जो समाजवाद-विरोधी हैं जैसे इलियट, जीनपाल सार्त्र आदि। किन्तु यह स्मरणीय है कि प्रारम्भ में 'प्रयोगवाद' एक साहित्यिक विधा (Form) अथवा रीति के रूप में ही प्रचलित हुआ था अतः बहुत से प्रगतिवादी केवल 'विधा' के अनुगमन-कर्त्ता बनकर सम्मुख आए, ये भी 'प्रयोगवादी' कहलाते हैं किन्तु ये केवल शैली की दृष्टि से ही 'प्रयोगवादी' हैं, विचार की दृष्टि से ये प्रगतिवादी हैं। सामान्य पाठक इस अन्तर को नहीं समझ पाता परन्तु विचारतत्त्व की दृष्टि से "प्रगतिवादी प्रयोगवाद" और प्रगतिवाद-विरोधी प्रयोगवाद—ये दो रूप स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं।

सन् १९४३ ई० में 'तार सप्तक' के प्रकाशन से हिन्दी में प्रयोगवाद का प्रारम्भ माना जाता है। 'अज्ञेय' जी ने वस्तुतः 'विधा' के आधार पर विभिन्न विचारधाराओं के कवियों की नई शैली की कविताओं को 'तारसप्तक' में संकलित किया था। इन कवियों में डा० रामविलास शर्मा, नेमिचन्द जैन, भारतभूषण अग्रवाल और गजानन मुक्तिबोध जैसे प्रगतिवादी विचारक भी थे। प्रभाकर माचवे, भी "तब" साम्यवाद से प्रभावित थे और गिरजाकुमार माथुर साम्यवाद के विरोधी नहीं थे, प्रगतिशील थे। इन समाजवादियों को भी 'प्रयोगवादी' केवल शैली के कारण ही कहा जाना चाहिए वस्तुतः इनकी रचनाएँ "प्रगतिवादी प्रयोगवाद" के अंतर्गत प्रतिष्ठित की जानी चाहिए।

अज्ञेय ने 'तारसप्तक' की भूमिका में कहा था और उसे द्वितीय सप्तक की भूमिका में दुहराया भी कि 'प्रयोगवाद' कोई 'वाद' नहीं है। किन्तु 'प्रयोगवाद' वस्तुतः 'वाद' के रूप में प्रचलित हो गया और प्रारम्भ में अज्ञेय

भूमिकाओं तथा कविताओं में समाजवाद-विरोधी विचारधारा तथा बाद में इलाहाबाद के कवियों द्वारा समाजवाद-विरोधी विचारधारा से 'प्रयोगवाद' वस्तुतः एक 'वाद' के रूप में प्रचलित हुआ। "नयी कविता के प्रतिमान" जैसी पुस्तकों, स्फुट लेखों, 'नयी कविता' की भूमिकाओं तथा कवियों की घोषणाओं में प्रगतिवाद-विरोधी जीवन-दृष्टि का रूप स्पष्ट हो गया। "नए मानव मूल्य," "अधिकार और दायित्व," आदि पर "आलोचना" नामक मासिक-पत्र में प्रकाशित लेखों (तब, जब 'आलोचना' के सम्पादक धर्मवीर भारती, 'साही' जगदीश गुप्त आदि थे) तथा 'निकष' जैसे "संकलनों" में प्रकाशित रचनाओं द्वारा भी प्रयोगवादी सिद्धान्त सम्मुख आए—जीवन, जगत् के प्रति तथाकथित इस 'नये' दृष्टिकोण से हिन्दी में 'प्रयोगवाद' स्पष्ट हुआ।

'वाद' का अर्थ सिद्धान्त-विशेष है। समाज और जगत् के प्रति सिद्धान्त की विशिष्टता के कारण 'वाद' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि 'प्रयोगवाद' के पास गम्भीर जीवन-दर्शन नही है, वह 'प्रगतिवाद' या 'अध्यात्मवाद' की तरह सभी तत्त्वों (Phenomena) की व्याख्या नहीं कर सकता परन्तु फिर भी प्रयोगवाद की कुछ मान्यताएँ हैं, जिन पर विचार आवश्यक है क्योंकि 'काव्य' का यही "वर्ण्य तत्त्व" है।

यहाँ यह कह रखना आवश्यक है कि नॅलिन विलोचन शर्मा, केसरी-कुमार और नरेश ने अपने नामों के आदि अक्षर को लेकर "नकेनवाद" चलाया, यह वस्तुतः केवल शैलीगत 'वाद' था और शैली में भी परम्परा का पूर्ण बहिष्कार चाहता था अतः इन तीन कवियों के साथ ही, यह 'वाद' सम्बद्ध है, हिन्दी में इसका प्रचार नहीं हो सका। प्रत्येक शब्द-प्रयोग में नवीनता लाना ही इसका लक्ष्य था। अतः 'नकेनवाद' की वैचारिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

प्रयोगवादी विचारधारा—हम कह चुके हैं कि हिन्दी-काव्य-सृजन मुख्यतः नए युग में निम्नमध्यवर्ग अथवा मध्यवर्ग के शिक्षित व्यक्तियों द्वारा हुआ है। सन् ३६ के बाद प्रगतिवादी विचारधारा के साथ तादात्म्य करने वाले कवि 'प्रगतिवाद' का पथ अपना कर चले। और प्रारम्भ में प्रगतिवाद से प्रभावित होने वाले किन्तु उसके साथ तादात्म्य न कर सकने वाले कतिपय नवयुवक क्रमशः इसके विरोधी होते गए। प्रारम्भ में प्रगतिवाद को परम्परा-वादियों का विरोध सहन करना पड़ा और बाद में प्रयोगवादियों का। प्रयोग-वादियों के असंतुलित और अपरिपक्व चिंतन के परिणामस्वरूप आज परम्परावादी

और प्रगतिवादी दोनों उसका विरोध कर रहे हैं। और यह विरोध 'शैली' का विरोध नहीं है, मान्यताओं का विरोध है। 'शैली' का विरोध इस देश में कभी भी नहीं चल सका। कवियों के "स्वभाव" के अनुसार अनेक 'रीतियाँ' हो सकती हैं, इसका निर्णय कुंतक के समय में ही हो चुका था—

"कविस्वभाव भेद निबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थानभेदः समञ्जसतां गाहते"

किन्तु काव्य केवल रीति मात्र नहीं है, उसमें कवि के दृष्टिकोण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विवेक 'भाव' का लक्ष्य निर्धारित करता है, अतः विवेक युगधर्म के विपरीत होने पर उच्चकोटि के काव्य का शत्रु साबित होता है। विवेक 'भाव' की सृष्टि भी करता है, यह भी स्मरणीय है।

चिन्तन का विकास—प्रभाकर माचवे के असुसार 'छायावाद' आत्मरति, मृत्यु-प्रेम और स्वप्नपूर्त्ति से ग्रस्त था। और प्रगतिवाद प्रदर्शन-प्रियता, औद्धत्य, परपीड़न-प्रेम और प्रचारवाद से !

हम देख चुके हैं कि यह आरोप अंशतः ही सत्य है अतः इस पर हम विचार नहीं करना चाहते।

'माचवे' के विचार केवल काव्य से सम्बन्धित है, इसी प्रकार अज्ञेय के विचार 'तारसप्तक' में केवल 'काव्य' से ही सम्बन्धित हैं:—

(१) कवि की सबसे बड़ी समस्या है काव्य-विषय की, सामाजिक उत्तरदायित्व की, संवेदना के पुनः संस्कार की।

(२) मुख्य समस्या है, साधारणीकरण की, और कवि की प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करने वाली सबसे बड़ी शक्ति यही है।

(३) प्रयोगवादी शब्दों के साधारण अर्थ में बड़ा अर्थ भरना चाहता है।

(४) नए क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए।

(५) प्रयोगवादी भाषा को अपर्याप्त मानकर विराम-सकेतों से, सीधी तिरछी लकीरों से, छोटे बड़े टायप से, सीधे या उलटे अर्थों से, लोगों और स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से·····उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचाना है।

(६) साधारणीकरण की प्रणालियाँ जम कर रुद्ध हो गई हैं।

(७) जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे पहुँचाया जाय, यही पहली समस्या है, जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।

यहाँ "सामाजिक दायित्व" शब्द को छोड़कर शेष सब 'अभिव्यक्ति' के विषय में ही कहा गया है। नए प्रयोगों का सभी स्वागत करेंगे, प्राचीन शैलियों का ही अनुकरण किया जाय, यह कौन कहेगा किन्तु उक्त तर्कों में नं० ५ महत्वपूर्ण है। इसने हिन्दी में घोर असंतुलन को जन्म दिया है। संवेदना कभी-कभी उलझी हुई भी होती है, परस्पर विरोधी विचारों की टकराहट हम सब महसूस करते हैं, कभी-कभी एक अस्पष्ट अनुभूति-प्रवाह भी चलता है, उसे यथावत् प्रस्तुत करने में आड़ी तिरछी लकीरों आदि से शायद सहायता मिल जाए, ऐसी आशा भी हो सकती है परन्तु इस नं० ५ का इतना अधिक दुरुपयोग हुआ कि कविता करना बहुत सहज सा होगया। जो कुछ मन में आय उसे उलटा-सीधा, मोटा, पतला लिख देना ही कविता कहलाने लगा। अज्ञेय जी इससे इन्कार नहीं कर सकते। दूसरे "सुलझी हुई सवेदना" को व्यक्त करना प्राचीनतावाद माना जाने लगा। ऐसा लगने लगा कि स्पष्ट चिन्तन करने की शक्ति रखनेवाला 'कवि' ही नहीं हो सकता।

साधारणीकरण पर हम आगे विचार करेंगे।

किन्तु अज्ञेय की विचारधारा में स्पष्टतः प्रगतिविरोधी तत्त्व प्रारम्भ से ही थे। 'तारसप्तक' में उन्होंने 'फ्रायडवाद' का ही हिन्दी में अनुवाद किया है यों उसमें थोड़ा सा प्रगतिवाद भी मिला हुआ है। उनके अनुसार आज का व्यक्ति "मौन वर्जनाओं" का पुञ्ज है। मानव का मन यौन-कल्पनाओं से लदा हुआ है। इस आंतरिक संघर्ष के ऊपर एक बाह्य संघर्ष भी बैठा है, व्यक्ति और श्रेणियों का संघर्ष! "आज उसकी अनुभूतियाँ तीव्रतर हैं तो वर्जनाएँ कठोरतर हैं, परिणाम है, व्यंजनाभीरु नेत्रों का विस्फार जो अश्लील इसलिए है कि भावनाओं और वर्जनाओं के संघर्ष को सहसा सामने लाता है और प्रेम एक थका मांदा पक्षी जो सांझ फिरती देख आशंका भी भरता है और साहस संचित कर लड़ता भी जा रहा है।"[१]

---

१. वर्जनाग्रस्त काव्य का उदाहरण—

फिर गया नभ, उमड़ आए मेघ काले,
भूमि के कम्पित, उरोजों पर झुका सा
विशद, ... चिरातुर
छागया इन्द्र का नील वृक्ष
वज्र सा, यदि तड़ित से झुलसा हुआ तन।

छायावाद भी वर्जना के विरुद्ध विद्रोह था किन्तु तब शायद कवियों की संवेदना उलझी हुई नहीं थी। अज्ञेय जी स्पष्टतः फ्राइड और मार्क्स को मिलाकर देखने का प्रयत्न सन् ४३ में कर रहे थे अतः जो इस 'समन्वय' को "पैचवर्क" मानते थे, उनकी संवेदनाएँ नहीं उलझीं। जो फ्राइड से ऊपर उठकर भारतीय योगदर्शन की ओर दौड़े, उन अरविन्द और पन्त की संवेदनाओं में भी वर्जना नहीं मिली, परन्तु स्वयं अज्ञेय में संवेदनाएँ अवश्य उलझी हुई मिलती हैं। अज्ञेय ने सर्वदा अपने मन की स्थिति का साधारणीकरण करके उसे ही युगसत्य घोषित किया है !

जिस प्रकार 'फ्रायड' के प्रभाव से फ्रायड के विश्लेषण को मन में भर कर, पात्रों की कल्पनाएँ की गईं, उसी तरह कविता में उलझी हुई संवेदना के नारे ने 'स्पष्ट' चिन्तन को अयोग्यता और अनुभूतिहीनता सिद्ध करना शुरू कर दिया। फलतः हिन्दी-कविता में विशिष्ट मानसिक-स्थितियों को ही आड़ी सीधी रेखाओं के साथ व्यक्त किया जाने लगा। यह भुला दिया गया कि 'संवेदना' के सुलझे क्षणों को भी 'व्यक्त' करते चलना चाहिए अतः जो विशिष्ट कविता बनी, सुलझे हुए लोगों को वह उतनी पसन्द नहीं आई, जितनी उन्हें कालिदास, शेक्सपियर, तुलसी, सूर और प्रसाद आदि की कविता पसन्द आती थी फलतः इनको "आधुनिकता" से रहित पुराणपंथी घोषित कर दिया गया !

हिन्दी में इस असंतुलन की घोर निन्दा हुई। फलतः अज्ञेय ने प्रतिपक्षियों की शंकाओं के उत्तर द्वितीय सप्तक की भूमिका में दिए हैं। ऊपर की विवेचना से स्पष्ट है कि 'अज्ञेय' स्पष्टतः प्रतिक्रियावादी स्वरों का समर्थन सन् १९४३ में ही करने लगे थे। वह प्रगतिवाद-विरोधी योरोपीय लेखकों से भी प्रभावित थे।

द्वितीय सप्तक के तर्क—अज्ञेय की भूमिका के तर्क इस प्रकार हैं—

(१) प्रयोग कोई वाद नहीं है। वह साधना है, अपने आप में इष्ट नहीं। प्रयोग निरन्तर होते आए हैं।

(२) प्रयोगवादी साधारणीकरण को नहीं मानते, यह ग़लत है किन्तु जैसे-जैसे बाह्य वास्तविकता बदलती है, वैसे-वैसे हमारे उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने की प्रणालियाँ भी बदलती हैं और अगर नहीं बदलतीं तो उस बाह्य वास्तविकता से हमारा सम्बन्ध टूट जाता है। साधारणीकरण की इसलिए नई समस्याएँ पैदा हो गई हैं। प्राचीन काल में ज्ञान का क्षेत्र सीमित था····· साधारणीकरण की समस्या दूसरे प्रकार की थी। अब ऐसी कोई भाषा नहीं है

जिसे सब समझते हों, सब बोलते हों, ऐसी स्थिति में जो कवि एक क्षेत्र का सीमित सत्य, उसी क्षेत्र में नहीं, उससे बाहर अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके सामने बड़ी समस्या है। "शब्द का जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है (यथा 'गुलाबी' शब्द कभी चमत्कारक रहा होगा, अब वह अभिधेय मात्र रह गया है) तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। उस अर्थ से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। कवि तब उस अर्थ की प्रत्यिपत्ति करता है जिससे पुनः राग का संचार हो, पुनः रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो, साधारणीकरण का अर्थ भी यही है।

अज्ञेय ने यहाँ भी 'कथ्य' की नवीनता पर नहीं लिखा अपितु साधारणीकरण पर लिखा है। 'द्वितीय सप्तक' में भी वह 'प्रयोग' को साधन मानते हैं। साधारणीकरण की आवाज़ प्रयोगवाद के विरुद्ध इसलिए उठी थी कि प्रयोगवादी रचनाओं में दुरूहता थी। उनमें 'अर्थव्यक्ति' नामक 'गुण' का प्रायः अभाव था। अज्ञेय ने इसके लिए कवियों को ध्यान देने के लिए न कहकर उस 'अस्पष्टता' और "अनर्थ-व्यक्ति" को चरितार्थ करना चाहा है। यह युग विशेषीकरण का अवश्य है, किन्तु 'चित्रकला' का उदाहरण 'काव्य' में नहीं चल सकता। अज्ञेय जी यह तो मानते ही हैं कि लोगों का ज्ञान अधिक बढ़ा है अतः साधारणीकरण की कठिनाई कम हो रही है। इसके बाद वह 'शब्दों' में नया चमत्कारक अर्थ भरने को ही साधारणीकरण मान लेते हैं।

विश्वनाथ ने साधारणीकरण का अर्थ यह बताया है कि "जो सीता आदि आलम्बन विभाव और वनवास आदि उद्दीपन विभाव काव्यादि में निबद्ध होते हैं, वे काव्यानुशीलन तथा नाटक-दर्शन के समय श्रोता और द्रष्टाओं के साथ अपने को सम्बद्ध रूप से ही प्रकाशित करते हैं। यही साधारणीकरण है।" "साधारणीकरण या विभाजन व्यापार से उस समय प्रमाता अपने को समुद्र कूद जाने वाले हनुमानआदिकों से अभिन्न समझने लगता है और अभेद-प्रतिपत्ति के कारण हनुमान की तरह सामाजिक को भी उत्साह होता है।"

कविकला के बल से विभावों का वर्णन इस प्रकार होता है कि विशिष्ट जन का 'भाव' सामाजिकों को 'सामान्य' रूप में प्रतीत होता है और उसका सभी आनन्द लेते हैं, साधारणीकरण यही है। अतः अज्ञेय द्वारा 'साधारणीकरण' की व्याख्या ग़लत है। वह नवीन अवश्य है परन्तु प्रामाणिक नहीं है।

यह पुराने आचार्य भी कहते हैं कि पुनरावृत्ति होने से 'प्रयोग' रूढ़

हो जाता है और उसका चमत्कार समाप्त हो जाता हैं। 'रूढ़-लक्षणा' को इसलिए महत्त्व नहीं मिला। नवनव अर्थशालिनी काव्य-प्रक्रिया की ही हमारे यहाँ प्रशंसा की गई है। "नूतनरूपनिर्माण क्षमा" मानसिकशक्ति को ही 'प्रज्ञा' कहा गया है किन्तु 'भाव-वर्णन' करते समय यह बार-बार कहा गया है कि भाव-विशेष अथवा अनुभूति-विशेष में चित्तधारा को प्रवाहित करो, 'रससमाहितचित्तदशा' में नूतन रूपों या सादृश्यविधान को 'रस' का अंग बनाओ, अन्यथा पाठक या श्रोता का ध्यान मानसिक स्थिति से हटकर रूपों की नवीनता में ही ग्रस्त हो जायगा। 'माध्यम' की असली समस्या यही है। किन्तु अज्ञेय जी ने इस समस्या की उपेक्षा की है और अनुभूतिप्रवाह के स्थान पर 'अंग' मात्र नूतन-अप्रस्तुतविधान को ही सर्वाधिक महत्त्व दे दिया है। अतः हिन्दी में केवल अप्रस्तुत-विधान की नवीनता पर ही बल दिया जाने लगा है, 'वर्ण्यवस्तु' से ध्यान हटकर केवल रीति पर ही ध्यान केन्द्रित हो गया है।

अज्ञेय के विरोधियों ने 'साधारणीकरण' शब्द को सरलता के लिए भी प्रयुक्त किया था अर्थात् अधिक दुरूह, अस्पष्ट, अस्फुट काव्य सब नहीं समझ पाते अतः उसका आनन्द नहीं ले पाते। शिक्षित व्यक्ति भी प्रयोगवाद के अटपटेपन को महसूस करते हैं। इस बात को न समझ कर, "जो मेरी बात नहीं समझता, मैं उनके लिए नहीं लिखता"—यह नारा देना ग़लत है। कठिन से कठिन काव्य लिखा गया है किन्तु उसे सब समझ लेते हैं। श्रीहर्ष, केशव, प्रसाद, निराला, रवीन्द्र सबको समझ लिया गया है तब यदि आपके काव्य में अस्फुटता न हो तो उसे समझने में क्या कठिनाई हो सकती है? सूक्ष्म से सूक्ष्म मानसिक-स्थितियों को यदि 'स्फुट' आप नही कर सकते तो यह किसका दोष है?

अतएव अज्ञेय के काव्य-प्रक्रिया सम्बन्धी चिन्तन में दोष को गुण बताकर, उसे प्रमाणित करने का प्रयत्न अधिक है।

तृतीय सप्तक में अज्ञेय ने 'शिल्प' के सम्बन्ध में कुछ बातें कहीं हैं जिनमें एक बात अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। लगता है कि आलोचना का प्रभाव अज्ञेय पर पड़ा है और साधारणीकरण की वास्तविक समस्या पर द्वितीय सप्तक और तृतीय सप्तक के बीच की अवधि में उन्होंने विचार किया है—

"नये (या पुराने भी) विषय की, कवि की संवेदना पर प्रतिक्रिया, और उससे उपपन्न सारे प्रभाव जो पाठक-श्रोता-ग्राहक पर पड़ते हैं और उन प्रभावों को संप्रेष्य बनाने में कवि का योग—मौलिकता की कसौटी का यही क्षेत्र है।"

यानी इधर 'संप्रेष्यता' पर
समर्थकों की अज्ञेय पर यह विजय
चिह्नों आदि की उतनी चर्चा नहीं

अज्ञेय की भूमिकाओं में वि
केवल 'रीति' पर आग्रह प्रकट किय
को यह देखकर यह आश्चर्य न होगा
तक जो 'प्रयोगबाद' ने किया है, वह
कोई 'माध्यम' खोजा जाय !

अज्ञेय का विचारपक्ष उनक
अन्य प्रयोगवादियों के विचारपक्ष प

अज्ञेय से प्रभावित होकर ज
में "विशेषभावक वर्ग" का नारा लग
दिशाओं में ले जाने वाला कवि वि
अपनी बात कहता है"। प्रयोगव
सम्पादकीयों और तात्कालिक निबन्धों
ने संकेत से इन इलाहाबादियों को

डा० देवराज जो प्रगतिवाद
अधिकांशतः विरोधी हैं, प्रयोगवाद
विषय में कुछ दोष बतलाते हैं—

"हिन्दी का प्रयोगवाद भी
हद तक इलियट-पाउण्ड आदि की शै
इसलिए कहना पड़ता है कि स्वतंत्र
निर्माण, उसकी सृजनात्मक शक्तियों
सकते थे—नयी स्फूर्तिदायक जीवन
थे।·····साम्प्रतिक प्रयोगवाद की
'दृष्टि' द्वारा नूतनता उत्पन्न न करके
द्वारा प्रभाव उत्पन्न करना चाहते हैं
सफल प्रयोगशील कविता सिर उ
घोषणा नहीं करती। किसी भी शै
वह अपने को वक्तव्य की महत्ता में

अज्ञेय बल देने लगे हैं, साधारणीकरण के
है। अब वह आड़ी तिरछी लकीरों, विराम-
करते।

विचार धारा पर आग्रह नहीं प्रकट किया गया
गया है। 'अज्ञेय' के बदलते हुए विचारों
कि वह अचानक यह घोषणाकर उठें कि अब
बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, अब और

कविताओं और निबन्धों में है अतः हम
र यहाँ विचार करते हैं।

गदीश गुप्त ने 'नयी कविता' के प्रथम अंक
ाया। "हिन्दी-कविता को विकास की नई
कशील प्रबुद्ध-चेता भावक को लक्ष्य करके
ादियों द्वारा सम्पादित 'आलोचना' के
ों में भी यही नारा दुहराया गया। 'अज्ञेय'
ो शायद 'नकलची' कहा है !

के मानवमूल्यों के अंशतः समर्थक और
की उक्त काव्य-प्रक्रिया और काव्यसृजन के

केवल युग से प्रभावित नहीं है—वह बहुत
ली के अनुकरण में उत्थित हुआ है। यह
ा प्राप्ति के बाद भारतीय कवि देश के
के पुनर्विकास के सशक्त स्वप्न भी देख
-दृष्टियों की परिकल्पनाएँ भी कर सकते
ीन मुख्य कमियाँ हैं। एक, कविगण नयी
सिर्फ शब्दों तथा अलंकारों की विलक्षणता
। हमारा अनुमान है कि किसी भी युग की
ाल-उछाल कर अपनी प्रयोगशीलता का
ी की यथार्थ सफलता इस बात में है कि
ो दे।"

"प्रयोगवाद की दूसरी और ज्यादा बड़ी कमी जो प्रथम से सम्बद्ध है— कवियों में व्यक्तित्व की कमी या अभाव ! कवियों की साम्प्रदायिक जैसी दीखने वाली एकता, शैली अर्थात् मुहावरों, चित्रों, लयविधान आदि की समानता जहाँ उन्हें संगठन का बल देती है, वहाँ उनके व्यक्तित्वों को अनिर्दिष्ट भी बना देती है।"

"तीसरे अधिकांश प्रयोगवादी कवियों की रचना में उस अनुशासन की कमी दिखाई पड़ती है जो विशिष्ट कविता या कृति को चुस्त संगठन एवम् विशद ओज देता है। कम कवि इस बात को महसूस कर पाते हैं कि मुक्तछन्द लिखना छन्दबद्ध काव्यरचना से कहीं अधिक कड़ा अनुशासन माँगता है।"[१]

यदि यही बात कोई प्रगतिवादी कहता, तो वह प्रभाव नहीं होता जो डा० देवराज के कथन से होगा क्योंकि वे "समानधर्माओ" में माने जाते हैं। अतः अज्ञेय ने जहाँ 'नयी रीति' पर बल दिया, वहीं अनुशासनहीनता के लिए भी प्रोत्साहित किया। जिस व्यक्तित्व की इतनी गुहार होती है और प्रायः कहा जाता है कि प्रगतिवाद व्यक्तित्व का शत्रु था, उसी व्यक्तित्व के अभाव पर डा० देवराज की टिप्पणी कितनी यथार्थ बैठती है !

डा० रघुवंश 'नयी कविता' की सामाजिक पृष्ठभूमि को सही सिद्ध करने वाले लेखकों में से हैं। उनके अनुसार नयी कविता पर 'असामाजिता' का आरोप लगाना ग़लत है, क्योंकि "यह युग अंध जड़ता का युग है जिसमें समस्त सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक मान्यताएँ झूठी पड़ गई हैं !.....यह समाजव्यापी कुण्ठा, निराशा, अवसाद तथा 'अंध आस्था' का परिणाम है कि हम इन सबके बावजूद व्यक्तिगत स्वार्थों, बेईमानी, घूंसखोरी, चोर बाज़ारी, अकर्मण्यता से अपने को बचाने में असमर्थ हैं।.....आज की इस सामाजिक परिस्थिति ने कवि को संवेदित किया है। वह इस सर्वग्राही जड़ता और कुण्ठा का अनुभव अपने जीवन में कर रहा है। यह कुण्ठा पलायनवादी न होकर परिस्थिति जन्य है।.....आज के कवि का संघर्ष, उसकी आशा निराशा-जन्य कुंठाएँ व्यक्तिगत से अधिक सामाजिक हैं।"

डा० रघुवंश यह क्यों नही कहते कि बावजूद सर्वग्राही जड़ता के उस जड़ता के समूल नाश के लिए भी प्रयत्न हो रहा है। निराशा के समानान्तर आशा और जड़ता के समानान्तर जागरूकता बढ़ रही है, इसकी व्यंजना,

---

१. नयी कविता अंक २।

'नयी कविता' में क्यों नहीं हो रही है ? 'नयीकविता' के लेखक क्या आँखें खोलकर इतना भी नहीं देख सकते कि सामाजिक आंदोलनों की गति तीव्र से तीव्रतर होती जा रही है, यह क्या संकेत कर रहा है ? कुंठा को वर्णन करते समय कुंठा के कारणों की ओर पाठ का ध्यान क्यों नहीं आकर्षित किया जाता है ? कुंठा-सामाजिक परिस्थिति का पारिणाम है अथवा यह कतिपय व्यक्तियों की मात्र सनक है ?

डा० जगदीशगुप्त के विचार भी आकर्षक हैं। 'नयी कविता' अंक तीन में आप अलंकार, रीति, रस और वक्रोक्ति आदि को विलासमूलक, कौशलप्रिय-मध्य-काल का फल मानते हैं। 'ध्वनिमत' को "प्रायः तटस्थ" मानते हैं यद्यपि वह उन्हें अर्थ-चेतना की ओर गंभीर संकेत करता हुआ भी प्रतीत होता है ! जगदीश जी 'भावावेग' को मध्यकालीन कह कर कविता से बहिष्कृत कर देना चाहते हैं। यानी प्राचीन काव्य में केवल "आदिम संवेग" मात्र है ! "आज के युग के 'बुद्धिजीवी' मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है कि वह यथार्थ की उपेक्षा करदे या संवेग से पराजित सौन्दर्य-बोध से पूरी तरह समझौता करले।"[1]

अर्थात् नयी कविता में बौद्धिकता का समावेश होना चाहिए, काव्य में बुद्धितत्त्व को समावेश पर मध्यकालीन काव्य शास्त्र भी बल देता है। किन्तु बौद्धिक धारणाओं के लिए पुराने लोग 'दर्शन' पढ़ते थे और आनन्द के लिए कविता ! आज दोनों को एक करने का प्रयत्न किया जा सकता है परन्तु मनुष्य की ये दो अलग-अलग आवश्यकताएँ हैं। रही बात "संतुलित समावेश" की, सो प्रयोगवादी कविताओं में विचारों का वमन अधिक हुआ है।

जगदीश गुप्त ने प्रयोगवाद में लय के अभाव को उचित बताते हुए कहा है कि संगीतात्मक लय के स्थान पर प्रयोगवादी काव्य में "अर्थ की लय" रहती है। 'लय' निश्चित रूप से "गति और यति" से उत्पन्न होती है। यदि 'गति' में निश्चित स्थान पर 'विराम' लगता चलता है तभी 'लय' पैदा होती

---

१. **वदतोव्याघात जगदीश गुप्त में सबसे अधिक है—भावावेगमय कविता का विरोध करने के बाद इसी लेख में आगे वह कहते हैं—वह (कविता) मनुष्य के भावसंवलित, संवेदनापूर्ण एवम् आवेगयुक्त विशिष्ट क्षणों में ही बीज रूप से जन्म लेती है।"**

अब इन परस्पर विरोधी मतों में किसे लेखक का अपना मत माना जाय, यह जगदीश जी स्वयं बताएँ तो अधिक कल्याण हो !

है। अनन्त गति अथवा विरामहीन गति में 'उदात्तता' हो सकती है, सौन्दर्य नहीं हो सकता। काव्य में अर्थ की लय के जो उदाहरण जगदीश जी ने दिए हैं, उन्हें देखिए, उनमें 'गति' को, कहीं प्रत्याशित और कहीं अप्रत्याशित रूप से विराम दिया गया है, इससे शब्दार्थ एक 'गति' में बँधकर श्रवणों पर सुखद प्रवाह उत्पन्न करता है, यानी जिस संगीत से उन्हें घृणा है, वह संगीत गति के विराम से उत्पन्न होकर उस 'अर्थ' को मन में उतारने में सहायक हुआ है अतः यह 'अर्थ की लय' नहीं है, शब्दार्थ जो 'गति' पकड़ते हैं, उस 'गति' से उत्पन्न लय है—इसके अतिरिक्त अर्थ की लय से रहित जो उदाहरण जगदीश ने दिए हैं, उनमें भी 'गति' का ही आनन्द है, जहाँ वह 'गति' अत्यधिक क्षीण हो गई है, वहाँ काव्य 'गद्य' हो गया है :—

अर्थ की लय से हीन पद्य—बंजर बुंदेली धरती पर केन सहारे,
कालिंजर का दुर्ग नहीं है दूर यहाँ से,
कोसल जनसंस्कृति के अंचल की सीमा पर,
चित्रकूट की छाया में यह नगर बसा है !

अर्थ की लय से युक्त गद्य—रात का बन्द नीलम किवाड़ा डुला,
लो क्षितिज छोर पर देवमन्दिर खुला,
हर नगर झिलमिला, हर डगर को खिला,
हर बटोही जिला, ज्योतिप्लावन चला।

ये उदाहरण जगदीश जी के हैं। यदि द्वितीय में अर्थ की लय है तो प्रथम में क्यों नहीं है ! दोनों में वस्तु-व्यंजना है। कोई गूढ़ अर्थ यहाँ नहीं व्यक्त किया गया है। फिर प्रथम उदाहरण के चुनने में कवि के साथ अन्याय किया गया है क्योंकि वहाँ अधिक अर्थयुक्त पंक्तियाँ परिचय के बाद आती हैं, यहाँ तो कवि परिचय दे रहा है। यदि अर्थ की लय है, तो दोनों में है अन्यथा एक में भी नहीं है। वास्तविकता यह है कि इनमें 'गति' विराम पाकर लय बनी है, न कि अर्थ की लय यहाँ है। शब्दार्थ 'गति' से लययुक्त होता है, शब्द और अर्थ में अपनी लय नहीं होती। अन्य उदाहरण लें—

अर्थ-लय हीन मुक्तछन्द—बात ऐसी है
कि कहना चाह कर भी जो नहीं कल कह रहे थे।
या नहीं कह पा रहे थे,
वह पुरावे की विवशता थी।

अर्थलययुक्त मुक्तछन्द—आज तुम शब्द न दो, न दो
कल भी मैं कहूँगा
तुम पर्वत हो, अभ्रभेदी शिलाखण्डों के गरिष्ठ पुंज
चाँपे इस निर्झर को रहो, रहो !

दोनों में गूढ़ार्थ है और दोनों में 'गति' है। शब्दार्थ को यहाँ निश्चित स्थान पर तोड़ा गया है ! ताकि पढ़ने में पद्यता आ जाय। यदि लय का अभाव है तो नीचे के उद्धरण की तीसरी लम्बी पंक्ति में। इसे खींचकर पढ़ने पर ही लय पैदा की जा सकेगी किन्तु यह स्मरणीय है कि खींचकर अथवा गा गा कर "गद्य" को पढ़ने पर भी 'लय' पैदा की जा सकती है परन्तु वहाँ 'लय' आरोपित होती है, प्रयोगवादी 'गद्य' में भी 'लय' का आरोप ही अधिक रहता है। अतः जगदीश का अर्थ-लय-दर्शन भ्रान्ति पर आधारित है।

जगदीश गुप्त का 'अर्थलयवाद' अज्ञेय के "विरामचिन्ह, आड़ीसीधी लकीरेंवाद" का ही दूसरा संस्करण है। काव्यमर्मज्ञ और संगीत का ज़रा भी ज्ञान रखने वाले जानते हैं कि काव्य मिश्रित कला है, उसमें 'अर्थ' का ही आनन्द नहीं है अपितु संगीतात्मक लय से सहायता लेकर उस 'अर्थ' को प्रेषणीय बनाया जाता है, आनन्द पक्ष को अर्थपक्ष से निकाला नहीं जा सकता। संस्कृत ने 'तुक' नहीं मानी परन्तु गति, लय, प्रवाह, रागहिल्लोल, तरंग आदि को 'अर्थ' के साथ ही स्वीकार किया था। 'बाण' ने काव्यपूर्णगद्य लिखा था किन्तु उसे 'गद्य' ही कहा गया क्योंकि उसमें 'गति या लय' नहीं है, जहाँ प्रयोगवादी कविता में गद्यमयता अधिक है, उसे 'गद्य' कहने में कवि को अपमान अनुभव क्यों होता है? बाण ने स्पष्ट कहा था कि गद्य कवियों की कसौटी है। 'बाण' को सभी कवि मानते हैं ! यह निश्चित है कि प्रयोगवादी-गद्यमयता को स्वयं प्रयोगवादी ही अधिक समय तक नही सँभाल सकते क्योंकि जिस प्रकार 'पद्य' सुनते-सुनते लोग ऊबकर 'मुक्तछन्द' सुनना चाहते हैं, उसी तरह मुक्तछन्द का ध्वंसावशेष प्रयोगवादी-गद्य सुनकर भी लोग ऊबकर छन्दोवद्ध काव्य सुनना चाहते हैं, दोनों का आनन्द भिन्न है। घोर बुद्धिवादी भी गीत या "शेर" की कोई पंक्ति गुनगुनाते हुए पाये जाते हैं, और प्रायः एक एक 'शेर' में, या छन्दोवद्ध पद्य में 'गूढ़ अर्थ' भी रहता है। जो बात बड़ी-बड़ी पोथियों में कही जाती है, उसे कवि एक 'उक्ति' में इस ढंग से कह देता है कि बार-बार पढ़ते और गुन गुनाते जी नहीं भरता, संगीत और अर्थ का एक साथ आनन्द मिलता है। आख़िर संगीत से कविता में ही चिढ़ क्यों है ?

सिर्फ नवीनता के लिए गद्यमय काव्य भी लिख डालिए, किन्तु केवल उसी की स्वीकृति के लिए इतना प्रपंच क्या आवश्यक है ?

नयी कविता के अंक चार की चर्चा हम "नयीकविता के प्रतिमान" की चर्चा के बाद करेंगे क्योंकि जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकन्त वर्मा की मान्यताओं से सहमत नहीं हैं। असलियत यह है कि प्रयोगवाद के चिन्तक अपरिपक्व हैं। आवेगविरोधी होने पर भी उनमें आवेग ही अधिक लगता है। प्रगतिवाद के औद्धत्य की निन्दा करने पर भी उनमें औद्धत्य और संकीर्णता प्रगतिवाद से अधिक है। कटुता, खीझ, स्पर्धा, अपनी हर बात को स्वीकृति दिलाने के अधैर्य आदि के कारण किसी भी प्रश्न पर व्यवस्थित अध्ययन और मनन का इस सम्प्रदाय में अभाव दिखाई पड़ता है। प्रगतिवाद मात्र संगठन पर आधारित नहीं था, उसकी भित्ति व्यापक और वैज्ञानिक थी किन्तु वैज्ञानिकता का नारा लगाकर भी वैज्ञानिक चिन्तन से सर्वथा रहित क्षुब्धचित्त ही प्रयोगवादी नवयुवकों में दिखाई पड़ रहा है। प्रयोगवाद की निषेधात्मकता की प्रवृत्ति पर प्रहार होने से लक्ष्मीकान्त वर्मा ने उक्त पुस्तक में विस्तार से 'नये चिन्तन' को स्पष्ट किया है। हम उसे संक्षेप में रख सकते हैं—

अस्पष्ट और निरपेक्ष चिन्तन—नई कविता की पृष्ठभूमि में लक्ष्मीकान्त वर्मा ने समाज के मूलाधार का विवेचन नहीं किया, ऐसा लगता है कि ये आन्दोलन आकाश से टपक पड़े हों। विभिन्न आंदोलनों का परिचय देते हुए वर्मा जी ने बताया है कि इन आन्दोलनों से क्या लाभ और क्या हानियाँ हुईं। 'साम्यवाद की तुलना में वर्मा जी की सहानुभूति समाजवादियों के साथ है क्योंकि साम्यवादी-एकाधिपत्य के विरुद्ध समाजवाद ने देशकाल के माध्यम से बात चलाई। समाजवाद ने राष्ट्रीयता को भी स्वीकार किया ! साम्यवादी आंदोलन अनुदार था, समाजवादी उदार था। वर्मा जी के विवेचन का सारांश यह है—

(१) प्रगतिवाद के विरोध में साहित्यिक मान्यताओं के लिए संघर्ष हुआ क्योंकि राजनैतिक पक्ष पर ही प्रगतिवादी बदल देते थे।

(२) मार्क्सवाद के बिरोध में व्यक्तिनिष्ठा पर बल दिया जाने लगा !

(३) राष्ट्रीयता का समर्थन किया गया क्योंकि मार्क्सवादी अराष्ट्रीय थे !

(४) भावनाओं के प्रति ईमानदारी की ओर अधिक ध्यान दिया गया।

(५) अपने प्रति असंतोष की भावना—अनास्था, भ्रम और अस्पष्टता का वर्णन सन् ४० से १९५० तक होता रहा !

(६) चमत्कार-तृष्णा बढ़ी, हृदय का ह्रास हुआ !

(७) गीतों में भी चमत्कार बढ़ा ।

(८) इस पृष्ठभूमि में 'नयी कविता' का विकास हुआ !

यानी सन् ५० के बाद 'नयी कविता' का जन्म हुआ क्योंकि सन् ५० तक तो अपने प्रति असंतोष और कुंठा ही रही ! उधर यह भी कहा गया है कि आधुनिकता को 'अज्ञेय' ने ही समझा था ! प्रथम सप्तक में कवि प्रगतिवादी थे, इससे वर्मा जी को बड़ी व्यथा है किन्तु चार बातें उनमें भी काम की मिल गईं । विषयवस्तु की नवीनता, स्वस्थ व्यक्तित्व और व्यंजना के प्रति ईमानदारी, बौद्धिक आधार और सर्वथा नवीन मान्यताओं के प्रति आग्रह !

यानी तार सप्तक के कवियों में डा० रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, नैमीचन्द जैन आदि का व्यक्तित्व स्वस्थ था । तब साहित्य में तानाशाही कौन स्थापित कर रहा था ? पृष्ठ १८ पर लक्ष्मीकान्त लिख चुके हैं कि मुक्तिबोध और नेमीचन्द में आकोशपूर्ण, खीझभरी निराशा मिलती है ! और इन्हें 'स्वस्थ व्यक्तित्व' बाला भी कहा गया है ।

"वदतो व्याघात" को प्रयोगवादी आलोचना की विशेषता मान लिया जाए तो भी यह प्रश्न होगा कि छायावाद, प्रगतिवाद आदि परिस्थिति-सापेक्ष्य थे या केवल चन्द सिरफिरों की सनक मात्र थी ? मार्क्सवाद का भारत में जो प्रयोग हुआ, उसमें मार्क्सवाद का दोष था या भारतीय मार्क्सवादियों का ? सब गलतियाँ प्रगतिवादियों ने ही कीं, कोई ग़लती समाजवादियों से भी हुई या नहीं ?, समाजवाद बावजूद अपने राष्ट्रीयतावाद के क्यों अधिक सशक्त नहीं हुआ ? क्या अंधविश्वासों को समाजवादियों से प्रेरण नहीं मिली ? परम्परा के विरोधी लक्ष्मीकान्त ने इन तथ्यों पर विचार नहीं किया क्योंकि इससे समाजवादियों की दुरंगी, समझौतावादी, अमेरिकावादी, साम्यवादविरोधी नीति स्पष्ट हो जाती और यह बात 'कान्त' जी चाहते नहीं ! ईमानदार हैं न !

परिप्रेक्ष्य की नवीनता (न्यू पर्सपेक्टिव) :—लक्ष्मीकान्त वर्मा ने नवीन दृष्टि निम्न तत्त्वों में बताई है, ये छहों तत्त्व 'नयीकविता' में मिलते हैं—

(१) नयी परिपेक्षणीयता, (२) अनुभूतियों के नये रूपान्तरण, (३) सौन्दर्य-बोध के नये धरातल, (४) परम्परागत विकृत मूल्यों के परिष्करण

(५) मतवादी भ्रान्तियों से मुक्ति पाने की कामना (६) तदात्मसत्य की वे परिधियाँ जिनमें हमारा रागात्मक बोध नये आयायों का अन्वेषण करने की सामर्थ्य पाता है।

इनमें यदि आप "तदात्मसत्य" का अर्थ न भी समझे हों, तो भी वर्मा जी का मतलब तो स्पष्ट ही है। इनकी व्याख्या में आप "आधुनिकता" का अर्थ समझाने लगते हैं, आधुनिकता वर्मा जी के अनुसार—

(१) बौद्धिक जागरूकता के आधार पर आधुनिकता रूढ़ियों के विरोध में है।

(२) वैज्ञानिक विश्लेषण में विश्वास आवश्यक है।

(३) विघटित मूल्यों का तिरस्कार और नये मानव मूल्यों की स्थापना आवश्यक है।

इनमें प्रथम और अन्तिम तर्क एक ही हैं। और 'वैज्ञानिक' का अर्थ लक्ष्मीकांन्त समझते नहीं। रूढ़ियों के विरोध का स्वागत है किन्तु इसी तर्क पर प्रत्येक प्रवृत्ति को 'रूढ़ि' कहकर विरोध किया जा सकता है। अध्यात्मवाद रूढ़ि है, छायावाद रूढ़ि है, प्रगतिवाद रूढ़ि है, छन्दोवद्ध काव्य रूढ़ि है, अब तक प्रयुक्त भाषा रूढ़ि है, कान्त जी के लिए क्या रूढ़ि नहीं है ?

वर्मा जी पुनः 'परिप्रेक्षण' को समझाते हैं—

(१) जीवन के निरपेक्ष मूल्यों की अपेक्षा उसकी सापेक्ष्य वस्तु-स्थिति द्वारा व्यक्त मूल्यों के प्रति आस्था का नया स्तर निर्माण करो।

लक्ष्मीकान्त जी निरपेक्ष का अर्थ पता नहीं क्या समझते हैं ? प्रयोगवादी जीवनदृष्टि परिस्थिति सापेक्ष न होने से स्वयं निरपेक्ष है। क्योंकि 'परिस्थिति' की सापेक्षता और निरपेक्षता का निर्णय ऐतिहासिक दृष्टि से हो सकता है और 'इतिहास' शब्द से 'कांन्त' जी को घृणा है अतः वर्मा जी की यह शब्दावली निरर्थक है।

(२) समूह और समाज के दायित्व को स्वीकार करते हुए वैयक्तिक स्वतन्त्रता को स्वीकार करो।

लक्ष्मीकान्त वस्तुतः "वैयक्तिक स्वतन्त्रता" के ही पक्षपाती हैं, समाज की उन्हें चिन्ता नहीं है अन्यथा जनतन्त्र में मिली 'स्वतन्त्रता' और समाजवादी देशों में "स्वतन्त्रता" की तुलना करते और यह भी सोचते कि 'स्वतन्त्रता' समाज के स्वरूप पर निर्भर है। आपकी 'कल्पना' में जो स्वतन्त्रता का रूप

है, उसके लिए समाज को बदलना होगा, आदमी को बदलना होगा और उसके लिए आप प्रस्तुत नहीं हैं, केवल 'नारा' लगाना जानते हैं।

(३) जीवन के तदात्मसत्य को महत्त्वपूर्ण अनुभूत क्षण में अवतरित करो। ईमानदारी और सहृदयता यही है।

मतलब यह कि अपने दृष्टिकोण से क्षण-बिशेष में कौंध जाने वाले अनुभव को पकड़ो और उसे व्यक्त करो।

स्पष्ट है कि प्रयोगवादी 'कला' को संकीर्ण बनाना चाहते हैं, क्योंकि जो अनुभव दीर्घअवधि तक आपका पीझा करे, जैसे भूख, अभाव, करुणा, अत्याचार के प्रति आक्रोश, पगपग पर होने वाले अपमान के विरुद्ध क्रोध आदि—शायद इनके लिए प्रयोगवाद में कोई स्थान नहीं है, प्रगतिवाद सामूहिक अनुभव के आगे व्यक्तिगत अनुभव पर बल नहीं देता था और आप व्यक्तिगत अनुभव के आगे "सामूहिक अनुभव" की पूर्ण उपेक्षा करते हैं, क्या यही 'परिप्रेक्षण' की नवीनता है! यह तो पुरानी बात हुई! यदि यह कहें कि आपका अनुभव अनमोल है तो "सर्वथा व्यक्तिगत" होने से आपके द्वारा "दायित्त्व" की घोषणा को क्या वह प्रमाणित करता है?

(४) मानव जीवन के बदलते सन्दर्भों को नये मानदण्ड दो। 'कुण्ठा' और "अतिवादी संकीर्णता" का समावेश भी जोवन का सापेक्ष सत्य है!

आश्चर्य है! चाहे सामाजिक व्ववस्था में अर्थात् वास्तविक परिस्थिति में कुछ भी परिवर्त्तन न हो परन्तु लक्ष्मीकान्त जी के लिए "संदर्भ" बड़ी जल्दी जल्दी बदल रहे हैं! 'कुण्ठा' ओर "अतिवादी संकीर्णता" को जीवन का सापेक्ष सत्य मानने का अर्थ क्या है? क्यों कुण्ठा है, यह मानवमूल्य है या यह वास्तविक परिस्थिति की विषमता के कारण मनुष्य के मन में उत्पन्न हो गई है? इसे दूर करने के लिए क्या करना होगा?

किसी भी प्रश्न पर निरपेक्षतः विचार करना लक्ष्मीकान्त की विशेषता है। धरती पर उतरे बिना, अपने द्वारा बनाई हुई अस्पष्टभाषा का प्रयोग करना, एक ही बात को घुमा फिरा कर कहना, उनकी उपलब्धि है।

"असाम्प्रदायिक मानव", "स्वानुभूति की दृष्टि", "पूर्वग्रह का विरोध" आदि थोथे नारे हैं। मतलब यह है कि किसी बात पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार मत करो; केवल अपने 'मन' की सनक पर विश्वास करो। सरहपा ने एक बड़े पते की बात कही थी कि योगी जिसे 'स्वानुभूति' कहते हैं, वह अत्यधिक दमन के कारण "पित्त की प्रबलता" से उत्पन्न होती है, ऐसी

स्वानुभूति का क्या विश्वास ? लगता है, लक्ष्मीकान्त जी का चित्त कुपित हो गया है !

लक्ष्मीकान्त का 'नया परिप्रेक्षण' प्रगतिवाद के विरुद्ध अन्ध और अज्ञ प्रतिक्रिया मात्र है !

मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि—इस शीर्षक के अतर्गत लक्ष्मीकान्त कहते है कि दो युद्धों की पृष्ठभूमि में रखकर देखने से मूल्यों और आस्थाओं की परम्परा आज के जीवन-वृत्त से बिल्कुल पृथक् हो गई हैं। कौन सी मान्यताएँ नष्ट हो रही हैं ? आगे लक्ष्मी जी स्पष्ट कहते हैं—"आज यद्यपि एक ओर अतिवादी टोटेलिटेरियनिज्म और पूर्व-निश्चयवादी प्रवृत्तियों का ह्रास उन्मुख दिग्भ्रम-जनित अपवादों के साथ·····।" अर्थात् लक्ष्मीकान्त मुख्यत: प्राचीन अध्यात्म-वाद और साम्यवाद दोनों के विरोधी हैं। अध्यात्मवाद का विरोध स्तुत्य है परन्तु साम्यवाद के विरोध के लिए आपके पास कौन सी जीवन दृष्टि है ? न वैज्ञानिक भौतिकवाद, न अध्यात्मवाद, तब आप कहाँ हैं ? अपनी पुस्तक में यह बिन्दु कहीं भी लक्ष्मी जी स्पष्ट नहीं कर सके हैं ? अत: "आज के जीवन की पृष्ठभूमि में खण्डित मर्यादाएँ, टूटे मूल्यों की अस्त व्यस्त परम्परा, मानव आत्मा की बन्दी प्रताड़ित भावनायें, भौतिक द्वन्द्वों के साथ नयी भावनात्मक, रागात्मक अनुभूतियाँ—इन सबका सामूहिक प्रभाव हमारी कलाव्यंजना और अभिरुचि में निहित है" (पृष्ठ ४९)

स्पष्टत: प्रयोगवादी की मानसिक स्थिति संदेह, अनास्था, निवेधात्मकता और अंधता से युक्त है, क्या कोई जागरूक राष्ट्र इस स्थिति को स्वीकार कर सकता है। "दायित्व" की बातें करने वाले जिस आधार पर खड़े हैं, वह कितना कमज़ोर है ?

इस संकट से बचने के लिए वर्मा जी का "उप्रोच" यह है—

"विद्रोहात्मक सक्रियता, अहम् की स्थापना, और उसकी मर्यादा में वैयक्तिक निष्ठा, बौद्धिक जागरूकता" आदि का विकास करना चाहिए किन्तु ऐसा विद्रोह निश्चित जीवन दृष्टि के अभाव में "अंध विद्रोह" ही होगा। जो अहं समाज के प्रवाह के अलग होकर अपनी घोषणा करता है, वह केवल 'प्रदर्शिनी' का विषय बनेगा, और बौद्धिक जागरूकता का कुछ अर्थ ही नहीं है क्योंकि बुद्धि का काम सत् असत् का विश्लेषण द्वारा किसी निश्चय पर पहुँचना है किन्तु जहाँ समाज के विश्लेषण, समाज के भावी रूप आदि प्रश्न आते हैं,

प्रयोगवादी "पूर्वग्रह" "पूर्वग्रह" चिल्लाने लगता है, यह अजीब पूर्वग्रह है जो बुद्धि के प्रयोग से कतराता है किन्तु फिर भी "बौद्धिक जागरूकता" का नारा लगाता है। ज़रा "बौद्धिक जागरूकता" का एक नमूना देखिए—

"आत्मविवेक और आत्म विवेचना किसी सापेक्ष अनुभव पर ही आधारित होती है। स्वार्थ और अंधविश्वास आत्म-अनुभव के आश्रित नहीं होते। उनका सारा बल परम्परा और उपयोगिता पर आधारित होता है। विवेक का औचित्य सदैव आत्मसत्य की प्रतिपालित भावना है।" (पृष्ठ ५१)

स्वार्थ और अंधविश्वास आत्म-अनुभव के आश्रित नहीं होते तो अध्यात्मवादी जिसे "अनुभव" कहते हैं, उसे "वैज्ञानिकसत्य" क्यों नहीं माना जाता ? विवेक का औचित्य "आत्मसत्य" की प्रतिपालित भावना नहीं है अपितु यह देखना है कि मेरा अपना 'अनुभव', अंधविश्वास तो नहीं है ? मनुष्य अपने 'अनुभव' की दूसरों के अनुभव के साथ तुलना करता है, सामूहिक और व्यक्तिगत अनुभव की तुलना करता है, समाज के विकास के साथ उस 'अनुभव' के 'स्वरूप' पर विचार करता है, तब पता चलता है कि विवेक क्या है ?

लक्ष्मीकान्त वर्मा की किताब में ऐसे अनर्गल उपाख्यान अनेक हैं।

यथार्थ के नए धरातल—यथार्थ क्या है ? इसका लक्ष्मीकान्त उत्तर देते हैं कि "जीवन और उसके सत्य सबसे बड़े यथार्थ हैं।" यह अस्पष्ट है अतः स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं—

(१) जीवन निस्सार नहीं, जीने के लिए है, उसे जिया जा सकता है।

कितना बड़ा यथार्थ है ! कितनी नवीन बात लक्ष्मीकान्त कह रहे हैं ! यह किसने कहा कि जीवन को "जिया" नहीं जा सकता।

(२) चमत्कार, रहस्य, ईश्वरत्व, आभा, उस पार का दिवास्वन—जीवन इन सबसे मुक्त और बाह्यमना है।

बहुत ठीक, हम यहाँ आपसे सहमत हैं। पर यह पहले भी बहुत लोगों ने कहा है !

किन्तु यह तो भूमिका मात्र है। लक्ष्मीकान्त कहना यह चाहते है कि "जीवन में वेदना, कुरूपता, विद्रूपता, मृत्यु, प्रतारण इत्यादि उतने ही सशक्त सत्य हैं जितने कि आनन्द, सुख, शान्ति, "सुन्दरता", आदि। अतः 'छायावाद यदि 'आनन्द' पर बल देता है तो प्रयोगवाद 'निराशा' पर। यदि 'प्रगतिवाद' "जीवन की संघर्ष शील प्रवृत्ति की उदात्त भावना" पर बल देता है तो "प्रयोगवाद" आदमी के "बौने पन" पर। और मज़ा यह कि लक्ष्मीकान्त इन्हीं

के बीच 'मानवमूल्यों' का विकास मानते हैं। इसका तो वही अर्थ हुआ कि उदात्तता को छोड़कर पहले पशुता स्वीकार करो, तभी मानवमूल्य विकसित होंगे ?

अध्यात्मवाद और वैज्ञानिक भौतिकवाद का विरोध—यह शीर्षक मेरा है, लक्ष्मीकान्त का नहीं। लक्ष्मीकान्त ऐसे स्पष्ट शीर्षकों से घृणा करते हैं। उनकी विवेचना हेत्वाभासों पर आधारित है। वह मानते हैं कि ईश्वरवाद अन्धविश्वास है, ठीक है किन्तु वैज्ञानिक भौतिकवाद के विषय में वह कहते हैं कि इसमें मनुष्य को "यंत्र" माना जाता है। "ईश्वरवाद जहाँ मनुष्य को ईश्वरप्रदत्त प्राणी मानकर उसे केवल ईश्वरीय प्रेरणा से परिचालित होने वाला जीव मानता है, वहीं मार्क्सवाद उसे केवल यंत्रस्थ जीव मानता है, जो ऐतिहासिक द्वन्द्व के कारण क्रियाशील होता है। यदि एक मनुष्य को नकारात्मक बनाकर छोड़ देता है तो दूसरा उसे केवल कठपुतली सा निर्जीव सिद्ध करता है, ये दोनों मत भ्रामक हैं" (पृष्ठ १०९)

मार्क्सवाद में व्यक्ति की अपनी इच्छाशक्ति और धारणाशक्ति को महत्त्व नहीं दिया गया, यह बेबुनियाद बात है। लक्ष्मीकान्त के बहुत पूर्व 'प्लेखानव' से भी ये प्रश्न हुए थे तब उसने एक पुस्तक लिखी—"व्यक्ति का इतिहास में योगदान" (The Role of Individual in History)। लक्ष्मीकान्त और उनके सहधर्मियों को यह पुस्तक पढ़ लेनी चाहिए। इतिहास में परिवर्त्तन मनुष्य ही करता है, परन्तु यह परिवर्त्तन कुछ नियमों के अनुसार ही होता है; देश, काल, निरपेक्ष क्रान्ति नहीं होती, मार्क्सवाद का यह मंतव्य है। किन्तु लक्ष्मी जी का प्रयोगवाद पूर्वग्रहों से इतना ग्रस्त है कि वह किसी की सुनना ही नहीं चाहता। "बौद्धिक जागरूकता" का क्या यही अर्थ है कि पूरी बात समझे बिना कुठार हाथ में लेकर प्रहार करना शुरू करदें।

इलियट ने मार्क्सवाद का विरोध किया तो उसे 'धर्म' में शरण लेनी पड़ी। फ्रांस के प्रतीकवादियों को भी 'अध्यात्म' की शरण लेनी पड़ी। वैज्ञानिक भौतिकवाद अथवा 'अंधश्रद्धा' पर आधारित अध्यात्मवाद—इन दो के अलावा और कोई गति नही है अतः प्रयोगवादी नौजवान जब वास्तविक अध्ययन शुरू करेंगे तब इनमें से एक का आश्रय लेंगे, विज्ञान और विश्वास दोनों का 'समन्वय' करने वाले विचारक भी बढ़ रहे हैं परन्तु प्रयोगवादियों जैसे निषेधवाद से वे अधिक पुष्ट भूमि पर हैं।

"मानवविशिष्टता और आत्मविश्वास के आधार" नामक शीर्षक के

अंतर्गत लक्ष्मीकान्त वर्मा प्रगतिवाद को समग्र जीवन का विरोधी मानते हैं यानी "प्रगतिवाद ने मानवविशिष्टता पर ध्यान नहीं दिया है।" यह सही है कि प्रगतिवादी काव्य में समग्र जीवन का चित्रण 'काव्य' में नहीं हो सका किन्तु उपन्यासों में हुआ है किन्तु लक्ष्मीकान्त 'कविता' के बाहर प्रगतिवाद की सत्ता शायद मानते ही नहीं, रूस में भी 'उपन्यास' में ही प्रगतिवाद को अधिक सफलता मिली है। किन्तु काव्य की दृष्टि से ही विचार किया जाय तो यह कहना अधिक उचित होता कि "मानव विशिष्टता पर "भी" बल देना चाहिए किन्तु यह न कह कर प्रयोगवाद केवल वैयक्तिक अनुभूतियों के क्षेत्र में ही सिमिट गया अतः क्षतिपूर्त्ति के लिए निकल कर वह स्वयं अपनी 'क्षति' करने लगा।

लघुतावाद—लक्ष्मीकान्त के अनुसार अध्यात्मवाद और प्रगतिवाद दोनों 'महामानव' का रूप अपनाकर चले। प्रगतिवाद में 'तानाशाही' व्यक्ति-पूजा का ही रूप थी। प्रयोगवाद मनुष्य की "लघुता" पर अधिक बल देता है क्योंकि वही यथार्थ है, सुपरमैन या 'अधिनामक' को प्रयोगवाद नहीं मानता। ठीक। अब इस मत के विरुद्ध आचार्य जगदीशगुप्त का वक्तव्य सुनिए:—"क्या लघुता की भावना स्वाभिमान की प्रेरक हो सकती है ? मेरे विचार से मानव स्वाभिमान तथा व्यक्तित्व से सम्पन्न मनुष्य अपने को लघु माने ही, यह आवश्यक नहीं है। यदि 'लघुता' को एक मानवमूल्य माना जाय तो यह निश्चित रूप से स्वाभिमान का विरोधी सिद्ध होगा।' ···मेरे विचार से नयी कविता के प्रतिमानों की खोज में उत्साहवश लघुता पर अत्यधिक बल देना अनावश्यक है।"[१]

इस प्रकार 'लघुतावाद' स्वयं अन्य प्रयोगवादियों द्वारा स्वीकृत सत्य नहीं है।

मूल्यान्वेषण—प्रयोगवाद ने 'मूल्यों' का प्रश्न बड़ी उग्रता के साथ उठाया है। लक्ष्मीकान्त के अनुसार सबसे बड़े मूल्य ये हैं—

(१) मानव विशिष्टता—अर्थात् हम प्रत्येक स्थापित सत्य के प्रति भी विवेक और देशकाल की सापेक्षता की दृष्टि विकसित करके उसे पुनः स्थापित करें।

इस "मूल्य" का वास्तविक मतलब यह है कि अब तक विकसित

---

१. नयी कविता, अंक ४, पृष्ठ १५-१६।

विचारधाराओं को बिना समझे बूझे उन्हें भ्रान्तरूप में उपस्थित कर उनका विरोध करें और अपने अहम् की घोषणा करते फिरें।

(२) भोगने का साहस, यह दूसरा मानवमूल्य है! अर्थात् शुभपक्ष को महत्त्व न देकर विकृतियों की अभिव्यंजना करें—"आज यदि हम जीवन के शुभ पक्ष को महत्त्वपूर्ण समझने का मिथ्या अभिनय करेंगे और यथार्थ के उस पक्ष को नहीं देखेंगे जो शुभ न होते हुए भी जीवन्त और महत्त्वपूर्ण है तो हम किसी भी उपलब्धि को नहीं प्राप्त कर सकेंगे।" अतः लक्ष्मीकान्त 'जुड़ने' की जगह 'टूटने' को, आशा के स्थान पर 'निराशा' को, व्यापक के स्थान पर 'संकीर्णता' को, 'उदात्तता' के स्थान पर 'लघुता' को, परिवर्त्तन के स्थान पर 'स्थिरता' को और 'प्रगति' के स्थान पर "प्रतिक्रियावाद" को ही वास्तविक मूल्य मानते हैं!

(३) "आधुनिक" मानव के लिए तीसरा मूल्य लक्ष्मीकान्त "क्षण" को मानते हैं। "क्षण" केवल काल का विभाजित अंश है जो देश और परिस्थिति द्वारा निर्धारित होता है, जीवन के इन क्षणों का अपना महत्त्व है, समय के विस्तार में न तो ये खो सकते हैं और न ही उनका विघटन होना आज के जीवन में सम्भव है।"

यह "क्षणवाद" किसी क्षण विशेष में प्राप्त अनुभवों का पूर्वापर सम्बन्ध नहीं देखना चाहता। 'अनुभूति' की सापेक्षता इस बात में है कि इस पर भी विचार किया जाय कि वह क्यों उस 'क्षण' विशेष में उत्पन्न होती है, आगे के 'क्षण में जब नया अनुभव होता है तब पहले क्षण में प्राप्त अनुभव का रूप क्यों बदल जाता है, वह कौनसा तत्त्व है जो 'स्थायी' रहता है? स्थायी तत्त्व बाह्य वास्तविक परिस्थिति है, वही व्यक्ति के मन में तरह-तरह के अनुभव उत्पन्न करती है, उस परिस्थिति के विषय में मौन रहकर केवल उसके 'परिणाम' में ही मग्न रहना 'अंधता' है। वह कला अपूर्ण है जो केवल 'क्षण' विशेष के अनुभव को ही व्यक्त करे, क्षणों के प्रवाह से उत्पन्न अनुभवों का निषेध करदे। "अनुभवों का आवर्त्त" या 'भाव की हिल्लोल" के अपमान का दूसरा नाम है, प्रयोगवाद!

(४) **संशयात्मना विनश्यति**—लक्ष्मीकान्त कहते हैं, "मूल्य टूट गए हैं, संवेदनाएँ बिखर गई हैं, अनुभूतियाँ सैकड़ों उतार-चढ़ाव के बाद इतने तनावों में बनती और बिगड़ती हैं कि उनका रूप अथवा एक स्तर नहीं रह जाता, समाज की चोट से घायल व्यक्ति आज समाज का विद्रोही भी हो सकता

है और आत्महत्या भी कर सकता है। विद्रोही होकर मरने वाले के प्रति श्रद्धावान होने की परम्परा, साहित्य, संस्कृति और इतिहास में बराबर मिलती है किन्तु वह जो आज की व्यवस्था के सामने टूटता है, उसका महत्त्व क्या कम है ? क्या उसका टूटना या विघटित होना भी सत्य नहीं है ?" (पृष्ठ २६६)

पाठक देखें कि नए मानवमूल्य के नाम पर शोषण, दमन और विषमता के इलाज की जगह, उसी स्थिति में आनन्द लेने की प्रवृत्ति लक्ष्मीकान्त में कितनी अधिक है। समाज में विद्रोह प्रशंसनीय रहा है, इससे लक्ष्मीकान्त को क्षोभ है। अब वह "आत्महत्या" या "टूटने" की प्रशंसा चाहते हैं। इससे "टूटने वालों" की संख्या समाज में बढ़ेगी, आत्महत्याएँ अधिक होंगीं। शापेनहावर बौद्ध-दर्शन से प्रभावित होकर जगत् की नश्वरता का ऐसा ख़ाका खींचता था कि जर्मनी में अनेक नवयुवक आत्महत्या कर लेते थे। किन्तु 'शापेनहावर' ने आत्महत्या नहीं की। सैकड़ों को अपने 'दर्शन' से मार कर भी वह जीवित रहा !! लक्ष्मीकान्त शापेनहावर के ही आधुनिक संस्करण प्रतीत होते हैं। व्यवस्था को बदलने के लिए उपाय सत्य है या केवल "टूटते रहना"। "टूटते जाने" का वर्णन करना, सत्य है किन्तु साथ ही 'टूटने' से बचने के लिए "जुड़ने" की प्रेरणा देने का कार्य भी आप क्यों नहीं करते, इससे "आधुनिकता" की क्या हानि होगी ?

(५) अन्त में लक्ष्मीकान्त सक्रिय सहयोग और 'आदानप्रदान' की भी बात करते हैं, परन्तु वह सहयोग समाज के बदलने के कार्य में नहीं है केवल आपस में बैठकर रोने धोने में ही सहयोग पर उन्होंने बल दिया है।

(६) 'लघु परिवेश' का चित्रण, यह भी लक्ष्मीकान्त के लिए एक मूल्य है। लघुपरिवेश को समाज के व्यापक रूप के साथ सम्बद्ध करके चित्रण करना अवश्य एक मूल्य हो सकता है।

(७) भावुकता की अपेक्षा यथार्थ की कटुता का महत्त्व लक्ष्मीजी के लिए अधिक है। कोरी भावुकता का सभी विरोध करते हैं परन्तु "कोरी" अथवा "केवल" 'कटुता' तक ही अपने को सीमित रखना संकीर्णता है। फिर 'कटुता' का वर्णन कारण-कार्य-परम्परा से युक्त होना चाहिए, परन्तु लक्ष्मीजी यह नहीं चाहते हैं।

लक्ष्मीकान्त संशयात्मकता से पीड़ित हैं और गीताकार ने स्पष्ट कहा है कि संशयात्मना विनश्यति !

डा० देवराज ने **"संस्कृति का दार्शनिक विवेचन"** नामक पुस्तक में

अधिक व्यवस्थित ढंग से विचार किया है। उनका कहना यह है कि मार्क्सवाद वर्गमूलक चिन्तन है किन्तु सामाजिक सम्बन्ध केवल वर्गमूलक नहीं होते। "माता का अपने बच्चे से तथा प्रेमी का अपनी प्रेमिका से जो सम्बन्ध होता है, वह किसी भी प्रकार वर्ग का सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। यही बात मित्रों के आपसी सम्बन्ध पर लागू है। हमारी एक व्यक्ति से मैत्री हो सकती है, इसलिए नहीं कि मैं और वह एक ही वर्ग के हैं, अथवा हमारी सामान्य वर्गमूलक रुचियाँ हैं। मैं एक व्यक्ति को इसलिए भी पसन्द करता हूँ कि वह अच्छी गप करता है या एक अच्छा खिलाड़ी है अथवा कविता का प्रेमी है अथवा पहाड़ी यात्राओं में रुचि रखता है। यह भी लक्षित करने की बात है कि प्रेमी और मित्र, फिर वे चाहे किसी भी वर्ग के हों, अपनी भावना के विषय के सम्बन्ध में प्रायः एक से आवेगों को ग्रहण करता है जो कालिदास के मेघदूत में यक्ष पर आरोपित किये गये हैं।" (पृष्ठ १५३)

अतः डा० देवराज के अनुसार "मार्क्सवादी सामाजिक जीवन को एक संकीर्ण रूप में लेते हैं और उसे वर्ग-सम्बन्धों से समीकृत करते हैं जो उचित नही है।" (पृष्ठ १५४)

मार्क्सवाद सामाजिक विकास को 'वर्ग आधार' पर विकसित मानता है, किन्तु मार्क्सवाद ने "सामान्य विकास" (general development of Society) का इतिहास ही प्रस्तुत किया है। वह इसका निषेध नहीं करता कि वर्गयुक्त समाज में ऐसे सामाजिक सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ते जिनका आधार 'वर्ग' नहीं होता किन्तु साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि केवल यत्र तत्र वर्ग रहित सामाजिक सम्बन्धों का अस्तित्त्व उस समाज को "वर्ग रहित" प्रमाणित कर देता है। डा० देवराज ने इस बिन्दु पर विचार नहीं किया।

इसके सिवा मार्क्सवाद यह मानता है कि मनुष्य मूलतः प्राकृतिक प्राणी है, उसे कुछ प्रवृत्तियाँ 'प्रकृति' से ही प्राप्त हुई हैं, भूख, प्रजनन-इच्छा, जिजीविषा आदि प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ हैं, यद्यपि इनका भी विकास दिखाई पड़ता है। किन्तु मनुष्य जब समाज बनाता है, तब इन प्राकृतिक प्रवृत्तियों का रूप बदलता है, मात्रा और गुण में अंतर आने लगता है अतः 'कालिदास' के मेघदूत या 'अभिज्ञानशाकुंतल' में 'प्रेम' का जहाँ तक प्रवृत्तिगत रूप है, वह आज भी हमारी 'वासना' से यथावत् सदृश्य रखता है अतः "तन्वी, श्यामा, शिखर दशना, पक्व बिम्बाधरोष्ठी, मध्ये क्षामा, चकित हरिणी" आदि वर्णनों में हम

आनन्द लेते हैं किन्तु साथ ही 'प्रेम' का जो रूप कालिदास में चित्रित है, उसका यथावत् अनुकरण हमें पसन्द नहीं क्योंकि समाज का रूप भिन्न हो गया है। दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के अपमान पर हमें क्रोध आता है, अप्सरा और विश्वामित्र के प्रेम के स्वरूप का हम आज अनुमोदन नहीं करते, न दुर्वासा के अनुचित शाप का। इसी प्रकार "गांधर्व-विवाह" को भी हम उस रूप में नहीं मानते अतः 'प्रवृत्तिगत" एकता रहने पर भी, समाजगत भिन्नता आ जाने पर मूलप्रवृत्तियों का चित्रण युग युग के साहित्य में भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ता है। अतः 'शम्बूकवध' का वर्णन हमें अब 'बर्बर लगता है, राजाओं के हरम का विलास वर्णन-चमत्कार के बावजूद हमें प्रिय क्यों नहीं लगता ? अतः मूल मानव अभी बहुत नहीं बदला है परन्तु "सामाजिक मानव" बराबर बदलता आ रहा है और इसीलिए साहित्य के सामाजिक अध्ययन की पुकार मचती है।

एंगिल्स ने कहा था कि उन्होंने और मार्क्स ने आर्थिकपक्ष पर इसलिए अधिक बल दिया था कि विचारक उसे 'निर्णायक' तत्त्व नहीं मानते थे किन्तु जीवन संकुल है, सामाजिक सम्बन्ध भी संकुल होते हैं अतः "आर्थिक आधार" का सर्वत्र प्रतिबिम्ब देखने की एंगिल्स ने निन्दा की है, परन्तु इससे यह निर्णय ले लेना कि वर्ग-मुक्त समाज की अन्तिम व्याख्या में "आर्थिक आधार" निर्णायक नहीं होता, ग़लत है।

डा० देवराज ने मार्क्सवाद को दार्शनिक दृष्टि से देखा है, इसीलिए उन्हें "संस्कृति का दार्शनिक आधार" में इतना कष्ट हुआ है।

प्रयोगवादी चिन्तन अपरिपक्व चिन्तन है, यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है। इधर यह लगता है कि प्रयोगवादी अपने को अधिक उदार बना रहे हैं, यह शुभप्रवृत्ति है, अपने को बदलने में बुराई नहीं है, आशा यही है कि भारतवर्ष जैसे प्रौढ़ देश में यह बचपना अधिक चल नहीं सकेगा।

प्रयोगीवाद चिन्तन में 'समग्र' का विकास—भारती, विजयदेवनारायण साही आदि 'प्रगतिवाद' के विरोध में ही अधिक लिखते रहे किन्तु जगदीश गुप्त ने मूल समस्याओं पर अधिक संयत होकर विचार किया है। उनकी 'अर्थ की लय' और 'रसानुभूति' के स्थान पर "सहानुभूति" विषयक उलझन को अधिक महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं, उनके "नयी कविता : नये मनुष्य की प्रतिष्ठा" शीर्षक निबन्ध का अधिक महत्त्व है।

"नये मनुष्य की बात करना यथार्थ से भागना नहीं है। क्योंकि भावी युग के मानव की विविध सम्भावनाओं की चिंता करना आज के विश्वव्यापी

नैतिक संकट का स्वाभाविक परिणाम है। इस संकट के मूल में पारस्परिक अनास्था और भय निहित है, मनुष्य के भीतर की बर्बरता कब बाह्यारोपित नैतिक बन्धनों को तोड़ कर महानाश की स्थिति उत्पन्न करदे, इसकी आशंका छिपी है" (नयी कविता, अंक ४, पृष्ठ ११)।

यहाँ मनुष्य के अस्तित्व की चिन्ता पर बल है, अनास्था और भय की निन्दा है। पुनः आगे देखिए—

"यह इसलिए कि मनुष्य को मनुष्य के ही अन्दर स्थित सद्भाव के प्रति अडिग, अकुण्ठ विश्वास नहीं रहा है·····समस्या का समाधान सम्भवतः इसी में है कि नए भावस्तर पर मनुष्य की मनुष्य के प्रति सहज आस्था जागरित हो—इतनी विशाल, इतनी प्रगाढ़ आस्था जिसे अन्तरिक्ष में स्थित ग्रहों-उपग्रहों की विजय का दर्प या इस पृथ्वी के विघात की भौतिक यांत्रिक सामर्थ्य भी तोड़ न सके।"

सामान्य प्रयोगवादी निराशावाद और अनास्थावाद के यह स्वर विरुद्ध है अतः प्रशंसनीय है। और आगे पढ़िए—

"आस्था के इस नव जागरण में प्रत्येक देश के नये चिन्तक साहित्यकार या कलाकार का अपना योग होगा, यह असंदिग्ध है क्योंकि वह मानवमनो-जगत् का सूक्ष्म पर्यवेक्षक, संग्रहक, घटक या निर्माता रहा है,·····शेली ने यदि कवि को विधायक·····की संज्ञा दी तो वह इसी अर्थ में दी है" (वही)

यह स्वर लक्ष्मीकान्त के प्रलाप से भिन्न है, यह लक्ष्य करने योग्य तथ्य है। और आगे पढ़िए—

"नया मनुष्य रूढ़िग्रस्त चेतना से मुक्त, मानवमूल्य के रूप में स्वातंत्र्य के प्रति सजग, अपने भीतर अनारोपित सामाजिक दायित्व का स्वयं अनुभव करने वाला, समाज को समस्त मानवता के हित में परिवर्त्तित करके नया रूप देने के लिए कृतसंकल्प, कुटिल स्वार्थ की भावना से विरत, मानवमात्र के प्रति स्वाभाविक सहअनुभूति से युक्त·····अपीड़क, सत्यनिष्ठ और विवेकसम्पन्न होगा" (वही, पृष्ठ १३)

क्या इसी मानवमूर्त्ति की अभिव्यंजना तथाकथित प्रयोगावाद में हुई है ? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि अब तक तो नहीं हुई, हाँ भविष्य में जगदीश गुप्त के परिवर्त्तन को देखकर अवश्य आशा हो रही है !

रचना-प्रक्रिया—प्रयोगवादी चिन्तन के सामान्य परिचय के बाद प्रयोगवादी कवियों की मानसिक स्थितियों पर विचार करना चाहिए। 'बुद्धि' के बाद 'मन' की परख करना उपयुक्त ही है। तारसप्तक, तथा द्वितीय सप्तक तथा अज्ञेय के 'इत्यलम्' की परवर्ती रचनाओं से एक बात स्पष्ट है कि प्रयोगवाद छायावादी और प्रगतिवादी भावुकता का विरोधी है। प्रयोगवाद में चिन्तन अथवा बौद्धिक धारणाओं को अधिक अभिव्यक्ति मिली है। एक वाक्य में इस कविता में "डीइमोशनलाइज़ेशन" अथवा 'भावविमुखतावाद' अधिक है। यों तो भाव का अस्तित्त्व किसी न किसी रूप में प्रत्येक 'कल्पना' और यहाँ तक कि बौद्धिक धारणाओं (concepts) की पृष्ठभूमि में यत्किंचत् देखा जा सकता है किन्तु "प्रधानता से निर्णय" के सिद्धान्त के अनुसार प्रयोगवाद में रस, भाव, भावशबलता आदि के स्थान पर "चिन्तनात्मकता" अधिक पाई जाती है। रसवादी काव्य में जो तल्लीनता की अनुभूति होती है, वह इस काव्य में नहीं मिलती, एक "बौद्धिक जागरूकता" की रक्षा कवि सर्वत्र करते दिखाई पड़ते हैं। उसमें 'रसमग्न' करने के स्थान पर "प्रभाव" डालने की प्रवृत्ति अधिक है। प्राचीन भाषा में उसमें 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' के स्थान पर 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' अधिक है। उसमें 'भाव' से अधिक 'वस्तु व्यंजना' अधिक हुई है किन्तु यह 'स्वाभावोक्ति' अथवा 'यथावस्तुवर्णन' के स्थान पर "अविवक्षितवाच्यध्वनि" तथा "अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि" के रूप में अधिक मिलती है। जब 'ध्वनिकार' ने भाव, वस्तु और अलंकार इन तीन रूपों में काव्य-विषय को स्वीकार किया था, तब समस्या आज से कुछ मिलती जुलती थी। प्रश्न यह था कि 'उक्तिवैचित्र्य' (वक्रोक्ति-सामान्य अर्थ में), स्वभावोक्ति और भावात्मक उक्ति (रसोक्ति)—इन तीनों को काव्य माना जाय या नहीं। 'ध्वनिकार' ने इन तीनों को अलंकारध्वनि, वस्तुध्वनि और 'रसध्वनि' के रूप में स्वीकार कर लिया किन्तु अपनी ओर से यह स्पष्ट कहा कि 'रसध्वनि' ही श्रेष्ठ है क्योंकि उसमें चित पूर्णतः द्रवित होता है और 'आनन्द' अधिक मिलता है।

'छायावाद' और प्रगतिवाद के रूप में 'रसवाद' विभिन्न रूपों में जीवित रहा, गीतकारों और प्रबन्धकाव्यकारों की रचनाओं में भी उसकी प्रधानता है किन्तु 'प्रयोगवाद' में 'ध्वनि' के अन्य रूप ही अधिक मिलते हैं। 'अधिक' इसलिए कि प्रयोगवाद में भी यत्रतत्र 'रसोक्तियाँ' मिल जाती हैं। रसवादी काव्य में एक भाव को विभिन्न भावों से तबतक संपुष्ट किया जाता है, जबतक वह पाठक या श्रोता को तन्मय न करदे, यह हम कह चुके हैं। इस प्रवृत्ति के

स्थान पर 'प्रयोगवाद' में तटस्थ होकर अपनी प्रत्येक मानसिक स्थिति को आँकने की प्रवृत्ति अधिक है। कभी यह 'अनुभूति' एक क्षण की ही होती है, कवि उसे आँककर फिर किसी ऐसे 'क्षण' की प्रतीक्षा करता है, जब उसे पुनः कोई नयी अनुभूति मिले। कभी किसी विशिष्ट मानसिक स्थिति में वह प्राकृतिक दृश्यों पर विचार करता है, कभी वह अपनी ही चेतना के सूत्र सुलझाने में लग जाता है, कभी वह अपनी धारणाओं की घोषणा करता है, कभी प्रतिपक्षियों पर व्यंग्य करता है, कभी वस्तुओं को इस दृष्टि से देखने का प्रयत्न करता है, जिस दृष्टि से अबतक न देखा गया हो। ये विभिन्न स्थितियाँ प्रयोगवाद में मिलती हैं।

'इत्यलम्' में बहुत सी रचनाएँ भाव के स्पर्श से आन्दोलित मिलती हैं, 'परम्परा से यह काव्य' अधिक दूर नहीं लगता—

क्षणभर सम्मोहन छा जाए
क्षणभर स्तम्भित होजाए यह, अधुनातन जीवन का संकुल।
ज्ञान रूढ़ि की अनमिट लीकें, हृत्पट से पल भर जावें धुल।
मेरा यह आन्दोलित मानस, एक निमिष निश्चल होजाए !
क्षणभर सम्मोहन छा जाए !

"आज थका हिम हारिल मेरा", "ओ मेरे दिल", "उड चल हारिल", "जब-जब पीड़ा मन में उमगी" आदि रचनाओं में 'रस' अवश्य है। कोरे चमत्कार की ओर कवि की प्रवृत्ति नहीं प्रतीत होती। किन्तु 'वस्तु व्यंजना' में कवि नवीन दृष्टि का अवश्य प्रयोग करता है, यह 'दृष्टि' स्वस्थ नहीं है, वह स्पष्टतः वर्जनाग्रस्त प्रतीत होती है, 'भूमि के कम्पित उरोजों' की चर्चा हो चुकी है। उपमाओं में नग्नता 'इत्यलम्' में स्पष्ट दिखाई पड़ती है—

वासना के पंक सी फैली हुई थी,
धारयित्री सत्य सी निर्लज्ज, नंगी औ समर्पित !

'इत्यलम्' की भाषा में 'गद्यमयता' की प्रवृत्ति बहुत अधिक है, इसका कारण आवेग में न बहकर कवि अत्यधिक 'तटस्थता' बरतता है—

"यद्यपि अंधकार के जागरूक प्रहरी का दिनारम्भ में अचेत होना ही जीवन की 'वृतसम्पूर्त्ति है।

और उषःकिरण के स्पर्श पर क्रौंच की एकाकिनी पुकार तो आगमिष्यत् के लिए आश्वासन की प्रेरणा आलोक की प्रशस्ति है।

यद्यपितु परम रहस्य के संसर्ग के उपरान्त समाधि उन्मेष है।"

यह प्रवृत्ति 'गद्यकाव्य' को जन्म देती है और बाद में यह प्रवृत्ति 'अज्ञेय' के अनुगामियों में बढ़ती ही गई है। इससे साफ झलकता है, कि ये लोग विद्वान भले ही हों, पर कवि नहीं हैं, "ये विद्वान्सः न कवयः"। काव्यभाषा की अत्यधिक अलंकृति अर्थात् भाषा में 'उपचारवक्रता' की अधिकता के बाद ऊबकर 'गद्यमयता' भी कुछ समय तक प्रिय लग सकती है परन्तु 'परिष्कार' का अभाव और काव्य में व्यावहारिक भाषा का प्रयोग चल नहीं सकता। वास्तविकता यह है कि काव्य की भाषा और गद्य की भाषा अलग ही रहती है, हाँ 'गद्य' में भी काव्य होता है, होना चाहिए परन्तु उसके लिए काव्यभाषा की निन्दा व्यर्थ है।

"वस्तु" के सुन्दर असुन्दर सभी रूप—अपनी चेतना में मग्न कवि, एक चिन्तनात्मक स्थिति में 'वस्तु' का चित्रण करते समय, 'अवधान' में आने वाले सभी रूपों को देखता है, और 'तटस्थता' से देखता है, आवेग को अलग रखता है—यथा "उषः काल की भव्यशान्ति" में अज्ञेय' एक अनाहूतकिरण, ओस, मीनारक्रोड़ से मुल्ला का आह्वान, गली में पिल्ले की रिरियाहट, छप्पर में शिशु का रुदन, नीलाकाश में दो ग्रह आदि को देखता सुनता है और अन्त में सोचता है कि इन सब रूपों में उसी का अस्तित्त्व मूर्त्तित तो नहीं हो रहा है—

मैं ही हूँ वह पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता,
मैं ही वह मीनार शिखर का प्रार्थी मुल्ला।

यहाँ पाठक किसी आवेग में मग्न नहीं हो सकता अपितु वह कवि के साथ, कवि के अनुभव में अवश्य शरीक हो सकता है और फिर भी 'तटस्थ' बना रह सकता है। 'वस्तु' के 'सौन्दर्य' में भी कवि 'पाठक' को मग्न नहीं करना चाहता, वह केवल अपने दृष्टिकोण से 'वस्तुस्थिति' को देखने की उत्सुकता उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है। इसलिए मैंने यह कहा कि प्रयोगवाद समग्रतः "डीइमोशनलाइज़" करता है, 'चिन्तक' की मुद्रा में वह अधिक रहता है अथवा प्राकृतिक दृश्यों में वह 'चित्रकार' बनता है!

यही प्रवृत्ति "शिशिर की राका-निशा", पार्क की बेंच, कंकरीट का पोर्च" आदि में दिखाई पड़ती है। कहीं 'भाव का स्पर्श' अधिक दिखाई पड़ता है यथा "चेहरा उदास" आशी : बीरबहू आदि में। कहीं केवल किसी 'विचार' का ही चित्रण है यथा "मिट्टी ही ईहा" में। कही तथ्यकथन मात्र है, विरोधाभास के ढंग पर—

सत्य एक है, क्योंकि यह एक ग्रन्थि है
जिसके सब सूत्र खो गए हैं

इसी बात को शायद 'अकबर' ने अधिक कवित्वपूर्ण ढंग से व्यक्त किया था—

फ़िलसफ़ा को बहस के अन्दर ख़ुदा मिलता नहीं।
डोर को सुलझा रहा है और सिरा मिलता नहीं !

'तारसप्तक' की कुछ प्रगतिवादी रचनाओं के स्वरूप पर हम विचार कर चुके हैं। 'द्वितीयसप्तक' में अधिकतर कवि 'प्रगतिशील' कवि हैं। नरेश-मेहता, शमशेर तो प्रसिद्ध प्रगतिवादी हैं, रघुवीरसहाय, हरीनारायण व्यास भी जनवादी कवि हैं, भवानीप्रसाद मिश्र गांधीवादी हैं और मानवतावादी हैं। 'भारती' और 'शकुन्तला माथुर' में प्रगतिशीलता स्टष्ट है। किन्तु जहाँ तक काव्य का सम्बन्ध है, यहाँ भी 'चित्रणात्मक' रचनाओं को छोड़कर 'भावुकता' नहीं है। भवानी मिश्र में 'भाव' उनकी वार्तालात्मक शैली की पृष्ठ भूमि में पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ता है। 'कमल के फूल', 'मंगलवर्षा' आदि रचनाएँ प्रमाण हैं। वस्तुतः भवानी मिश्र में परम्परा से अत्यधिक विलग काव्य नहीं मिलता। 'सन्नाटा' में उन्होंने मानवीकरण से काम लिया है और 'सतपुड़ा' के "जंगल" में 'यथावस्तुवर्णनपद्धति' अपनाई है। 'बूँदटपकी' में अलंकृत-पद्धति अपनाई गई है, उपमान नवीन हैं और अतिप्रसिद्ध "गीत फ़रोश" में बीजभाव के रूप में 'करुणा', समाज के प्रति 'क्षोभ' और ऊपरी दृष्टि से 'व्यंग्य' का आनन्द है। 'मानसिकस्थिति' का जो 'टिपीकल' रूप लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'नयीकविता' के साथ सम्बद्ध किया है, वह भवानी मिश्र में नहीं है अतः उनका काव्य 'प्रगतिवादी प्रयोगवाद' की वस्तु है।

शकुन्तला माथुर की रचनाओं में यथावस्तु वर्णन की प्रवृत्ति ही अधिक है, 'नए मानवमूल्यों' की पुकार और रुग्णमानसिक स्थितियाँ भी उनमें नहीं मिलीं। 'व्यास' की रचनाओं में 'भाव' की मात्रा शकुन्तला की तरह अधिक है—

इस पुरानी ज़िन्दगी की जेल में
जन्म लेता है नया मन
मुक्त नीलाकाश की लम्बी भुजायें
हैं समेटे कोटि युग के सूर्य, शशि, नीहारिका के तन !

आशा जागृति—उधर नीम की कलगी पकड़ने को झुके बादल।
नयी रंगत सुहानी चढ़ रही है, सबके माथे पर !

उड़े बगले, चले सारस, हरस छाया किसानों में ।
बरस भर की नयी उम्मीद, छायी है बरसने के तरानों में ।

ऐसी रचनाओं को शायद ही प्रतिनिधि प्रयोगवादी रचना माना जाए, यह शुद्ध प्रगतिवाद है ।

'शमशेर' प्रगतिवादी हैं परन्तु शैली की नवीनता के वह अतिनिर्वाहक हैं अतः उनमें 'भावविमुखतावाद' अधिक मिलता है । शमशेर के चित्रण अधिक आकर्षक हैं, 'अलंकारध्वनि' का बिम्बग्राही रूप उनमें अधिक है । शमशेर का प्रयत्न यह है कि हर चीज़ की एक अपनी भाषा होती है, उसी का प्रयोग किया जाय । इस प्रयत्न में प्रत्येक 'भावना' को, प्रत्येक 'वस्तु' को एक नयी भाषा देने से 'रूप विधान' तो आकर्षक हो गया है किन्तु यह काव्य हृदय को आन्दोलित नहीं करता—

बात बोलेगी, हम नहीं
भेद खोलेगी, बात ही ।
स त्य का मुख, झूठ की आँखें, क्या देखें
सत्य का रुख, समय का रुख है, सत्य ही सुख है सत्य ही सुख ।

जहाँ रूप-चित्रण पर अधिक ध्यान दिया गया है, वहाँ काव्य अपनी प्रकृत-पद्धति पर चलता है—

मौन सन्ध्या का दिये टीका
रात काली आगयी
सामने ऊपर उठाये हाथ सा, पथ बढ़ गया ।

'शमशेर' ने नवीन शैली में प्रगतिवादी भावनाओं को ही व्यक्त किया है, अतः उनका प्रयोगवाद प्रगतिवादी है, वह रुग्णमानसिक स्थितियों के कवि नहीं हैं । उन्होंने अलग-अलग ध्वनियों, क्रियाओं, भावों और चेष्टाओं के लिए एक नूतन भाषा का आविष्कार किया है, इससे यह 'कला' बड़ी बारीक होगई है, परन्तु चित्रणों में ही उन्हें सफलता मिली है, भाव-वर्णन में कम—

तरु गिरा
जो—
झुक गया था, गहन
छायायें लिए ।

यहाँ प्रत्येक शब्द का प्रयोग स्वतन्त्र है और भिन्न-भिन्न स्थितियों का 'बिम्ब' उपस्थित करने का प्रयत्न करता प्रतीत हुआ । शमशेर इस नूतन शब्द-कला में प्रवीणतम कवि माने जाते हैं ।

नरेशकुमार मेहता भी 'प्रगतिवादी प्रयोगवाद' के अनुयायी हैं। चित्रण-शक्ति मेहता में ख़ूब है, नूतन उपमानविधान के साथ जन-जीवन को देखने की प्रवृत्ति भी उनमें अधिक है—

गोमतीं तट, दूर पेंसिल रेख सा वह बाँस झुरमुट,
शरद दुपहर के कपोलों पर उड़ी वह धूप की लट,
जल के नग्न ठंडे बदन पर कुहरा झुका, लहर पीना चाहता है !
सामने के शीत नभ में, आयरन ब्रिज की कमानी,
बाँह मस्जिद की बिछी है।

मेहता की द्वितीय सप्तक की रचनाओं में छायावादी सौन्दर्य दृष्टि की परम्परा दिखाई पड़ती है। उनमें "रिरियाते कुत्तों" और "मूत्रसिंचित मृत्तिका के वृत्त में गदहा" जैसे दृश्यों को न देखकर किरनधेनुओं, नीलमवंशी में से कुंकुम के स्वर, झील में बरसते स्वर्ण, आदि को अधिक देखा गया है। अलंकारों के नए रूप पर मेहता ने अधिक ध्यान दिया, यह कोई अनुचित बात नहीं—

सोने की वह मेघ चील
अपने चमकीले पंखों में ले अंधकार अब बैठ गई दिन के अंडे पर।
नदी वधू की नथ का मोती चील ले गयी !
गगन-बीड़ से सूरज ग्वाला हाँक रहा है दिन की गायें।
नभ का नीलापन चुप है। दिशि के कन्धों पर सिरधर कर।

रूपक और मानवीकरण का ही यहाँ चमत्कार है। नरेश मेहता ने 'समयदेवता' का उक्त प्रकृति-चित्रण से प्रारम्भ कर लम्बी कविता लिखी है, इससे यह प्रमाणित होता है कि मुक्तछन्द, अलंकृत शैली में 'प्रगतिवाद' अज्ञेय के हाथों ही सम्पादित हुआ है, यह आश्चर्य का विषय है कि अज्ञेय फिर भी उसे 'मृत' कहते हैं।

रघुवीरसहाय के प्रकृति-चित्रणों में अलंकृतिकम किन्तु जन जीवन को देखने की प्रवृत्ति पर्याप्त है। किन्तु 'भला' 'कोशिश' और अनिश्चय' शीर्षक रचनाओं में शैली का चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न अधिक है। 'अनिश्चय' में दूर तक पाठक को यह आशा बँधाकर कि कवि कुछ कहने ही जा रहा है अन्त में सहसा कह उठता है—

लो सुनो, इतना ही कहना है सुनो,
तुम से मुझे
किन्तु ठहरो तो, शायद इससे भी अच्छी कोई बात याद आजाए !

यानी रघुवीर सहाय की रचनाओं में 'भावविमुखता' अधिक है।

'भारती' धर्मवीर में रोमानिमत या रंगीनी कम से कम 'द्वितीय सप्तक' की रचनाओं में अधिक मिलती है। अतः प्रयोगवाद की प्रतिनिधि रचनाएँ ये नहीं हैं। अंधायुग' की रचनाएँ तथा "ठण्डा लोहा" की कतिपय रचनाएँ प्रयोगवादी मानसिक स्थिति का अधिक प्रतिनिधित्व करती हैं। 'भारती' में बहुत परिवर्त्तन हुए हैं, कभी 'समाजवाद का दौर था, शायद इसीलिए 'प्रगतिवाद' का की अध विरोध उन्हें करना पड़ा। उनके ज़माने में 'आलोचना' प्रतिक्रियावाद का केन्द्र बन गई थी। भारती की कविताओं में इस तुमुल कोलाहल की ध्वनि भी है और कही कहीं अपने मन की गुलाबी रंगीनी का भी वर्णन है, कहीं अनास्था, टूट, लघुता, कुंठा आदि की भी व्यंजना है, 'भारती' मध्यवर्गीय द्वन्द्व ग्रस्त मनोवृत्ति का भलीभाँति प्रतिनिधित्व करते हैं—

'लघुता' :—मैं रथ का टूटा पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
क्या जाने इस दुरूह चक्रव्यूह में
अक्षौहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय
तब में रथ का टूटा हुआ पहिया
उसके हाथों में ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकता हूँ।

यह 'लघुता' लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार 'नयी' प्रवृत्ति है, सौन्दर्य बोध का नया स्तर ! किन्तु 'भारती' अभिमन्यु न बनकर 'रथ का टूटा पहिया' क्यों बनना चाहते हैं, यह समझ में नहीं आता, हाँ पूँजीवाद के विरोधी 'प्रगतिवाद' के शत्रु बनकर वह यदि पूँजीवादी रथ के अश्व बनना चाहते, तब बात अधिक सार्थक होती !

काव्य की दृष्टि से 'भारती' में भावोच्छ्वास अधिक मिलता है, 'प्रयोग-वादियों की प्रिय 'निराशा', और "टूटने की प्रक्रिया" की व्यंजना में भी 'आवेग' भारती में बराबर मिलता है—

ठण्डा लोहा, ठण्डा लोहा, ठण्डा लोहा !
मेरी दुखती हुई रगों पर ठण्डा लोहा !
मेरी स्वप्न भरी पलकों पर
मेरे गीत भरे होठों पर
मेरी दर्द भरी आत्मा पर

स्वप्न नहीं अब, गीत नहीं अब दर्द नहीं अब
एक पर्त्त ठण्डे लोहे की !

किन्तु 'भारती' इस उक्त आरोपित निराशा के साथ साथ "सृजन की थकन भूल जा देवता" जैसी रचनाएँ भी प्रस्तुत करते हैं और 'नवनिर्माण' के लिए प्रेरणा देते हैं—

अभी तो पड़ी है धरा अधबनी
अभी तो पलक में नहीं खिल सकी
अभी अधखिली ज्योत्स्ना की कली
नहीं ज़िन्दगी की सुरभि में सनी !
अभी स्वर्ग की नींव का भी पता !
सृजन की थकन भूल जा देवता !

किन्तु "ठण्डा लोहा" में भारती की उन्हीं रचनाओं में 'कवित्व' निखरा है, जिनमें रोमानियत या 'रमणेच्छा' अधिक व्यक्त हुई है, प्रेम का मादक रूप भारती को अधिक प्रिय है,—

आज छोड़ सब कामकाज तुम बैठो मेरे पास
आज ख़ुदकशी करने पर आमादा है आकाश !

———

ये शरद के चाँद से उजले धुले से पाँव मेरी गोद में !
चुम्बनों की पांखुरी के दो जवान गुलाब मेरी गोद में !

———

तुम कितनी सुन्दर लगती हो, जब तुम हो जाती हो उदास !
मिसरी के होठों पर सूखी किन अरमानों की विकल प्यास !

———

ऐसी रचनाओं में परम्परागत रंगीनी ही मिलती है, रचना-प्रक्रिया में भी कोई नवीनता नहीं मिलती किन्तु इनमें 'कविता' अवश्य है।

प्रतिनिधि मानसिक स्थितियाँ और रचनाप्रक्रिया—लक्ष्मीकान्त वर्मा 'नयीकविता' के भाष्यकार हैं अतः उनकी रचनाओं को ध्यान से देखना चाहिए। "ठण्डा लोहा" की तरह वर्मा जी की "छाती में तेज़धार वाले फ़ौलाद की नोंक" गड़ी है—किन्तु "फौलाद की छाती" लिए वह कहते हैं कि वह जीवित हैं !

बिम्ब और व्यंग्य—लक्ष्मीकान्त 'भावविमुखवादी' कवि हैं, वह चित्रण में बिम्बों की सृष्टि का और इन धारणाओं की अभिव्यक्ति में 'व्यंग्य' का प्रयोग अधिक करते हैं और इस पद्धति के प्रयोग में किसी प्रकार का अनुशासन नहीं बरतते—कहीं प्रतीक पद्धति भी आज़माते हैं। "इतिहास और कीड़ा" शीर्षक उनकी कविता में 'प्रतीक' का प्रयोग व्यंग्य की सृष्टि के लिए किया गया है, जो आकर्षक है :—"एन्साइक्लोपेडिया के पन्नों में एक जिस्म कि जिसमें दिल नहीं ; उस दिन अचानक पिस गया, एक ख़ून का धब्बा नेपोलियन के मस्तक पर रह गया·····यह सत्य कि जिसने उस किताब को खोला, वह कोई फ़ौजी जेनरल नहीं था, और जो दबकर मर गया, वह हृदयहीन क्रीड़ा था !" (नयी कविता, अंक १)

बिम्बसृष्टि—मैं देख रहा हूँ दूर, बहुत दूर,
धूल में टायर की छाप सी उभर-
एक गाढ़ी काली जंजीर में
दो बादलों के टुकड़े फँस गए हैं !

इसमें कोई नवीन काव्य-प्रक्रिया नहीं है, केवल उपमान-विधान नवीन है, जो प्रयोगवादी शैली की प्रमुख विशेषता है।

अनगिन बौनों की गठरी को सिर पर लादे
कंधों पर बरसाती लम्बी, हाथों में बरसाती जूते
गाँठ गाँठ तक पैण्ट उठाए, कालर बाँधे, बाँह सकेले·····
गठरी में से काले बौने, मुक्त हो गए
चौंक गया मैं, शोर शराब्बा
देखा नभ पर घिर आए थे, काले बादल !

बूँदों को "बौनों" की उपमा चाहे जितनी भद्दी हो, परन्तु उपमा तो है, 'बिम्ब' तो मन में उतरता है और साथ ही वर्मा जी के लघुतावाद अथवा "बौनावाद" की भी शर्त्त पूरी होती है। 'उपमान विधान' में सादृश्य और साधर्म्म पर ध्यान न देने से वर्मा जी के चित्रण हास्यास्पद हो जाते हैं। "व्यंग्य" करते हैं तो 'प्रज़ाक' बन जाता है, 'तिक्तता' उभर नहीं पाती।

'चीटी, चारा और तीतर' में चीटियों की चीनी डालने का वर्णन कर फिर तीतर छोड़ने का वर्णन करते हैं—

तीतर वाले उड़ा गर्द खूराक ढूँढ़ते
एक तमाशा,

(वाह···वाह···वाह···बेटा वाह।
एक चोट·····एक चोट और
युद्ध, क्रान्ति, संक्रान्ति, व्याप रहा है तिक्त)

चींटी से 'जनता' को और 'तीतर' से युद्ध की ओर संकेत किया है परन्तु युद्ध-वादियों के प्रति 'घृणा' पैदा नहीं हो सकी क्योंकि लक्ष्मीकान्त की ऐसी रचनाओं में उनके द्वारा विज्ञापित 'तिक्तता' या 'घृणा' का वर्णन "चुटकले" जैसा बन जाता है। 'आत्मपरिचय' में भी व्यंग्य है परन्तु वह भी हास्यास्पद हो गया है अतः उसका अभिधापरक अर्थ जानबूझ कर ग्रहण किया गया है—

लक्ष्मीकान्त, बाल बिखरे, गाल पिचके
निष्प्रभ, क्लान्त, आदि से अन्त
केवल अतुकान्त !

यह "कार्टूननुमा" चित्रण आज के क्लान्त नवयुवकों के प्रति न तो सहानुभूति जगा पाता है, न क्लान्ति के कारणों के प्रति क्रोध—लक्ष्मीकान्त की कविता में पत्रकारिता अधिक आ जाती है।

प्रतीकात्मकता—कहीं लक्ष्मीकान्त वर्मा किसी 'वस्तु' के चित्रण में 'रेखाचित्रात्मक' पद्धति अपना कर चलते हैं और उस स्थिति में अपने 'मन' की दशा को संकेतित करने का प्रयत्न करते हैं। इस संकेत कार्य के लिए पूरी परिस्थिति या 'वर्ण्यवस्तु' 'प्रतीक' के रूप में बदल जाती है। इस प्रकार तीन 'मोर्चों' पर कवि एक साथ काम करता दीखता है, वस्तु का रेखाचित्र, मन की दशा, जिसमें इन्द्रियों पर पड़ने वाले प्रभावों से लेकर चेतना की आन्तरिक उलझन, तिक्तता, व्यथा, आदि भी हैं, तथा 'वस्तु' को मन के सम्मुख 'प्रतीकात्मक' रूप में प्रस्तुत करना। रेखाचित्र देते समय कवि की उपमाओं से साफ प्रतीक होता है कि कवि असंतुष्ट है, ऐसी रचनाओं को भी 'वस्तु ध्वनि' के मापदण्ड पर परखा जा सकता है—

स्टोव आज ठण्डा है, हल्के फीरोज़ी रंग की चूड़ियों का साया,
धानिया चूनर में लिपटी तुम्हारी काया, लक्ष्मी, सावित्री, दमयन्ती,
बेटरहाफ़ !

इस प्रकार रेखाचित्र आगे बढ़ता है, फिर कवि अपने मन की स्थिति बताता है—

आज वह बीता रस, पिया विष, जिया दंश
तरल हो गया कहीं
क्योंकि, महीने की आख़िरी तारीख़ है हर दिन,
ऐस्थमा के रोगी सा यह स्टोव·····

इस बीच कवि का पुत्र चिल्लाता है, तो उसे भी यथावत् चित्रित करने का प्रयत्न है,·····

माँ·····चा ऽ ऽ ऽ ऽ की ऽ ऽ ऽ ऽ प्याली
पा·····पा ऽ ऽ ऽ की ऽ ऽ ऽ जेब खाली
श्·····श्,·····श्·····,
स्टोव आज ठण्डा है !

कविता के अन्त में पुनः कवि अपने मन की गहराई में डूबता है। ठण्डा स्टोव, खाली चा का टिन तथा शराब की बोतल, को वह प्रेरणादायक के रूप में ग्रहण करता है—

स्टोव यदि आज ठण्डा है
तो कहीं आँच यह मन की
इतनी उर्वरा है, दर्द को जन्म दे
जो दे जाती है सहन, सम्बोधन, समर्पण, मौनतर्पण !

प्रयोगवाद रोज़ व रोज़ की सामान्य और महत्त्वहीन वस्तुओं और मानसिक स्थितियों की ओर अधिक देखता है, उन्हें 'प्रतीक' के रूप में परिणत कर अपने मन की कुछ ख़ास स्थितियों, दर्द, अस्तित्व की आशंका, कुण्ठा, तिक्तता, लक्ष्यहीन असंतोष को संकेतित करता है, भाव के उच्छ्वास को दबाता है, भीतर जहाँ जो 'घुमडन' टूटन, उलझन उठती है, उसकी ओर संकेत भर कर देना पर्याप्त मानता है।

प्रश्न होगा कि 'रोज ब रोज' की चीज़ों को यदि प्रतीक रूप में ही ग्रहण किया जाय तो उनसे आशा, उत्साह, आनन्द, आत्मविश्वास, लक्ष्ययुक्त असंतोष आदि को भी ग्रहण किया जा सकता है किन्तु लक्ष्मीकान्त वर्मा जैसे कवि इसे 'यथार्थ' के विरुद्ध मानते हैं। पुनः प्रश्न होगा कि 'आशा' यदि आज धूमिल भी होगई है, ऐसा भी यदि मान लिया जाय, तो उक्त कविता को पढ़कर 'शोक' या असंतोष का भाव चित्त को द्रवित क्यों नहीं कर पाता, इसका उत्तर यह है कि कवि शैली और उपमानों में पाठक के मन को ग्रस्त

कर लेते हैं, मूल अनुभूति चक्करदार क्रम से व्यंजित होने के कारण पाठक तक पहुँचते हाँफने लगती है। अतः यह काव्य-प्रक्रिया 'नवीन' अवश्य है, यों अँगरेजी में यह बहुत पहले से ही प्रचलित है, परन्तु इससे पाठक को अत्यधिक अवधान का अपव्यय करना पड़ता है अतः ये रचनाएँ 'कौतुक' या 'प्रहेलिका' बनकर रह जाती हैं।

जगदीश गुप्त में "उलझी हुई संवेदनाएँ" अपेक्षाकृत कम दिखाई पड़ती हैं। उनकी 'पहेली' सी लगने वाली रचनाओं में भी 'ध्वनि' का रूप अधिक स्पष्ट है। वार्तालापात्मक शैली में कवि मुट्ठियाँ बन्द कर प्रेमिका से पूछता है कि बताओ, इनमें क्या है ? बताया गया कि इनमें "दर्द" है ! कवि कामना करता है—"किसी दिन काश खुल जातीं, कहीं यह मुट्ठियाँ मेरी, लगा मजबूरियों को आग, ले आता तुम्हें मैं खींच अपनी ज़िन्दगी के पास" किन्तु कवि 'मजबूरी' में ही कविता को समाप्त कर देता है—

मुझे अब कुछ नहीं कहना
कहूँ भी क्या, कि जब मजबूरियों के बीच ही रहना !

भले ही 'मजबूरी' आरोपित हो, परन्तु वह स्पष्टतः ध्वनित हुई है। यही स्पष्टता "एक क्षण को मान लो" में एक 'सम्भावना' के चित्रण में मिलती है। जगदीश गुप्त के "नाव के पाँव" नामक काव्यसंग्रह में प्रकृति-चित्रणों में भी प्रयोगवादी साम्प्रदायिकता अधिक नहीं मिलती, उपमानविधान में सादृश्य और साधर्म्य का भी उन्होंने अधिक ध्यान रखा है। 'व्यंग्य' से कहीं अधिक सफलता उन्हें चित्रणों में मिली है।

विजयदेवनारायण 'साही' की रचनाओं में भाषण का फुट अधिक दिखाई पड़ता है, प्रगतिवाद का विरोध करने के कारण आपको अच्छी ख्याति सुलभ हुई है ! फिर भी 'साही' में 'पिण्ड में ब्रह्माण्डदर्शन' यानी अपनी गहराइयों में डूबकर जगत् को देखने की प्रवृत्ति बहुत कम है, जन-जीवन के चित्रण में उनमें पर्याप्त 'आब्जैक्टिविटी' मिलती है। "मैं आज सरल धरती का अभिलाषी" "रात में गाँव" आदि रचनाएँ प्रमाण हैं। जहाँ साम्प्रदायिक "दर्द" का वर्णन है, वहाँ 'स्पष्टता' और 'आवेग' दोनों मिलते हैं, अनबूझी शैली भी नहीं दिखाई पड़ती—

अगर केवल 'दर्द' ही होता, तो उसे सह डालता !
यह अतल आघात से भी तीव्र,
यह अतीन्द्रिय आँधियों से भी अधिक उद्दाम, प्राणदायिन ज्वाल !

और कब तक धमनियों के अन्ध में धारे रहूँ, यह 'दर्द' की देवापगा ?
और कब तक मुक्ति प्यासी अस्थियों की चीख़ भी सुनता रहूँ ?
खोल दो, मेरी, शिराएँ खोल दो, तोड़ दो मेरी परिधियाँ तोड़ दो।

यह पुरानी मुक्तछन्द वाली शैली है, कहीं-कहीं सीधे 'भाषण' हैं—

ओ महाप्रलय के बाद नये उगते शिखरो
है तुम्हें क़सम इन ध्वस्त विन्ध्यमालाओं की
मत शीश झुकाना तुम अपना !

"हिमालय के आँसू" में भी यही प्रवृत्ति है। "सँग-सँग के गान" में गीतकारों का अनुसरण है। चित्रणों में कल्पना का प्रयोग एकदम असंयत और अस्फुट नहीं है—

सो रहा है गाँव, खेतियों की अनगिनत मेंड़ें
कि धरती के दुलारे वक्ष को, उँगलियों से पकड़
बच्चों की सलोनी नींद में सुकुमार
सो रहा है गाँव !

सोन मछली सा अँधेरा रात को पीता हुआ
जल रहा है किसी खँडहर के झरोखे पर चिराग़।

जहाँ 'फैन्सी' अथवा मन की किसी देश, काल निरपेक्ष 'तरंग' का वर्णन है, वहाँ भी अटपटापन नहीं है, जो लक्ष्मीकान्त में हम देख चुके हैं—

इधर तीन दिनों से, लेटते ही खाट पर, तीव्र इच्छा होती है।
शून्य को पकड़ कर, मुट्ठियों में भींच लूँ, नारंगी से चाँद को।
रसभरी से तारों को, केवड़े में बसी हुई किरनों को
पंजों में पकड़ कर, कस कर निचोड़ूँ !

किन्तु यह 'साही' का वास्तविक रूप नहीं है, उनकी वास्तविक 'छवि' भाषणपरक रचनाओं में अधिक मिलती है, अटपटापन कम होने पर भी 'साही' में कवि प्रतिभा का अंश कम, क्षुब्ध नेता का व्यक्तित्व अधिक दिखाई पड़ता है।

'कुँअरनारायण' में वैविध्य अधिक मिलता है, वह 'कवि' को 'बहुरूपिया' मानते भी हैं। (तृतीय सप्तक की भूमिका)। "कुँअर" पर "बुद्धि" और "गद्य" का, अथवा गद्यात्मक बुद्धि का अथवा "बुद्ध्यात्मक गद्य" का अधिक

प्रभाव है ! किन्तु "बुद्धि" और "गद्य" के आधिक्य से "अन्विति" की हानि देखकर पाठक विस्मित हो उठता है—

सत्य से कहीं अधिक स्वप्न वह गहरा था
प्राण जिन प्रपंचों में एक नींद ठहरा था।
भग्नावशेषों की दुर्व्यवस्थ छायाएँ
झुलसी हुई लपटों सी ईर्ष्यालु
जीवन के शुद्ध आकर्षण पर गुदी हुई
काल की समस्त माँग, बूढ़ी दुनिया अपंग !

अन्तिम पंक्ति का अन्य पंक्तियों से सम्बन्ध बैठाने में स्पष्टतः कठिनाई होगी, जिस 'प्रपंच' या 'स्वप्न' का यहाँ चित्रण किया गया है, वह भी अस्फुट है—इसी तरह—

वस्तु का दर्पण उधर सुनसान
जो अपनों विना बीरान,
इधर धूसर बुद्धि जो अति जिन्दगी के प्रति
उठाती स्वप्न की प्रतिध्वनि !

'वस्तु' को 'दर्पण' बनाना तो ठीक था परन्तु बाद में पुनः अस्पष्टता आगई है किन्तु जहाँ यह दोष नहीं है, वहाँ कवित्व उभरता हुआ लगता है, जैसे "खामोशी" बनाम हलचल" के चित्रण में। क्रोचे ने बड़े पते की बात कही थी कि यदि अभिव्यक्ति में अस्पष्टता या उलझन है तो समझना चाहिए कि कवि की अंतश्चेतना में अनुभूति स्पष्ट नहीं है। जब तक मन में अनुभव या वस्तु का बिम्ब स्वच्छतः अवतरित न हो जाय तब तक लिखने की कोशिश करने का अर्थ है, सरस्वती के बिना आगमन के ही यह समझ बैठना कि वह आगई है। प्रत्येक नए अनुभव का उदय पहले कुहासे के साथ होता है, धूलि को बैठ जाने देना, ज़रूरी है अन्यथा राम से मिलने आए भरत के मुख पर निश्चित भाव क्या हैं कि यह कैसे स्पष्ट होगा !

अतः धारणाओं की व्यंजना में 'कुँअर' जी को उतनी सफलता नहीं मिली, जितनी उन्हें चित्रणों में मिली है। 'चित्रण' में 'स्वाभावोक्ति' की पद्धति अपनाने से कवि "दायित्व" को अधिक पूरा कर सका है—"जाड़ों की एक सुबह" में यही प्रवृत्ति है।

चाँदनी सित रात चितकबरी
उसे भूखण्ड की गंजी सतह पर

खोह से खंडहर, कपालों में धँसा ज्यों रेंगता मनहूस अँधियारा !

"रात चितकबरी" की इन पंक्तियों में एन्द्रिक अनुभव को भलीभाँति प्रकट किया है। 'कुँअर' जी में 'दर्द' के कारण 'कुरूपता' के दर्शन की प्रवृत्ति अधिक है, छायावाद के विरुद्ध चलने की प्रवृत्ति का ही शायद यह परिणाम हो—कवि को चाँदनी ओढ़े हुए रात बूढ़ी औरत सी लगती है, आगे की 'कल्पना' की कुरूपता देखिए, यद्यपि है 'नवीन' !

चांद से लुढ़की पड़ी छाया घनी, एक बूढ़ी रात ओढ़े चाँदनी !
एक फीकी किरण सूजी लाश पर, स्वप्न कोई हँस रहा आकाश पर।

देह से कुल भूख गायब कुलबुलाती आँत !
खोपड़ी से देह गायब, खिलखिलाते दाँत !

कहीं कहीं कवि व्याख्याता शैली में धारणाओं की घोषणा करने लगता है— "हम शायद वर्तमान का असली रूप नहीं, हम कुछ अतीत हैं !"

जिस का भावी स्वप्न अभी घटने वाला
हम तुम परिचित हैं, अपने लाखों सपनों से !

कुँअर नारायण में 'दुरूहता' और 'अस्पष्टता' उनके प्रशंसक बाल कृष्णराव ने भी मानी है, यह स्मरणीय है। (नयी कविता, ३) निश्चित रूप से कुँअर में 'साही' से अधिक प्रतिभा है, वैविध्य भी उनमें अधिक है परन्तु प्रयोगवादी संकीर्ण 'कथ्य' अपनाए रहने से उनकी ऐसी इच्छाएँ अवश्य सहानुभूति के योग्य हैं :—

पृथ्वी आकर्षित करती है, अपनी जड़ताओं को
पर आकाश, प्रकाश न मुझको मरने देते
सरल मौत कुत्ते की !

समझ में नहीं आता कि ऐसी अभद्र उपमाओं से कवि अपने 'मन' के 'दर्द' को कैसे प्रेषणीय बना सकता है ? मानसिक स्थिति यदि गंभीर है तो उपमा भी गंभीर ही होनी चाहिए। 'हास्यरस' की उपमाएँ प्रयोगवाद में 'शोक के वर्णन में प्रायः दे दी गई हैं फलतः काव्य 'हास्यास्पद' हो गया है। उपमा में गुण, क्रिया, रूप और द्रव्य इन सबका जितना अधिक सादृश्य होगा, 'बिम्बग्रहण' उतना ही 'यथार्थ' और आकर्षक होगा। सौन्दर्य अधिकाधिक 'सादृश्य' से उत्पन्न होता है, न्यूनतम सादृश्य से तो प्रत्येक वस्तु से प्रत्येक वस्तु की उपमा दी जा सकती है ! कालिदास ने, हिमालय के हिम को शंकर के

अट्टहास से उपमा दी थी अब यदि 'नवीनता' के लिए 'हिम' की उपमा "कारखाने में संग्रहीत "कुल्फी" से दी जाय तो यह हास्यास्पद होगा !

प्रशंसनीय उपमा—इस गली के छोर पर बुनियाद डालो
कोठरी में दीप की लौ, सेंकती ठंडा सबेरा !
इन्हीं पत्तों में कहीं सोया हुआ है
रूप का गोरा सबेरा !

आशा यह है कि प्रयोगवादी संकीर्णता से 'कुँअर' जी ऊपर उठकर "रूप का गोरा सबेरा" जैसे चित्रण अधिक प्रस्तुत करेंगे।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना प्रयोकवाद के प्रतिनिधि कवियों में शायद न माने जाएँ, क्योंकि उनमें जगदीश गुप्त और लक्ष्मीकान्त वर्मा के 'चिन्तन' का अस्तित्त्व नहीं मिलता। 'सर्वेश्कर' में 'दर्द' है, पर वह व्यापक है, वस्तुतः उनका 'दर्द' आग बन कर शीघ्र भड़क उठता है अतः जो 'पुंसत्वहीनता' अन्य प्रयोगवादियों में मिलती है, वह 'सर्वेश्वर' में नहीं मिलती। यही आग 'व्यंग्य' बन कर उनके काव्य को 'व्यंग्यपरक' बना देती है। वस्तुतः सर्वेश्वर प्रगतिवादी-प्रयोगवाद के अनुगामी हैं, उनकी सामाजिक दृष्टि स्वस्थ होने के कारण, उनके काव्य में संवेदनाओं का उलझाव नहीं हैं,—उनके 'संकेत' सरल हैं, उनमें 'कलाकार' कम, कवि अधिक है—

आज पहली बार, थकी शीतल हवा ने शीश मेरा उठा कर,
चुपचाप अपनी गोद में रखा, और जलते हुए मस्तक पर
काँपता सा हाथ रखकर कहा,
"सुनो, मैं भी पराजित हूँ
सुनो, मैं भी बहुत भटकी हूँ
सुनो, मेरा भी नहीं कोई
सुनो, मैं भी कहीं अटकी हूँ
पर न जाने क्यों, पराजय ने मुझे शीतल किया,
और हर भटकाव ने गति दी, नहीं कोई था
इसी से सब हो गये मेरे, मैं स्वयं को बाँटती ही फिरी !

प्रकृति से स्वस्थ प्रेरणाएँ भी ली जा सकती हैं, केवल चन्द्रमा को नक़ली रूपए जैसा देखते रहना अथवा पागल कुत्ते की मौत मरने की लालसा रुग्ण मानसिक स्थितियाँ हैं। 'सर्वेश्वर' इस धारा के विपरीत प्रकृति से स्वस्थ प्रेरणाएँ लेते हैं। "नए साल की शुभकामनाओं" शीर्षक रचना में कवि का

"जनवाद" देखिए। वह "खेतों की मेंडों पर धूल भरे पाँव" को, "कुहरे से लिपटे उस छोटे से गाँव" को, बैलों की चाल, करघे, कोल्हू, मछुओं के जाल, पकती रोटी" "बच्चों के शोर", 'सिगरेट की लाशों पर फूलों के ख्याल को", "जूड़े के फूल को" और "ग्रीटिंग कार्ड लिखने वालों" को शुभकामनाएँ भेजता है, न यहाँ अस्तित्त्व की आशंका है, न लघुता की लालसा !

कल्पना के चमत्कार में भी कवि अटपटी पद्धति न अपना कर केवल 'रूपविधान' में लोकस्पर्श भरकर 'भोर' का कितना सरल रूप उतारता है—

सलमें सितारों की काम वाली, नीली मख़मल का खोल चढ़ा
अम्बर का बड़ा सिंदौरा उलटा, धरती पर नदियों के जल में
गिरि तरु के शिखरों से ढर-ढर कर, सब सेंदुर फैल गया !

"इन्द्र नीलमणि महा चषक था, सोम रहित उलटा लटका, में भाषा का गौरव अधिक है किन्तु 'रूप' की दृष्टि से सर्वेश्वर हृदय के अधिक निकट प्रतीत होते हैं। "चुपाई मारो दुलहिन" में लोक-स्पर्श और भी अधिक है।

सर्वेश्वर के 'प्रतीक' बहुपरिचित हैं, जैसे प्रगतिशीलों पर व्यंग्य के लिए "सूखे पीले पत्तों" का प्रतीक और सुबह से शाम तक में 'ऊँट' !

दिखावटी सौन्दर्य-बोध पर सर्वेश्वर ने बड़ा कठोर व्यंग्य किया है, 'दर्द' और दुःख चिल्लाने वालों की नपुंसकता पर कवि कहता है—

"भूखी बिल्ली की तरह, अपनी गरदन में सँकरी हाँडी फंसाकर
हाण पैर पटको, दीवारों से टकराओ, महज़ छटपटाते जाओ
शायद दया मिल जाय !

इसी तरह 'शान्ति' के पक्ष में कवि "कलाकार और सिपाही" की तुलना करता है, कि एक तो वे कलाकार थे जो आत्मा की आज्ञा पर मानवता के लिए शिलाएँ, चट्टानें, पर्वत काट काट कर, मूर्तियाँ, मन्दिर, गुफाएँ बनाते थे" और आज के ये सिपाही हैं जो नदियों, पहाड़ों, बियाबानों में, दूसरों की आज्ञा पर चन्द पैसों के वास्ते शिलाएँ, चट्टानें, पर्वत काट कर रसद, हथियार, एम्बुलेंस, मुर्दागाड़ियों के लिए सड़कें बनाते हैं।

सर्वेश्वर प्रेमिका को अपने अहं से "बड़ी" मानते हैं, और "प्लेटफ़ार्म" का यथावत् चित्रण करके अंत में कहते हैं—

लेकिन मुझे जागना है,
क्योंकि आधी रात को कोई माल गाड़ी

नींद में झूमती, हचकोले खाती, शायद आकर ठहर जाय
सोते हुए अनगिन डिब्बों में से शायद कोई खुले
शायद कुछ ऐसा मिले, जिसे कल सुबह होने पर-
दूसरों को देना हो !

आप कहेंगे कि यह तो 'प्रचार' मात्र है, प्रौपेगेण्डा। यानी यदि इन्हीं शब्दों में 'अस्तित्व', आशंका, 'दर्द', लघुता, आदि की चर्चा होती तब तो यह काव्य होता और क्योंकि यहाँ, कवि में दूसरों के लिए सोचने, समझने, कुछ करने की भावना है अतः यह प्रचार हो गया ! 'प्रगतिवाद' के विरुद्ध अधिकतर तर्क ऐसे ही हैं !

लोग "काठ की घण्टियों" शीर्षक कविता का मर्म बिना समझे ही सर्वेश्वर पर तथाकथित प्रयोगवादी 'कथ्य' का आरोप लगाते हैं, 'काठ की घण्टियों' में जागरण व्यंजित है, निराशा नहीं।

इसका अर्थ यह नहीं कि सर्वेश्वर में 'दृश्यचित्रण शक्ति' का अभाव है, वह कल्पना का दुरारूढ़ प्रयोग कम करते हैं, किन्तु कहीं-कहीं कल्पना का चमत्कार चरम सीमा पर पहुँच गया है जैसे "कलरात" शीर्षक कविता में। जिसमें 'विवेक' को "पेपरवेट", 'दर्द' की 'पृष्ठ' स्मृतियों को "काले कोट का कालर", आकाश को "पिनकुशन" और 'तारों' को 'आल्मीन' बनाकर कागज नत्थी करने की सारा क्रिया अपने मन पर आरोपित की गई हैं और यह अस्वाभाविक भी नहीं लगता।

अज्ञेय ने सर्वेश्वर के विषय में लिखा है कि इस कवि में आन्तरिक अनुशासन और तंत्र कौशल की कमी है। 'लय' के बिना प्रायः उसकी कविताएँ 'गद्य' बन जाती हैं। परन्तु यह दोष पूरे प्रयोगवाद में है। अब तो यह 'गद्यकाव्य' या 'पद्यकाव्य' चल ही पड़ा है अतः अब इसे 'पाठ्यकाव्य' ही रहने दीजिए। लोग पढ़ लेंगे जिन्हें 'गुनगुनाना' होगा, ध्वनि और लय में बहना होगा, वे गीतकारों की शरण में जाएँगे ! फिर भी यह प्रसन्नता का विषय है कि अज्ञेय अब अन्विति, 'आन्तरिक अनुशासन' और 'लय' पर बल देने लगे हैं यों 'गद्यमयता' उनमें कम नहीं है। 'प्रवाह' या 'लय' को हिन्दी काव्य से 'अज्ञेय' ने ही छीना था, अब प्रायश्चित करना उचित ही है—

रोपै पेड़ बबूल को, आम कहाँ ते होय ?

'सर्वेश्वर' से ही कुछ मिलते जुलते 'मदन' वात्स्यायन हैं, जिन्होंने अपने गुरु 'अज्ञेय' के 'वात्स्यायन' नाम को स्वीकार कर लिया है, असली नाम

शायद "लक्ष्मीनिवास सिंह" है। मदन जी ने अपनी दिलचस्प भूमिका में प्रयोगवादी कविता के विषय में कुछ बातें बड़ी रोचक कहीं हैं, जिनमें सच्चाई भी है। 'मदन' प्रयोगवाद के एक अंश में "शब्दों के सर्कस" "निर्वेग बौद्धिकता" और "ऊब रस" मानते हैं। मदन मज़ाक में ऐसी रचनाओं को 'मायावादी' कहते हैं। यही नहीं उन्होंने 'धर्मवीर भारती' की रंगीनियत या "रंगीनियत" को 'कायावाद' कहा है, यह ठीक ही है। 'मदन' गद्यमयता, शब्दों के अपव्यय आदि के विरोधी हैं परन्तु 'नूतन अप्रस्तुतविधान' के प्रशंसक हैं। मतलब यह कि प्रयोगवाद के विषय में उनके विचार संतुलित हैं। 'मदन' के उपमान बड़े दिलचस्प हैं, एक दम जिन्दगी से चुने गए, नवीन और गुणासादृश्य पर आधारित।

'मदन' उषा को "जुए की एक बाज़ी" और 'हारते समय ताश के पत्ते' से उपमा देते हैं यानी "निराशा" सम्प्रदाय से वह अलग हैं। वह सूरज को "नया दूल्हा", शुक्र तारा को "नववधू", सूरज को इन्जिन का हेडलाइट, शुक्रतारा को गार्ड की रोशनी सा, दूर की बैलगाड़ी में लालटेन सा और जनता के पीछे एम० एल० ए० सा कहते हैं!

आचार्य शुक्ल ने भी वैज्ञानिक जगत् से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की प्रेरणा कवि को दी थी, मदन जी इसी परम्परा में हैं परन्तु अभी जो उपमाओं में थोड़ी बहुत अनुपयुक्तता है, वह आगे धीरे-धीरे कम हो जायगी।

अनुपयुक्तता अभी अवश्य है, नायिका के हाथों से मुर्गियों के बच्चों से उपमा देना उचित नहीं कहा जा सकता। प्रेमिका का हाथ हाथ में हो तो क्या वही स्थिति होती है जो मुर्गी के डैनों के नीचे चूजों की! परन्तु 'मदन' अभी विकास की स्थिति में हैं।

'मदन' "मायावादी" प्रयोगवादियों की तरह दार्शनिकता नहीं बघारते, 'यथार्थ' 'यथार्थ' रट कर भी 'यथार्थ' जीवन की उपेक्षा नहीं करते। "सरकारी कारखाने में कर्मचारी की चिन्ता" शीर्षक रचना इसका प्रमाण है, एक कर्मचारी वस्तुतः क्या अनुभव करता है, यह 'मदन' ने भुक्तभोगी होने के नाते स्वयं अनुभव किया है, प्रत्येक 'कर्मचारी' इस कविता में अपनी धड़कन पा सकता है—

अफसरों से भरा सरकारी कारखाना
साँपों से भरी कोठरी है
आँखें नहीं झपकतीं

अफ़सरों से भरा सरकारी कारखाना
पाँव नहीं टसकते !

'मदन' जैसे प्रयोवादियों का भविष्य उज्जवल है, इसलिए कि वस्तुतः मदन जैसे कवि तथाकथित प्रयोगवादी कवियों में से नहीं है।

केदारनाथसिंह अपने को बिम्बवादी कवि कहते हैं, "समाज के प्रगतिशील तत्त्वों और मानव के उच्चतर मूल्यों की परख" की भी केदार उपेक्षा नहीं करते अतः उनके वक्तव्य में 'जड़ता' नहीं मिलती। किसी 'अनुभव' को मूर्त्तित करने का प्रयत्न उनकी कला का लक्ष्य है। 'अनागत' का मानवीकरण करके उसे इस रूप में चित्रित किया गया है कि सड़क पर निकलने के बाद आपको महसूस होगा कि "अनागत" कहीं पास ही है। 'बिम्बविधान' के प्रति जागरूकता के कारण केदार की रचनाओं में "अनछूए तट, धूपगन्धी पंख, टूटे आँधियों के पाँव, अनाम कूक, बँधती खुलती निष्काम मुट्ठियाँ, छेनी से निकलते फूल, आँसू, ऋचाएँ, गिरे पालों की उदासी, जल के आइनों में काँपता भूडोल, चाय की प्यालियों में तैरता दिन, बादलों की टूक-टूक जिजीविषा, शीशे के दूधिया धुआँ सा व्यक्तित्व, फूल सा काँपता क्षण, आदि बिम्ब प्रस्तुत करने वाले उपमान अधिक हैं। बिम्बविधान के प्रयत्न में उनके काव्य में 'सौन्दर्य' का कोमल और शालीन रूप खूब निखरा है किन्तु उनकी रचनाओं में भावोच्छ्वास की मात्रा अभी बहुत कम है, उनमें 'कलाकार' की तटस्थता तो है, कवि का द्रवणत्व कम है। बिम्बविधान काव्य के लिए सहायक है किन्तु जिस तरह 'शमशेर' में वह साध्य हो गया है, उसी प्रकार यह सम्भव है कि केदारसिंह में भी वह कहीं 'साध्य' न बन जाए। काव्य में दिल की सच्चाई की भी आवश्यकता है, केवल बिम्बग्रहण महान काव्य की सृष्टि नहीं करता। जिस "मेघदूत" को प्रयोगवादी 'अद्भुत प्रयोग' कहते हैं, उसमें बहुत सी उपमाएँ वाल्मीकि की रामायण में भी हैं और रचना-विधान, प्रकृति-चित्रण आदि का भी एक पैटर्न कालिदास के पूर्व ही निश्चित हो चुका था किन्तु कालिदास ने पुराने रूपों को भी अपनाया है और नूतन का भी विधान किया है परन्तु 'मेघदूत' की मार्मिकता 'यक्ष' के हार्दिक भावों में है, यह शमशेर और केदार जैसे कलाकार भूलते हैं। कला में जो इधर अन्तःप्रेरणा का अभाव बढ़ा है, उसके लिए 'प्रयोगवाद' उत्तरदायी है।

प्रयागनरायण त्रिपाठी प्रतिनिधि प्रयोगवादियों में से नहीं, हैं, वह 'मुक्तहृदय' के व्यक्ति हैं, "आरोपित मतवादों से रहित" ! ऐसा व्यक्ति, एक क्रान्तिकारी के शब्दों में, समाज के लिए कम "नुक़सानदह" होता है।

स्वस्थ व्यक्तिवाद—मुझमें कुछ है, जो मेरा बिल्कुल अपना है !
जो मेरे क्षीरोज्जवल मन के मन्थन का कोमल मक्खन !

आत्म-विश्वास—जब तक मैं बिखरूँगा नही, मैं मरूँगा नहीं।
जब तक मेरा यह विश्वास—
कि समय की अनवरत तीव्रधारा में
कहीं मैं ठहरूँगा, कहीं किनारा पाऊँगा
टूटेगा नहीं, टूटेगा नहीं !

प्रेम का प्राचीन उदात्त रूप—जाओ, साथी ! पथ पर तुमको
जावक-अर्पित चरण तलों को
रहे देखता यह सुख मेरा
शतशत शंखपुष्पियों सा दूबों में खिलकर
धारण करता रहे गर्व से दृढ़ चरणाङ्कन !
जाओ साथी ! शक्ति बने यह—हम दोनों की—
वर्षा में कोटर में दुबके आहत खग की अपलक चितवन !

'कथ्य, की दृष्टि से त्रिपाठी का यह काव्य लक्ष्मीकान्त के अनुसार शायद ही "आधुनिक" माना जाय।

'कीर्ति चौधरी' और कु० रमासिंह भी प्रयोगवादी शिविर में गिनी जाती हैं किन्तु इसमें वह 'आधुनिकता' यानी आरोपित 'दर्द', लघुता, अहंकार, अस्तित्व का ख़तरा, कुंठा, आदि तत्व बहुत कम मिलते हैं। फिर भी प्रयोगवादी सम्प्रदाय का प्रभाव अवश्य पड़ा है। 'कीर्त्ति' चौधरी की "आवाज़", यानी इस शीर्षक कविता में, 'अस्पष्टता' अवश्य है। किन्तु सर्वत्र नहीं। 'लता' शीर्षक कविता में 'समर्पण' का सुखद और स्पष्ट चित्रण है। जो 'लता' वृक्ष पर चढ़ने में अपनी सुषमा के विकास का अपमान समझती है, वह एक दिन देखती हैं, कि चुपचाप, अनजाने ही वृक्ष पर चढ़ गई है—

अंग अंग मुकुलित, शत कोमल करों को बढ़ा
लता ने वृक्ष की दूरी सब नाप ली
पात, पात, डाल, डाल
सक्षम, दृढ़ तरु विशाल, लताकुंज आवृत था !
लगा शून्य अहं, स्पर्धा आडम्बर है !

लता और वृक्ष के इस वर्णन में 'नारी जीवन' की अश्लील स्वच्छन्दता पर व्यंग्य है और समर्पिता नारी जीवन की प्रशंसा है। ऐसे "मानव मूल्य"

प्रशंसनीय हैं। अभी तक 'कवयित्रियाँ' नए मूल्यों के लोभ में मार्गच्युत नहीं हुईं, यह देखकर प्रसन्नता होती है।

'कीर्त्ति चौधरी' ने 'कार्यक्रम' में 'कर्मण्यता' को, 'अनुभव' में 'आशा' को, 'एकलव्य' में 'प्रवंचना' पर 'क्रोध' को, 'प्रस्तुत में "निजी दुःख दर्दों' के प्रति घृणा, 'स्वयचेत' में 'आशा', "दीठ न मिलाओ" में 'नम्रता', "बदली का दिन" में 'विश्वबंधुत्व', जैसे "मूल्यों" को व्यंजना दी है। स्पष्टतः 'कीर्ति' में चमत्कार वादिता नहीं है, शब्दों का 'सर्कस' नही है, मायावाद नहीं है और यह उन्हें 'प्रगतिवादी-प्रयोगवाद' में प्रतिष्ठित करता है।

'तीसरा सप्तक' के उक्त कवियों से यह आशा होती है कि आगे तथाकथित प्रयोगवादी चिन्तन के स्थान पर मंगलमय मानव मूल्य निखरेंगे। 'तृतीय सप्तक' में अटपटापन और भाषा का व्यर्थ प्रदर्शन कम हुआ है। कारण यह है कि इस संग्रह में प्रयोगवाद के नेताओं में से कम कवि लिए गए हैं, नेताओं के बाद जो नई पीढ़ी उभर रही है, उसकी मानसिक स्थिति अधिक स्वस्थ है, वह अपने दायित्व को अधिक पहचानती है। निश्चित रूप से 'प्रयोगवाद' की 'कठोर आलोचना का ही यह प्रभाव है कि अब कवि ग़ैरज़िम्मेदार रूख़ कम अपना रहे हैं। 'कला' में अभी गद्यमयता अधिक है। 'लय' की ओर ध्यान कम है, उपमान-विधान में अभी संतुलन का अभाव हैं, 'नवीनता' किसी भी मूल्य पर उत्पन्न करने की ओर चाव अधिक है। आंतरिकप्रेरणा को कस कर दबाने की प्रवृत्ति अभी है, परन्तु वह कम हो रही है, यह शुभ लक्षण है।

कु० रमासिंह पर भी प्रयोगवादी 'कथ्य' का प्रभाव कम है, पर है अवश्य। जीवन के राग विराग की अलंकृत व्यंजना अधिक है। 'रूपक' रमासिंह को अधिक प्रिय है अतः उनकी अभिव्यक्ति में अटपटापन नहीं लगता। 'रूपक' द्वारा कवत्रियी किसी कल्पना से प्राप्त 'विज़न' को मूर्त्तित अधिक करती है, किसी 'भाव' को कम—

नियति की बीन धरे ओठों पर, समय का सँपेरा यह
कैसी धुन बजाता है,
समाँ बँध जाता है, नागिन सी धरती यह, झूम झूम जाती है!
कैसा यह वशीकरण, कैसी तन्मयता है?

इसी प्रकार सुख को कंचन-मृग, और मन को धनुर्धर बनाकर "शान्ति" के हरण का वर्णन किया गया है, यह जीवन के वास्तविक 'राग' का वर्णन है, जो प्रभावित करता है। प्रयोगवादी "ऊब रस" का वर्णन करते समय भी

भी रमासिंह इसलिए भी उदास होती हैं कि चन्द्रमा की पूर्णता क्षणिक है, इस प्रकार की उदासी समझ में आती हैं—

ज्योति का उजाला है
पूर्णिमा की रात यह, चन्द्रमा की पूर्णता पर
कल से ही टूटेगी
इसलिए उदास हूँ ।

रमासिंह यह महसूस करती हैं कि ऐसे अनेक प्रश्न हैं, जिनके उत्तर नहीं हैं, इस मात्रा में उलझन स्वामाविक है, "प्रश्न तो बिखरे यहाँ सब ओर हैं, किन्तु मेरे पास कुछ उत्तर नहीं" ! 'रमासिंह' के बहुत से प्रश्न तो "शाश्वत" हैं, यथा क्षणाभंगुरता का प्रश्न, और ऐसे स्थानों में कवयित्री की विनश्य पदार्थों के प्रति ममता देखते ही बनती है—

माटी के खिलौने बहुत सुन्दर हैं,
किन्तु यह टूटेंगे, किस तरह बचाऊं इन्हें ?

कहीं पुराना 'रहस्यवाद' भी मिल जाता है, यथा "अज्ञात की उलझन" में । 'निमंत्रण' में पन्त जी के "मौननिमंत्रण" और महादेवी के "कौन तुम मेरे हृदय में" जैसी 'भावना' प्रकट की गई है । रमासिंह के 'प्रतीक' सरल और स्पष्ट हैं । 'मोटर' गाड़ी' को जीवन का प्रतीक मानकर उसे सावधानी से चलाने की प्रेरणा "मोड़" में दी गई है । इसी प्रकार की 'प्रेरणा' "धर्मक्षेत्रें कुरुक्षेत्र" में है । "जिन्दगी के सफ़र" का पैटर्न 'नीरजनुमा' है । जीवन की दार्शनिक व्याख्या करने का लोभ अभी बहुत है । 'परिभाषा' में इसीलिए 'अकेलेपन' को जीवन की परिभाषा कहा गया है । परन्तु यह 'अकेलापन' वास्तविक है, साम्प्रदायिक नहीं—

यहाँ का मोह-ममता से भरा आंगन
मगन यह साँस की पुतली, मगर कब साथ दे पाते, सगेस्नेही
बुलाती जब किसी अज्ञात की अँगुली !

यही प्रवृत्ति "एक दिन और बीता" नामक गीत में भी है । मौत के भय से रमासिंह 'नीरज' की तरह ही परेशान रहने लगी हैं अतः ज़िन्दगी, सरिता, मौत-समुन्दर, श्वास-बाती और देह को सकोरा बनाकर 'मृत्यु' की आशंका का वर्णन किया गया है, किन्तु यह विषय अब पिष्ट पेष्टित सा लगता है ।

रमासिंह में 'गीतकार का अभी अस्तित्व है अतः उनकी रचनाओं में वैविध्य मिलता है, 'लय' का तो प्रायः सर्वत्र निर्वाह मिलता है। मुक्तछन्दों में भी, शायद वह इसी तथ्य के कारण है। "रमासिंह" नीरज के कुप्रभाव से बचें तो उनकी प्रतिभा और भी विकसित होगी। "दुःख क्या" जैसी रचनाओं से लगता है कि उनमें अपना मार्ग बनाने की शक्ति अवश्य है परन्तु 'नश्वरता' की अनुभूति यद्यपि स्वाभाविक है परन्तु इस पर 'महादेवी' बहुत लिख चुकी हैं!

भारत भूषण अग्रवाल 'तारसप्तक' के कवियों में से हैं किन्तु उनका "ओ अप्रस्तुत मन" काव्यसंग्रह अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस संग्रह में १९४३ से १९५८ तक की रचनाएँ संकलित हैं। इसकी भूमिका में अग्रवाल प्रगतिवाद की 'संकीर्णता' से दुःखी होकर अलग मार्ग बनाने की बात कहते हैं। 'प्रगतिवादी' काव्य में "जागते रहो" संग्रह द्वारा भारतभूषण अपना सहयोग दे चुके हैं।

मध्यवर्ग की मानसिक स्थिति और प्रयोगवाद—भारतभूषण जी नयी कविता को मध्यवर्ग की वर्तमानकालिक मानसिक स्थिति का प्रतिबिम्ब मानते हैं। मध्यवर्ग जनता और उच्चवर्ग के मध्य ढुलमुलयक़ीनी से ग्रस्त रहा करता है किन्तु इसी वर्ग का एक भाग आगे बढ़कर समाज में परिवर्त्तन के लिए क्रान्तिकारी मार्ग भी बनाता है। प्रगतिवादी विचारक, कवि, पत्रकार, इसी 'अंश' से सम्बन्धित हैं। दूसरी ओर 'मध्यवर्ग' का वह अंश भी है जो ऐतिहासिक संघर्ष में होने वाली ग़लतियों से भड़क उठता है, वह उन ग़लतियों को ठीक करके धीरज के साथ आगे नहीं बढ़ता अपितु समाज में चौमुखी परिवर्तन को अत्यधिक 'सहज', सीधी रेखा में होने वाला, जादू की तरह निर्बाध और तुरन्त हो जाने वाला कार्य समझ बैठता है। फलतः हिन्दी में कतिपय प्रगतिवादियों द्वारा संगठन अथवा विवेचन सम्बन्धी ग़लतियाँ हो जाने पर मध्यवर्ग के ढुलमुलयक़ीन अंश ने यह नहीं देखा कि जितना विरोध संकीर्ण प्रगतिवादियों का हिन्दी में हुआ है, उतना शायद ही किसी अन्य भाषा में हुआ हो। फिर भी लेखकों और कवियों में बहुत से केवल संकीर्ण प्रगतिवादियों को देख कर ही पथभ्रष्ट हो गए, जैसे भारतीय समाज को बदलने का सारा उत्तदायित्व उन्हीं पर हो!

छायावाद के बाद एक महान व्यावहारिक 'दर्शन' से आकर्षित होकर हिन्दी में जो प्रगतिवाद का आन्दोलन चला, उसमें तथा अंतराष्ट्रीय साम्यवाद

में कुछ चीज़ें मन के अनकूल न पड़ने पर मध्यवर्ग का एक अंश एक अजीब संदेह में पड़ गया। वह समाज के कष्ट को तो महसूस करता है किन्तु किधर भी मार्ग नहीं देखता। भारतवर्ष में जनवादी शक्तियों के प्रबल हो जाने पर ही यह स्थिति लुप्त होगी, क्योंकि मध्यवर्ग तब समस्या का समाधान स्पष्ट देख लेगा। अभी पूँजीवादी प्रचार से तथा अंतरराष्ट्रीय साम्यवाद की कुछ ग़लतियों से वह बुरी तरह भड़का हुआ है। मध्यवर्ग को बदलते देर नहीं लगती किन्तु हिन्दी में निश्चित दिशा न पा सकने वाले मध्यवर्गीय कवि तब तक यही पर्याप्त समझते हैं कि मध्यवर्ग की इस शंकाकुल स्थिति की ही व्यंजना हो क्योंकि जो 'वस्तु-स्थिति' है, उसका चित्रण भी होना ही चाहिए अतः भारतभूषण अग्रवाल जैसे "डिसीडेंट" प्रगतिवादी यह कहते हैं कि न वह संकीर्ण प्रगतिवादियों के साथ हैं और न अज्ञेय द्वारा "व्यक्तिवादी अहम्यन्यता की प्रतिष्ठा के हेतु अर्द्ध-सत्यों पर आधारित एक नए निकाय" के साथ !

वह अपने "विभक्त" व्यक्तित्व को स्वीकार करते हैं, क्योंकि वह ईमानदार कवि हैं, वस्तुतः तथाकथित प्रयोगवाद में व्यक्त संदेहवाद कवियों के व्यक्तित्व की "विभक्तता" को स्वयं स्पष्ट कर देता है। भारतभूषण इसलिए "आज के व्यथित क्षणों" को अपनी सहानुभूति का स्वर देना चाहते हैं। उनकी कविताओं में उनका "सुख दुःख, घुटन, चीत्कार, दर्प-अपमान" ही व्यक्त हुआ है और यही स्थिति अन्य संदेहग्रस्त कवियों की है किन्तु भारतभूषण की घुटन, दुःख, दर्प आदि आरोपित नहीं लगते और उनमें साम्प्रदायिक 'निराशा' भी नहीं है, यह शुभ लक्षण है !

आशा—

प्यार से सींचू तुझे ओ बीज मेरे !
एक दिन तू ही बनेगा फूल !

मध्यवर्ग की 'बन्दी' स्थिति—केले के पत्तों से मन पर आशंकाओं,
अभिलाषाओं के ये पर्त्त·····
पर्त्त पर पर्त्त
व्यूह से, कारा से, चट्टानों से।
कैसा छल है, कैसा दुराव, बंधन का.....'।
मुक्ति के सूरमा ! ध्यान रहे !
जन भी वन्दी है, मन भी रहै !

प्रायः अनिश्चय 'अंतर्मुखता' को जन्म देता है, यह 'अंतर्मुखता' इधर की कविता में बराबर बढ़ी है अतः कवि "हृदय की गुत" के निरीक्षण में

संस्कार सी चट्टानें, ज्योति और वातहीन क्षुद्र परिधि में रेंगते,
मिट्टीख़ोर केंचुए, सड़ी प्याज़ सी दुर्गंधि, आदि तत्त्व पाता है !

समाधान के लिए बेचैनी:—रूखी, तपी, जलती हुई दोपहर के बाद
वह धूल भरी आँधी !
सब कुछ पर रेत जमी, मन तक ज्यों किसकिसा
रहा है !
यह सब किसलिए, क्या है इसका निदान ?
कब होगा अन्त इस जड़ता का, इस द्विधा का ?
कब आयगी वह वर्षा की एक बूंद, स्नेह की एक कनी?
उत्तर में किन्तु बस सिर पर वह आसमान—
और यह दरवाज़े फटफटाती आँधी !

किन्तु सर्वत्र यह स्थिति नहीं हैं, कवि 'नियति' को सशक्त स्वर में ललकारता है, और यह भी कहता है कि यह देश कैसा है, जिसमें मुस्कराना भी मना है ! "शान्ति की अलकापुरी" को संदेश भेजने के लिए भी कवि चिंतित लगता है।

निश्चित रूप से भारतभूषण, "अज्ञेय, लक्ष्मीकान्त वर्मा" वाली परम्परा से अलग दिखाई पड़ते हैं, वे संदेहग्रस्त किन्तु ईमानदार "प्रगतिवादी-प्रयोगवादी" कवि हैं। 'कवि' की उलझन आरोपित नहीं है, वह किस प्रकार अपने 'मन' को समझाता है, यह देखते ही बनता है :—

'गमन के क्षण, अब रुको मत ओ अप्रस्तुत मन !
चल दो, राह में लगी है आग, चलना है खेल नहीं
पर क्या सकोगे भाग, कर्म से बचोगे कहीं ?
बच्चों की भाँति यों मचलो मत भीरु मन·····।
व्यर्थ शंकाएँ न कर, व्यर्थ की दुष्कल्पनाओं से न हो कातर।
अभी जीवन में बहुत कुछ है अनागत, बहुत बाकी है !

ऐसा काव्य प्रेरणाप्रद होता है, यहाँ 'मन' के 'अनुभव' पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है। शैली और उपमानविधान की व्यर्थ आपाधापी यहाँ नहीं है, इस दृष्टि से भी भारतभूषण अन्यों से अलग दिखाई पड़ते हैं। यह 'कला' "अपनी बीती कहने" से ही सम्बन्धित होने के कारण अकृत्रिम लगती है—

लौट जाओ चांदनी की रात, मुझसे दूर हो !
एक युग से मैं विरस जीवन बिताता आरहा हूँ
सब तरफ लगता बड़ा सुनसान, कोई शब्द तक आता नहीं है !
गहनतम का पर्त्त मन पर छा गया है
मन के इस तिमिर को तुम बढ़ाओ मत !

वस्तुतः भारतभूषण के मन में निश्चय, अनिश्चय, आशा, दुराशा, उत्साह, निरुत्साह का एक द्वन्द्व दिखाई पड़ता है किन्तु यह भी साफ़ प्रतीत होता है कि कवि अपने आप से लड़कर 'मुक्ति' पाने की तलाश में है, वह उस आंतरिक संघर्ष को लक्ष्य नहीं, एक विवशता मानता है, "चुक गया जब नेह' में वह स्पष्ट कहता है—

व्यर्थ है ललकार, अनुनय व्यर्थ है !
पर न हिम्मत हार,
प्रज्वलित है प्राण में अब भी व्यथा का दीप।

साथ ही वह अपने को यानी आज के मध्यवर्ग को "निरा विलायती स्पंज" भी कहता है, और ठीक कहता है !

भारतभूषण मन की स्थितियों का ही सरलता से वर्णन नहीं करते, अपितु उनका अप्रस्तुतविधान और प्रतीक भी सरल और स्पष्ट हैं—

मार बिजली की कटारी, मर गए बादल
टपकती खून से धरती नहायी,
रँग गया लोहित क्षितिज का आस्मान !
दीखने लग गई हीरों से जड़ी वह चाँद की कुर्सी !

'अज्ञेय' के 'प्रतीकों' का विरोध—हम नहीं हैं द्वीप जीवन की नदी के
वरन् जीवन से भरे निर्मल सरोवर !
नीर के भावुक मिलन की हम विमल सन्तान !
हम नहीं हैं, रेत के रूखे, अशुभ, अम्बार !
गाँव की भोली, सलोनी कामिनी के कलश के वरदान !
मन्द बुझती साँझ में सोपान पर आसीन कवि के आर्द्र मिलनाह्वान।

'भारतभूषण' का 'व्यंग्य' भी बड़ा तीखा होता है, प्रयोगवाद में प्रकृति-चित्रण और व्यंग्य, इन दो का विकास बहुत आकर्षक हुआ है—इस कवि का 'व्यंग्य' जनविरोधी परिस्थिति के ही विरुद्ध होता है—"कार्टूनों के जुलूस"

में युद्ध की निन्दा है और "टूटे सपनों का सपना" में वर्तमान संस्कृति की विचित्रता पर--

रात मैंने स्वप्न देखा, मैंने देखा
कि मेनका अस्पताल में नर्स होगई है।
और विश्वामित्र ट्यूशन कर रहे हैं।
उर्वशी ने डान्स स्कूल खोल लिया है!
नारद गिटार सीख रहे हैं!

इसी तरह 'परम्परा-प्रियता" पर कवि ने कड़ी चोट की है। वस्तुतः कवि ने भूमिका में जो वक्तव्य दिया है, उससे जितनी 'निराशा' व्यक्त होती है, उतनी उसकी रचनाओं में नहीं दिखाई पड़ती, 'भारतभूषण' का वास्तविक रूप यह है—

नाचने लगे हैं मोर, गहराने लगी है आसमान की सजीली कोर!
अब वर्षा आएगी, स्वाति की एक बूंद मोती बन जाएगी,
छोटी सी सीप यह हमको सिखलाएगी,
रस का सही ग्रहण कितनी बड़ी बात है!

और यही आज की वास्तविक समस्या भी है कि "रस" और विष को हम कैसे ग्रहण करें! घटनाएँ घट रही हैं, दल बन रहे हैं, संघर्ष हो रहा है, वातावरण में धमकियाँ हैं, शोषण है, दबाव है, परन्तु क्या कोटि-कोटि जनता जब मुक्ति चाहती है, प्रत्येक अत्याचार से मुक्ति; तब इस 'इच्छा' को धार पर रखना ही क्या आज के कवि का कर्त्तव्य नहीं है? किंकर्त्तव्यविमूढ़ता से क्या लाभ होना है? जो भीमकाय शक्तियाँ दुर्दमनीय दिखाई पड़ रही हैं, क्या जनता की संगठित महाशक्ति के सम्मुख वे सफल हो सकती हैं? परन्तु 'कवि' जब 'हनुमान' की तरह अपना 'बल' भूल जाता है, तब 'शान्ति की सीता' की मुक्ति और भी टलने लगती है; 'भारतभूषण' जैसे कवि इस किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता की स्थिति को "क्षणभंगुर" मानते हैं परन्तु क्या अन्य तथाकथित प्रयोगवादी भी उनसे यह सीख लेंगे—

यह नहीं है शाप अथवा नियति अपनी!
किन्तु यह तो बस समय की बात
क्षणभंगुर परिस्थिति!
हो गए हों हम भले म्रियमाण
पर समवाय के अभियान में मिल, एक होने के लिए आकुल हमारे प्राण:

'भारतभूषण' में गद्यात्मकता भी कम है और 'राग' या 'भाव' की मात्रा भी अधिक है, कहीं-कहीं गीत-पद्धति को भी अपनाया गया है।

दुष्यन्तकुमार, राजेन्द्रकिशोर, रामावतार चेतन, कीर्ति चौधरी, रमासिंह आदि प्रयोगवाद की नयी पीढ़ी के कवि हैं, जो नेताओं के बाद उभर कर सम्मुख आरही है।[1] इन कवियों में भी निश्चय, अनिश्चय, निराशा, आशा का एक द्वन्द्व दिखाई पड़ता है, दुलमुलयकीन मध्यवर्ग की वास्तविक प्रतिच्छवि इनकी रचनाओं में देखी जा सकती है। अपनी इस स्थिति को जायज़ सिद्ध करने के लिए दुष्यन्तकुमार ज़माने से 'मापदण्ड' बदलने का अनुरोध करते हैं। कवि "जुए के पत्ते सा" अभी अनिश्चित है! किन्तु वह समझता है कि मानो नयी राह पर बढ़ने के लिए, इस प्रकार की "ख़राद" पर चढ़ना आवश्यक है। "चाँद से तलुवों के फफोले", "पिंडरी की उभरी हुई नसें" कवि को आशंकाओं पर काबू पाने के लिए जैसे चुनौती दे रही हैं, यह शुभ लक्षण है—

मेरी प्रगति या अगति का, यह मापदण्ड बदलो तुम,
मैं अभी अनिश्चित हूँ।

'प्रगति की सम्भावना मात्र होने और "अभी" अनिश्चय की स्थिति में कवि अपने को कुण्ठाग्रस्त महसूस करता है जो "रेशम के कीड़ों सी" ताने बाने बुन रही है। प्रसन्नता का विषय यह है कि वह जानता है कि कुन्ती की यह कानीन संतान "कुंठा" सदा कौरवों की ओर ही रहेगी और पुण्यपक्ष के विरुद्ध लड़ेगी—

यह कुण्ठा का पुत्र हमेशा, महाभारत सा जब-जब युद्ध छिड़ेगा,
कौरबदल की ओर रहेगा, और लड़ेगा!

दुष्यन्तकुमार "अब क्या होगा राम" जैसी आशंका, और 'पिंजड़े में क़ैद परिन्दे' की घुटन अनुभव कर रहे हैं किन्तु यह आशा अभी है—

हाँ जिस दिन पिंजड़े की सलाखें मोड़ लूँगा मैं,
उस दिन सहर्ष, जीर्ण देह छोड़ दूँगा मैं।

कवि "हर छोटे को बड़ा करना अपना धर्म" मानता है अतः प्रयोगवादी

---

१. सूर्य का स्वागत—दुष्यन्त कुमार।
२. स्थितियाँ, अनुभव—राजेन्द्र किशोर।
३. चाँद से नीचे—रामावतार चेतन।

साम्प्रदायिक मानवमूल्यों में ग्रस्त होकर भी कवि उनसे बचने के उपाय में संलग्न प्रतीत होता है। क्योंकि वह महसूस करता है कि दिन निकलने के पूर्व पक्षियों की चीखें, कराहें, और टीन के कनस्तरों की बस्ती मे, हृदय की शक्ल जैसी अँगीठियों से धुँआ का निकलना, स्वाभाविक ही है !

दुष्यन्त में नूतनतम, उपमान विधान की चाह अधिक है। रोज़ की चीजों को 'प्रतीक' रूप में देखकर किसी मानसिक स्थिति को संकेतित करने की प्रवृत्ति है। "बिजली का लट्टू, कुरसी के टूटे हुए बेंत पर और ख़स्ता तिपाई पर व्यंग्य करता सा कवि को दिखाई पड़ता है जैसे "कुरसी का बेंत" कोई "मिल औनर" हो ! "मोम का घोड़ा" में भी यही प्रवृत्ति है। "धूल" को 'आह', काफिले के लिए 'चाह', सामान के लिए "दर्द", अपने लिए "गर्दख़ोरा", बिश्वास के लिए "उँगलियों में मोड़कर लपेटे हुए कुन्तल", जीवन के लिए, "ज्योतिषी के आगे फैले हुए हाथ" और अनिश्चित व्यक्ति के लिए "जुए के पत्ते से" उपमा देकर अपनी अप्रस्तुत विधान शक्ति को कवि प्रमाणित करता है।

चित्रण-शक्ति की दृष्टि से 'सूर्यास्त' में कवि पुराने 'रूपक' को अपनाता है। "इनसे मिलिए" में लक्ष्मीकांत वर्मा का 'पैटर्न' अपनाया गया है, अथवा यह भी सम्भव है कि लक्ष्मीकान्त ने ही दुष्यन्त से यह सीखा हो ! इस रेखा चित्र में अपनी दुरावस्था का चित्रण कर कवि समाज की ओर संकेत करता है—

पाँवों से सिर तक जैसे एक जनून
बेतरतीबी से बढ़े हुए नाख़ून
कुछ टेढ़े-मेढ़े बेंगे दाग़िल दाव
जैसे कोई एटम से उजड़ा गाँव
गट्टों सी जंघाएं, निष्प्राण मलीन
कटि, रीतिकाल की सुधियों से भी क्षीण !
कितने अजीब हैं इनके भी व्यापार
इनसे मिलिए ये हैं, दुष्यत कुमार !

किन्तु युग के स्पन्दन के सांकेतिक वर्णनों में ही कवि अधिक दिलचस्पी लेता है। वह वस्तुतः 'भारतभूषण अग्रवाल' की तरह पहले युग के अवसाद का चित्रण करता है और फिर अन्त में उससे 'मुक्ति' की प्रेरणा भी देता है। आज की कविता के हालात को देखते हुए यह कम नहीं है। वह 'कुण्ठा' की स्थिति में भी यह समझता है कि यह कुण्ठा दुर्योधन की ओर ले जाएगी। वस्तुतः "शुभ क्षणों" में वह अपने को "आवर्त्तों के मध्य, अजगरों के मध्य, विषमयी फुंकारें

सहता हुआ 'कृष्ण' समझता है जो साथियों की गेंद लाने के लिए "कालियदह" में कूद पड़ा है ! दुष्यन्त में जो गर्भित आशावाद है, दबा हुआ पौरुष है, युग को समझने की प्यास है, वह उन्हें 'कृष्ण बना सकती है, बशर्ते 'सम्प्रदाय' से बचें। 'कृष्ण' ही युग की "गीता" को जन्म दे सकता है !

दुष्यन्त में 'गद्यात्मकता' की प्रवृत्ति अधिक है, इससे बचना होगा, 'मर्मस्पर्शिता' में यह गद्य-काव्य को 'पाठ्यकाव्य' तक ही सीमित कर देता है— "प्रश्न अभिव्यक्ति का है मित्र" शीर्षक कविता में कवि "मन में बुलबुलाने वाले भावों" को कैसे प्रकट करे, इस बिषय में भी कवि अनिश्चित मुद्रा में ही है।

दुष्यन्त में स्पष्टता है, अनुभव करने में भी और अभिव्यक्ति में भी किन्तु 'राजेन्द्रकिशोर' में महात्वाकांक्षा अधिक किन्तु उसकी पूर्त्ति के लिए आंतरिक संयम का अभाव है। अतः उनकी 'कला' में उलझन और दुरूहता अधिक है। 'कामायनी' की कथा को संकेतित करते हुए कवि ने युद्धोत्तरकाल में मनुपुत्रों की प्रतिष्ठा का 'विज़न' अंकित किया है किन्तु उसकी कविता एक 'रेडियो नाटक' बन गई है, 'वातावरण' की सृष्टि करने का प्रयत्न किया गया है—

शोर उठा, स्वर टकराए, बिजली कौंधी, बीच आकाश में चमकता हुआ सूरज, एक भयानक विस्फोट के साथ गिरा !

रोशनी ! अँधेरा !! अँ-धेरा-रा !!!

'मनु' को आवेगरहित व्यक्तित्व दिया गया है, वह "बौराया अपनापन" खोज रहा है ! श्रद्धा को 'विवेकहीन' बताया गया है, उसके अंचल में 'शव' है ! 'इड़ा' के माध्यम से युग को बौद्धिक उलझनदार शैली में व्यक्त किया गया है। फिर कवि 'मनुपुत्रों' की स्थिति का वर्णन करता है, व्यंग्य की पद्धति पर—

इन्हें आधा पेट दो और पूरा काम लो
आदमी एक चीज़ है, चीज़ यानी बिकाऊ—जैसे प्याज़ !
आदमियत प्याज़ का छिलका है !

सेर के भाव बिकता है, खुदरा नहीं, खुदरा नहीं ! इड़ा मनु-पुत्रों

को मनु की विभाजन पर आधारित व्यवस्था की कथा सुनाती है और उन्हें मनु के स्थान पर स्थापित कर देती है ![1]

'अस्पष्टता' के कारण और वाच्य' के अत्यधिक तिरस्कार के कारण राजेन्द्रकिशोर का यह 'खण्डकाव्य' कामायनी का 'विद्रूप' सा लगता है किन्तु बीच-बीच में कई चित्र आकर्षक हैं—

ओ अनदेखे परिजात के स्रष्टा, कैसे तुम्हें बताऊँ।
बीतराग की बँधी लटों को, मैं किस अँगुली से सुलझाऊँ ?
एक विराम चिह्न सा मेरे मन में कठिन दर्द बैठा है !
निकल रही है धरती जल के महागर्भ से
चमक रहा है रेतीली साड़ी का सोना
पुलक रही हैं श्लथ कबरी की नन्हीं कलियाँ !

किन्तु ऐसे चित्र अपवाद ही हैं। कवि हाँफती हुई शैली में इतनी त्वरा के साथ आगे बढ़ता है कि अभिप्राय पीछे रह जाता है और कविता आगे बढ़ती चली जाती है, जब होश आता है तब पीछे मुड़कर देखती है और फिर भागने लगती है—

बिजलियाँ कौंधीं अँगुलियों में, बाँहों में, तन में,
रोओं में, आत्मा की गहराइयों में, मन में !
प्रश्न आते हैं, रह रह कर जाने क्या-क्या,
सँम्हलने का वक्त नहीं है, न वैसी है प्रतिक्रिया—
सखि ! पिया ! सखि पिया ! सखि पिया !

इसी "शॉक शैली" का प्रयोग होने से पूरा काव्य पहेली सा बन गया है—

रूप ने प्रश्न किया, अरूप ने उत्तर दिया !
समस्या उलझ गई !
आस्था-अनास्था के एक ही मूलकेन्द्र से
दो रेखाएँ चलीं, वृत्त बन गया !
संकलन से द्वन्द्व पैदा हुआ, द्वन्द्व से अग्नि निकली·····।

"अन्वित के अभाव" की इस काव्य में चरमसीमा दिखाई पड़ती है,

---

१. निकष—३ और ४।

एक वाक्य का दूसरे से सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता। कवि यह भूलता है, कि संकेतित करने के लिए पाठक के मन में बात पूरी उतरनी चाहिए अन्यथा मनमाने संकेतों पर पाठक का मन उड़ेगा ! राजेन्द्रकिशोर का 'मन्वन्तर' कामायनी की पैरोडी सा लगता है !

छोटी-छोटी मानसिक स्थितियों के चित्रण में कवि को अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है। किन्तु 'अन्विति' का अभाव यहाँ भी है। एक 'स्थिति' से कूद कर दूसरी 'स्थिति' पर पहुँच जाने की 'हनुमान कूद' वाली प्रवृत्ति उसकी 'कला' में 'अर्थव्यक्ति' का अभाव भर देती है--

प्रस्तुत है उत्तर, अनुत्तर नहीं हैं वे। वे विधायक हैं।

प्रत्येक अशुद्ध कर्म की व्याख्या तथा स्थापना के लिए नया विधान प्रस्तुत है !

अप्रस्तुत हूँ मैं--विधाता !
और विधाता से विधायक बड़ा है !

इसी अस्फुट शैली का बाजार राजेन्द्रकिशोर में अधिक है। परन्तु जहाँ कवि ने धीरता से काम लिया है वहाँ स्पष्टता भी है—

एक मानसिक स्थिति—कल जब शाम आई, जाने कैसा लगा !
उम्र घटते-घटते दो पल रुक गई,
जहाँ वह नीम की छतनार डाल झुक गयी !
और गंधश्लथ हवा आयी, दे गयी दशा।
तब भी, तब भी जाने कैसा लगा !

निबन्ध लिखने की मुद्रा में राजेन्द्रकिशोर कविताएँ अधिक लिखते हैं—"यह जो प्रश्न चिन्ह मेरे अस्तित्व पर आकर बैठ गया है, बस इसीलिए मैं बोल नहीं सकता, और यों भी, मैं अपने अभिभावकों के मनोरंजन की प्रक्रिया में, उन्हीं के द्वारा उनके व्यक्तित्व से साधिकार संयुक्त अपनी ही भूमि से निष्कासित अर्जुन हूँ।"

किस आलोचक अथवा पाठक में इतना बल है जो इसे 'कविता' कह सके ? लगता है कि यह कवि अभी 'नयामुल्ला' है अतः प्रयोगवाद के दुर्गुणों को अधिक अपनाता है। उपमानविधान में, यथार्थ के नाम पर 'अश्लीलता' भी इस कवि में अधिक है। "बड़े बाबू की लड़कियों की तरह उसकी इच्छाएँ ताक झाँक नहीं कर पातीं परन्तु 'कम्मो' की तरह कवि की

इच्छाएँ भी आँखें लड़ातीं हैं ! बड़े बाबू की कुँआरी बत्तीससाला लड़की की नाईं, उसकी इच्छाएँ किसी बतज़ात आवारा कुत्ते के साथ भाग जाने को तत्पर हैं !" कमाल है !

उलटा सीधा लिखने के द्वारा, विराम चिन्हों द्वारा और अज्ञेय के अन्य "लटकों" को भी कवि ने खूब आज़माया है, परन्तु कविता तमाशा बन गई है—

गंध आई !
आँखें भरीं; उठीं—
गिरीं
बाहें ;
चाहें
हम
जितना उन्हें चाहें
गिरेंगी
ही
बाहें

ये "लटके" एज़रापौंड और "कमिंग्ज़" में ही अच्छे लगते हैं, हिन्दी में कमी थी, आगए, अच्छा हुआ, पर इनका आधिक्य 'बोर' करता है।

राजेन्द्रकिशोर ने 'गीत' अच्छे लिखे हैं, "तुम नहीं आईं" "पाती तुम्हें लिखूं तो कैसे" प्रमाण हैं।

रामावतार चेतन में राजेन्द्रकिशोर जैसा 'बचपन' नहीं मिला। इस कवि में अधिक संयम है। बोलचाल की भाषा में, हलकी ,फुलकी बात करते हुए अपने मन की स्थिति को कह जाना और उपमान विधान में सादृश्य का अधिकाधिक ध्यान रखना उसकी विशेषता है, जीवन के प्रति प्यार के कारण उसके उपमान और प्रतीक प्यारे लगते हैं—

घाँद आ रहा धीरे-धीरे
ज़मे धूल के धब्बे तन में, पार क्षितिज के धूल भरे आँगन में
वह मनमानी खेलकूद के बाद आ रहा धीरे-धीरे !

मन:स्थिति के चित्रण में भी 'चेतन' प्रयोगवादी जड़ता का प्रदर्शन आवश्यक नहीं समझते। कवि पुष्पों को लगाता है और उन्हें कुचलना

चाहता है किन्तु अचानक वह उन पुष्पों के प्रति ममता का अनुभव करता है। 'पुष्प' प्रतीक बनकर मनुष्य के प्रति भी करुणा जगाता है। "मैं और तुम में" कवि यह इच्छा करता है कि कुछ ऐसा करना चाहिए कि कष्ट मिट जाए—

आख़िर सपने पूरे होंगे, जो आएंगे, अपने होंगे !
कुछ और अधिक सुन्दर धरती पर जो कल आने वाले हैं।
कुछ कर डालें ऐसा कि आज के पहिए में,
कल नहीं पिसें, वे कोमल तलवे नहीं घिसें !

यही भावना कवि की कई रचनाओं में व्यक्त हुई है। बड़े ही सहज ढंग से कवि बड़ी-बड़ी बातें कह जाता है। अलंकृत गद्य की सादगी देखिए—

ये रूपहले पृष्ठ, शादी के निमन्त्रण जैसे, जिन्दगी के पृष्ठ
जिन पर लाल-लाल उभर रहा, अनुराग का स्वीकार
ढाई प्रिंट जैसे अक्षरों में, यह सहज उभरा नहीं है !

कवि के व्यंग्यों में भी यही सादगी है—

कौन सी है संस्था कौन सी अकादमी
जहाँ बना करते हैं, कुत्ता छाप आदमी ?
सीने पर एक बड़ा, कुत्ता छपाए हुए
बनियायन धारी, दिखलाई पड़ा था पट्ठा
प्रश्न एक ऐसा, उठ आना स्वाभाविक था
कौन सी है संस्था·····?

बातचीत के लहजे में प्रयोगवाद में बहुत सी रचनाएँ मिलती हैं, यह भी एक शुभ प्रवृत्ति है। इससे पाठक और कवि में एक अजीब आत्मीयता सी उत्पन्न हो जाती है। अनन्तकुमार पाषाण के "बम्बई के क्लर्क", अजितकुमार के "मेले में" अज्ञेय की "एक सम्भाव्य भूमिका" में, गिरजाकुमार माथुर के "खत" में, गिरधरगोपाल के "ओ मेरे भाई उठो" में, हरिमोहन की "काँच की किरनें" में (नयी कविता, अंक २), दुष्यन्तकुमार के 'युगसत्य' में, सत्येन्द्र श्रीवास्तव के "तोड़ना-जोड़ना" में, राजेन्द्रकिशोर के "तेईसवीं वर्षगाँठ" में (नयी कविता, अंक ३) जगदीश गुप्त की 'पहेली' आदि रचनाओं में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

लोक-काव्य से प्रेरणा—गीतकारों ने ही नहीं, प्रयोगवादियों ने भी

लोककाव्य से प्रेरणा ली है, यह भी अतिप्रशंसनीय प्रवृत्ति है। अज्ञेय की "कांगड़े की छोरियाँ" में यही प्रवृत्ति है—

कांगडे की छोरियाँ, कुछ भोरियाँ, कुछ गोरियाँ
लालाजी जेवर बनवा दो, खाली करो तिजोरियाँ।

नरेश मेहता का "पीले फूल कनेर के" और भी मार्मिक हैं—

पीले फूल कनेर के !
पथ अँगोरते, सिन्दूरी, बडरी अँखियन के,
फूले फूल दुपेर के !

किन्तु अभी यह प्रवृत्ति प्रयोगवादी कविताओं में यत्र तत्र ही मिलती है। शम्भूनाथसिंह ने' "टेर रही प्रिया तुम कहाँ", "बजता है ढोल कहीं, पूजा के बोल", पिया न आए आमों में, आगया टिकोरा री" जैसे लोकधुनों पर बने हुए गीतों को "माध्यम मैं" जैसे प्रयोगवादी संग्रह में प्रकाशित कराए हैं। इससे संतुलन रहता है और बौद्धिकता और "रुग्णता, के क्षण में प्राप्त अनुभूतियों" के साथ-साथ कुछ 'लोक' का भी स्पर्श मिल जाता है।

कतिपय गीतकारों की प्रयोगवादी रचनाएँ—'शम्भूनाथसिंह' के "माध्यम मैं" से लगता है कि गीतकार ने अपना स्वर बदलने का प्रयत्न किया है। 'नीरज' की भी कतिपय ऐसी रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं परन्तु उनमें केवल 'मुक्तछन्द' का ही प्रयोग उनमें 'प्रयोगवाद' की भ्रान्ति उत्पन्न करता है। 'कैलाश बाजपेयी' नीरज के अच्छे शिष्यों में माने जाने लगे थे किन्तु "ऊबो और उदास बनो" तथा "कवितायें १९५७" में प्रकाशित "ढाई अक्षर" कविता से लगता है कि वह इधर भी कोशिश कर रहे हैं। यह बुरी बात नहीं है। शैली का वैविध्य रहना ही चाहिए। 'त्रिलोकीप्रसाद शर्मा' ने कुछ प्रयोगवादी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। 'घनश्याम अस्थाना' ने "ताज की छाया" में "नयी शैली" को अपनाया है। 'मधुर और करुण' गीत लेखक देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' ने भी इधर कोशिश की है। 'बच्चन' ने भी 'नयी शैली' में कविताएँ लिखी हैं। 'माखनलाल चतुर्वेदी की कतिपय नयी शैली की रचनाओं को 'नयी कविता' के सम्पादकों ने ही प्रकाशित किया है। रांगेयराघव, राजनारायण बिसारिया, सुमन, सुरेन्द्र तिवारी, आदि प्रसिद्ध और कम प्रसिद्ध गीतकारों ने "नए प्रयोग" किए हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने भी यह "धृष्टता" की है किन्तु गीतकारों की इस परणिति की अपनी विशेषताएँ हैं जो तथाकथित प्रयोगवाद से उन्हें अलग करती हैं। केवल 'शैलीगत' साम्य अवश्य मिलता है, और जब कोई

'शैली' चल पड़ती है, और इसका श्रेय 'अज्ञेय' निराला तथा प्रथम सप्तक के कवियों को देना चाहिए, तो उसे सभी कवि थोड़ा बहुत आज़माने लगते हैं किन्तु काव्य की 'आत्मा' में अन्तर "दृष्टि और भाव" से पड़ता है, जो इन नये प्रयोक्ताओं में भिन्न है।

शम्भूनाथसिंह जी के "माध्यम मैं" में 'सौन्दर्य' के मंगलपक्ष पर अधिक ध्यान दिया गया है। छायावादी 'आत्मा' के प्रभाव के कारण कुरूप चित्र उनकी कल्पना में नहीं आते। बिम्ब-विधान की यह मंगलमयता शम्भूनाथ में शायद सबसे अधिक मिलती हैं—

कनखियाँ, ये सीप कन्याएँ, उनींदे द्वार
गंगा-यमुन धारा सी गिरीं, अल्पना सी पुरीं !
चौखट पास मंगलघट बनीं !
अनुच्चारित ऋचा, अधर में कँपी !
साँस के कच्चे हलद धागे हिले, गोरोचना मुस्कान !
नभ से तिरीं !
ओ उषा की नर्तकी, अविकचस्तनी,
मुस्कान औषधि-दूध धोई !

किन्तु शम्भूनाथसिंह तथाकथित 'कुण्ठा' का भी 'बन्दी प्राण' में वर्णन करते हैं और नींद उन्हें 'कुञ्जी रहित ताले' और प्राण 'कथाकांक्षी शिशु' से लगने लगते हैं ! कहीं-कहीं 'विचित्र अनुभव' भी वर्णित हैं, जैसे "अनस्तित्त्व की खोज" में, लगता है, अवचेतनग्रस्त मानसिक स्थिति का चित्रण कवि कर रहा है—

ओ तुम, जो नहीं हो, कभी-कभी तन्तुओं में बजते हो,
अस्थियों को छूते हुए मज्जा में रेंगते हो !
जमें हुए सागर पर स्लेज दौड़ता हुआ, दूर दूर जाता हूँ।
टूटी हुई बर्फ के गहर में, सागर के तल में
जो शार्क सा झाँकता है !

"अनस्तित्त्व की रेती पर निरवलम्ब" खड़ा होने की अनुकृति में यह मधुर गीतकार जैसे चेतना की गर्त्तों में सरस्वती को क़ैद कर रहा हो। किन्तु कवि "रूपान्तर" के उस रूप को अभी भूला नहीं है, जिसमें 'इच्छाएँ' रसधारा के लिए खाद बनती हैं। "भागूँगा नहीं" में कवि 'पलायनवाद' का विरोध

करता है। "निरावरण" में कवि मानवता को 'नटराज' और 'शेषशायी' बनने की प्रेरणा देता है, यद्यपि शैली नयी है। 'शून्य' पर उसकी 'सूझ' अज्ञेय की सूझों से भिन्न है, 'शून्य को वह 'ऋण' नहीं "धन" मानता है! कवि अपने "अहं की अस्पष्टता" को स्वीकार करता है परन्तु उसे स्पष्ट करने और इस प्रक्रिया में हार न मानने की भी प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है।

प्रकृति-चित्रणों में कवि पुनः अपनी भावुकतावादी पद्धति को अपना लेता है, अतः कल्पना-विलास भावसम्पृक्त हो जाता है, काश! यह प्रवृत्ति प्रयोगवादियों में विकसित हो—

सात वर्ष पूर्व, फागुन की एक सिहरन भरी रात में
मैंने और तुमने चाँदनी की खेतों की कल्पना उरेही थी!
जब हमने राख-रंग बंजर करैली में,
चाँदनी के बीजों को बिखेरा था।

इस रचना में 'भैंसा' और 'नागफनी' को प्रतीकरूप में चित्रित किया गया है (यह 'नागफनी' इधर के 'प्रयोगवाद' में बुरी तरह प्रचलित हुई है, सब उसी को आज के व्यक्तित्व का 'प्रतीक' बनाते हैं, लक्ष्मीनारायणलाल के एक नाटक का नाम 'मादा कैक्टस' है, 'नागफनी' के अलावा अन्य प्रतीक भी मिल सकते हैं, पुनरावृत्ति 'बोर' करती है) किन्तु 'चाँदनी की वर्षगाँठ' में 'भाव' प्रतीकों से आवृत नहीं हो जाता!

जहाँ प्रकृति के सौन्दर्य को चित्रित करने का प्रयत्न है, वहाँ 'प्रतीकात्मकता' द्वारा उस 'सौन्दर्य' से 'पाठक' का ध्यान नहीं हटाया गया है—

रात बीत गयी! दीख रही घास हरी
किरण कलित ओस भरी, इन्द्र धनुषमयी!
उतर रही तरुतृण पर, कुहाधूम्र में छिपकर
धूप बधू नयी!
धरती पर विहगरचित, गूँज रहे गीत द्वरित
बनकर चम्पई!

सौंदर्य दर्शन की यह दृष्टि छायावाद की उज्ज्वल परम्परा को संकेत करती है, इसका विकास ही 'कुरूपता' का नाश कर सकता है!

किस प्रकार "अर्थ की लय से नहीं" किन्तु संगीतात्मक लय से काव्य में प्रेषणीयता और आनन्दतत्त्व का समावेश होता है, इसे देखिए—

मन का आकाश उड़ा जा रहा, पुरवैया धीरे बहो !
बीती बातों पर सर टेक कर, टेर रहा मन भूली नींद को,
धूपछाँह की गंगा-यमुना में डुबो रहा हँस-हँस उम्मीद को !
अपना विश्वास लुटा जारहा, पुरवैया धीरे बहो !
मैं वह पतझर, जिसके ऊपर से धूल भरी अँखियाँ गुजर गयीं।
दिन का खंडहर जिसके माथे पर, अँधियारी साँझ की ठहर गयी !
जीवन का साथ छुटा जारहा, पुरवैया धीरे बहो।

प्रयोगवादियों का प्रिय 'अवसाद' यहाँ है परन्तु यह 'गद्यकाव्य' नहीं, कविता है, क्योंकि इसमें 'लय' है, गति की लय, संगीतात्मक लय, "अर्थ की लय" से गद्यकाव्य ही लिखा जा सकता है।

सुरेन्द्र तिवारी की कतिपय कविताएँ ही पढ़ने को मिलीं हैं, परन्तु दैनिक जीवन के वास्तविक अनुभव को यथाक्रम कहने की प्रवृत्ति उनमें अधिक है। 'दुहरा शासन' में यही प्रवृत्ति है, फ्रायड और मार्क्स की ओर झुकता हुआ मन, दुहरे शासन से पीड़ित हो उठता है कवि धारणाओं की घोषणा नहीं करता, धारणा के 'प्रभाव' को, उनकी उत्पत्ति की वास्तविक परिस्थिति का ही कथन करता है। (कविताएँ, १९५७)

"सूने गलियारे" में सुरेन्द्र खंडित इच्छाओं के शूल की वास्तविक चुभन सहमूस करते हैं, फिर भी यह कहना पड़ेगा कि यह मार्ग कवि का अपना 'मार्ग' नहीं प्रतीत होता ! 'दग्धता' को व्यक्त करने में थोड़ी सी "विदग्धता" भी आनी चाहिए ! कैलाश वाजपेयी के "ढाई अक्षर" में बुद्धि-वादियों पर कठोर व्यंग्य है, पर यह मार्ग उनके लिए भी अनजाना सा लगता है। 'घनश्याम अस्थाना' ने प्रयोगवादी 'कथ्य' के विरुद्ध 'ताज की छाया' में कतिपय अच्छी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, किन्तु रसनिर्झरिणी में कवि अधिक सफलता के साथ अपने को प्रेवाहित कर पाता है, उसका अपना क्षेत्र 'गीत' है। संश्लिष्ट और चुस्त शब्दसंगठन के भीतर कसमसाती हुई 'आसक्ति' की व्यंजना में ही वह विशेष पटु है। देवेन्द्र 'इन्द्र' ने 'ताज की छाया' में प्रयोग-वादी रचना में रोचक दृश्यचित्रण किया है। 'निष्ठा' में प्रकाशित इस कवि की "क्षनिक रुक लो" रचना में शम्भूनाथसिंह की तरह 'भाव उष्मा' की उपेक्षा नहीं की गई है—'देवेन्द्र में 'कायावादी' प्रवृत्ति अधिक है—

तुम अपनी चम्पई मुस्कान की, इस साँस के वीरान पथ में
चाँदनी सी गंध आने दो !

तुम अपने चाँद से मुख पर
मचलते मेघ सी
इस साँवली लट को, हटा लो ना !
कहीं ऐसा न हो मेरे, रूपहले स्वप्न के
इस कुमुदवन की, पाँखुरी सी आँख खुल जाए !

बालस्वरूप 'राही' की 'निष्ठा' में प्रकाशित प्रयोगवादी रचना में प्रयोगवादी 'कथ्य' नहीं है, केवल शैली का अनुकरण है। वृजेन्द्रकुमार 'राकेश' ने प्रयोगवादी 'कथ्य' पर प्रशंसनीय कठोर व्यंग्य किया है—

साथियो, हम सब क्षुद्र हैं, बौने हैं
असहाय हैं, अशक्त हैं
आओ, घोषणा करें कि हम नये आदमी हैं।
(समूह स्वर : प्रतिक्रिया)
आदमी तो मर गया
"हम महज़ डमी हैं !" (निष्ठा से उद्धृत)

त्रिलोकीप्रसाद शर्मा ने "दशाश्वमेधयज्ञ" में 'रूपक' अलंकार के माध्यम से नूतन जागरण और जन-जन के प्रति करुणा को कवित्वपूर्ण गद्य में व्यक्त किया है—

मेरे मन की अतलान्त गहराई में, दशाश्वमेध यज्ञ हो रहा है !
प्रज्वलित समिधाओं से जो कुछ अपावन है
धूम्रवलय बन कर उड़ा जा रहा है।
जो कुछ भी पावन है, ज्योति शिखाओं के कँगूरों पर
कंचन सा चमक रहा है।
और किसी तपोवन की गायों के दुग्धदोहन रव सा
मंत्रोच्चारण, सम्पूर्ण दिशाओं को ध्वनित कर रहा है !
आओ, मेरे साथ मिलकर पूर्णाहुति का मंत्र दुहराओ !
देखो मेरी आँखों में अग्निशमनार्थ जल छलछला रहा है !

'आदर्श' (कलकत्ता) में प्रकाशित एक प्रयोगवादी यानी प्रगतिवादी-प्रयोग का एक नमूना इन पंक्तियों के लेखक ने भी प्रस्तुत किया है—

मानता है, यह भी शुभ पक्ष है। यह काव्यमय नाटक पढ़ने में एक दिलचस्प नाटक है। लेखक की मान्यताओं से असहमत होते हुए भी, यह कहा जाना चाहिए कि आज की विकट युद्ध-समस्या को संकेतित करने में लेखक को सफलता मिली है। काव्य की दृष्टि से 'रागात्मकता' की पुकार होने पर भी वास्तविक हार्दिकता के स्थान पर लेखक की चिन्तनात्मक मुद्रा ही अधिक फलीभूत हुई है, जो प्रयोगवाद की सामान्य विशेषता भी है। 'महाभारत' को पढ़कर उसके पात्र बहके हुए, उलझनग्रस्त नहीं लगते, उनमें अपने विश्वासों और मूल्यों के लिए अत्यधिक पौरुष और दृढ़ता है किन्तु इस नाटक में पात्र बहके हुए, अपनी उलझन में ग्रस्त दिखाई पड़ते हैं। बहरहाल, यह मानना होगा कि गद्य-पद्यमयी इस नई शैली में प्रबन्ध काव्य लिखने की परम्परा शुरू हो गई है। अधिक संतुलित दृष्टि से और अधिक रागात्मकता के साथ आगे अन्य प्रबन्धकाव्यों की आशा बँधती दिखाई पड़ती है। वस्तुतः जीवन-दृष्टि और जीवन के समग्र चित्रण के लिए स्फुट रचनाएँ अक्षम प्रमाणित हो चुकी हैं।

कलियुग को 'अंधायुग' मानकर चित्रण हुआ है। अब देखना यह है कि इस अंधकार में जीवन के आलोक की रक्षा के लिए शांति के लिए संगठित 'आलोकयुग' की भी कल्पना हो पाती है या नहीं। महाभारतकार ने महाभारत में स्पष्ट कहा था कि 'कलियुग' में "कल्कि" का अवतार होगा, क्या 'कल्कि' को माध्यम बनाकर इस युद्ध की आशंका से ग्रस्त कलियुग को शान्ति के लिए संगठन का, दुर्योधनों के विरुद्ध शांतिमय संघर्ष का मार्ग नहीं सुझाया जा सकता? गांधी और विनोवा भयंकर से भयंकर ब्रह्मास्त्रों के विरुद्ध जनता-जनार्दन की एकता को अधिक सक्षम सिद्ध कर गये हैं, क्या सम्पूर्ण विश्व में युद्ध-विरोधी अभियान के लिये, प्राणोत्सर्ग के लिए सनद्ध जनता अपने-अपने शासकों की "युद्धवादी" नीति का विरोध कर, "कल्कि-अवतार की सम्भावना को सत्य सिद्ध नहीं कर सकती? तब कलियुग को अंधा-युग कह कह कर आत्म-प्रवंचना से क्या लाभ? युद्ध का भय उन्हें सताता है, जिन्हें प्राणों का भय हो। विगतज्वर होकर शांति के लिए संघर्ष के लिए आलोकयुग के अवतरण के लिए भी प्रयोगवादी लिख सकते हैं।

अंधायुग नाटक है किन्तु कनुप्रिया काव्य है। इसमें 'राधा' के प्रेम का वर्णन है। 'राधा' को नए व्यक्तित्व देने का प्रयत्न लेखक ने किया है। राधा कृष्ण के युद्ध और संघर्ष का अर्थ नहीं समझती। वह अपनी जीवन-विधि की मधुरता और युद्ध की तैयारी की तुलना करती है—

अभी जमुना में, जहाँ घण्टों अपने को निहारा करती थी मैं।
वहाँ अब शस्त्रों से लदी हुई, अगणित नौकाओं की पंक्ति ॥
रोज-रोज कहाँ जाती है ?
धारा में बह-बह कर आते हुए टूटे रथ
जर्जर पताकाएँ—किसकी हैं ?
चारों दिशाओं से उत्तर को उड़ उड़कर जाते हुए गृद्धों को
क्या तुम बुलाते हो ?
जैसे बुलाते थे भटकी हुयी गायों को !

'राधा' का भावविभोर चित्रण न करके कवि 'राधा' को बड़े-बड़े प्रश्नों की उलझनों में ग्रस्त करता है, फलतः राधा प्रयोगवादी कवियत्री सी प्रतीत होने लगती है !

मैं कल्पना करती हूँ कि अर्जुन की जगह मैं हूँ
और मेरे मन में मोह उत्पन्न हो गया है !
और मैं नहीं जानती कि युद्ध कौन सा है ?
और मैं किसके पक्ष में हूँ।
समस्या किस बात की है ?

बीच-बीच में राधा के केलिकलाप का 'स्मृति' अथवा "फैन्सी" के रूप में चित्रण है, ऐसे स्थलों पर अनुराग और आसक्ति, उलझनों और बौद्धिकता के मरु में "ओइसिस" सी प्रतीत होती है—

तुम्हारा साँवरा लहराता हुआ जिस्म
तुम्हारी किंचित मुड़ी हुई श्वेत ग्रीवा
तुम्हारी उठती हुई चन्दन बाहें
तुम्हारी अपने में डूबी हुई अधखुली दृष्टि
धीरे-धीरे हिलते हुए तुम्हारे जादू भरे होठ !

गद्य में लिखा हुआ यह काव्य रह रह कर अलंकृति और कहीं-कहीं रागात्मकता से पाठक को आकर्षित करता है। किन्तु 'राधा' को नया व्यक्तित्व देने अथवा राधा के माध्यम से युद्ध और प्रेममय जीवन का द्वन्द्व प्रस्तुत करने का यह प्रयत्न राधा के समर्पित व्यक्तित्व के विरुद्ध बड़ा अजीब सा लगता है किन्तु प्रयोगवाद में 'अजीब' को ही 'नया' माना जाता है और इस दृष्टि से लेखक को अवश्य सफलता मिली है।

हिन्दी में प्रयोगवाद की संक्षेप में यही कहानी है। बहुत से कवियों का ऊपर का परिचय नहीं दिया जा सका किन्तु उक्त प्रवृत्तियाँ ही अन्यों में भी हैं। यथा बालकृष्णराव, मुद्राराक्षस, अजितकुमार, प्रभाकरमाचवे, जितेन्द्रपाठक विपिनकुमार, वीरेन्द्रकुमार जैन, अनाम, मनोहर जोशी, श्रीहरि, शिवकुटीलाल, नित्यानन्द तिवारी, श्याममोहन, महेन्द्रभल्ला, उमाकान्त मालवीय, रामशंकर मिश्र, गिरधरगोपाल, प्रमोदगुप्त, मुक्त, सूर्यनरायण दीक्षित, राजेन्द्रयादव, मलयज, विष्णुस्वरूप, राधाकृष्ण, आदि अनेक कवि इस धारा में लिख रहे हैं, खराद पर चढ़ रहे हैं, कुछ में चमक आ रही है, कुछ खराद पर ही घिस कर टूट रहे हैं; पीछे छूट रहे हैं। कुछ संतुलन सीख रहे हैं, आलोचना से लाभ उठा रहे हैं, कुछ अपनी जड़ता में ही मग्न हैं और बलात् अपनी 'रुचि' और 'कृतित्व' को 'पूर्ण' मानकर आगे बढ़ रहे हैं। संख्या को देखते हुए हिन्दी में 'प्रयोगवाद' अब एक निश्चित रूपधारण कर चुका है, हिन्दी साहित्य का लेखक अब इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता !

मैंने जान-बूझ कर योरोपीय प्रभाव का इस निबन्ध के प्रारम्भ में विवरण नहीं दिया। आगे उसका थोड़ा सा परिचय मात्र दिया जाएगा ताकि पाठक इस उक्त विकास के "सन्दर्भ" को पहचान सकें किन्तु यदि यह मानकर चला जाय कि यह काव्य योरोपीय इलियट, एजरापौंड, फ्रेंचप्रतीकवादी कवियों आदि से केवल प्रेरणा ग्रहण कर ही चला है, तो भी इस काव्य के उक्त विवेचन से इसके दोष और गुण स्पष्ट हैं।

(१) प्रयोगवाद की सबसे बड़ी दुर्बलता उसका संकीर्ण चिन्तन है, 'चिन्तन' जीवन दृष्टि है जो 'भाव' के लक्ष्य को निर्धारित करती है। 'दृष्टि' के ही प्रचार या उद्वमन के कारण 'भाव' की उपेक्षा हुई है।

(२) यदि प्रयोगवादी 'कथ्य' से सहमति और असहमति का पश्न न भी उठाया जाय तो भी काव्य की पद्धति यह है कि विचार और मानसिक-स्थितियों को 'राग' के माध्यम से व्यंजित किया जाना चाहिए क्योंकि साहित्य इस रागात्मकसूत्र को ही स्पन्दित करता है। बात पुरानी है। परन्तु यह सत्य आगे भी सत्य रहेगा; यदि मनुष्य के प्राकृतिक हृदय के स्थान पर कृत्रिम हृदय न लगा दिए गए। (विज्ञान ने अब यह सम्भव कर दिया है और सुना है कि कृत्रिम "दिल" मनुष्य में रागात्मक अशांति नही उत्पन्न करता !) हिन्दी में 'सिद्धान्त-वादिता' का काव्य पर प्रकोप, एक ओर सुमित्रानन्दन पन्त के नूतनकाव्य में दिखाई पड़ता है और दूसरी ओर प्रयोगवाद में। विद्वत्ता वास्तविक

हो या कृत्रिम, वह स्वयं अपनी विधि से व्यक्त होने पर काव्य नहीं बनती इसीलिए कहा गया है—ये विद्वान्सः न कवयः !

(३) प्रयोगवाद का तीसरा दोष 'औचित्य' का अभाव है, जिन तत्त्वों पर प्रयोगवाद ने बल दिया है। इन बुद्धितत्त्व, नूतन अप्रस्तुस्तविधान और गद्यमयता आदि का "अतिनिर्वाह" प्रारम्भ में नवीनता के कारण आकर्षक लगा किन्तु अब धीरे-धीरे वह एक निश्चित रूपधारण कर पिष्टपेष्टित होकर आ रहा है। जिस प्रकार संस्कृत के उत्तर काल में 'कविशिक्षा' सम्बन्धी पुस्तकों में उपमाओं, रूपकों की सूची पढ़कर कोई भी कविता लिख लेता था, उसी तरह नूतन उपमाओं की सूची बनाकर, सादृश्य, यानी गुण, कर्म, द्रव्य और रूप का ध्यान रखे बिना, उनका प्रयोग बढ़ गया है। जिस प्रकार इस अलंकृति के आतिशय्य के विरुद्ध ध्वनिवादियों ने 'रस' को श्रेष्ठ घोषित कर, अलंकार, रीति और वक्रोक्ति-वादियों को 'औचित्य' की शिक्षा दी थी, उसी तरह हिन्दी में अलंकृति, चमत्कार, वाग्वैचित्य आदि के आतिशय्य के बाद अब नीरसता के विरुद्ध संघर्ष छिड़ा हुआ है। प्रयोगवादियों के अप्रस्तुत-विधान में भी जो दोष हैं, वे कभी इसी देश में अपने ढंग से पहले भी बढ़े थे।

प्रयोगवाद में उपमा, रूपक और विरोधमूलक अलंकारों में 'उपमा' के दो रूप मिलते हैं। (१) बौद्धिकउपमाएँ (२) भावात्मक। इनमें बौद्धिक उपमाओं की प्रयोगवाद में भरमार है। बौद्धिक उपमा में परस्पर असम्बद्धित और दूरस्थित दो धारणाओं और वस्तुओं में तुलना की जाती है यथा "जुए के पत्ते सी इच्छा" रिरियाते कुत्ते की वासना" आदि। 'मृच्छकटिक नाटक' में बौद्धिक उपमाएँ बहुत अधिक मिलती हैं और आकर्षक मिलती हैं यथा 'निद्रा' का 'दयिता' से उपमा देना या ग़रीब और धर्मनिष्ठ व्यक्ति को "कुल वधू" से उपमा देना—सक्तवो भक्षिता राजन् शुद्धा : कुलवधूरिव ! ऐसी उपमाओं में "आश्चर्यभूतत्त्व" रहता है क्योंकि अप्रत्याशित रूप में दो वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है। किन्तु "बौद्धिक उपमा" में कवियों द्वारा असावधानी से जब तुलना में अस्पष्टता और दूरी (Far-fetchedness) आ जाती है तो बौद्धिक उपमा हास्यास्पद हो जाती है, प्रयोगवाद में प्रायः ऐसा हुआ है। जब सादृश्य केवल एक आध सामान्य 'बिन्दु' पर ही आधारित होता है, तब उपमा हास्यास्पद हो जाती है, सादृश्य की मात्रा की अधिकता उपमा को सफल बनाती है। डा० राघवन ने एक सादृश्य के अभाव का एक सुन्दर उदाहरण दिया है—एक "क्राइस्ट डे सेल कार्ड" में

एक कुत्ते का चित्र था और वह अपनी कटी हुई पूँछ की ओर देख रहा था, इस चित्र के नीचे कार्ड पर लिखा था—

It will not be long now before chritmas as the dog said about its tail ![1]

यहाँ कुत्ते की पूँछ की अदीर्घता और बड़े दिन की अवधि की अदीर्घता में सादृश्य स्थापित कर दिया गया गया है किन्तु सादृश्य की मात्रा अत्यधिक कम होने तथा बड़े दिन की पवित्रता कुत्ते के साथ सम्बन्धित होजाने पर 'उपमा' हास्यास्पद हो गई है। प्रयोगवादी "बौद्धिक उपमाओं" में यह दोष बहुत अधिक है। बिना 'सादृश्य' के उपमा देने में और दो परस्पर विरोधी बस्तुओं को एकत्र कर देने में "आश्चर्यभूतत्त्व" का गुण आ जाता है परन्तु वह केवल 'हास्य' को जन्म देता है। 'भावात्मक' उपमाओं में प्रयोगवाद में यह दोष अपेक्षाकृत काम पाया जाता है, पर यहाँ भी अनेक उदाहरण दोषमुक्त पाए जाते हैं।

अलंकार के प्रयोग में ध्वनिवादियों ने कहा था कि "समीक्षापूर्वक" अर्थात् विवेकपूर्वक अलंकारों का संन्निवेश होना चाहिए (समीक्ष्य विनिवेशतः) यह बात अब भी सच है। परम्परा का अनुशीलन न करने से ही प्रयोगवादी अनाचित्य के शिकार हुए हैं।

(४) केवल क्षणविशेष में कौंधने वाली 'मानसिक स्थितियों' की व्यंजना से महान काव्य की दृष्टि नहीं हो सकती, वस्तुतः इन्हें किसी मुख्य मानसिक स्थिति की सहायक "स्थिति" बनाकर ही व्यंजित करने से ही महान काव्य की सृष्टि हो सकती है। भावोर्मियाँ समग्र और सम्बद्ध रूप में इस काव्य में वर्णित नहीं हो सकीं अतः मानसिक जगत् का मुख्य और स्थायी अंश बुभुक्षित और उपेक्षित ही रह जाता है।[2]

(५) व्यक्तिनिष्ठा पर अत्यधिक बल देने से, सामूहिक स्पन्दनों की उपेक्षा हुई है।

(६) अभी तक प्रयोगवादियों के 'कथ्य' सम्बन्धित विचार निश्चत नहीं हो पाए हैं, इससे काव्य के क्षेत्र में व्यर्थ ही उलझन, आपाधापी और

---

1. Some Aspects of Alankaras—page 61
२. अनुभव खण्डों पर ही अधिक बल देने के सम्बन्ध में 'स्काट जेम्स' का मत, "मेकिंग आफ़ लिटरेचर" में द्रष्टव्य है!

स्पर्धा की वृद्धि से नाना भ्रमों का सृजन हुआ है। पाठक पर इसकी प्रतिक्रिया इसलिए अप्रिय होती है कि अनिश्चित मानसिक स्थितियों और विचारों का काव्य में भी उद्‌वमन हो रहा है।

(७) अभिव्यक्ति के लिए 'गद्य' को माध्यम चुना गया है, लय' की अब तक उपेक्षा ही हुई है। 'निराला' के मुक्तछन्दों का काव्य पढ़ते समय जो 'प्रवाह' मुक्तकाव्य का प्राण प्रतीत होता था, उसी की क्षति हुई है। अतः प्रयोगवादी काव्य को समग्रतः न 'गद्यकाव्य' कहा जा सकता है, न पद्यकाव्य, यह वस्तुतः 'गद्य पद्यकाव्य' या 'गपद्य' काव्य ही है (Poetic Prose)। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने "नयी कविता' में ही "गद्य-कविता" नाम सुझाया है, मैं इससे सहमत हूँ। 'बुद्धि' और 'भाव' के सुखद सामञ्जस्य की पुकार उठने लगी है अतः इस 'गद्यमयता' से प्रयोगवाद की मुक्त होना पड़ेगा।

(८) संस्कृत की दीर्घ समासग्रस्त, तत्सम शब्दावली का प्रयोग गद्यमयता के कारण ही बढ़ रहा है। 'निबन्धों' की भाषा का प्रयोग 'काव्य' में चल नहीं सकता।

(९) 'वाच्य' अथवा अभिधा का अत्यधिक तिरस्कार प्रयोगवाद का गुण नहीं, दोष है। संकेतों, प्रतीकों आदि का औचित्यपूर्ण प्रयोग ही होना चाहिए।

(१०) 'शब्दों' में जितना अर्थ समा सके, उतना ही अर्थ भरने का प्रयत्न नहीं किया गया है। अंततः 'शब्द' ही काव्य का माध्यम है। इस दोष से काव्य 'अस्फुट' और 'अनभिव्यक्त' हो जाता है। 'चित्रकाव्य' के प्रचार का भी यही कारण है।

(११) 'अर्थ' पर अधिक ध्यान देकर, 'आस्वादन' की उपेक्षा की गई है। ,अर्थ की नवीनता' पर ही बल दिया गया है, उसकी प्रेषणीयता पर नहीं।

(१२) 'सौन्दर्य' और 'कुरूपता' को एक करने का प्रयत्न किया गया है। 'उदात्तता' की पूर्ण उपेक्षा की गई है।

प्रयोगवाद के मुख्य दोष ये ही हैं। इन्हें "द्वादशनिदान" भी कहा जा सकता है। गौतम बुद्ध ने कहा था कि दुःख का कारण 'तृष्णा' है, प्रयोगवादी कवियों यानी तथाकथित प्रयोगवादी कवियों के दुःख का कारण "यश-तृष्णा" है। 'प्यास' को रोकने के बाद जल का आनन्द अनुभव होता है, इसी प्रकार अधिक संतुलन, काव्य प्रक्रिया में आंतरिक अनुशासन और काव्याङ्गों

के समुचित निबन्धन के बाद जो यश-जल मिलेगा, वह इस जल से मधुर होगा जो यशकामातुरता में प्रयोगवादियों को मिल रहा है।

किन्तु यह प्रयोगवादियों के प्रति अन्याय होगा यदि यह कहा जाय कि उनकी कुछ भी उपलब्धि नहीं है। हम कह चुके हैं कि वक्रोक्ति, स्वाभावोक्ति और रसोक्ति, इन तीन उक्तियों में प्रथम में प्रयोगवाद सफल हुआ है। 'काव्य' 'भणितिभंगिमा' पर निर्भर करता है, प्रयोगवाद ने अपनी विशिष्ट 'कथनभंगिमा' को हिन्दी में प्रतिष्ठित किया है, अन्य भाषाओं में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है। इसके लिए अफ़सोस करने में हमारी ही हानि है।

(२) प्रगतिवाद के समानान्तर विकसित प्रयोगवादी काव्य में वर्णित मानसिक स्थितियों के विस्तार से "वर्ण्य वस्तु" का "अवश्य" विकास हुआ है। अब हिन्दी काव्य में छोटे छोटे अनुभव, एन्दिक संवेदन और देशकाल निरपेक्ष्य ललित कल्पना या 'फैंसी' की अभिव्यक्ति अधिक मात्रा में हुई है। चिन्तानात्मक (Refective) काव्य का एक विशिष्ट रूप हिन्दी में आया है।

(३) हिन्दी में गद्यकाव्य भारतेन्दु युग से ही लिखा जाने लगा था। इस गद्यकाव्य के क्षेत्र में प्रयोगवादी गद्य-काव्य से एक "विशिष्ट गद्य काव्य" का अच्छा विकास हुआ है जो मार्मिक चाहे न हो किन्तु चमत्कारक अवश्य है।

(४) 'कुंकुरमुत्ता' 'नएपत्ते' के व्यंग्य जैसा प्रयोगवाद में व्यंग्यकाव्य का अच्छा विकास हुआ है। व्यंग्यों में प्रयोगवादी अप्रस्तुत विधान का एक सीमा तक "औचित्य" भी दिखाई पड़ता है।

(५) अलंकारों में सादृश्यमूलक अलंकारों में 'उपमा' और विरोध मूलक अलंकारों में 'विरोधाभास' का आकर्षक विकास हुआ है। बहुत सी उपमाएँ 'सुन्दर' भी हैं और 'मार्मिक' भी। प्रतीकों का तो ढेर ही लग गया है। प्रत्येक 'वस्तु' इस काव्य में 'प्रतीक' बन गई है। इससे एक प्रकार की 'गहराई' भी आई है।

(६) लोककाव्य से प्रभावित प्रयोगवाद का अंश मार्मिक भी है।

(७) 'वस्तुव्यंजना' की दृष्टि से प्रयोगवादी प्रकृतिचित्रण अत्यधिक आकर्षक हुए हैं। स्वाभावोक्ति न अपना कर इन कवियों ने अलंकार द्वारा 'वस्तु' की प्रायः व्यंजना की है।

(८) पुराने कवि "कविप्रौढ़ोक्ति" द्वारा ललितकल्पना का विधान करते थे! प्रयोगवाद में वैज्ञानिक जगत् से पदार्थों को लेकर कविप्रौढ़ोक्ति-विधान मोहक हुआ है।

(९) वार्तालापात्मक शैली प्रयोगवाद की अपनी उपलब्धि है।

(१०) 'कथ्य' की दृटि से प्रयोगवाद कम से कम 'अध्यात्मवाद' का विरोधी है, यह स्मरणीय है। उदाहरणत: पन्तजी के 'दार्शनिककाव्य' की पीठिका में स्थित अंधविश्वास को वह स्वीकार नही करता।

(११) 'प्रगतिवादीप्रयोगवाद' में समग्रत: शैली का ही अनुकरण है, 'कथ्य' का नहीं, यह भी स्मरणीय है।

(१२) प्रयोगवादियों की घोषणाओं, भूमिकाओं और रचना-प्रक्रिया में सर्वत्र साम्य नहीं है, यह शुभ पक्ष है!

इस प्रकार प्रयोगवाद का यह 'द्वादशनिदान' उपलब्धि से सम्बन्धित है। 'प्रयत्न में निष्ठा' प्रयोगवाद में अवश्य है, इसी का यह फल है। प्रयोगवाद के संगठित प्रयत्न और वैचारिक संघर्ष से कोई भी प्रेरणा ले सकता है।

प्रयोगवाद में 'कथ्य', सौंदर्य-बोध और भाववोध की दृष्टि से स्पष्टत: दो धाराएँ दिखाई पड़ती हैं, मैंने इसीलिए प्रगतिवादी प्रयोगवाद और तथा-कथित 'प्रयोगवाद' को अलग करके देखा है। प्रगतिवादी-प्रयोगवाद के कवियों में अज्ञेय की प्रारम्भिक रचनाएँ, डा० रामविलास, गजानन मुक्ति-बोध, नेमिचन्द जैन, भवानीप्रसाद मिश्र, शमशेर नरेशमेहता, सर्वेश्वर, मदन वात्स्यायन, रामावतार चेतन, दुष्यन्तकुमार, कीर्त्ति चौधरी, रमासिंह, भारतभूषण अग्रवाल, केदारनाथ सिंह, प्रयागनरायण त्रिपाठी तथा प्रयोगवादी शैली के प्रयोक्ता गीतकार हैं। तथाकथित समाजविरोधी, इलियट, एज़रापौंड, जीनपाल सार्त्र आदि के "कथ्य" का भी अनुकरण करने वाले कवियों में अज्ञेय, भारती, कुँअर नारायण, जगदीश गुप्त, विजयदेवनारायणसाही, राजेन्द्रकिशोर, लक्ष्मी-कान्त आदि हैं। उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रतिक्रियावाद का गढ़ भारती-जगदीश गुप्त, साही और लक्ष्मीकान्त वर्मा का "इलाहाबादी" कविमण्डल ही अधिक है! इन पर योरोप के ध्वंसशील पूँजीवाद की विचारधारा का निश्चित रूप से अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।

पाश्चात्य साहित्य में नयी कविता—स्वच्छन्दतावादी काव्य के बाद अँगरेजी काव्य में "ज्यौरिजयन कवि" दैनिक जीवन (भग्नचर्च, क्रिकेट, कलैक्टिंग बौक्स आदि) पर अधिक लिखते हुए दिखाई पड़ते है। किन्तु इस का प्रभाव परवर्ती काव्य पर कम पड़ा है। इस "ज्यौरिजयन काव्य" का संग्रह १९११-१२ ई० में एडवर्ड मार्श द्वारा प्रकाशित हुआ। इसमें रूपर्ट ब्रुक, डैविस, जॉन ड्रिंगवाटर, फ़्लेकर, गिब्सन, मैसीफील्ड, मनरो, टर्डर आदि कवियों की

रचनाएँ थीं। इन रचनाओं में कई प्रवृत्तियाँ प्रधान थीं, जिनमें एक दो, बाद के बिम्बवादियों और इलियटवादियों में भी दिखाई पड़ती हैं। इनमें कुछ कवि टैनीसन, वर्ड्सवर्थ, मिल्टन आदि से प्रेरित थे और पुराने वर्ण्य-विषयों और 'रूपों' को अपनाते थे। कुछ धार्मिक विषयों पर लिखते थे और मुक्त छन्द अपनाते थे। कुछ "सौन्दर्य-वादी" थे जो शाब्दिक-व्यंजना, प्रतीक और शाब्दिक-संगीत में दिलचस्पी अधिक लेते थे। ज्योरिजन कवियों की यह प्रवृत्ति आगे भी विकसित हुई। कुछ "यथार्थवादी प्रभाववाद" (Realistic Impressionism) के अभ्यासी थे। ये कवि आधुनिक जीवन को कल्पनात्मक प्रेरणा के लिए अपनाते थे। और गद्यात्मक चित्र-कल्पना (Prosaic-imagery) और अव्यवस्थित छन्दों का प्रयोग करते थे। यह प्रवृत्ति भी आगे बढ़ी जैसा कि कीट्स ने स्वीकार किया है कि बीसवीं शताब्दी 'कामनप्लेस' की शताब्दी है।[१] ज्योरिजयन कवियों में देहातियों के सामान्य जीवन, समुद्र, ख़ली सड़कों जैसे विषय काव्य-विषयों के रूप में इसीलिए दिखाई पड़े।

ज्यौरजियन कवियों में 'समसामयिकता' की प्रवृत्ति अधिक थी। अभिव्यक्ति की दृष्टि से इन कवियों में रोमांटिकों की उदात्त शैली के स्थान पर सामान्य वार्तालापात्मक शैली का विकास हुआ, यह प्रवृत्ति आगे और बढ़ी। The trend of modern poetry का लेखक तो इस प्रवृत्ति को पुरानी कविता से अलग करने का भेदक लक्षण बताता है (The general lowering of poetic pitch that marks our age from its predecessors)।[२]

फिर भी इधर की कविता पर बिम्बवादियों का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। बिम्बवादियों के संग्रह १९१४, १९१५, १९१६ और १९१७ में में प्रकाशित हुए। इनमें टी० ई० ह्यूमी (T. E. Hulmi), फ़िलण्ट रिचार्ड एडिंकटन, एज़रा पौंड, एच० डी० तथा लावेल प्रमुखतम बिम्ववादी कवि थे। इनमें 'ह्यूमी' आदि गुरु थे। उसने १९०८ में "पोइट्सक्लब" स्थापित किया था और बिम्बवाद के सिद्धान्त प्रतिपादित किए थे। जापानी "तंका" और "हैका" (Tanka and Haikai) पद्धति का अँगरेज़ी कविता में प्रचार कर "सर्वथा नूतन" काव्य की सृष्टि इसका उद्देश्य था।

---

१. Twenteth Century was full of an unsatisfied hunger for the Commonplace—(Poetry in our time—Babette Deutsch, Page 28)

२. Geoffrey Bullough, Page 66.

'ह्यूमी" के विचार 'Speculation' नामक प्रस्तक में प्रकाशित हुए थे। यह स्मरणीय है कि 'ह्यूमी' बर्गसाँ के दर्शन में विश्वास करता था यानी 'तर्क' के स्थान पर स्वयंप्रकाश्यज्ञान" का अनुगामी था ! फेंच लेखकों से प्रोत्साहित होकर उसने "शब्द-सम्प्रदाय" (The cult of word) चलाया। यह मूलतः रोमांटिक काव्य का विरोधी आन्दोलन था। यह 'ह्यूमी' जर्मनी के 'वौरिंगर' (worringer) नामक लेखक की तरह मानता था, कि आधुनिक सभ्यता ने मनुष्य और प्रकृति में असामाञ्जस्य उत्पन्न कर दिया है। 'ह्यूमी' रोमांटिकों के इस मानववाद का भी विरोधी था कि मनुष्य अनन्त सम्भावनाओं का केन्द्र है और उसकी उन्नति के लिए सामाजिक व्यवस्था में परिवर्त्तन आवश्यक है—वह मनुष्य को असाधारण रूप से 'स्थिर' और 'सीमित' पशु मानता था अतः 'परम्परा' ओर 'व्यंवस्था' द्वारा ही वह उसकी उन्नति मानता है।

तात्पर्य यह है कि बिम्बवाद का प्रवर्तक प्रतिक्रियावादी विचारक था ! वह समाज में 'परिर्त्तन' या क्रान्ति का विरोधी था !

अभिव्यक्ति की दृष्टि से ह्यूमी स्पष्ट निरीक्षण, यथावत् चित्रण और बिम्बों के शुद्ध विधान पर बल देता है। वह किसी भी प्रकार की अलंकृति और सज्जा को पसन्द नहीं करता। दृश्यमान् पदार्थों के रूप, ध्वनि, सुगन्धि, स्पर्श, और रस अर्थात् ऐन्द्रिक संवेदनों (Sen suous experience) के चित्रण पर उसने बहुत ज़ोर दिया है। रोमांटिक कवियों में वर्णित 'उदात्त' (Sublime) के लिए उसके यहाँ कोई स्थान नहीं दिखाई पड़ता ! वह वस्तु के भावात्मक वर्णन के स्थान पर यथावत्-चित्रण अथवा वस्तु-व्यंजना पर अधिक बल देता है (Tne accurate description is a legitimate object of verse)।

ह्यूमी के अनुसार यह 'एक्यूरेसी' शब्द विशेष के प्रयोग से उत्पन्न होती है। 'प्रत्येक शब्द में एक 'मूर्त्ति' होनी चाहिए। 'विचार' की 'मूर्त्तिमत्ता' पर भी वह बल देता है। उसके लिए भाव भी यथार्थ विज्ञन अथवा 'ध्वनि' पर आधारित है।[1] इस प्रकार ह्यूमी ने विषय का प्रत्यक्ष वर्णन, संक्षिप्तता, मूर्त्ति के सिद्धान्त और आंतरिकलय पर विशेष ध्यान दिया है।

1. "Poetry is no more nor less than Mosaic of words, so great exactness is required for each one.....always hard definite, personal word.....each word with an image sticking on to it, never as a flat word.....all emotion depends on real solid vision or sound. It is physical." (The trend of Modern Poetry—Page 81)

एज़रा पौंड ने "इमेज" की परिभाषा यह की है कि "जो एक क्षण में एक बौद्धिक और भावात्मक मिश्रित 'मूर्त्ति' को चेतना में प्रस्तुत करे, वही इमेज है।[1] एज़रा पौण्ड स्पष्ट 'इमेज' पर ही बल देता है और दार्शनिक तथा वर्णनामक कविताओं से दूर रहने का उपदेश देता है। परिणामत: बिम्बवाद में 'विचार' का अनादर हुआ है। बिम्बवादी प्रभाववादियों (इम्प्रैशनिस्ट) की तरह पदार्थों के चेतना पर प्रथम प्रभाव का ही अधिक चित्रण करते हैं अत: यह काव्य "प्रथम संवेदनों" (Immediate emotions) का काव्य है, स्थायीभावों का काव्य नहीं जैसा कि पूर्ववर्त्ती काव्य में मिलता है। प्रयोगवाद में यह प्रवृत्ति प्रबल है। उच्चकोटि के विचारों, उदात्तभावनाओं आदि का इस कलावादी सम्प्रदाय में कोई महत्त्व नहीं है। बिम्बवादी "शुद्ध-कविता" के स्रष्टा अधिक हैं। वे काव्य का उद्देश्य "क्षणिक उत्तेजना" को मानते हैं। इनका मत है कि उत्तेजना लम्बी कविता में अधिक देर तक नहीं रक्षित हो सकती अत: केवल 'मूर्त्ति' को जन्म देने वाले शब्दों का सक्षिप्त प्रयोग करना चाहिए।

अत: बिम्बवादियों ने अत्यधिक सक्षिप्त रचनाएँ प्रस्तुत कीं। "शमशेर-बहादुर" में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक मिलती है। बिम्बवाद के प्रभाव से एक नयी शैली का जन्म हुआ जिसमें तर्कपूर्ण, अन्वितियुक्त लेखन के स्थान पर प्रतीक और मनोविज्ञान की साहचर्य-पद्धति का प्रयोग बढ़ने लगा। 'अस्पष्टता' को गुण माना जाने लगा। संक्षिप्त इमेजरी का प्रसिद्ध उदाहरण यह है जिसे जापानी-पद्धति पर ही ढाला गया है—

एक पुराना तालाब !
और एक उछलते मेंढक की आवाज़
पानी के भीतर !

इसका अर्थ भी दिया गया है। प्रथम यह 'तथ्य' का वर्णन है ! दूसरे तथ्य से 'भाव' को ग्रहण किया गया है ! यह "अध्यात्मिक प्रतीक" भी है !

जापानी भाषा में शब्द एक से अधिक व्यंजना देते हैं अत: 'मूर्त्तिमत्ता' के लिए सुविधा रहती है किन्तु अँगरेज़ी और हिन्दी में यह कला चल नहीं

---

1. "An image is that which presents an intellectual and emotisnal complex in an instant of time."

सकती ! इसी तरह एक "स्टापशौर्ट" पद्धति चीनी भाषा में प्रचलित है, उसे भी अपनाया गया है। इसमें शब्द रुक जाते है और अर्थ आगे बढ़ जाता है ! 'शमशेर' की प्रयोगवादी कला में इसका भी प्रयोग है—

चित्रकारी के रंगों में बन
स्वयं
फैल—फैल मैं गया
हूँ, कहाँ—कहाँ ?

यहाँ "या" के बाद रुक कर "हूँ" पढ़ा जाएगा। जिससे एक विशिष्ट अर्थ घोषित होगा। इसी तरह अंतिम "कहाँ" से अनन्तप्रश्नात्मकता ध्वनित होगी !

मतलब यह कि शब्दों से 'व्यंजना' की इतनी अधिक आशा करना प्रयोगवाद की विशेषता है किन्तु अत्यधिक आशय की इस अपेक्षा में कविता समाप्त हो जाती है, उसे शुद्ध कविता कह सकते हैं, वास्तविक कविता नहीं ! जहाँ बड़े विवरण हैं भी, वहाँ 'नई उपमाओं' और वस्तु के यथावत् चित्रण पर बल अधिक है। एक विम्ववादी कवि (Walsh) का एक चित्रण द्रष्टव्य है—

वह पोस्ट आफ़िस बहुत बड़ा था !
गरमधूप में दिनभर इसका फटा हुआ श्वेत मुख !
स्क्वायर में फव्वारा से आते जातों को देखा करता था।
फव्वारा एक मित्र साधु है जो हर बात सुनता है !
स्क्वायर में ऐसा लोग कहते थे !
यह पुरानी औरत बहुत से गुप्त भेदों को जानती थी
जिन्हें कहते लोग डरते थे !
और उसने उन भेदों को अपने पास ही रखा
वे उस बड़े पोस्ट आफ़िस के सामने से गुज़रे !
वह गाँव का कुत्ता इन गाँव के बच्चों से देखने में
स्वच्छतर, कोमलतर और अधिक भद्र था !
जो बर्रों की तरह एकत्र हो जाते थे !
वह बुड्डा जिसके मुख पर पुराने सिक्के जैसा गौरव था !
जनता के सफ़ाईघर से स्त्रियाँ, झाड़ू की तरह निकलीं !
ऐसी झाड़ू जो फेंकी जाने के लिए प्रस्तुत हो !

फिर भी किसी तरह सूर्य उसके कस्बे से गुज़रता है !
वृद्ध भद्र व्यक्ति के उस हाथ की तरह,
जो किसी चिन्ता रहित मुख पर फिरता है ![1]

ऐसी रचनाओं के लिए नए मापदण्डों की क्या आवश्यकता है, यह शुद्ध "वस्तु व्यंजना" है ! संक्षिप्त चित्रणों में उक्तविवरण का आकर्षण भी नहीं आपाता क्योंकि जापानी और चीनी भाषा की शक्ति भिन्न है। संक्षिप्त रचनाओं में बिम्बवादियों द्वारा 'प्रतीकात्मकता' उत्पन्न नहीं की जा सकी—

As cool as the pale wet leaves of lily of the valley. She lay beside me in the dawn. (एज़रा पौंड)

यहाँ 'प्रतीकात्मकता' ग़ायब हो गई है। इसी अरह जगदीशगुप्त द्वारा सम्पादित 'नयी कविता' की कई कविताओं में 'प्रतीकात्मकता' ग़ायब हो गई है केवल 'हास्यास्पदता' अवशेष रह गई है जैसे "तोता" शीर्षक रचना में।

बिम्बवादियों पर फ्रान्स के प्रतीकवादियों का भी प्रभाव था। मलार्मे जैसे प्रतीकवादी मानसिक स्थितियों की एक संकुल अवस्था को अप्रत्यक्ष प्रतीकात्मक पद्धति द्वारा व्यंजित करते थे जिन्हें विवरणात्मक भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता था। मलार्मे ने इस अप्रत्यक्षता पर बराबर बल दिया है—

"to evoke an object in deliberate shadow, without ever actually mentioning it, by allusive words, never by direct words."

बिम्बवादियों से फ्रेंच प्रतीकवादी अधिक सफल हुए। बिम्बवादियों ने "आंतरिकगठनात्मकसंगीत" पर बल दिया है किन्तु वास्तविक संगीत और लय की उपेक्षा की है। 'वार्तालापात्मकसंगीत' उनमें अधिक है। सांस लेने के लिए ही वह पंक्ति को विराम देते हैं, न कि छन्द के आग्रह के लिए ! गद्य से भिन्नता इस काव्य में सिर्फ़ यह है कि बिम्बवादी पद्य में 'स्वराघात' और ध्वनि के घुमाव अधिक होते हैं प्रयोगवाद में भी यही प्रवृत्ति मिलती है। अतः काव्यपंक्तियाँ 'लय' पर नहीं, पठनकाल में "टायमयूनिट" पर आधारित की जाती हैं। फिर भी जगदीश गुप्त की "अर्थ की लय" से उक्त सिद्धान्त कहीं

---

१. Poetry in our time में उद्धृत।

Three you are
Moss you are
you are Violets with wind above them
A child—So high—you are.

अनुप्रास से शब्द-संगीत को पुष्ट किया गया। 'लय' का बहिष्कार किया गया।

विम्बवादियों के प्रयोगों से प्रवाहहीन मुक्तछन्द का प्रयोग बहुत बढ़ा। १९१४ के बाद की अँगरेजी कविता में यही प्रवृत्ति है। किन्तु प्रायः कवियों ने अपने अव्यवस्थित और अधपचे विचारों को व्यक्त करने के लिए इस पद्धति का दुरुपयोग किया! एन्द्रिकसंवेदनों को व्यंजित करने में इस पद्धति से कुछ सहायता अवश्य मिली किन्तु 'भाव' का अनादर हुआ! कुछ कवियों में 'बौद्धिकता' का आधिक्य बढ़ा, जिससे कल्पनात्मक सामञ्जस्य को हानि पहुँची।

प्रथम युद्ध-काल और उसके बाद अँगरेज़ी काव्य में आधुनिक सभ्यता पर "व्यंग्य-काव्य" का भी विकास हुआ। 'व्यंग्यकाव्य' में छन्द के क्षेत्र में व्यर्थ आपाधापी उतनी नहीं मिलती अतः इस व्यंग्यकाव्य से काव्य का वास्तविक रूप सुरक्षित रहा। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में भी व्यंग्यकाव्य का अच्छा विकास हुआ है और प्रयोगवादी व्यंग्य में कला की अस्पष्टता भी अपेक्षाकृत कम है।

प्रथमयुद्धकाल के बाद हर्बर्ट रीड, लारेंस और इलियट का प्रभाव दिखाई पड़ता है। प्रयोगवाद पर टी० एस० इलियट का प्रभाव अधिक पड़ा है, यह हम कह चुके हैं। इलियट की आलोचना पर मैथ्यू आर्निल्ड और टी० ई० ह्यूम (बिम्बवादी) का प्रभाव अधिक है। इलियट के लिए रोमांटिक काव्य 'आत्म-शोषण' था! अतः वह 'परम्परा' पर बल देता है। 'परम्परा' में उसने ध्वंसोन्मुख पूँजीवादी समाज के लिए समाधान भी खोज लिया जो उसके "फोरक्वारटैट्स" में मिलता है। जो व्यक्ति 'इतिहास' और 'विज्ञान' से भागता है, वह 'धर्म' में ही शरण ले सकता है। इलियट के साथ भी यही हुआ। भावात्मक, भव्य, और क्रान्ति के स्वर से युक्त स्वच्छन्दतावादी काव्य के विरुद्ध इलियट ने काव्य को व्यक्तित्व से पलायन की अभिव्यक्ति घोषित किया जिसकी शब्दशः प्रतिध्वनि 'अज्ञेय' में मिलती है!

"Poetry is not a turning loose of emotion but

an escape from emotion; it is not the expression of personality, but an escape from personality"

यह स्वर स्वच्छन्दतावादी काव्य के विरुद्ध है। हिन्दी में नयी कविता इसी भाव-विरोध से आक्रान्त हो रही है। अनुकृति का परिणाम यही होता है। इलियट ने अपने काव्य में इतिहास, विज्ञान, पुराण, धर्म, दर्शन आदि से प्रसंग इतने अधिक भर दिये हैं कि अतिशय प्रसंग-गर्भत्व के कारण वह अत्यधिक दुरूह हो गया है, नाना कुतर्कों से इस प्रवृत्ति का समर्थन इलियट का मुख्य कर्त्तव्य रहा है किन्तु "वेस्ट लैण्ड" के बाद यह प्रवृत्ति उसमें कम दिखाई पड़ती है। इलियट के अनुसार कवि को विद्वान और भूतकाल के प्रति निष्ठावान होना चाहिए। इलियट प्राचीन साहित्य को समसामयिक अनुभव करता हुआ चला है। युद्ध के बाद भविष्य की असुरक्षा और शंकाशीलता से से युक्त ध्वंसशील पूँजीवादी समाज की प्रतिक्रिया का चित्र इलियट ने पूरी "ईमानदारी" से प्रस्तुत किया है।

'काव्य' की दृष्टि से इलियट, प्रगतिवादी दृष्टि के विरुद्ध प्रतिक्रियावादी दृष्टि का प्रचारक है। युद्ध के पूर्व जो आदर्शवाद कवियों में था, लगता है, उसके प्रति उनमें वितृष्णा उत्पन्न हुई और बहुत से प्रगतिशील लेखकों ने 'रूस' की साम्यवादी प्रगति और राजनीति को देखकर यह समझा कि साम्यवादी समाज में भी- निष्ठुरता कम नहीं है, वहाँ आज़ादी का अभाव है, युद्ध में वह कम क्रूर नही हैं, राजनैतिक दावपेंच में साम्यवादी स्टालिन कम अवसरवादी नहीं हैं, अतः कवियों के मन में 'साम्यवाद' को जो एक सुनहले स्वप्न के रूप में देखने की प्रवृत्ति थी, वह नष्ट होने लगी और उन्हें लगा कि अब तक की सारी बौद्धिक धारणाएँ और मतवाद व्यर्थ साबित हुए हैं अतः 'मानवता की मुक्ति' के लिए इलियट अपने प्रिय ईसाई रहस्यवाद में मग्न होते गए। भविष्य का कोई रूप तथा सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी कोई सिद्धान्त इन इलियटवादियों में नहीं मिलता किन्तु इनके विरुद्ध 'आडेन' और उनकी परम्परा के कवि ((Left-Wingers) प्रगतिशील भावनाओं का वर्णन करते हैं।

प्रश्न यह होगा कि इलियट के इस विश्वव्यापी प्रभाव का कारण क्या है? 'काव्य' की दृष्टि से 'साम्यवाद' और 'विज्ञान' के विकास से जो प्रश्न पैदा हुए हैं, उनके कारण प्रत्येक देश में बहुत से लोग सन्देह में पड़ गए हैं। शिक्षितमध्यवर्ग एक ओर पूँजीवाद की मनमानी और शोषण को देखता है तो दूसरी ओर वह साम्यवाद में एक ही राजनैतिक दल की

निरंकुशता देखता है। ऐतिहासिक दृष्टि से न देखकर यह वर्ग दोनों ओर से निराश होकर या तो अपने में लीन होकर रह जाता है या फिर 'धर्म' और 'अध्यात्म' में शरण खोजता है। अतः इलियट को 'काव्य' की दृष्टि से एक बहुत बड़ा 'वर्ग' मिल गया है।

कला की दृष्टि से इलियट फ्रेंच प्रतीकवादियों और बिम्बवादियों से प्रभावित है परन्तु बिम्बवाद का संतुलित रूप ही उसने अपनाया है। 'मूर्त्तिमत्ता' को अपनाकर भी वह दीर्घ रचनाओं में प्रतीकात्मक पद्धति अपनाकर अधिक चला है। वह 'आधुनिक सभ्यता' पर व्यंय करता है क्योंकि वह उसे ठीक-ठीक समझ नहीं पाता। उसमें आत्मनिन्दा के स्वर हैं क्योंकि वह व्यक्ति की रोमांटिक उमंग का परिणाम युद्ध के रूप में देख चुका है। 'भावुकता' उसमें नहीं है क्योंकि उससे अन्त में रिक्तता का अनुभव होता है! अतः वह अपनी भ्रमरहित मानसिक स्थितियों (disillusioned mental state) का विश्लेषण करता है, वातावरण के प्रति अपनी समझ और प्रतीति की गहराई से व्यंजना करता है, इसके लिए वह वार्तालापात्मक पद्धति अपनाता है। असम्बद्ध 'मूड्स' को वह नाना पौराणिक, ऐतिहासिक और नृवैज्ञानिक सन्दर्भों द्वारा संकेतित करता है, इसके लिए वह समसामयिक सामग्री का भी प्रयोग करता है, यथा सूने कमरे, सैलून, सूनसान सड़कें, खिड़की, धुँआँ, ट्रेन आदि। इनसे वह मानसिक स्थितियों और आधुनिक विकट परिस्थिति की संकुलता और उलझन को व्यक्त करता है। फिर भी वह समझता है कि वह जो कह रहा है, वह अधूरा है, उलझन की चरमसीमा का रूप यह है—

It is impossible to say just what I mean !

But as if magic lantern threw the nerves in patterns on a screen.

मध्यवर्ष की इस उलझन को इलियट ने जादू की लालटेन से पर्दे पर दिखाया है अतः जादू की लालटैन का यह प्रकाश हिन्दी की प्रयोगवादी कविता पर भी पड़ा है। 'अज्ञेय' ने अपने मन के सन्देहों की प्रतिच्छवि वैसे ही 'इलियट' में पाई है जैसे सुमित्रानन्दन पन्त ने अपनी उलझनों का अन्त अरविन्ददर्शन में पालिया है! जिस प्रकार इलियट की "फोरक्वाटरटैट्स" से अधिक उसकी अन्य रचनाओं का और विशेषकर 'वेस्ट लैण्ड' का प्रभाव यहाँ अधिक पड़ा है, उसी तरह पन्त जी के आध्यात्मिक काव्य का प्रचार कम हुआ है, क्योंकि संदेहग्रस्त मध्यवर्ग संदेह में ही रहना चाहता है। वह निर्णय

नहीं करना चाहता, अतः इलियट और अरविन्द की निर्णीत स्थिति उसे प्रिय नहीं लगती ! अतः 'इलियट' की आवृति-संकेतात्मकता के द्वारा 'शतशः अनिश्चयों" (Hundred Indecisions) को वाणी देनी वाली कविता प्रिय हुई है। उच्चवर्ग को भी वह प्रिय है क्योंकि वह प्रगतिवाद के विरुद्ध पड़ती है ! सामान्य व्यक्ति जो 'कथ्य' के महत्त्व को नहीं भी समझता, वह इलियट की शैली के आकर्षण पर ही मुग्ध हो जाता है। हिन्दी कविता में "चाय के प्याले में दिन की छाया" अथवा "जीवन को काफ़ी के चम्मचों से नापना" जैसी उपमाएँ इलियट से ही ली गई हैं—

I have measured out my life with coffee spoons
I grow old·····I grow old·····

I shall wear the bottoms of my trousers rolled.

इलियट की कला आकर्षक है, उसमें एक प्रधान मानसिक स्थिति, मुक्तसाहचर्यपद्धति द्वारा पुष्ट होती हुई चलती है। इस 'साहचर्य, (Associations) को समझ लेने पर मुख्य मानसिक स्थिति भी स्पष्ट होने लगती है, नवीन उपमाओं के द्वारा वह अपने विचार को व्यंजित करता है अतः 'प्रयोगवाद' जैसा प्रदर्शन उसमें नहीं है। यहाँ तक कि उसमें उपमाओं की पुनरावृत्ति भी मिलती है। इलियट ने "पौंड" का अंधानुकरण नहीं किया, परम्परागत छन्द को भी उसने आजमाया है। इलियट में एक "व्यंग्यपरक तटस्थता" है जो उसे भावुकता से बचाती है, क्योंकि उद्गारात्मक रोमांटिक शैली से उसे चिढ़ है। इलियट ने कविता में 'श्रम' के साथ-साथ रचना में शब्द-अपव्यय से बचाव और वक्तव्यता से अपनी रक्षा करने का प्रयत्न किया है। अज्ञेय जिस "आंतरिक अनुशासन" पर इतना बल देते हैं, वह न उनकी अपनी रचनाओं में है, न उनके शिष्यों में। जो 'तटस्थ अप्रत्यक्षता' और 'विट' इलियट में है, वह अभी प्रयोगवाद में नहीं मिलती। रोमानी कवियों—शेली, कीट्स, बायरन और वर्ड्सवर्थ की तुलना में प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी 'समकक्ष' नज़र आते हैं जब कि इलियट की तुलना में अज्ञेय, भारती, जगदीश गुप्त, विजयदेव साही और लक्ष्मीकान्त अभी 'बौने' हैं, अपने समाज की उपेक्षा का यही परिणाम हो सकता है। जिस 'इतिहास' और परम्परा से लक्ष्मीकान्त को चिढ़ है, इलियट उस इतिहास के उत्थान, पतन को (अपनी दृष्टि से) उपमाओं और सन्दर्भों के द्वारा संकेतित करता है—

He compressed into two or three stanzas a

whole history of decline and fall; and his poem, far from seeming a mere mosaic of quotations, became a light of incredible intensity, showing past and present in perspective.[1]

इतिहास और परम्परा के प्रति इलियट की धारणा पूँजीवादी है परन्तु अपनी दृष्टि से सही, उसने इतिहास और परम्परा का अनादर नहीं किया, यहाँ यही द्रष्टव्य है।

इलियट के दोष हिन्दी में अधिक आए हैं, अन्वित का अभाव (With a minimum of explicit correlation), अत्यधिक सन्दर्भ और प्रसंगप्रियता, अर्थ की अनभिव्यक्ति, भाव की उचित मात्रा की कमी, प्रतीकात्मता का अतिनिर्वाह आदि। किन्तु जो 'विट' और गहराई से देखने की शक्ति इलियट में है, उसमें एद्रिक संवेदनों से ऊपर उठने का जो प्रयत्न है, वह कम कवियों में मिलता है। इलियट के a music of ideas का अनुवाद "अर्थ की लय" के रूप में करके अपने को मौलिक सिद्ध कर लेना सहज है, किन्तु अपने काव्य में वही "अर्थ की लय" उत्पन्न कर देना कठिन है!

इलियट की 'वेस्ट लैंड' रचना में आधुनिक सभ्यता को 'परती भूमि' माना गया है। हम इस सभ्यता को तभी हरा भरा बना सकते हैं, जब कि साहसी यात्रा करें, अपनी वर्तमान स्थिति पर विचार करें और ग़लतियों से सबक लें। इस रचना में दान्ते, बौद्धमत, उपनिषद् पुराण, नृविज्ञान (From Ritual to Romance) आदि का ज्ञान आवश्यक है। इस पांडित्य के कारण यह रचना अत्यधिक 'दुरूह' होगई है। और 'दुरूहता' काव्य का गुण नहीं, दोष है। जो 'चित्रकला' का उदाहरण देकर यह कहना चाहते हैं कि काव्य भी विशेषज्ञों के लिए है, वे भूल करते हैं। 'कविता' को इतना दुरूह बनाने से उसका उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। कवि केवल 'द्रष्टा' नहीं होता, वह 'भोक्ता' भी होता है। इलियट में 'द्रष्टा' का तत्त्व 'भोक्ता' के ऊपर छा जाता है, यही कमी प्रयोगवाद में है—

The waste Land does not carry within itself all that is necessary for understanding.[2]

---

1. The trend of modern Poety. Page 156.
२. वही १६५।

'वेस्टलैंड' में कवि आधुनिक सभ्यता के पतन को संकेतित करता है। किन्तु इसके बाद यह 'अभावात्मक दृष्टि' कम होती जाती है। वह "शाश्वत-व्यवस्था" की ओर उन्मुख होता जाता है। "जरनी आफ मागी" में एक भद्र व्यक्ति 'ईश्वर' के दर्शन करता है। Ash Wednesday में कवि रहस्यमय मार्ग का वर्णन करता है। Four Ouartets में इलियट "निष्कामसाधक" जैसे दिखाई पड़ते है ! इसमें प्रहेलिका-शैली का भी प्रयोग है, जो अज्ञेय में दिखाई पड़ती है।

time present and time past
Are both perhaps perent in time future
And time future contained in time Past !

"फोरम्वारटैट्स" में कवि काल के भीतर रहकर ही 'काल विजय' का उपदेश देता है। Only through time time is conqured ! साधना की स्थिति के वर्णन में विरोधाभास-शैली को अपनाया गया है परन्तु अन्विति का जैसा अभाव "वेस्ट लैंड' में है, वैसा यहाँ नहीं है। चत्मकार के बावजूद कवि इस कविता में भी अनुभव करता है—

That was the way of puttign it—not very Satisfactory:
A periphrastic study is a worn-out poetical fashion !

घोर निराशा के क्षण भी यहाँ कम मिलते हैं क्योंकि कवि 'गीता' के कृष्णार्जुन संवाद से प्रेरणा लेता है अतः कालातीत स्थिति को समझाते हुए कवि कृष्ण के इस आशावादी स्वर को अपनाता है—

So krishna, as when he admonished Arjuna
on the field of battle.
Not farewell
But fare forward !

लक्ष्मीकान्त मानवमूल्यों के लिए 'परम्परा' से कुछ भी ग्रहण नहीं करना चाहते जब कि इलियट हमारे देश से प्रेरणा लेता है, "वेस्ट लैंड" की भी अन्तिम पंक्तियाँ 'उपनिषद्' की हैं !

लगता है कि इलियट "फोरक्वारटैट्स" में अपनी मानसिक उलझन और निराशा पर विजय पालेता है, उसका हल वैयक्तिक है, रहस्यवादी है, परन्तु 'वेस्ट लैन्ड' के इलियट से "फोर क्वारटैट्स" के इलियट में अन्तर है,

यह स्पष्ट है। हिन्दी के प्रयोगवाद में इलियट का समाज के विषय में दृष्टिकोण अपनाया गया है किन्तु उसकी उक्त "मार्मिकता" को नहीं अपनाया गया !

इलियट के विरुद्ध अँगरेजी काव्य में उग्र प्रतिक्रिया हुई। १९३० ई० के कुछ पूर्व से प्रगतिशील कवियों ने इलियट के समानान्तर जनवादी काव्य का निर्माण किया। इनमें आडेन, लेविस और स्पेण्डर के नाम उल्लेखनीय हैं। घोर अंतर्मुखता और अतिशय व्यक्तिवाद इलियटवाद की विशेषता थी, इसके विरुद्ध इन कवियों ने लारेंस के 'यौनवाद' और इलियट के 'रहस्यवाद,' के विरुद्ध 'सामाजिक आदर्शवाद' की प्रतिष्ठा की।

Their optimism and Vigour came like a breath of fresh air after a generation of self-love and self-disgust, of determinism and frustration.

इन कवियों ने मार्क्सवाद और रोमाँटिक कवियों, वर्ड्सवर्थ, शेली आदि से प्रेरणा ली, उसी प्रकार जिस प्रकार हिन्दी के प्रगतिवादी कवि छायावाद की श्रेष्ठ परम्पराओं को स्वीकार करते हैं ! इनका सिद्धान्त था कि काव्य सब से अलग होकर नहीं लिखा जा सकता अपितु सबके साथ रहकर ही लिखा जा सकता है, ग्रीक सभ्यता की संगठित सामाजिकता से भी प्रेरणा ली गई—

not from exterme detachment but from solidarity with others. It is nearer to the greek conception of good citizenship than to the stoical of austerity rcent times. (Roberts)

इन कवियों ने समसामयिक सामाग्री का अप्रस्तुत विधान के लिए प्रयोग किया है किन्तु 'कथ्य' और 'भाव' जनवादी है अर्थात् ये हिन्दी के "प्रगतिवादी-प्रयोगवाद" से मिलते जुलते हैं ! ये कवि भी रिम्बॉ, मैलविली आदि की शैली से सीखते हैं परन्तु अपनी 'दृष्टि' और 'भाव' को नहीं छोड़ते—

And no one exists alone·····

We must love one another or die !

इलियटवादियों और उक्त प्रगतिशील-परम्परा के कवियों में "मानव-मूल्यों' का सम्बन्ध या तो अलौकिक सत्ता के साथ सम्बन्धित है (इलियट) अथवा समाज के विकास के साथ (आडेन, स्पेण्डर आदि) किन्तु मनोविज्ञान

वाद' का पुनः आगमन होगा किन्तु गीतकारों में वह स्वच्छन्दतावाद आज
प्रचलित है और प्रयोगवाद में लोककाव्य के प्रति आकर्षण, प्रकृति को
हो हो कर देखने की प्रवृत्ति जैसी प्रवृतियों से यह आशा होती है कि सं
और अमानवीय प्रवृत्तियों तथा अभिव्यक्ति में अनुशासन के अभाव
प्रवृत्तियों की कमी होगी और "नए" की शोध में वास्तविक काव्य की अ
न होगी।

हिन्दी काव्य की उपलब्धि—हिन्दी में आधुनिक काव्य-प्रवाह भार
युग से प्रारम्भ होता है, तब से अब तक हिन्दी काव्य निरन्तर उन्नति
ओर उन्मुख है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह सामाजि
दायित्व के प्रति जागरूक रहा है, भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग, छायावाद यु
और आज के प्रगतिवादी युग में कवि समाज को इच्छित रूप देने के लि
हमारे हृदयों में प्रेरणा भरता रहा है। उसने नूतन शैली के नए नए
खोजे हैं और हिन्दी भाषा में वैविध्य की सृष्टि की है। हिन्दी काव्य की इ
जागरूकता के कारण कतिपय श्रेष्ठ कृतियों को आज हम विश्वसाहित्य
सम्मुख रखसकते हैं। पन्त जी का 'पल्लव,' निराला की 'राम की शक्ति पूज
'तुलसीदास' प्रसाद की कामायनी और महादेवी की 'दीपशिखा' को विश्
साहित्य के सम्मुख सगर्व रखा जा सकता है। छायावाद के बाद का काव
निर्माण के पथ पर अग्रसर है। काव्य में 'गतिरोध' का स्वर मिथ्या है, य
उक्त विवेचन से प्रमाणित हो जाता है। 'प्रयोगवाद' ने हिन्दी भाषा की दृष्टि
से "वैविध्य" की कमी को अवश्य पूरा किया है। यह सम्भव है कि अधि
अनुशासित होने पर इस आन्दोलन से भी कोई 'कृति' हमें प्राप्त हो जिसे ह
विश्व-साहित्य के सम्मुख रख सकें। किन्तु यह तभी सम्भव होगा जब प्रयोग
वादी कवि इस देश की नब्ज़ पहचानने का प्रयत्न करें और जो भावना
ध्वंसशील पूँजीवादी समाज में प्रचलित हैं, उनमें और इस देश की वास्तवि
भावनाओं में अन्तर को समझा जाय। अब तक जो श्रेष्ठ कृतियाँ हमें मिल
हैं, उनकी पृष्ठभूमि में कवियों की व्यापक सहानुभूति, उदात्त जीवन-दृष्टि
और सामूहिक भावनाओं का आदर अवस्थित है। काव्य की महानता औ
सौन्दर्य कवि की अपनी 'दृष्टि' की महानता और स्वस्थसौन्दर्यबोध प
आधारित होती है।

हिन्दी में प्रगतिवादी काव्य, गीतकाव्य, प्रयोगवादी काव्य से चुनी हु
रचनाओं की श्रेष्ठता हमें स्वीकार करनी ही होगी। इसके अतिरिक्त हिन्दी

में 'कामायनी' के बाद 'महाकाव्यों' की संख्या में विपुल वृद्धि हुई है। यद्यपि महाकाव्यकारों में 'कथ्य' और शैली के प्रति जागरूकता का अभाव दिखाई पड़ता है परन्तु यह काव्य परम्परा को नए युग में प्रतिष्ठित करने में अवश्य सफल हुआ है। इन महाकाव्यों में रसमय और मार्मिक स्थलों का अभाव नहीं है। तक्षशिला[१] नूरजहाँ, कृष्णायन, उर्मिला[२] वैदेही वनवास, साकेत सन्त, सिद्धार्थ[३] वर्द्धमान[४] दैत्यवंश[५] विक्रमादित्य[६] तथा पार्वती[७] आदि अनेक प्रबन्ध काव्यों में कवियों का श्रम व्यर्थ नहीं गया है। वस्तुतः ये काव्य हिन्दी-काव्य के विभिन्न युगों के सेतु रूप में दिखाई पड़ते हैं। इधर गान्धी, प्रेमचन्द, मीरा सीता आदि पर जो जीवनी-काव्य लिखे गए हैं, उनसे यह आशा बँधी है कि नए ढंग के, नए विषयों और आधुनिक उदात्त जननायकों पर अच्छे काव्य लिखे जा सकते हैं। समग्रतः 'कामायनी' के बाद श्रेष्ठता की दृष्टि से 'पार्वती' को उल्लेखनीय कृति माना जा सकता है।

इस प्रकार हिन्दीकाव्य का आधुनिक काव्य विभिन्न धाराओं का एक सम्मिलित प्रवाह है, जिसमें विकास-क्रम भी है, और साथ ही छायावाद के बाद अनेक धाराओं का सम्मिश्रण भी है। समग्र दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-काव्य में 'प्रतिक्रियावादी' स्वर बहुत कम हैं, यहाँ तक कि स्वयं प्रयोगवाद में प्रगतिवादी-प्रयोगवाद के अभ्यासी कवियों की संख्या कम नहीं है। हिन्दी काव्य-प्रवाह गतिमान है। जो आवर्त्तों को देखकर स्थिति-शीलता अथवा गतिरोध की कल्पना करते हैं, उन पर हिन्दी काव्य-प्रवाह की विभिन्न लहरें जैसे अट्टहास करती हुई कहती हैं—"हमें देखो, और हमारे भगीरथों को देखो, गतिरोध कहाँ है ?" यह सही है कि अभी प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी के बाद की नयी पीढ़ी में ऐसे ही नाम नहीं गिनाए जा सकते किन्तु 'प्रतिभा' की प्रतियोगिता में संलग्न काव्य-स्रष्टाओं में अपनी

---

१. उदय शंकर भट्ट।
२. बालकृष्ण शर्मा नवीन।
३. तथा ४—अनूप शर्मा।
५. हरदयालुसिंह।
६. गुरुभक्तसिंह।
७. रामानन्द तिवारी।

चुनी हुई रचनाओं को छायावाद के श्रेष्ठ अंश के सम्मुख रखने में कई कवि समर्थ हैं, यह निःसंकोच कहा जा सकता है। हिन्दी के आधुनिक काव्य के विषय में हीनता के भाव का कोई आधार नहीं हैं, यह उक्त विवेचन से स्पष्ट है।